न्याय
एवं
वैशेषिक दर्शन

❖

संपादक :
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
माता भगवती देवी शर्मा

❖

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ.प्र.)

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन

संपादक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
माता भगवती देवी शर्मा

प्रकाशक
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

सन् २०१० **मूल्य : १५०.०० रुपये**

* प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

सम्पादक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
माता भगवती देवी शर्मा

* प्रथम आवृत्ति (संशोधित-परिवर्धित संयुक्त संस्करण)
आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा - संवत् २०५९
गुरुपूर्णिमा-व्यासपूर्णिमा

* मूल्य : १५० रुपये

* मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस
गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)



समर्पण

जिन्होंने महर्षि गौतम और कणाद की तरह न्याय एवं वैशेषिक धाराओं का सम्यक् दर्शन किया, अपनी अनुपम मेधा से पदार्थ-विज्ञान को अध्यात्म-विज्ञान का पूरक बनाकर 'वैशेषिक' को युगानुकूल साक्ष्य देकर लौकिक जीवन में अभ्युदय का तथा विचार-विज्ञान को भाव-विज्ञान का सहयोगी बनाकर 'न्याय' को युगानुकूल दिशा देकर परम निःश्रेयस का मार्ग जन-जन के लिए प्रशस्त किया।

जिनके द्वारा प्रदत्त चेतन ज्ञान सूत्रों के सहारे 'न्याय एवं वैशेषिक दर्शन' का यह नवीन संयुक्त संस्करण संभव हुआ, उन्हीं ऋषियुग्म के श्रीचरणों में यह पुष्प श्रद्धा सहित समर्पित है।

नव्यं संस्करणं यस्य कृपादृष्ट्या प्रकाशितम्।
न्यायं वैशेषिकञ्चैतत् तस्मा एव समर्पितम्॥

प्रकाशकीय

युग ऋषि ने आर्षग्रन्थों के दुर्लभ ज्ञान को जन सुलभ बनाने का 'श्रद्धा-प्रज्ञा' युक्त जो पुरुषार्थ प्रारंभ किया था; उसी क्रम में शान्तिकुञ्ज में,उन्हीं के अनुशासन एवं मार्गदर्शन में,उनके ही द्वारा स्थापित वेद-विभाग अपनी अकिंचन शक्ति के साथ कर्त्तव्यरत है। ऋषियुग्म के निर्देश सूत्रों के आधार पर क्रमशः चार वेद, १०८ उपनिषद आदि के नवीन संस्करण प्रकाशित होने के बाद षड्दर्शनों के नवीन संस्करणों के प्रकाशन का क्रम बना। उस प्रयास के प्रथम पुष्प के रूप में 'सांख्य एवं योगदर्शन' का संयुक्त संस्करण पाठकों तक पहुँचाया जा चुका है। अब उसके द्वितीय पुष्प के रूप में 'न्याय एवं वैशेषिक दर्शन' का यह संयुक्त संस्करण प्रस्तुत किया जा रहा है।

पूर्व की ही भाँति, इस संस्करण का मूल आधार उनके द्वारा प्रकाशित मूल संस्करण तथा उनके द्वारा दिए गए सामयिक निर्देश सूत्रों को ही रखा गया है। उन निर्देशों के अनुसार ही दार्शनिक अभिव्यक्तियों को अधिक स्पष्ट एवं अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए उक्त दर्शन ग्रन्थों के संदर्भ में विभिन्न विज्ञ-पुरुषों के विचारों और शोध प्रबन्धों का भी सहयोग लिया गया है। मूल संस्करणों में उनके द्वारा लिखी गई भूमिकाओं की विषय वस्तु को ही उपयुक्त उप शीर्षकों में बाँधकर समयानुकूल स्वरूप दिया गया है। पूर्व की तरह संदर्भित दर्शन के संदर्भ में उभरने वाली शंकाओं एवं विसंगतियों के समुचित समाधान भी जिज्ञासुओं तक पहुँचाने का प्रयास इस संस्करण के माध्यम से किया गया है।

अध्येताओं की सुविधा के लिए इन दर्शनों में प्रयुक्त सूत्रों एवं महत्त्वपूर्ण शब्दों की अनुक्रमणिका भी परिशिष्ट के रूप में जोड़ दी गई है। आशा है कि द्रष्टाओं-ऋषियों की जीवन दृष्टि के विभिन्न पहलुओं को युगानुरूप धारा से जोड़ने के युगऋषि के सत्पुरुषार्थ का समुचित लाभ स्वाध्यायशीलों एवं जिज्ञासुओं तक इस विनम्र प्रयास द्वारा पहुँचाया जा सकेगा।

विषयानुक्रम

परिशिष्ट -

****

भूमिका

न्यायदर्शन की पृष्ठभूमि

मानव जीवन का लक्ष्य एवं सांसारिक स्थिति की विवेचना अनुभवों के आधार पर करने वाला न्यायदर्शन, वस्तुवाद का पोषक है। इसके अनुसार जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है, जिसके द्वारा दुःखों की पूर्णतः निवृत्ति हो जाती है। न्याय के मतानुसार जीवात्मा कर्त्ता एवं भोक्ता होने के साथ-साथ, ज्ञानादि से सम्पन्न नित्य तत्त्व है। यह जहाँ वस्तुवाद को मान्यता देता है, वहीं यथार्थवाद का भी पूरी तरह अनुगमन करता है। मानव जीवन में सुखों की प्राप्ति का उतना अधिक महत्त्व नहीं है, जितना कि दुःखों की निवृत्ति का। ज्ञानवान् हो या अज्ञानी, हर छोटा-बड़ा व्यक्ति सदैव सुख प्राप्ति का प्रयत्न करता ही रहता है। सभी चाहते हैं कि उन्हें सदा सुख ही मिले, कभी दुःखों का सामना न करना पड़े, उनकी समस्त अभिलाषायें पूर्ण होती रहें; परन्तु ऐसा होता नहीं। अपने आप को पूर्णतः सुखी कदाचित् ही कोई अनुभव करता हो। जिनको भरपेट भोजन, तन ढकने के लिए पर्याप्त वस्त्र तथा रहने के लिए मकान भी ठीक से उपलब्ध नहीं तथा जो दिन भर रोजी-रोटी के लिए मारे-मारे फिरते हैं, उनकी कौन कहे; जिनके पास पर्याप्त धन-साधन, श्रेय-सम्मान सब कुछ है, वे भी अपने दुःखों का रोना रोते देखे जाते हैं। आखिर ऐसा क्यों है? क्या कारण है कि मनुष्य चाहता तो सुख है; किन्तु मिलता उसे दुःख है। सुख-सन्तोष के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हुए भी वह अनेकानेक दुःखों एवं अभावों को प्राप्त होता रहता है। आज की वैज्ञानिक समुन्नति से, पहले की अपेक्षा कई गुना सुख के साधनों में बढोत्तरी होने के उपरान्त भी कोई स्थायी समाधान क्यों नहीं मिल सका? जहाँ साधन विकसित हुए वहीं जटिल समस्याओं का प्रादुर्भाव भी हुआ। मनुष्य शान्ति-सन्तोष की कमी अनुभव करते हुए चिन्ताग्रस्त एवं दुःखी ही बना रहा। यही कारण है कि मानव जीवन में प्रसन्नता का सतत अभाव होता जा रहा है।

इन समस्त दुःखों एवं अभावों से मनुष्य किस प्रकार मुक्ति पा सकता है, प्राचीन ऋषियों-मनीषियों एवं भारतीय तत्त्वदर्शी महापुरुषों ने इसके लिए कई प्रकार के मार्गों का कथन किया है, जो प्रत्यक्ष रूप से भले ही प्रतिकूल व पृथक् प्रतीत होते हों; परन्तु पात्र व रुचि के आधार पर सबका-अपना-अपना सच्चा दृष्टिकोण है। एक मार्ग वह है जो आत्मस्वरूप के ज्ञान के साथ-साथ भौतिक जगत् के समस्त पदार्थों के प्रति आत्मबुद्धि का भाव रखते हुए पारलौकिक साधनों का उपदेश देता है। दूसरा मार्ग वह है जो जीवमात्र को ईश्वर का अंश बतलाकर,जीवन में सेवा व भक्तिभाव के समावेश से लाभान्वित होकर आत्मलाभ की बात बतलाता है। तीसरा मार्ग वह है जो सांसारिक पदार्थों एवं लौकिक घटनाक्रमों के प्रति सात्विकता पूर्ण दृष्टि रखते हुए, उनके प्रति आसक्ति न होने को श्रेयस्कर बताता है। इसी तीसरे मार्ग का अवलम्बन न्यायदर्शन करता है, जबकि यह ईश्वरोपासना, पुनर्जन्म, लोक-परलोक, आत्मा आदि में भी भरपूर आस्था रखने वाला है, फिर भी इन सबकी सम्यक् उपलब्धि तथा इहलौकिक एवं पारलौकिक जीवन की सफलता हेतु भौतिक जगत्

के पदार्थों एवं उससे सम्बन्धित घटनाओं का कथन करता है। न्याय का मानना है कि जो भी ज्ञान मनुष्य को उपलब्ध है, वह इन्द्रियों व मन-बुद्धि के माध्यम से ही प्राप्त हुआ करता है। इन सबमें विकृति उत्पन्न होने की स्थिति में उपलब्ध ज्ञान भी उसी अनुपात में विकारयुक्त हो जाने के कारण उस विकृत ज्ञान का आधार लेकर जो भी निर्णय लिया जायेगा, वह भी विकार युक्त होता चला जायेगा तथा उससे किसी उद्देश्य विशेष की पूर्ति नहीं की जा सकेगी। इन्हीं सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए न्यायशास्त्र ने यह सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति की है कि संसार में आने के पश्चात् यदि मनुष्य सत्कर्म व सद्व्यवहार के माध्यम से अपने दु:खों को दूर करना चाहे, तो सांसारिक संरचना में प्रयुक्त होने वाले जड़-चेतन सभी पदार्थों का वास्तविक स्वरूप भी जाने-समझे। अनेक तरह के मतानुयायियों ने अपने-अपने विचार से पदार्थों का स्वरूप भिन्न - भिन्न प्रकार का बतलाया है, जिसके कारण मनुष्य भ्रम में पड़ जाता है। इस भ्रमात्मकतापूर्ण स्थिति से छुटकारा दिलाने के लिए न्यायशास्त्र ने तर्क व साक्ष्यों की ऐसी सुन्दर विचारधारा प्रस्तुत की है, जिससे पदार्थों के सही स्वरूप का निर्णय किया जा सके।

जिन साधनों से हमें ज्ञेय तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उन्हीं साधनों को 'न्याय' की संज्ञा दी गई है। कहा भी है कि—

"नीयते विवक्षितार्थः अनेन इति न्यायः।"

न्यायदर्शन का इतिहास

गौतम के 'न्याय सूत्र' से ही न्यायशास्त्र का इतिहास स्पष्ट रूप से प्रारम्भ होता है। प्राचीन ग्रन्थों में इस न्यायशास्त्र के कतिपय सिद्धान्तों की चर्चा तो आज भी विशद रूप से उपलब्ध है; परन्तु उस प्राचीन तर्कशास्त्र का सम्यक् एवं सर्वाङ्गपूर्ण स्वरूप क्या और कैसा था, इसका सही ज्ञान किसी को नहीं है।'बौद्ध दर्शन' के प्रकरणों में यह उल्लेख मिलता है कि बौद्ध मत वाले अपने मत का प्रतिपादन आस्तिक सिद्धान्तों के विरुद्ध किया करते थे। इसी का प्रतिषेध करने हेतु न्यायदर्शन की संरचना हुई। आगे इसका वर्णन किया जा रहा है। बुद्ध का समय छठी शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है। यही वह समय था जब गौतम ने न्यायशास्त्र की रचना की। न्यायदर्शन का एक नाम तर्कशास्त्र भी है। प्राचीन ग्रन्थ शास्त्रों में किन्हीं-किन्हीं स्थानों में गौतम तथा कहीं-कहीं अक्षपाद को न्यायदर्शन का रचयिता कहा गया है। आचार्य विश्वेश्वर की तर्कभाषा की भूमिका के अन्तर्गत पृष्ठ १९-२० में इसका उल्लेख है। उमेश मिश्र द्वारा रचित भारतीय दर्शन में कहा गया है कि तर्कशास्त्र बौद्धों के पहले भी था और वह बड़ा व्यापक था। इसके भिन्न-भिन्न प्राचीन नाम हैं। यथा- आन्तीक्षकी, हेतुशास्त्र, हेतुविद्या, तर्कशास्त्र, तर्कविद्या, वादविद्या, प्रमाणशास्त्र, वाकोवाक्य, तक्की, विमंसि आदि।

रचनाकाल—न्यायसूत्र की संरचना कब हुई, इसका निर्णय कर पाना बहुत कठिन है। कारण कि विद्वानों ने ई० पू० छठवीं शताब्दी से लेकर ईसा पूर्व पाँचवी शताब्दी के बीच अपनी मान्यतायें प्रस्तुत की हैं; परन्तु सबके अपने-अपने पक्ष तर्कयुक्त हैं। उससे किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता।

भाष्य ग्रन्थ— न्याय दर्शन के पश्चात् का जो साहित्य उपलब्ध है, उन सबमें 'न्याय भाष्य' का प्रथम स्थान माना जाता है।'न्यायवार्तिक' नाम

की एक टीका न्यायभाष्य पर 'उद्योतकर' ने भी लिखी है, जिसमें न्यायशास्त्र के प्रमेयों के सही स्वरूप को जानने की सर्वाधिक उपादेयता विद्यमान है। इनका काल भी ईसा की पाँचवीं-छठीं शताब्दी के आसपास ही है। उद्योतकर द्वारा रचित 'न्यायवार्तिक' नामक टीका प्रकाशित होने के पश्चात् भी न्यायशास्त्र पर बौद्धों का आघात बन्द नहीं हुआ, जिसके कारण ख्याति प्राप्त टीकाकार प० वाचस्पति मिश्र को न्यायवार्तिक के ऊपर भी एक टीका लिखनी पड़ी, जो 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका' के नाम से प्रसिद्ध अत्यधिक महत्त्वपूर्ण टीका है। विद्वानों ने वाचस्पति मिश्र का समय ईसा की नवीं शताब्दी माना है। इन्होंने ही इस न्यायशास्त्र को शुद्ध एवं लिपिबद्ध किया। इसी शुद्धता के कारण ही आज यह लेखा-जोखा उपलब्ध है कि न्यायदर्शन में ५ अध्याय तथा १० आह्निक हैं, ८४ प्रकरण एवं ५२८ सूत्र हैं, १९६ पद एवं ८३८५ अक्षर हैं।

न्यायदर्शन के प्रवर्त्तक— न्यायशास्त्र के प्रवर्त्तक गौतम का जन्म ईसा पूर्व छठवीं सदी में मिथिला में हुआ था, ऐसा कहा जाता है। अपनी प्रखर-प्रतिभा सम्पन्न बुद्धि से गौतम ने स्थूल जगत् के तत्त्वों का भली- भाँति विचार करके उनके सही स्वरूप जानने हेतु प्रमाणों का निरूपण सम्यक् रूप से किया। एक मात्र ग्रन्थ न्यायशास्त्र की रचना करने वाले गौतम ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का लक्ष्य मोक्षलाभ अथवा परमात्म तत्त्व की प्राप्ति बताई है, फिर भी इसमें प्रमुख रूप से प्रमाणों के आधार पर तर्क करने की शिक्षात्मक प्रेरणा दी गई है। इस न्यायशास्त्र का अपना एक विशेष महत्त्व है।

न्यायदर्शन का वर्ण्य-विषय

पदार्थ परिचय— न्याय शास्त्र ने १६ पदार्थों को, मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य नि:श्रेयस् अर्थात् मोक्षलाभ की उपलब्धि हेतु तत्त्वज्ञान के साधन के रूप में अपनी मान्यता प्रदान की है। न्यायशास्त्र के प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक के प्रारम्भ के सूत्र में ही शास्त्रकार ने अपनी अभिव्यक्ति की है— "**प्रमाणप्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव तर्क निर्णयवाद जल्प वितण्डा हेत्वाभासच्छल जाति निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञाना-न्निःश्रेयसाधिगमः**" अर्थात्- (१) प्रमाण (२) प्रमेय (३) संशय (४) प्रयोजन (५) दृष्टान्त (६) सिद्धान्त (७) अवयव (८) तर्क (९) निर्णय (१०) वाद (११) जल्प (१२) वितण्डा (१३) हेत्वाभास (१४) छल (१५) जाति (१६) निग्रहस्थान। इन सबका उल्लेख सूत्र रूप में ऊपर आ चुका है। इन्हीं का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

प्रमाण— जिन सोलह ज्ञेय पदार्थों का ऊपर वर्णन किया गया है, उनमें सर्वप्रथम 'प्रमाण' है, जो प्रधान भी है। सभी का तत्त्वज्ञान, प्रमाण नामक ज्ञेय पदार्थ के ही अधीनस्थ है। प्रमाण अर्थात् ऐसी कसौटी जिससे सत्य-असत्य का अन्तर स्पष्ट हो सके। वास्तविक ज्ञान की उपलब्धता में प्रमाण ही सर्वाधिक मुख्य विषय है, इसी कारण इसका स्थान सबमें प्रथम है। ज्ञेय विषय प्रमेय से भी पहले प्रमाण को स्थान दिया गया है। आशय यह है कि भले-बुरे का ज्ञान हुए बिना, कसौटी पर कसे बिना उनके द्वारा जीवन में कोई महत्त्वपूर्ण प्रयोजन सिद्ध नहीं किया जा सकता। अमुक विषय विचारणीय है अथवा नहीं, इसका निर्णय तभी हो

सकता है, जब हमें प्रमाण सम्बन्धी पूर्ण जानकारी हो। इसीलिए ज्ञेय विषय 'प्रमेय' को जानने से पूर्व प्रमाण का जानना अनिवार्य है। वास्तविकता पूर्ण अनुभव कराने वाला मुख्यतम साधन '**प्रमाण**' कहलाता है अर्थात मन एवं नेत्र आदि जो ज्ञानेन्द्रिय हैं, उनके द्वारा किया गया वह व्यवहार 'प्रमाण' कहलाता है, जिससे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी भी वस्तु का वास्तविक ज्ञान प्राप्त हुआ करता है। न्यायदर्शन में चार तरह के प्रमाणों का उल्लेख है। ये हैं (१) प्रत्यक्ष-प्रमाण (२) अनुमान-प्रमाण (३) उपमान-प्रमाण (४) शब्द-प्रमाण।

प्रत्यक्ष-प्रमाण का उल्लेख सर्वप्रथम है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष है। किसी भी पदार्थ के विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से जाने बिना अधूरा ही बना रहता है तथा और अधिक जानने की जिज्ञासा बनी रहती है; किन्तु प्रत्यक्ष रूप से देखे जाने पर सभी जिज्ञासायें समाप्त हो जाती हैं। प्रत्यक्ष को देखकर ही अमुक पदार्थ ऐसा था, यह अनुमान किया जाता है। इसी से अनुमान को प्रत्यक्ष के पश्चात् रखा गया है तथा इसका विषय क्षेत्र भी तीनों कालों से सम्बन्धित है। अनुमान के ही जैसा होने एवं विषय के साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) की स्थिति में इस प्रमाण की प्रवृत्ति का अवसर उपलब्ध होने से, 'उपमान' का कथन अनुमान के पश्चात् किया गया है और जहाँ 'शब्द' प्रमाण के प्रवृत्त होने की स्थिति होती है, वहाँ प्रसङ्ग को देखते हुए प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाण की अपेक्षा बनी रहती है, अतएव शब्द का वर्णन सबसे अन्त में हुआ है। चारों प्रमाणों में 'अनुमान प्रमाण' को नैयायिकों ने मुख्य माना है। कारण यह कि समस्त प्रमाणों का प्रामाण्य अनुमान प्रमाण पर ही आश्रित है।

प्रमाण के माध्यम से जिन तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त होता है, उनको '**प्रमेय**' के नाम से जाना जाता है। वैसे तो प्रमेयों की संख्या का कोई अन्त ही नहीं है; परन्तु न्याय मतानुसार बारह प्रमेय ऐसे हैं जो तत्त्वज्ञान एवं निःश्रेयस् की प्राप्ति में अपनी अनिवार्यता प्रस्तुत करते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं- (१) आत्मा (२) शरीर (३) इन्द्रियाँ (४) अर्थ (५) बुद्धि (६) मन (७) प्रवृत्ति (८) दोष (९) प्रेत्यभाव (१०) फल (११) दुःख एवं (१२) अपवर्ग। "आत्मा" रूपी द्रव्य में ज्ञान आदि गुणों का होना पाया जाता है, अर्थात् ज्ञानादि गुणों का आश्रयी आत्मा ही है। इच्छित वस्तु की प्राप्ति एवं अनिच्छित वस्तु का निराकरण करने के लिए सम्पन्न की जाने वाली चेष्टा का जो समवायिकारण है, जिसके द्वारा अन्य अवयवी की उत्पत्ति न हो, वह 'शरीर' है। जिन साधनों से विषयों की उपलब्धि होती है, वे इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों के दो विभाग हैं (क) कर्मेन्द्रियाँ जिनके अन्तर्गत- (१) चक्षु (२) श्रोत्र (३) त्वक् (४) जिह्वा एवं (५) घ्राण। (ख) ज्ञानेन्द्रियाँ- (१) शब्द (२) स्पर्श (३) रूप (४) रस एवं (५) गन्ध। अन्तरिन्द्रिय एक मात्र मन को ही माना गया है। न्यायमत के अनुसार रूप, रस, गन्ध, शब्द एवं स्पर्श को ही 'अर्थ' कहते हैं, वैसे रूप अग्नि का, रस जल का, गन्ध पृथिवी का शब्द आकाश का एवं स्पर्श वायु का विशिष्ट गुण है। दर्शनकार ने सुख एवं सुख के कारण तथा दुःख एवं दुःख के कारण रूप अर्थ के अन्तर्गत भी 'अर्थ' शब्द का व्यवहार किया है। 'बुद्धि, ज्ञान एवं उपलब्धि' इन तीनों को न्याय ने एक दूसरे का पर्याय माना है। एक समय में एक ही स्थान में रहने वाला 'मन' अणु परिमाण वाला है। यह अतीन्द्रिय है। मन के द्वारा ही इच्छा, द्वेष, सुख, दुःखादि गुणों का ज्ञान आत्मा में हुआ करता है। आत्मा के साथ जब इन्द्रिय एवं मन का सन्निकर्ष होता है, तभी ज्ञान की उत्पत्ति होती है और यह ज्ञान क्रम प्राप्त एक के बाद एक होता है। मन एक नित्य द्रव्य है तथा यह जब शरीर से बाहर निकल

जाता है, तब उस क्रिया को 'मरण' एवं 'उत्सर्पण कर्म' कहा जाता है। जब यही मन दूसरे शरीर में प्रविष्ट होता है, तब उसे अपसर्पण कर्म कहते हैं। यह मन मोक्ष की स्थिति में भी जीवात्मा के साथ बना रहता है तथा एक आत्मा को दूसरे आत्मा से अलग भी किये रहता है, जिस कारण परमात्मा एवं जीवात्मा के मध्य की पृथक्ता विद्यमान रहा करती है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा की अनेकता इसी कारण से न्यायशास्त्र ने स्वीकारी है।

शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक क्रियाओं की प्रारम्भिक अवस्था का नाम 'प्रवृत्ति' है। जितनी भी प्रवृत्तियाँ व्यवहार में परिलक्षित होती हैं, उनका कारण राग, द्वेष, मोह आदि ही हैं, इसी कारण इन सबको 'दोष' की संज्ञा दी गई है।

मरणोपरान्त अन्य शरीर में जब जीवात्मा की स्थिति होती है, तब वह अवस्था 'प्रेत्यभाव' कहलाती है। इसे ही जीवात्मा का पुनः उत्पन्न होना भी माना जाता है तथा परलोक की अवस्था भी इससे प्रमाणित हो जाती है। आशय यह है कि भले अथवा बुरे सभी कर्मों के फलस्वरूप होने वाला पुनर्जन्म ही 'प्रेत्यभाव' है।

दोषों के रहने के कारण सम्पन्न किये गये कर्मों का जो भला-बुरा परिणाम निकलता है, उनके अनुभवों को ही 'फल' कहा जाता है। अनुकूलता में उपस्थित बाधा अथवा उसमें उत्पन्न विघ्नों के अनुभव का नाम 'दुःख' है। न्यायदर्शन ने सुख को दुःख के ही अन्तर्गत माना है।

मोक्ष का दूसरा नाम 'अपवर्ग' है। कर्म बन्धनों एवं दुःखों से आत्मा के मुक्त होने की स्थिति को अपवर्ग कहा है। आशय यह है कि जीवात्मा के दुःखों एवं उनके कारणों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष अथवा अपवर्ग है। इसी को निःश्रेयस् भी कहते हैं।

जहाँ किसी एक ही वस्तु में दो अलग-अलग पदार्थों की समान धर्मिता पायी जाय तथा उन दोनों की पारस्परिक पृथक्ता प्रमाणित करने वाले एक भी धर्म की उपलब्धि न हो, वहाँ **'संशय'** की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। संशय के अभाव में किसी तर्क का प्रारम्भ ही नहीं होता तथा किसी निश्चय पर भी नहीं पहुँचा जा सकता है। न्यायदर्शन में संशय की यही महत्ता है।

जिस लक्ष्य के ऊपर ध्यान केन्द्रित करके लोग प्रवृत्त होते हैं, वही **'प्रयोजन'** कहलाता है। न्याय दर्शन के मतानुसार (१) पदार्थों का तत्त्वज्ञान एवं (२) निःश्रेयस् दो ही आध्यात्मिक प्रयोजन हैं तथा इनमें भी निःश्रेयस् को परम प्रयोजन की संज्ञा प्रदान की है।

अपने द्वारा स्थापित पक्ष के समर्थन में जो उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है, उसे **'दृष्टान्त'** कहा जाता है। जिस कथन में दोनों पक्ष बिना किसी विवाद के कथन की सत्यता स्वीकार करते हों, उसी का उद्धरण किसी विषय वस्तु की सिद्धि में प्रयुक्त होता है।

प्रमाणों के आधार पर किसी कथन को स्वीकार करना, अर्थात् 'इदमित्थम्' यह ऐसा है, **'सिद्धान्त'** कहलाता है। अनुमान की प्रक्रिया के अन्तर्गत जिन-जिन वाक्यों का प्रयोग होता है, वे सभी **'अवयव'** के नाम से जाने जाते हैं। न्याय-वाक्य के वे समस्त सार्थक अंग-अवयव कहलाते हैं, जिनके द्वारा परार्थानुमान की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। अनुमान दो प्रकार का होता है-(१) स्वार्थानुमान- अर्थात् व्यक्तिगत अनुमान करना (२) परार्थानुमान- जिससे दूसरों के लिए अनुमान किया जाये। परार्थानुमान में पाँच वाक्य प्रयुक्त होते हैं-

(१) प्रतिज्ञा (२) हेतु (३) उदाहरण (४) उपनय (५) निगमन

(१) प्रतिज्ञा- पर्वत में अग्नि विद्यमान है। (शब्द प्रमाण)

(२) हेतु- पर्वत में धूम्र उठने के कारण। (अनुमान प्रमाण)

(३) दृष्टान्त अथवा उदाहरण- रसोई घर की भाँति, जिसमें धुएँ के साथ आग का रहना देखा जाता है। (प्रत्यक्ष प्रमाण)

(४) उपनय- जहाँ धुआँ है, वहाँ अग्नि है, इस तरह के अविनाभाव सम्बन्ध से युक्त 'धुआँ' पर्वत में है। (उपमान प्रमाण)

(५) निगमन- इसलिए पर्वत में अग्नि विद्यमान है- इस वाक्य में एक ही विषयान्तर्गत सभी प्रमाणों की सामर्थ्यता परिलक्षित होती है।

इन पाँचों वाक्यों के अन्दर न्यायदर्शन के समस्त प्रमाणों की समाविष्टता एकत्रित है। पाँच वाक्यों की समूहबद्धता का नाम 'परमन्याय' है। इसे पंचावयव वाक्य भी कहते हैं। आचार्य वात्स्यायन के कथनानुसार 'प्रमाणों' के द्वारा अर्थ की परीक्षा ही न्याय है'। स्वपक्ष समर्थन अथवा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हेतु की गई अनिष्टप्रसङ्गात्मक कल्पना का नाम '**तर्क**' है। निरपेक्षता की भावना से पक्ष तथा प्रतिपक्ष द्वारा प्रस्तुत वक्तव्यों पर विचार करने के उपरान्त किसी वस्तु के बारे में बनाई गई सुनिश्चित धारणा का नाम '**निर्णय**' है। न्याय का मत है कि यह तत्त्वज्ञान प्रमाणों का फल है।

दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच में तत्त्वजिज्ञासा हेतु पक्ष एवं विपक्ष के रूप में किया जाने वाला विचार विनिमय '**वाद**' कहलाता है। इस वाद में हार एवं जीत का सर्वथा अभाव बना रहता है। जैसे शास्त्रज्ञान सम्बन्धी विचारों का आदान- प्रदान गुरु एवं शिष्य के बीच बिना किसी पूर्वाग्रह एवं दुराग्रह के हुआ करता है।

अपने-अपने द्वारा स्थापित पक्ष को भले अथवा बुरे तर्कों के सहयोग से पूर्वपक्षी एवं प्रतिपक्षी द्वारा स्थापित करने का विचार '**जल्प**' कहलाता है।

जिसमें प्रतिपक्षी का अपना कोई पक्ष न हो तथा सिद्धान्तवादी के मत का येन केन प्रकारेण प्रतिषेध करना ही प्रतिपक्षी का ध्येय हो, ऐसा विचार विमर्श '**वितण्डा**' के नाम से जाना जाता है। वाद, जल्प एवं वितण्डा इन तीनों के समूह को 'कथा' कहते हैं। '**हेत्वाभास**' उसे कहते हैं जो हेतु जैसा प्रतीत होते हुए भी दोषयुक्त हुआ करता है अर्थात् हेतु के समान लगने वाले हेतु वाक्य में दोष का रहना भी निश्चित हो अथवा हेतु की कतिपय विशेषता वाला एवं कतिपय विशेषताओं से शून्य अनुचित हेतु ही हेत्वाभास है।

किसी वक्ता द्वारा अभिव्यक्त कथन में उलटफेर करके वाक्यार्थ के अर्थ को अनर्थ में परिवर्तित करने की क्रिया '**छल**' कहलाती है।

'**जाति**' का अर्थ एक प्रकार से मिथ्या उत्तर देना होता है, साधर्म्य एवं वैधर्म्य के माध्यम से किसी वाक्य में दोष की अभिव्यक्ति करना जाति प्रयोग कहा जाता है। २४ प्रकार के जाति प्रयोग न्यायदर्शन में वर्णित हैं।

कथा में उपलब्ध पराजय का अवसर '**निग्रहस्थान**' कहलाता है। वादी अथवा प्रतिवादी को जिस कारण से कथा से पदच्युत होना पड़ता है, उसे ही निग्रहस्थान कहते हैं। दूसरे शब्दों में किसी वाक्य सन्दर्भ के अन्तर्गत पूर्वपक्षी एवं विपक्षी के विपरीत ज्ञान अथवा अज्ञान का नाम निग्रहस्थान है।

न्यायशास्त्र के अनुसार इन सोलह पदार्थों के ज्ञान से मनुष्य को नि:श्रेयस् अथवा परमज्ञान की प्राप्ति हुआ करती है। यही मानव जीवन का परम लक्ष्य भी है।

ईश्वर की अवधारणा

न्यायदर्शन में ईश्वर की विशिष्ट विवेचना भले ही न की गई हो; परन्तु वह ईश्वर में अपना पूर्ण विश्वास व्यक्त करता है। ईश्वर की सत्ता को कहीं भी नहीं नकारा है। इतिहास साक्षी है कि बौद्धों के द्वारा प्रचारित निरीश्वरवाद के सिद्धान्तों का खण्डन न्यायदर्शन के आचार्यों ने यदि अपने प्रभावशाली प्रौढ़ तर्कों से न किया होता, तो देश में उमड़ती नास्तिकता के कुप्रभावों की बाढ़ भी नियन्त्रित न होती। योग, सांख्य, न्याय एवं वैशेषिक आदि दर्शनों में जो ईश्वरीय स्वरूप का विशद विवेचन नहीं हुआ है, उसका एक कारण यह भी हो सकता है कि उस समय उन्हें इसकी अधिक आवश्यकता अनुभव ही न हुई हो। वे जगत् की सत्ता स्वीकारने के साथ ईश्वर की सत्ता को मान्यता देना भी स्वाभाविक समझा करते थे। आचार्य उदयन जो एक ख्याति प्राप्त न्यायदर्शन के विद्वान् हैं, उन्होंने ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, वे सभी ऐसे ही स्वाभाविक तथ्यों पर आधारित हैं। उन सबका उल्लेख इस प्रकार है—

पहला तथ्य— घड़ा उत्पन्न होता है, उसकी उत्पत्ति रूप क्रिया को करने वाला 'कर्त्ता' है। यह जगत् भी एक प्रकार का कार्य ही है और इसकी उत्पत्ति भी किसी कर्त्ता से ही हुई है। शाश्वत नियमों एवं अनुशासनों पर गतिमान् इस संसार का निर्माता, जिसे ईश्वर कहा जाता है, वह निःसन्देह अन्तर्यामी होगा।

द्वितीय— प्रलय काल उपस्थित होने पर सम्पूर्ण कार्य जगत् परमाणु स्वरूप होकर आकाश में अवस्थित हो जाता है। इन परमाणुओं को जड़ कहा जाता है। सृष्टि की संरचना का समय आने पर आकाश में रहने वाले उन्हीं परमाणुओं में पुनः संयुक्तता की प्रवृत्ति का आविर्भाव हो जाता है। उसी के परिणामस्वरूप वे परमाणु क्रमशः द्वयणुक, त्र्यणुक आदि के रूप में परिवर्तित होकर सृष्टि की विकास प्रक्रिया सम्पन्न करते हैं। जड़वत् परमाणुओं में जो यह संयोग की प्रक्रिया उत्पन्न हुई, इसके मूल में किसी चेतन सत्ता की ही शक्ति काम करती है; परन्तु वैसी स्थिति में चेतन सत्ता का सर्वथा अभाव होता है और इसी कारण ईश्वर की सत्ता को स्वीकारना अनिवार्य हो जाता है; क्योंकि ईश्वर की इच्छा एवं प्रेरणा शक्ति के प्रभाव से ही जड़ परमाणुओं में कर्म उत्पन्न होता है।

तृतीय— संसार जिस पर आधारित है, उस आधार का होना भी नितान्त आवश्यक है, वरना इस जगत् के पतन की सुनिश्चित सम्भावना भी पायी जायेगी। ऐसे ही संसार रूप सृष्टिकार्य को विनष्ट करने वाले की सत्ता भी होनी चाहिए; क्योंकि सामान्य शक्ति सम्पन्न व्यक्ति महान् कार्य रूप संसार का विनाश करने में समर्थ नहीं हो सकता। अतएव सृष्टि का निर्माता एवं पालनकर्त्ता तथा उसका संहारकर्त्ता महाशक्तिमान् ईश्वर के अतिरिक्त और कौन हो सकता है?

चतुर्थ— सृष्टि की संरचनाओं में जो कलात्मक सौन्दर्य परिलक्षित होता है, उसे देखकर प्रतीत होता है कि संसार की उत्पत्ति से पूर्व अवश्य ही कोई न कोई कुशल निर्माता रहा होगा, जिसके द्वारा यह सुन्दर जगत् बना। प्रलय से पूर्व में रहने वाले ज्ञान को पुनः स्थापित करने की शक्ति एकमात्र ईश्वर में ही है। उसने ही यह महान् जगत् बनाया होगा।

पंचम तथ्य— वेद को प्रामाणिक तभी

माना जा सकता है, जब वेद के रचयिता की प्रामाणिकता में तनिक भी सन्देह न हो। ऐसा एकमात्र ईश्वर ही है, जिसे वेदों का रचनाकार कहा जा सके; क्योंकि ईश्वर में सबकी श्रद्धा निर्विवादित है और इसी हेतु जनमानस की श्रद्धा वेदों के प्रति बनी हुई है।

यहाँ यदि कोई यह आशंका व्यक्त करे कि कैसे यह स्वीकारा जाय कि ईश्वर हर समय विद्यमान रहता है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव तो कभी होता नहीं। इसका समाधान यह है कि स्थूल तत्त्वों को ही इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष रूप से अनुभव कर सकती हैं और परमात्मा अतीन्द्रिय क्षमता सम्पन्न सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व हैं, इसलिए परमात्मतत्त्व का प्रत्यक्ष अनुभव कर पाना सम्भव नहीं। उसके स्वरूप का अनुभव अनुमान के आधार पर अवश्य किया जा सकता है। विचित्रताओं से भरा यह संसार जो ईश्वर की रचना है, इसमें असंख्य तरह के प्राणी, अनेकों प्रकार के पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति, समुद्र, नदियाँ एवं पर्वतों आदि की अपनी स्थिति तथा इन सभी का एक अनुशासन व नियम के अन्तर्गत अनवरत क्रियान्वयन की प्रक्रिया, मनुष्य के मन-मस्तिष्क में यह भावना अवश्य उत्पन्न कर देती है कि इन सबका निर्माण करने वाला एवं उन पर अनुशासन बनाये रखने वाला कोई न कोई तो होगा ही; क्योंकि बिना किसी के बनाये ये समस्त पदार्थ बन ही नहीं सकते और ईश्वर के अतिरिक्त इनको बनाने में कोई समर्थ भी नहीं हो सकता।

इस मान्यता के विरोध में जो यह कहते हैं कि पृथ्वी, पर्वत, नदी, समुद्र आदि की उत्पत्ति का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण तो उपलब्ध नहीं है, अतः इस आधार पर यह मानना कि सब कुछ ईश्वर की कृति है, उचित प्रतीत नहीं होता! इसका समाधान करते हुए न्यायशास्त्र ने कहा कि समुद्र, पर्वत, पृथ्वी आदि सभी अवयव युक्त एवं अनेकों तरह के परमाणुओं की संयुक्तता से बने हैं, ऐसा सृजन कार्य किसी न किसी कर्त्ता द्वारा ही हुआ करता है। पुरातत्त्व विभाग अपनी जाँच प्रक्रिया के अंतर्गत धरती के अन्दर से प्राप्त उपकरणों से (जो मनुष्य जीवन से सम्बन्धित होते हैं) यह अनुमान कर लेते हैं कि अमुक स्थल पर कभी मानव जीवन पल-पोष रहा था। इसी प्रकार प्रकृति का सौन्दर्य एवं उसके प्राकृतिक नियमानुशासनों की सुनिश्चित सक्रियता से इनके सुसंचालक ईश्वर की सत्ता को सहज स्वीकारना होता है।

निरीश्वरवाद के सिद्धान्त को मानने वालों का कथन है कि ईश्वर संसार का सृजेता है, यदि हम ऐसा मान लें, तो सृष्टि निर्माण का प्रयोजन अथवा कारण भी तो स्पष्ट होना चाहिए। जिस भाव से ईश्वर ने जगत् का निर्माण किया, अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अथवा अनिष्ट का निवारण करने के लिए ईश्वर के विषय में ऐसा सोचना भी उचित नहीं; क्योंकि ईश्वर की कोई भी अपनी कामना नहीं है, वह तो 'पूर्णकाम' है। वेदों-शास्त्रों ने ऐसा ही बताया है। संसार को सुखी रखने के लिए, कल्याण के भाव से यदि उसने सब कुछ बनाया है, तो वैसा भी नहीं दिखाई पड़ता। संसार में तो हर कोई किसी न किसी दुःख से दुःखी है। अतएव न तो स्वार्थमूलक भाव ही सही जान पड़ता है और न ही परार्थमूलक।

इस आशंका का भी न्यायशास्त्र ने उपयुक्त समाधान करते हुए कहा कि प्राणिमात्र के विकास एवं उसके कल्याण की भावना से ही ईश्वर ने सृष्टि की संरचना की है; परन्तु जीवात्मा के सुख-दुःख का निर्धारण एवं सम्पूर्ण विधि-व्यवस्था उसके कर्मानुसार ही बना रखी है। जैसा जिसका कर्म,

वैसा उसका फल। अच्छे कर्मों का फल अच्छा एवं बुरे कर्म का फल बुरा। कर्मफल विधान का रचयिता ईश्वर है, अतएव वही सर्वस्व है।

न्यायशास्त्र की दृष्टि में स्थूल जगत् एवं उससे जुड़ा जीवन दुःख से परिपूर्ण है, इस कारण न्यायदर्शन में विषयों से निवृत्त होकर चित्त की एकाग्रता के साथ आत्मस्थित होकर उच्चस्तरीय चिंतन करने की बात कही है। योगदर्शन के अन्तर्गत आने वाले यम-नियमादि का निरन्तर अभ्यास करने का कथन किया गया है। इसके प्रभाव से निःश्रेयस् का मार्ग प्रशस्त होता चला जायेगा।

न्यायदर्शन विशेष रूप से प्रमाण शास्त्र है और तर्क के आधार पर सत्य एवं असत्य का निर्णय करना इस दर्शन का प्रमुख लक्ष्य है। कतिपय विद्वानों ने इसे शास्त्रार्थ करने के एक साधन के रूप में भी प्रयुक्त किया है। हमें भली-भाँति मालूम है कि कुछ समय पहले बंगाल में यह शास्त्रार्थ इतना अधिक प्रचारित हुआ कि इसे विद्वत्ता की पहचान कहा जाने लगा था। उस समय मिथिला तथा बंगाल प्रान्त में रघुनाथ शिरोमणि, गंगेश उपाध्याय, वासुदेव मिश्र एवं जयंत भट्ट आदि विद्वानों नैयायिकों की ऐसी फसल लहलहायी, जिसके द्वारा न्यायदर्शन से संबंध रखने वाले ४०-५० ग्रन्थों की रचना हुई, जिनका सम्मान आज भी इस भारत देश में सभी जगह है।

न्यायदर्शन के बहुत से सिद्धान्तों की चर्चाएँ अनेक स्थलों पर आती हैं। रामायण, महाभारत एवं स्मृतियों के अन्दर तर्क शास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष का दर्शन होता है, जिससे प्रतीत होता है कि यह शास्त्र बहुत ही पुरातन काल से अपने भारत देश में प्रचलित है। बौद्धों के वैचारिक प्रहार से सनातन धर्म को होने वाली महान् क्षति को ध्यान में रखते हुए ही वर्तमान न्यायशास्त्र को महर्षि गौतम (यथार्थ नाम अक्षपाद) ने लिखा है। बहुत से विद्वान् अन्वेषकों ने निरन्तर प्रयास करने के उपरांत ऐसी प्रामाणिक अभिव्यक्ति की है। लगभग २५सौ वर्ष पूर्व जब प्रदूषित एवं हिंसात्मक यज्ञ पद्धति का प्रचलन अपने प्रवाह पर था, तो बुद्ध ने उस कुप्रचलन को समाप्त करने के लिए जब अहिंसा के साथ शून्यवाद की प्रचार प्रक्रिया का शुभारम्भ किया, तो उनकी ओजस्वी वाणी एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व से जनमानस अच्छा-खासा प्रभावित हुआ। बुद्ध के उपदेश एवं अपनी स्वयं की अनुभूतियों के कारण सांसारिक क्लेश एवं जीवन की क्षणभंगुरता का विशेष ज्ञान न रखते हुए भी पारिवारिकता एवं भौतिक सम्पदा से विमुख होकर बुद्ध के अनुयायी बनकर तपस्वी भिक्षु का जीवन प्रारम्भ करने लग गये। भावनात्मक, सामयिक आवेश के समाप्त होने पर भिक्षु जीवन के कठिनतम अनुशासनों का पालन न कर पाने की स्थिति में उनके लज्जित होने के अलावा कोई मार्ग न रहता। घर में आते तो लोगों का उपहास सहना पड़ता, अतः तमाम लोग निरुद्देश्य व निकम्मेपन से युक्त होकर भिक्षा पर जीवन यापन करने लग गये। बौद्ध धर्म के प्रभाव में आने के कारण उन्हें भूल सुधार हेतु समझाना भी घर-परिवार वालों के लिए कठिन होने लगा। वे लोग एक मात्र तर्क से ही संतुष्टि अनुभव करते। अक्षपाद गौतम के द्वारा उसी समय में 'न्यायशास्त्र' रचा गया। जिसके अकाट्य तर्कों से बौद्ध विद्वानों को निरुत्तर होना पड़ा। बौद्धों ने जब देखा कि उनके मानने वाले अब मुँह मोड़ने लगे हैं, तो उनने कपट विद्या का सहारा लेकर न्यायदर्शन को प्रदूषित एवं उसे विनष्ट करने के उद्देश्य से मन-गढंत एवं मिथ्या सूत्रों का शास्त्र में समावेश करना प्रारम्भ कर दिया। ऐसी विषम स्थिति में

वैदिक धर्म में आस्था रखने वाले विद्वानों द्वारा शास्त्र की पवित्रता बनाये रखने हेतु, प्रयत्न करके बारम्बार ग्रन्थ का संशोधन भी किया गया। अन्तिम स्थिति में वाचस्पति मिश्र द्वारा रचित ग्रन्थ 'न्याय सूची निबन्ध' में सम्पूर्ण सूत्रों एवं वर्णों तक की गिनती करके इस प्रकार की विधि व्यवस्था विनिर्मित की, जिससे प्रदूषण का तुरन्त ज्ञान हो जाया करे।

उपसंहार

भारतीय न्यायदर्शन हमारे भारतीय धर्म के महान् इतिहास के अंतर्गत जिस उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित है, वह अपने आप में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस न्यायदर्शन में प्रमाण एवं तर्क के आंधार पर जिस किसी विषय पर भी शिष्य को शिक्षा प्रदान करने का कथन किया गया है, तथापि परिस्थिति विशेष की उपलब्धि होने पर जल्प, छल एवं वितण्डा आदि साधनों के उपयोग की भी छूट दे रखी है। इतना सब कुछ होते हुए भी शास्त्र ने नि:श्रेयस् की प्राप्ति अथवा मोक्ष लाभ को ही अपना अंतिम लक्ष्य माना है। हमारे भारतीय ऋषि एवं महान् विद्वान् ज्ञान विस्तार एवं उसके प्रचार-प्रसार के साथ-साथ ज्ञान को सदुपयोगी बनाने की शर्त का भी कथन करते रहे हैं, यह उनकी अपनी अनुपम विशेषता है। इस विशेषता का अभाव होने के कारण ही विज्ञान की महानतम सुविधाओं से सर्वाधिक धनी पाश्चात्य देशों की स्थिति भी सुखद प्रतीत नहीं होती। उनकी इस आधुनिकता एवं सम्पन्नता का प्रतिकूल परिणाम ही दृष्टिगोचर हो रहा है। जिस अनुपात में विज्ञान के साधन बढ़े हैं, उसी अनुपात में अशांति एवं उलझनों में भी मनुष्य पड़ता चला गया है। जो भी ज्ञान प्राप्त हुआ, वह व्यक्तिगत स्वार्थ एवं संकीर्णता के भावों के प्रभाव से सुख देने के स्थान पर असन्तोष एवं विनाश का हेतु बनता जा रहा है। इसके विपरीत हमारे भारतीय दर्शन समूहों ने विभिन्न पथगामी होते हुए भी प्रारम्भ में ही अपनी अभिव्यक्ति करते हुए कहा कि हमारा एकमात्र उद्देश्य आत्मकल्याण है। लोक व्यवहार का समुचित निर्वाह करते हुए भी जीवन के परम उद्देश्य नि:श्रेयस् की उपलब्धि का प्रयत्न अनवरत करते रहना चाहिए। यही न्यायदर्शन का भी उपदेश है।

इस प्रकार न्यायदर्शन के प्रधान विषयों एवं सिद्धान्तों आदि का विवेचन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि तर्क पूर्ण विश्लेषण ही इस न्यायशास्त्र की महान् विशिष्टता है। भारतीय दर्शन इसी आधार पर अपने द्वारा स्थापित किये गये पक्ष को दृढ़तापूर्वक सम्भाले हुए है। आचार्य वात्स्यायन ने जो यह कहा है कि 'प्रदीप: सर्वविद्यानां' वह पूर्णत: सत्य ही है।

॥ अथ न्यायदर्शनम् ॥

॥ अथ प्रथमाध्याये प्रथमाह्निकम् ॥

समस्त मानव-समाज आज जिस वातावरण के मध्य रह रहा है, जिसके चहुँ ओर यह स्थूल जगत् विद्यमान है तथा जिसके मूल में अन्तर्हित व्यक्ताव्यक्त तत्त्व स्थित हैं, उन सभी की वास्तविक जानकारी हेतु सरल एवं व्यावहारिक साधनों का बोध कराना मानव जीवन के सर्वविध कल्याणार्थ अति महत्त्वपूर्ण है, ऐसा मानकर न्याय शास्त्र के प्रणेता महर्षि गौतम ने अपने इस ग्रन्थ में इस तत्त्वज्ञान को सर्व कल्याणार्थ प्रतिपादित किया है।

उसी क्रम में न्याय दर्शन का प्रथम सूत्र इस प्रकार है —

(१) प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानाम् = प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रह स्थान नामक सोलह पदार्थों के; तत्त्वज्ञानात् = यथार्थज्ञान से, निःश्रेयसाधिगमः = सर्वविध कल्याण अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

व्याख्या— महर्षि गौतम द्वारा प्रणीत न्यायशास्त्र के प्रथम सूत्र में प्रमाणादि उपर्युक्त सोलह सत् पदार्थों का वर्णन किया गया है। जिन साधनों के द्वारा प्रमाता (साधक) विषयों को प्राप्त करता है, उन साधनों को प्रमाण एवं ग्रहण करने वाले विषयों को प्रमेय कहा जाता है। इन सभी सोलह सत् पदार्थों के तत्त्वज्ञान (यथार्थ ज्ञान) को सम्यक् रूप से जान लेने के उपरान्त साधक को स्वर्ग-अपवर्ग (मोक्ष) रूप निःश्रेयस (कल्याण) की सहजतापूर्वक प्राप्ति हो जाती है॥ १ ॥

प्रथम सूत्र में सूत्रकार ने प्रमाण आदि के यथार्थज्ञान से स्वर्ग-अपवर्गादि रूप परम कल्याण की प्राप्ति का वर्णन किया है। अब यहाँ साधक यह जानना चाहता है कि क्या यथार्थज्ञान के पश्चात् तत्क्षण ही मोक्ष मिल जाता है या मृत्यु के उपरान्त? इसी का समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत किया गया है—

(२) दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽपाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥२ ॥

सूत्रार्थ— दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम् = दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष एवं मिथ्याज्ञान के; उत्तरोत्तराऽपाये = आगे-आगे के पदार्थों का एक के बाद दूसरे के नष्ट (समाप्त) हो जाने पर, तदनन्तरापायात् = उसके अनन्तर (पूर्व पदार्थों के) नष्ट हो जाने से, अपवर्गः = अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

व्याख्या— यथार्थज्ञान की प्राप्ति से मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है। मिथ्याज्ञान के समाप्त होते ही राग-द्वेषादि द्वन्द्वों का भी समापन हो जाता है। जब राग-द्वेष समाप्त हो जाते हैं, तब विषय-विकारों की प्रवृत्ति भी अवरुद्ध हो जाती है। प्रवृत्ति के नष्ट होने से कर्म की भी निवृत्ति हो जाती है और जब कर्म नहीं होता, तो प्रारब्ध का निर्माण नहीं होता और प्रारब्ध के निर्मित न होने से जन्म-मृत्यु भी नहीं होता। जन्म-मृत्यु ही सुख-दुःखमय है। जब सुख-दुःख नहीं रहता, तभी मोक्ष की प्राप्ति मानी जाती है। अतः सुख-दुःख का पूर्णरूपेण अभाव हो जाना ही मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख लक्षण मानना चाहिए। सुख-दुःख रूपी विकारों के नष्ट होते ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है॥ २ ॥

अब इस सूत्र में सर्वप्रथम उद्दिष्ट 'प्रमाण' पदार्थ के विभाग का वर्णन किया जा रहा है—

(३) प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि॥ ३॥

सूत्रार्थ— प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः = प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द; प्रमाणानि = प्रमाण कहे गये हैं।

व्याख्या — न्यायशास्त्र के अन्तर्गत शास्त्रकारों ने 'प्रमाण' के चार भेदों का प्रतिपादन किया है। चारों भेद क्रमशः निम्नवत् हैं — प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द। अन्यान्य (अर्थापत्ति आदि) प्रमाणों का भी इन चार प्रमाणों में ही अन्तर्भाव (सन्निहित) है, अतः इस कारण ये चार प्रमाण हैं। जब किसी पदार्थ की यथार्थ स्थिति को सिद्ध करना होता है, तब इन्हीं चार प्रमाणों के द्वारा उस पदार्थ का वास्तविक ज्ञान संभव हो पाता है। जब कोई पदार्थ किसी साधन से यथार्थ रूप में जाना जाय या निश्चय किया जाय, तो उस साधन को 'प्रमाण' कहा जाता है ॥३॥

इस सूत्र में विभागानुसार प्रमाणों के भेद बतलाने की इच्छा से सूत्रकार सर्वप्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण का भेद बतला रहे हैं—

(४) इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्॥ ४॥

सूत्रार्थ— इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम् = इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष अर्थात् इन्द्रिय एवं उसके विषय के संयोग से प्रकट होने वाला, ज्ञानम् = ज्ञान, अव्यपदेश्यम् = व्यपदेश्य (कथन योग्य) न हो, अव्यभिचारि = व्यभिचारी न हो और, व्यवसायात्मकम् = सन्देह से रहित होने के कारण ही वह, प्रत्यक्षम् = प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है।

व्याख्या— वह ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है, जो इन्द्रियों एवं उसके विषय के सन्निकर्ष -संयोग से प्रकट होता है; किन्तु वह 'अव्यपदेश्य' (न कहने योग्य), अव्यभिचारी (व्यभिचार के दोष से रहित) एवं व्यवसायात्मक (संदेहरहित) होना चाहिए। वह ज्ञान प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, जैसे— अमुक व्यक्ति जा रहा है, अमुक व्यक्ति भोजन कर रहा है आदि। जब नेत्र इन विषयों को प्रत्यक्ष देखता है, तब उसमें संदेह का प्रश्न ही नहीं होता। जिस दृश्य को नेत्र प्रत्यक्ष-प्रमाण रूप में देख रहा होता है, वह पूर्व से कहा गया (अव्यपदेश्य) भी नहीं होता तथा प्रत्यक्ष घटित होने के कारण वह तदनुरूप ही (अव्यभिचारी) दृष्टिगोचर होता है। इस कारण से उसके बढ़ने और घटने का दोष भी नहीं होता (अर्थात् वह व्यवसायात्मक) है। अतः जो प्रत्यक्ष-प्रमाण है, वह प्रमाणों में सर्वोपरि एवं अटल माना जाता है॥ ४॥

अब अगले सूत्र में अनुमान नामक प्रमाण का विवेचन किया जा रहा है—

(५) अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च॥ ५॥

सूत्रार्थ— अथ = प्रत्यक्ष प्रमाण के वर्णन के पश्चात्, तत्पूर्वकम् = लक्षण के द्वारा पदार्थ का जो ज्ञान होता है, वह , त्रिविधम् = तीन प्रकार का, अनुमानम् = अनुमान नामक प्रमाण होता है,पूर्ववत् = कारण से कार्य की तथा, शेषवत् = कार्य से कारण की प्रतीति होने से,च = और, सामान्यतोदृष्टम् = उक्त दोनों से अलग, सामान्य रूप से हेतु के उपस्थित होने से (तीन प्रकार का अनुमान) कहा गया है।

व्याख्या— प्रत्यक्ष प्रमाण के पश्चात् अनुमान नामक प्रमाण को विवेचित करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि लक्षण के द्वारा जिस किसी वस्तु या पदार्थ को देखकर जो ज्ञान प्रकट होता है, उसे ही अनुमान कहा जाता है। उदाहरणार्थ— सींग, पूँछ के अन्त में बाल, चार पैर, उन्नत कंधा एवं कण्ठ के नीचे लटकता हुआ गल कम्बल (सास्ना) के होने से गाय या बैल का अनुमान हो जाता है। इस प्रकार के पशु को देखने मात्र से

ही सामान्यतया गाय या बैल समझ लिया जाता है, इस कारण से इसे सामान्यतोदृष्ट (सामान्य रूप से दिखाई देना) अनुमान कहा गया है। जहाँ कारण को देखकर कार्य का अनुमान हो अर्थात् आम के वृक्ष को देखकर अनुमान किया जाये कि इस पर जो फल लगेंगे, वे आम के ही होंगे। इसे पूर्ववत् अनुमान कहा जाता है और कार्य को देखकर कारण का जब अनुमान हो, जैसे— पुत्र है, तो पिता अवश्य होगा, तब ऐसा अनुमान शेषवत् कहा जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अनुमान नामक प्रमाण के जो तीन लक्षण (पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट) इस सूत्र में सूत्रकार ने विवेचित किये हैं, वे सर्वथा उचित ही हैं॥ ५॥

अब अगले सूत्र में उपमान नामक प्रमाण का विवेचन किया जा रहा है—

(६) प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्॥ ६॥

सूत्रार्थ— प्रसिद्धसाधर्म्यात् = प्रसिद्ध पदार्थों के सदृश धर्म से, साध्यसाधनम् = साध्य का साधन, उपमानम् = उपमान नामक प्रमाण होता है।

व्याख्या— तीसरा उपमान नामक प्रमाण है। जब किसी पदार्थ के लक्षण प्रसिद्ध पदार्थ के सदृश हों और उस पदार्थ की पहिचान उस प्रसिद्ध पदार्थ का नाम लेकर कह देने मात्र से हो जाए, तब उसे उपमान नामक प्रमाण कहा जायेगा। जैसे—गौ से परिचित व्यक्ति जब जंगल में उसी तरह का प्राणी देखता है,तो उसे गवय (नीलगाय) जान जाता है; क्योंकि उसने पहले 'यथा गौः तथा गवयः' सुन रखा था। यह प्रक्रिया उपमान नामक प्रमाण कहलाती है। दैनिक प्रयोग में जाने-अनजाने कभी-कभी साधर्म्य के सदृश वैधर्म्य ज्ञान से भी पदार्थ का साक्षात्कार हो जाता है। जैसे—भैंसे के समान बृहदाकार वनगमनशील प्राणी गैंडा, जिसकी नाक पर सींग होता है,सिर पर नहीं। नाक पर सींग के वैलक्षण्य से गैंडे की जानकारी हो जाती है॥६॥

इस सूत्र में शब्द नामक प्रमाण का लक्षण सूत्रकार निर्देशित कर रहे हैं—

(७) आप्तोपदेशः शब्दः॥ ७॥

सूत्रार्थ— आप्तोपदेशः = आप्त पुरुषों का कथन ही,शब्दः = शब्द नामक प्रमाण कहा जाता है।

व्याख्या— जो श्रेष्ठ आचरण करने वाले ज्ञानी-मनीषी एवं मोक्ष की सतत इच्छा वाले और मोक्ष की प्राप्ति हेतु निरन्तर प्रयासरत रहते हैं, उन्हें ही आप्त पुरुष कहा जाता है। ऐसे मानव कभी झूठे उपदेश (प्रवचन) नहीं करते एवं योग आदि की साधना में रत रहने से उन्हें जो सिद्धि मिलती है, उससे वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों को समझने में पूर्ण सक्षम हो जाते हैं। वे आप्त पुरुष अपने योगबल द्वारा अज्ञात विषयों का ज्ञान भी पा लेते हैं। ऐसे श्रेष्ठ पुरुष जो भी कथन करते हैं, उसे पूरी तरह से प्रामाणिक माना जाता है। इस कारण से इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने आप्त पुरुषों के आप्तवचन को 'शब्द नामक प्रमाण' बतलाया है॥ ७॥

अब अगले सूत्र में शब्द प्रमाण के भेद का निरूपण किया जा रहा है—

(८) स द्विविधो दृष्टाऽदृष्टार्थत्वात्॥ ८॥

सूत्रार्थ— दृष्टाऽदृष्टार्थत्वात् = दृष्टार्थ एवं अदृष्टार्थ के भेद से, सः = वह (शब्द नामक प्रमाण), द्विविधः = दो प्रकार का होता है।

व्याख्या— शब्द नामक प्रमाण के दो भेद बतलाये गये हैं, जिनमें प्रथम 'दृष्टार्थ' एवं द्वितीय 'अदृष्टार्थ' है। शब्द प्रमाण द्वारा ज्ञात हुए जिस अर्थ की इसी जीवन में जानकारी प्राप्त की जा सके, वह 'दृष्टार्थ' शब्द प्रमाण कहलाता है। यहाँ इसका भाव यह है कि जो विषय प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता हो, उसके सम्बन्ध में कहा गया शब्द 'दृष्टार्थ' प्रमाण कहलाता है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाण के बिना जो अर्थ केवल शब्द

प्रमाण द्वारा जाना जाये, उसे अदृष्टार्थ प्रमाण कहते हैं। उदाहरणार्थ— कोई यह कहे कि पुत्र की इच्छा वाला व्यक्ति यज्ञ करे। इसमें यज्ञ करने से उसके फल रूप पुत्र का उत्पन्न होना नेत्र द्वारा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होगा; किन्तु यदि यह कहा जाये कि स्वर्ग की आकांक्षा वाला व्यक्ति 'यज्ञ करे' तो यज्ञ द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति का देखा जाना इस देह से सम्भव नहीं है। अतः इसे अदृष्टार्थ कहा जाता है। शब्द-प्रमाण के ये दोनों भेद यथार्थतः वैदिक वाक्य एवं लौकिक वाक्य के आधार पर हैं। इस रूप में लौकिक को 'दृष्टार्थ' एवं वैदिक को 'अदृष्टार्थ' जानना चाहिए॥८॥

अगले सूत्र में सूत्रकार प्रमाणों के पश्चात् प्रमेय का निरूपण कर रहे हैं—

(९) आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्॥ ९॥

सूत्रार्थ— आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गाः = आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग (मोक्ष)(ये बारह), तु = तो, प्रमेयम् = प्रमेय हैं।

व्याख्या— आत्मा, शरीरादि बारह प्रकार के प्रमेय कहे गये हैं, जिनमें केवल आत्मा ही मुख्य है। सामान्यतया प्रत्येक पदार्थ प्रमेय है। प्रमा यानी ज्ञान का विषय; किन्तु यहाँ मोक्ष - प्राप्ति के सन्दर्भ में आत्मा का स्थान सर्वोच्च है। आत्मज्ञान के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति सहज है। शरीर आदि ग्यारह प्रमेय आत्मा सम्बन्धी पदार्थ हैं। आत्मा आदि सभी प्रमेयों को विस्तार से आगे के सूत्रों में सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत किया गया है, फिर भी यहाँ प्रत्येक प्रमेय को संक्षिप्त रूप में जान लेना चाहिए।

१. आत्मा— यह चैतन्य तत्त्व है तथा सबका द्रष्टा व भोक्ता है। समस्त इन्द्रियों से ग्राह्य सभी विषयों का ज्ञाता है; क्योंकि वही समस्त विषयों का अनुभव करता है। इसी कारण इसे 'सर्वज्ञ' की संज्ञा दी जाती है।

२. शरीर— यह आत्मा के उपभोग का साधन है। आत्मा शरीर में रहने पर ही सुख-दुःख आदि भोगों को भोग पाता है। यदि शरीर के अभाव में आत्मा को भोग प्राप्त हो जाया करता, तो फिर शरीर के होने का कोई विशेष उद्देश्य नहीं होता।

३. इन्द्रिय— इन्द्रियाँ आत्मा के सुख-दुःखादि भोग के लिए साधन हैं। ये पाँच हैं— घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् एवं श्रोत्र। ये सभी बाह्येन्द्रिय कहलाती हैं।

४. अर्थ— ये आत्मा के भोक्तव्य विषय हैं। इनकी संख्या भी पाँच है— गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द। ये क्रमानुसार घ्राण आदि इन्द्रियों से ग्राह्य होकर आत्मा में भोग के विषय होते हैं।

५. बुद्धि— बुद्धि (ज्ञान) वह साधन है, जिसके द्वारा आत्मा सुख-दुःख का अनुभव करता है।

६. मन— यह आन्तर इन्द्रिय है। परोक्ष पदार्थों का ज्ञान मन के द्वारा होता है। आन्तर इन्द्रिय 'मन' प्रत्येक विषय के ग्रहण में साधन है। जिस इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध होगा, उसी इन्द्रिय के विषय का ग्रहण आत्मा करेगा। मन में राग और द्वेष इन दो प्रकार के भावों की उत्पत्ति होती रहती है।

७-८ प्रवृत्ति एवं दोष— ये दोनों वे हैं,जो शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, अर्थबोध,सुख-दुःख आदि के प्राकट्य के कारण हैं। इनमें पदार्थों को त्यागने एवं ग्रहण की प्रवृत्ति होती रहती है। देह आदि की उत्पत्ति के मूल कारण प्रवृत्ति एवं दोष हैं।

९. प्रेत्यभाव— जन्म-मृत्यु ही प्रेत्यभाव है। आत्मा जिस देह में विद्यमान है, उससे पूर्व वह अन्य शरीर में स्थित था, अर्थात् उसका यह देह अपूर्व है, ऐसा नहीं है और न ऐसा ही है कि इस शरीर के छूट जाने पर आगे

अन्य शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध न हो; आत्मा के देहग्रहण का यह क्रम अनादिकाल से निरन्तर चला आ रहा है। इस प्रवाह की निरन्तरता का अवसान अपवर्ग-दशा में होता है। देह ग्रहण का सतत प्रवाह ही प्रेत्यभाव कहलाता है।

१० फल— साधनों के द्वारा सुख-दु:ख आदि के रूप में आत्मा को जो प्राप्त होता है, उसे फल कहते हैं।

११. दु:ख— असत् कर्मों की प्राप्ति ही दु:ख है। सुख-साधनों के साथ देह धारण करने के क्षण से ही दु:ख साथ-साथ लगा रहता है। सुख के समय में भी दु:ख पीछा नहीं छोड़ते। सुख के अल्पकाल की प्राप्ति के लिए भी विभिन्न तरह के कष्टों का सामना करना पड़ता है। सुख का कोई भी क्षण दु:खों से भरा न हो, ऐसा सम्भव नहीं। यह स्थिति ज्ञानी पुरुष को इस पर ध्यान देने की ओर बाध्य करती है।

१२. अपवर्ग— सुख-आनन्द का चरमोत्कर्ष एवं राग-द्वेष आदि समस्त दु:खों के पूर्णरूपेण अभाव की अवस्था का नाम ही अपवर्ग है। सुख-दु:ख की स्थिति का एकाग्र मन से ध्यान करता हुआ साधक उस दु:ख समूह से छूटने के लिए चिन्तित हो उठता है। यह चिंता उसे दु:ख बहुल सुख-साधनों की तरफ से उदासीन कर देती है। तब वह राग-द्वेषादि से अलग हटकर अपवर्ग के पथ का पथिक बन जाता है। जन्म-मृत्यु के प्रवाह के सातत्य का उच्छेद कर देता है। मोक्ष की अवस्था में सभी तरह के दु:खों का पूर्णतया अभाव हो जाता है ॥९ ॥

अब अगले सूत्र में 'आत्मा' नामक प्रमेय का लक्षण कहा जा रहा है—

(१०) इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु:खज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्॥ १० ॥

सूत्रार्थ— इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु:खज्ञानानि = इच्छा, द्वेष, प्रयत्न,सुख, दु:ख और ज्ञान, आत्मन: = आत्मा के, लिङ्गम् = लक्षण — चिह्न हैं।

व्याख्या— सूत्रकार ने इस सूत्र में आत्मा नामक प्रमेय के छ: लक्षण बतलाये हैं। ये क्रमश: निम्नवत् हैं— इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख एवं ज्ञान। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा को सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेषादि षट् विशेष गुणों के द्वारा अनुमान प्रमाण से भी देह आदि से पृथक् नित्य स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ इन लक्षणों की विवेचना क्रमश: की जा रही है—

१. इच्छा— जिस पदार्थ या वस्तु से प्रारम्भ में सुख प्राप्त हुआ, उसकी प्राप्ति का विचार 'इच्छा' कहलाती है।

२. द्वेष— जिस वस्तु या पदार्थ से पूर्व में कष्ट-परेशानी मिली हो, उस वस्तु को देखने के पश्चात्, उससे दूर रहने के विचार को 'द्वेष' कहा जाता है।

३. प्रयत्न— दु:ख के कारणों को दूर करने एवं सुख के कारणों को पाने की प्रक्रिया को 'प्रयत्न' कहते हैं।

४. सुख— जिस वस्तु या पदार्थ की प्राप्ति देह को पीड़ा न पहुँचाए, वही 'सुख' है।

५. दु:ख— जिस वस्तु या पदार्थ की प्राप्ति से शरीर को कष्ट-पीड़ा की अनुभूति हो, वही 'दु:ख' है।

६. ज्ञान— आत्मा अथवा शरीर के अनुकूल वस्तु या पदार्थों की जानकारी प्रदान करने की शक्ति का नाम 'ज्ञान' है। इस प्रकार आत्मा के छ: लक्षणों को यहाँ सूत्रकार ने प्रतिपादित किया है ॥ १० ॥

अब शरीर नामक प्रमेय के लक्षण की विवेचना करते हैं—

(११) चेष्टेन्द्रियार्थाश्रय: शरीरम्॥ ११ ॥

सूत्रार्थ— चेष्टेन्द्रियार्थाश्रय: = जो चेष्टा, इन्द्रिय एवं अर्थों-विषयों के लिए आश्रय रूप है, शरीरम् = उसे शरीर या देह कहा जाता है।

व्याख्या— जीवात्मा को अपने प्रारब्ध कर्म का भोग भोगने के लिए शरीर धारण करना पड़ता है। सुख-दु:ख की उपलब्धि को भोग कहा जाता है तथा जिस आश्रय में रहकर आत्मा उस भोग को भोग सके, वह आश्रय ही देह कहलाता है। यहाँ सूत्र में 'आश्रय' पद का सम्बन्ध चेष्टा, इन्द्रिय एवं अर्थ (विषय) तीनों के साथ है। इन तीनों का आश्रय शरीर है। चेष्टा उस सक्रियता या गतिशीलता का नाम है, जो ज्ञान, इच्छा व प्रयास से होती है। आत्मा देह में स्थित है। ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्न आत्मा के गुण हैं, इन गुणों के विकास से देह में जो क्रिया या स्पन्दन होता है, उसी का 'आश्रय' शरीर है। शरीर के तीनों आश्रयों को यहाँ क्रमश: विवेचित किया जा रहा है—

१. चेष्टाश्रय— जब शरीर में आत्मा स्थित रहता है, तभी चेष्टा का होना सम्भव रहता है। आत्मा से रहित देह-मृतदेह आदि में एवं जहाँ पर कभी आत्मा स्थित नहीं रहता, ऐसे सामान्य अचेतन पदार्थों में जो क्रिया होती है, उसे चेष्टा नहीं, मात्र क्रिया ही कहा जाता है। चेष्टा का अस्तित्व आत्मा से युक्त देह में ही संभव है, इसी आधार पर शरीर का लक्षण 'चेष्टाश्रय' कहा गया है।

२. इन्द्रियाश्रय— शरीर का दूसरा लक्षण इन्द्रियाश्रय है। इन्द्रियों की अपने अर्थों-विषयों में प्रवृत्ति, शरीरावलम्बन के बिना सम्भव नहीं। इन्द्रियों की भोग साधनता शरीर में ही सार्थक होती है। इसी आधार पर शरीर का लक्षण 'इन्द्रियाश्रय' कहलाता है।

३. अर्थाश्रय— अर्थ- विषय भी शरीर का आश्रय सूत्रानुसार कहलाता है। यहाँ 'अर्थ' पद का भाव सुख-दु:ख आदि का भोग है। इन्द्रिय एवं विषय के सम्बन्ध से उत्पन्न सुख-दु:ख आदि का जिस आश्रय में आत्मा को अनुभव होता है, वही शरीर कहलाता है। न्यायशास्त्र में 'भोग' पद का तात्पर्य सुख-दु:ख आदि भोगों का प्राप्त होना है, जो शरीर में सम्भव है। इसी से 'चेष्टा' आदि का आश्रय शरीर नामक प्रमेय कहलाता है॥ ११॥

अब अगले सूत्र में इन्द्रिय नामक प्रमेय के लक्षण एवं भेदों को विवेचित किया जा रहा है—

(१२) घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः॥ १२॥

सूत्रार्थ— घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि = घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा एवं श्रोत्र — ये पाँचों; इन्द्रियाणि = इन्द्रियाँ हैं, जो; भूतेभ्यः = भूतों के द्वारा (प्रादुर्भूत हुई हैं)।

व्याख्या— ये पाँचों इन्द्रियाँ पञ्चभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) के द्वारा निर्मित हैं। ये इन्द्रियाँ ही देह का अवलम्बन प्राप्त करने वाले आत्मा को भिन्न-भिन्न विषयों को ग्रहण कराती हैं। यहाँ सूत्रकार ने घ्राण आदि इन्द्रियों का केवल नाम ही निर्देशन किया है। यद्यपि इस नाम निर्देशन में ही प्रत्येक इन्द्रिय का लक्षण अन्तर्निहित है। यह तथ्य हर इन्द्रिय के नाम-निर्वचन से ज्ञात हो जाता है। घ्राण अर्थात् गन्ध को ग्रहण करने का साधन घ्राणेन्द्रिय है। इससे घ्राण का लक्षण हुआ—**'जिघ्रति अनेन इति घ्राणं '** गन्ध को जो इन्द्रिय ग्रहण करती है, वही घ्राण है। रसना अर्थात् जिसके द्वारा चखा जाय वही रसना है— **'रसयति अनेन इति रसनम्'**। इसका भाव यह है कि इन्द्रियार्थ का सम्बन्ध होने पर जो इन्द्रिय रस-ज्ञान में साधन होती है, वही रसना कहलाती है। चक्षु उपस्थित दृश्य का अवलोकन करते हैं। इस इन्द्रिय का लक्षण भी उस नाम-पद के निर्वचन से स्पष्ट हो जाता है— **'चष्टे अनेन इति चक्षुः।'** अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय, वह इन्द्रिय चक्षु कहलाती है। त्वक् से स्पर्श का बोध होता है। इस इन्द्रिय नाम के निर्वचन में अन्य इन्द्रिय नामों से कुछ अन्तर है। 'तन्' धातु के 'अन्' भाग को 'व' आदेश होकर 'चिक्' प्रत्यय का 'च्' अंश कटकर 'त्वक्' शब्द बनता है। इस धातु-अर्थ के अनुसार त्वक् का अर्थ हुआ- फैला हुआ। अर्थात् समस्त शरीर को आवृत करने वाला अथवा सम्पूर्ण देह पर फैले हुए चर्म का नाम ही त्वक् है। त्वक्-इन्द्रिय का स्थान समस्त

शरीरवर्ती त्वक् (चर्म) है। इसका अपर नाम '**स्पर्शन**' भी है। '**स्पृशति अनेन इति स्पर्शनम्**' स्पर्श होता है, जिस इन्द्रिय से, वही 'स्पर्शन' कहलाता है। 'श्रोत्र' इन्द्रिय शब्द को ग्रहण करती है। '**शृणोति अनेन इति श्रोत्रम्**'। अर्थात् जिसके द्वारा श्रवण करता है, वह इन्द्रिय श्रोत्र है। शब्द श्रवण किया जाता है। अतः '**शब्द-ग्राहकमिन्द्रियं श्रोत्रम्** ' यह लक्षण श्रोत्र का हुआ।

इस प्रकार अपने-अपने विषय को ग्रहण करना-प्रत्येक इन्द्रिय का लक्षण है अर्थात् अपने कार्य के आधार पर उन-उन इन्द्रियों को पहचान लिया जाता है। ये पाँचों इन्द्रियाँ आत्मा को गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द का ज्ञान कराती रहती हैं॥ १२॥

इस सूत्र में पञ्चभूतों का वर्णन किया जा रहा है—

(१३) पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि॥ १३॥

सूत्रार्थ— पृथिवी = पृथिवी, आपः = जल, तेजः = अग्नि, वायुः = वायु, आकाशम् = आकाश, इति = ये, भूतानि = (पाँच) भूत कहे जाते हैं।

व्याख्या— पृथिवी आदि पञ्चभूत बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होकर आत्मा को अपने-अपने गुणों का ज्ञान कराने में पूर्ण सक्षम हैं। ये पञ्चभूत परस्पर संयुक्त रूप से रहते हैं। षड्दर्शन में पृथिवी आदि पञ्च पदार्थों का पारिभाषित किया हुआ नाम 'भूत' है। यहाँ सूत्र में पञ्चभूतों के वाचक 'पृथिवी' आदि पद अलग-अलग प्रस्तुत किये गये हैं। इन 'भूतों' की रचना में इनका कोई सम्मिश्रण नहीं होता। पूर्व सूत्र में पठित घ्राण आदि इन्द्रियों के क्रमानुसार पृथिवी आदि भूत कारण हैं, यह सुनिश्चित हो जाता है। घ्राण का कारण पृथिवी, रसना का कारण जल (रस), चक्षु का कारण तेज, त्वक् का कारण वायु है। वाचक पदों के अलग पाठ से आकाशीय-श्रोत्र-इन्द्रिय की पृथक् स्थिति का भी निर्देशन सम्भव है। घ्राण आदि इन्द्रियाँ पृथ्वी आदि भूतों से प्रकट होती हैं; किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय आकाश से प्रकट न होकर स्वयं आकाश स्वरूप है।

यहाँ सूत्रकार का यह भाव भी प्रकट होता है कि इन भूतों की संरचना एक-दूसरे से मिलकर नहीं होती, वरन् अपने-अपने उपादान तत्त्वों से स्वतन्त्र रूप में होती है। इससे सभी भूतों में पञ्चीकरण एवं आंशिक सम्मिश्रण के सभी कथन आधाररहित तथा असंगत ही जानने चाहिए॥ १३॥

इस सूत्र में 'अर्थ' नामक प्रमेय (गन्ध आदि गुणों) का विवेचन किया जा रहा है—

(१४) गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः॥ १४॥

सूत्रार्थ— गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः = गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द- (ये पाँचों क्रमशः), पृथिव्यादिगुणाः = पृथिवी आदि (पञ्चभूतों) के गुण हैं, (और); तदर्थाः = उन घ्राण आदि पञ्चज्ञानेन्द्रियों के विषय (अर्थ) हैं।

व्याख्या— पञ्चभूतों के पृथक्-पृथक् पाँच गुण होते हैं। पृथिवी का गुण 'गन्ध' है। यह दो प्रकार का होता है— सुरभि एवं असुरभि। पार्थिव वस्तुभेद से इनके विभिन्न अवान्तर भेद भी सम्भव हैं। जल का गुण 'रस' है। यह जल के साथ पृथिवी में भी रहता है। जल में मात्र मधुर रस है तथा पृथिवी में यह छः प्रकार का है— मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय एवं तिक्त। अग्नि का गुण 'रूप' है। यह अग्नि के साथ जल एवं पृथिवी में भी रहता है। अग्नि में मात्र भास्वर शुक्ल रूप है। जल में अभास्वर शुक्ल एवं पृथिवी में रूप सात प्रकार का कहा गया है—श्वेत, रक्त,नील, पीत, हरित, कपिश एवं चित्र। वायु का गुण 'स्पर्श' है। वायु के अतिरिक्त यह गुण अग्नि, जल एवं पृथिवी में भी रहता है। वायु में मात्र अनुष्णाशीत-मृदु स्पर्श की अनुभूति होती है। अग्नि में उष्ण स्पर्श नामक गुण, जल में शीतस्पर्श एवं पृथिवी में अनुष्णशीत-कठिन स्पर्श नामक

गुण रहता है। आकाश तत्त्व का गुण शब्द है। यह गुण वैशेषिक दर्शन में वर्णात्मक एवं ध्वन्यात्मक दो प्रकार का कहा गया है। प्रथम वर्णात्मक मानव समाज द्वारा उच्चरित एवं शेष सभी दूसरे में आता है। इनका विस्तृत विवेचन 'वैशेषिकदर्शन-विद्योदयभाष्य' में देखा जा सकता है।

ये पाँचों गुण ज्ञानेन्द्रियों के विषय कहे गये हैं। नासिका का विषय गन्ध, जिह्वा का विषय रस, चक्षु का विषय रूप, त्वक् का विषय स्पर्श एवं श्रोत्र का विषय शब्द कहलाता है॥ १४॥

अब अगले सूत्र में 'बुद्धि' नामक प्रमेय का वर्णन किया जा रहा है—

(१५) बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्॥ १५॥

सूत्रार्थ— बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानम् = बुद्धि, उपलब्धि एवं ज्ञान, इति = ये तीनों पद, अनर्थान्तरम् = एक ही अर्थ के वाचक हैं, विभिन्न अर्थों के नहीं।

व्याख्या— सूत्र में 'बुद्धि' पद भावार्थक क्तिन्-प्रत्ययान्त है— **'बोधनं बुद्धिः'** अर्थात् जानकारी प्राप्त करना ही बुद्धि है। इस रूप में यह 'बुद्धि' पद ज्ञान का पर्याय हो जाता है। 'उपलब्धि' पद भी ज्ञान का पर्याय है। इस तरह से ये तीनों पद समान अर्थ वाले हैं। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष रूप प्रत्यक्ष तथा अनुमानादि प्रमाणों से आत्मा को जो विषय का 'साक्षात्' होता है, वही बुद्धि, ज्ञान या उपलब्धि है। जिसके द्वारा जाना जाये, वही बुद्धि है अर्थात् ज्ञान का साधन है। तब 'बुद्धि' पद अन्तःकरण वाची होता है।

इन तीनों (बुद्धि, ज्ञान एवं उपलब्धि) के अर्थ में अन्तर नहीं है। यह घट है, यह पट है, ऐसा ज्ञान कराने वाला स्वभाव बुद्धि का धर्म है और इन सभी को ज्ञान कहा जाता है। मैं घट को जानता हूँ, ऐसा बोध होना ही उपलब्धि है। अतः इससे यह प्रकट होता है कि बुद्धि एवं उपलब्धि का ज्ञान से कोई भेद नहीं है।

यहाँ 'बुद्धि' नामक प्रमेय का लक्षण सूत्रकार को व्यक्त करना चाहिए था; किन्तु यहाँ लक्षण न कह कर मात्र पर्याय पदों के निर्देश रूप उपपत्ति द्वारा यह कहा गया कि प्रस्तुत प्रसंग में 'बुद्धि' पद से ज्ञान-विषयी का ग्रहण होना चाहिए, ज्ञान साधन 'बुद्धि' का नहीं, यही प्रमेय रूप 'बुद्धि' का स्वरूप है॥ १५॥

अब 'मन' नामक प्रमेय के लक्षण का वर्णन करते हैं—

(१६) युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्॥ १६॥

सूत्रार्थ— युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः = एक समय में इन्द्रियों का अपने विषयों से जो सन्निकर्ष है, उससे भिन्न ज्ञान की उत्पत्ति; मनसः = मन का, लिङ्गम् = चिह्न (लक्षण) कहलाता है।

व्याख्या— आत्मा की प्रेरणा द्वारा ज्ञानेन्द्रियों अथवा कर्मेन्द्रियों का सन्निकर्ष रूप, रस, गन्ध आदि गुणों के सहित सहज ज्ञान होना ही उस विषय का ज्ञान कहलाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मन को एक काल में दो ज्ञान नहीं हो सकते। जब गन्ध का ज्ञान होगा, तब अन्य गुणों रूपादि का ज्ञान नहीं होगा और जब रूप आदि का ज्ञान होगा, तब गन्धादि का ज्ञान नहीं होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि ऐसा ज्ञान-हेतु इन्द्रिय से अलग अन्य कोई एक लक्षण है, जो ज्ञान के होने में सहायक है। यही 'मन' कहलाता है। एक समय में जिस इन्द्रिय के साथ उसका सन्निकर्ष होता है, उस काल में उसी इन्द्रिय के विषय का आत्मा को ज्ञान होता है। जिनके साथ असन्निकर्ष है, उन इन्द्रियों के विषय का ज्ञान नहीं होता। एक समय में एक विषय का ज्ञान होना मन का लक्षण कहलाता है।

एक काल में एक इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध होना शक्य है। यह इसलिए कि वह परिमाण की दृष्टि से अत्यधिक लघु है। उसका एक साथ विभिन्न इन्द्रियों से संयोग होना असम्भव है। अतः यदि ज्ञान के साधन इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के अवसर पर मन-इन्द्रिय संयोग की उपेक्षा कर दी जाए, तो एक समय में अनेक ज्ञान आत्मा को होने चाहिए, जो कि नहीं होते। यही स्थिति 'मन' रूप प्रमेय की उपपत्ति करती है॥ १६॥

अब प्रवृत्ति नामक प्रमेय का लक्षण कहा जा रहा है—

(१७) प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः॥ १७॥

सूत्रार्थ— वाग्बुद्धिशरीरारम्भः = वाणी, बुद्धि एवं शरीर द्वारा किया गया कर्म, प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति है।

व्याख्या— सूत्र में 'बुद्धि' पद करण प्रत्ययान्त होने के कारण 'मन' का वाची कहा गया है। इस प्रकार इच्छापूर्वक वाणी, मन एवं शरीर के द्वारा सम्पन्न होने वाले पाप-पुण्य रूप कर्म ही प्रवृत्ति कहलाते हैं। हम मन, वाणी एवं शरीर से क्रिया-चेष्टा आदि जो भी कुछ करते हैं, वह सब प्रवृत्ति के अन्तर्गत ही आता है। ये कर्म पुण्य एवं पापरूप दोनों तरह के होते हैं। मन के द्वारा किया गया कर्म मानसिक, मन एवं वाणी के संयोग से सम्पन्न होने वाला कर्म वाचिक और इन्द्रिय एवं शरीर के संयोग से जो कर्म सम्पन्न होता है, उसे शारीरिक कहते हैं। जिस कार्य का फल सुखरूप है, उसे पुण्य कर्म और जिस कार्य का फल दु:खरूप है, उसे पापकर्म कहा गया है। इस प्रकार से पुण्य एवं पाप लक्षणों वाली दस-दस वृत्तियाँ होती हैं, जिनका विस्तार इसी अध्याय के द्वितीय सूत्र की व्याख्या में किया जा चुका है॥ १७॥

अब 'दोष' नामक प्रमेय का लक्षण सूत्रकार द्वारा विवेचित किया जा रहा है—

(१८) प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः॥ १८॥

सूत्रार्थ— प्रवर्त्तना = प्रवृत्ति के हेतु होना, लक्षणाः = जिनका लक्षण-स्वरूप है, दोषाः = उन्हें दोष नामक प्रमेय कहा गया है।

व्याख्या— सूत्र में 'प्रवर्त्तना' पद का अर्थ-प्रवृत्ति का हेतु किया गया है। प्रवृत्ति का कारण (हेतु) ही लक्षण का स्वरूप है। प्रवृत्ति कराने वाले को ही दोष कहा जाता है। मनुष्य जो प्रवृत्ति करता है, वह सभी कुछ राग, द्वेष एवं मोह के द्वारा प्रेरित होता है। इस नश्वर जगत् में ऐसा कोई भी कर्म नहीं है, जिसकी जड़ में राग आदि दोष प्रेरणा देने का कार्य न करते हों। जब तक आत्म साक्षात्कार नहीं हो जाता, तब तक मिथ्या ज्ञान की दशा में राग आदि प्रकट होते रहते हैं तथा द्रष्टा आत्मा को धर्म या अधर्म की ओर प्रवृत्त कराते रहते हैं। इस तरह सहज रूप में राग-द्वेष एवं मोह को दोष नामक प्रमेय का लक्षण कहा गया है॥ १८॥

अब प्रेत्यभाव नामक प्रमेय का लक्षण कहा जा रहा है—

(१९) पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः॥ १९॥

सूत्रार्थ— पुनः = बारम्बार, उत्पत्तिः = प्रादुर्भूत होना, प्रेत्यभावः = प्रेत्यभाव है।

व्याख्या— एक शरीर का त्यागकर दूसरे शरीर में जन्म ग्रहण करना ही प्रेत्यभाव है। देह से इन्द्रिय एवं मन का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) टूट जाने को प्रेत कहते हैं। बारम्बार जन्म ग्रहण करना अर्थात् मृत्यु के पश्चात् पुनः जन्म लेने को प्रेत्यभाव कहते हैं। यहाँ इसका भाव यह हुआ कि सूक्ष्म शरीर के सहित जीवात्मा का देह से निष्क्रमण ही प्रयाण है तथा प्रयाण करने वाले को प्रेत कहते हैं। उस प्रेत का दूसरे देह से सम्बन्ध हो जाना ही प्रेत्यभाव कहलाता है।

यहाँ 'पुनः' पद से सूत्रकार का यह भाव है कि एक शरीर को छोड़कर दूसरे को ग्रहण करने का क्रम सतत चलता रहता है, इसका कोई आदि या अन्त नहीं है। अन्तराल में कभी दीर्घावधि विश्राम का होना सम्भव है। अन्यथा यह क्रम अनादि-अनंत जानना चाहिए। मरण के बाद पुनः जन्म होना— इसे ही पुनर्जन्म कहा जाता है। जन्म-मृत्यु का यह सिलसिला अपवर्ग (मोक्ष) मिलने तक सतत चलता रहता है। मोक्ष मिलने पर यह क्रम निश्चित अवधि के लिए विश्राम पा जाता है। इस प्रकार का प्रेत्यभाव विभिन्न योनियों में कर्मानुसार यथावत् गतिशील रहता है, ऐसा जानना चाहिए॥ १९॥

अब फल नामक प्रमेय का लक्षण कहते हैं—

(२०) प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम्॥ २०॥

सूत्रार्थ— प्रवृत्तिदोषजनितः = प्रवृत्ति एवं दोष से उत्पन्न हुआ, अर्थः = जो विषय-भोग है, फलम् = उसे ही फल कहा जाता है।

व्याख्या— सुख अथवा दुःख की प्राप्ति को फल कहा जाता है; क्योंकि इनका प्राकट्य प्रवृत्ति एवं दोष से होता है। धार्मिक प्रवृत्ति से किया हुआ कर्म सुख प्रदाता एवं अधार्मिक प्रवृत्ति से किया गया कर्म दुःख प्रदाता होता है। राग, द्वेष आदि दोष प्रवृत्ति के मूल कहे गये हैं। इन दोषों से प्रेरित होकर प्रवृत्त हुआ मनुष्य धर्म-अधर्म रूप कर्मों का शुभारम्भ करता रहता है। उन कर्मों के अनुसार उसे सुख या दुःख रूपी भोग मिलते हैं; इन्हें ही फल कहा गया है। आत्मा को गन्ध, रूप, रस आदि अर्थों के संसर्ग से प्राप्त सुख या दुःख आदि का भोग आत्मा की देह रहित अवस्था में असम्भव है। जिन कर्मों का फल मिल गया वह समाप्त हो गया, पूर्ण हो गया, छूट गया। जिन कर्मों का फल अभी नहीं मिला, वह अवसर आने पर मिलेगा, वही उपादेय है। इस प्रकार कर्मों के फलों के छूटते रहने एवं ग्रहण होते रहने का कहीं कोई अन्त नहीं है। कर्मों के अनुष्ठान एवं फलों की प्राप्ति का अनुक्रम सतत गतिशील रहता है। सम्पूर्ण जगत् इसी आधार पर सक्रिय है।

यहाँ 'दोष' पद को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि दोष मात्र प्रवृत्ति के कारण न होकर भोग, आयु, जाति आदि के भी कारण होते हैं। दोषों की कारणता को भोग आदि तक जानना चाहिए। प्रवृत्ति के प्राकट्य से दोष, भोग आदि प्रादुर्भूत होते हैं। भोग ही प्रमुख फल है, शेष सभी गौण हैं। देहेन्द्रिय आदि का मिलन फलरूप ही जानना चाहिए॥ २०॥

अब दुःख नामक प्रमेय का लक्षण बतलाते हैं—

(२१) बाधनालक्षणं दुःखम्॥ २१॥

सूत्रार्थ— बाधना = इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधा, दुःखम् = दुःख का, लक्षणम् = लक्षण है।

व्याख्या — जब मन किसी वस्तु-पदार्थ को प्राप्त करना चाहे और वह वस्तु प्राप्त न हो, तो उस समय उसकी अप्राप्ति में दुःख होता है। बाधना, पीड़ा, ताप, दुःख आदि समस्त शब्द एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। 'प्रतिकूल अनुभूति का होना' ही इन शब्दों का अर्थ हुआ। ये अनुभूतियाँ भौतिक वस्तुओं के संसर्ग में आने पर होती हैं। वस्तुतः विषय संबंधी अनुकूल अनुभूतियाँ भी भौतिक संसर्गों में होती हैं; किन्तु दुःख के हेय पक्षीय होने एवं जगत् के दुःख बहुल होने से भौतिक संसर्ग में दुःख का निर्देश हुआ है। दुःख राशि से कठोरता पूर्वक बँधे होने से भौतिक भोगों एवं उनके साधन भूत भोग्य वस्तुओं को विवेकी व्यक्ति दुःखरूप जानता हुआ उनकी तरफ से खिन्न व विरक्त हो जाता है। भौतिक पदार्थों की तरफ से उसका राग आकर्षण समाप्त हो जाता है। इसमें दुःखों से मुक्त होने की भावना प्रबल हो उठती है। इस तरह से अध्यात्म-मार्ग पर गमन करने वाला पथिक आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लेने पर अपवर्ग को पा लेता है। यही मनुष्य-जीवन का सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य है॥ २१॥

जिस स्थिति की प्राप्ति से दुःखों का समूल नाश हो जाता है, उस 'अपवर्ग' नामक अन्तिम प्रमेय का लक्षण कहा जा रहा है—

(२२) तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः॥ २२॥

सूत्रार्थ— तदत्यन्तविमोक्षः = उस दुःख का समूल समापन (मूल सहित पूर्ण रूपेण निवृत्त हो जाना) ही, अपवर्गः = मोक्ष कहलाता है।

व्याख्या— दु:ख की बहुलता वाले इस नश्वर जगत् में कभी जो भी कुछ सुख-कण प्राप्त होते हैं, उन्हें भी दु:ख की परिधि में मान लिया जाता है। इसका कारण यह है कि उस सुख-कण को प्राप्त करने के लिए कष्ट साध्य प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। उन दु:खों को अत्यन्त गौण कहा गया है। वस्तुत: सीधी प्रतिकूल अनुभूतियाँ ही प्रमुखतया दु:ख कहलाती हैं। सूत्र में 'तत्' पद सभी तरह के दु:खों का अतिदेश (नियम का विधान) करता है। सभी तरह के सांसारिक दु:खों का मोक्ष की अवस्था में समूल क्षय हो जाता है। अपवर्ग की स्थिति में सांसारिक कष्ट की अत्यल्प मात्रा भी मुक्तात्मा के अनुभव में नहीं आती।

दु:ख के तीन भेद-आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक कहे गये हैं। इन तीनों प्रकार के दु:खों से अत्यन्त निवृत्ति का होना ही अपवर्ग है। इन दु:खों का समूल शमन तभी हो सकता है, जब जन्म-मृत्यु के चक्र का समापन हो जाए। यह चक्र तभी समाप्त होगा, जब सभी तरह के प्रारब्ध कर्मों का समूल क्षय हो जाएगा।

सूत्रकार ने 'सभी तरह के दु:खों से अत्यन्त निवृत्त हो जाने' को ही अपवर्ग कहा है। वह मात्र इस भावना से है कि इसके अभाव में परमानंद स्वरूप मोक्ष का प्राप्त होना असंभव है तथा समस्त प्रयत्न दु:खों की अत्यन्त निवृत्ति के लिए किये जाते हैं, यह स्थिति होने पर परमानन्द की अनुभूति सहज ही हो जाती है, उसकी प्राप्ति के लिए अन्य कोई प्रयत्न आवश्यक नहीं होता। अत: दु:खों की अत्यन्त निवृत्ति द्वारा परमानन्द की अनुभूति होना अपवर्ग का यथार्थ स्वरूप है॥ २२॥

अगले सूत्र में तृतीय पदार्थ 'संशय' को परिभाषित किया गया है—

(२३) समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्श: संशय: ॥२३॥

सूत्रार्थ— समानानेकधर्मोपपत्ते: = समान धर्मों तथा अनेक धर्मों की उपपत्ति (प्राप्ति) से, विप्रतिपत्ते: = विरुद्ध धर्मों की प्राप्ति से, च = और, उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थात: = उपलब्धि एवं अनुपलब्धि— प्राप्ति व अप्राप्ति की अव्यवस्था होने से, विशेषापेक्ष: = विशेष धर्म (ज्ञान) की अपेक्षा होने से, विमर्श: = द्विकोटिक ज्ञान अर्थात् एक वस्तु में विपरीत ज्ञान का होना ही, संशय: = संदेह कहलाता है।

व्याख्या— एक ही वस्तु या पदार्थ में समान धर्म की प्राप्ति (प्रत्यक्ष) होने एवं उसके विशेष धर्म की अप्राप्ति (अप्रत्यक्ष) रहने से, उसी वस्तु या पदार्थ में दो परस्पर विरोधी भावों का प्रादुर्भाव होना ही संशय या भ्रम कहलाता है। जैसे— अन्धकार में रस्सी को सर्प के आकार में पड़ा हुआ देखकर सर्प होने का भ्रम हो जाना। उस समय रस्सी के धर्म अप्रत्यक्ष हो जाते हैं तथा सर्प के लक्षण ही दृष्टिगोचर होते हैं। इसी कारण सूत्रकार ने इस अवस्था को संशय या भ्रम कहा है। अत: संशय का स्वरूप-एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्मों का ज्ञान होना हुआ; किन्तु संशय तभी प्रकट होता है, जब ज्ञान की अपेक्षा हो, इसी कारण 'विशेषापेक्ष:' विशेषण यहाँ प्रदान किया गया॥२३॥

अब 'प्रयोजन' नामक पदार्थ का वर्णन करते हैं—

(२४) यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम्॥ २४॥

सूत्रार्थ— यम् = जिस, अर्थम् = अर्थ को, अधिकृत्य = लक्ष्य कर, प्रवर्त्तते = प्रवृत्त होता है (कोई व्यक्ति), तत् = वह (अर्थ), प्रयोजनम् = प्रयोजन कहलाता है।

व्याख्या— प्रत्येक मानव हानि एवं दु:ख की दशा से बचना चाहता है और लाभ एवं सुख-सुविधा के पदार्थों को प्राप्त करना चाहता है। यह प्रतिकूल का त्याग एवं अनुकूल का ग्रहण करना मनुष्य की हर एक

प्रवृत्ति का लक्ष्य होता है। सूत्र में 'अर्थम्' पद इसी (त्यागने व ग्रहण करने की) भावना का प्रतिपादन करता है। इसे ही प्रयोजन कहते हैं; क्योंकि यही प्रवृत्ति का हेतु होता है। इसी को अपना लक्ष्य निर्धारित कर मनुष्य किसी भी कार्य में प्रवृत्त होता रहता है ॥ २४ ॥

अब 'दृष्टान्त' नामक पदार्थ का स्वरूप प्रतिपादित किया जा रहा है—

(२५) लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ— यस्मिन् = जिस, अर्थे = विषय-पदार्थ में, लौकिकपरीक्षकाणाम् = सांसारिक एवं परीक्षकों की (परीक्षा लेने वाले मनुष्यों की), बुद्धिसाम्यम् = बुद्धि (जानकारी) समान पाई जाये, सः = वह, दृष्टान्तः = दृष्टान्त कहलाता है।

व्याख्या— संसार में निवास करने वाले समस्त जीव तो लौकिक (सांसारिक) होते हैं; किन्तु यहाँ सूत्र में 'लौकिक' पद का विशिष्ट प्रयोग इस अर्थ का बोधक है कि जिसे शास्त्रों के ज्ञान का अभाव हो अर्थात् उसका ज्ञान साधारण हो और उसे परीक्षक कहा है, जिसे सभी विषयों (प्रमाण-तर्क आदि) का ज्ञान हो। ऐसे लौकिक एवं परीक्षक मनुष्यों की बुद्धि जिस अर्थ-विषय में समान हो, वह 'दृष्टान्त' कहलाता है।

'दृष्टान्त' के दो भेद कहे गये हैं— १. साधर्म्य एवं २. वैधर्म्य।

किसी ज्ञात अर्थ को पक्ष-प्रतिपक्ष के द्वारा तदनुरूप में ग्रहण करना ही 'दृष्टान्त' कहलाता है। अनुमान के पंच अवयवों के अन्तर्गत 'दृष्टान्त' का प्रमुख स्थान कहा गया है ॥२५ ॥

सूत्रकार ने इस सूत्र में 'सिद्धान्त' नामक पदार्थ का लक्षण विवेचित किया है—

(२६) तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ— तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः = प्रमाण द्वारा सिद्ध हुए बाधारहित निर्णय को (तन्त्र संस्थिति, अधिकरण संस्थिति एवं अभ्युपगम संस्थिति को), सिद्धान्तः = सिद्धान्त कहा जाता है।

व्याख्या— 'सिद्ध' एवं 'अन्त' इन दो पदों के संयोग का नाम 'सिद्धान्त' है। सिद्ध का तात्पर्य है— यह इस प्रकार का है, इस रूप में किया गया या स्वीकार किया गया पदार्थ। द्वितीय पद 'अन्त' का तात्पर्य यह है— पूर्णरूपेण उसी तरह का होने का निश्चय। पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान की पूर्णता। यह इस प्रकार हो सकता है, अन्य प्रकार का नहीं, यही 'सिद्धान्त' का स्वरूप है। ऐसा ही भाव सूत्र के 'संस्थिति' पद से व्यक्त होता है। 'सम्' उपसर्ग का अर्थ है— सम्यक् रूप से भली प्रकार-पूर्णरूपेण। 'स्थितिः' अर्थात् स्थिरता, जो पदार्थ जिस तरह से जाना जाये, उसका पूर्णता से तदनुरूप होना ही संस्थिति पद का अभिप्राय है। इसके अनुसार सिद्धान्त का लक्षण मात्र 'संस्थितिः' है। सूत्र के शेष तीनों पद 'संस्थिति' पद के साथ संलग्न होकर सिद्धान्त के भिन्न-भिन्न प्रकारों को व्यक्त करते हैं। सूत्रकार ने सिद्धान्त के तीन प्रकार सूत्र में बतलाए हैं। १. तन्त्र सिद्धान्त २. अधिकरण सिद्धान्त ३. अभ्युपगम सिद्धान्त।

१. तन्त्र सिद्धान्त— 'तन्त्र' नामक पद शास्त्र का पर्यायवाची है। एक-दूसरे से सम्बद्ध अर्थ— समूह का जो भी उपदेश दिया जाता है, उसे शास्त्र कहते हैं। वहाँ प्रदान किये हुए विचार ही तन्त्र सिद्धान्त कहलाते हैं। इसके दो भेद होते हैं। १. सर्वतन्त्र सिद्धान्त २. प्रतितन्त्र सिद्धान्त

२. अधिकरण सिद्धान्त— एक अर्थ के प्रकट होने पर जो उससे सम्बद्ध अर्थ अनिवार्यतः सहज ही प्रकट हो जाते हैं अर्थात् जिनकी सिद्धि के अभाव में प्रथम अर्थ प्रकट नहीं हो पाता, उन अर्थों का प्रकरण के अनुकूल निश्चय को ही 'अधिकरण सिद्धान्त' कहा गया है।

३. अभ्युपगम सिद्धान्त— जो विषय अभी अनिश्चित है, उसे किसी प्रसंगानुसार ग्रहण कर लेना। किसी

विशेष अर्थ की परीक्षा लेने हेतु कथा-प्रसंगों में कभी किसी अनिश्चित प्रकरण को उतने क्षण के लिए स्वीकार कर लिया जाता है। यही स्वीकार अभ्युपगम सिद्धान्त कहलाता है॥ २६॥

अब अगले सूत्र में सूत्रकार द्वारा 'सिद्धान्त' के चार भेदों का प्रतिपादन किया जा रहा है—

(२७) स चतुर्विधः सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाऽभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात्॥२७॥

सूत्रार्थ— सः = वह (सिद्धान्त), चतुर्विधः = चार भेदों वाला है, सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाऽभ्युपगम = सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण एवं अभ्युपगम; संस्थित्यर्थान्तरभावात् = संस्थितियों के आपस में पृथक्-पृथक् होने के कारण।

व्याख्या— 'संस्थिति' नामक पद को हर एक के साथ सम्बद्ध कर देने से 'सिद्धान्त' के चार भेद प्रकट होते हैं, जो निम्नवत् हैं— १. सर्वतन्त्र सिद्धान्त २. प्रतितन्त्र सिद्धान्त ३. अधिकरण सिद्धान्त एवं ४. अभ्युपगम सिद्धान्त। सर्वतन्त्र और प्रतितन्त्र— ये दोनों तंत्र सिद्धान्त के भेद हैं। वैसे 'सिद्धान्त' के प्रायः तीन ही भेद माने गये हैं। यहाँ नाम निर्देश में लक्षण-पद 'संस्थिति' की जगह पर लक्ष्यपद 'सिद्धान्त' का प्रयोग सूत्रकार द्वारा आगे के सूत्रों के निर्देशानुसार ही है॥ २७॥

अब तन्त्र सिद्धान्त के दो भेदों में से प्रथम सर्वतन्त्र नामक सिद्धान्त के स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है—

(२८) सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः॥ २८॥

सूत्रार्थ— सर्वतन्त्राविरुद्धः = सभी शास्त्रों में विरोध-रहित समानरूप से स्वीकृत, तन्त्रे = किसी भी शास्त्र में, अधिकृतः = प्रमुख रूप से विवेचित, अर्थः = विषय, सर्वतन्त्रसिद्धान्तः = सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहलाता है।

व्याख्या— जब कोई विशेष अर्थ-विषय किसी एक शास्त्र में प्रमुख रूप से प्रतिपादित किया गया हो और उस विषय को निर्विरोध सभी शास्त्रों द्वारा मान लिया गया हो, तो उसे सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहते हैं। जैसे— घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र ये सभी इन्द्रियाँ हैं। इन सब इन्द्रियों का प्रमुख रूप से न्याय, वैशेषिक दर्शन में विवेचन जिस विषय के रूप में किया गया है, उसी अर्थ के रूप में सभी शास्त्रों ने समान रूप से मान्यता दी है। ऐसी मान्यताएँ ही सर्वतन्त्र सिद्धान्त के अन्तर्गत आती हैं॥ २८॥

इस सूत्र में तन्त्रसिद्धान्त के द्वितीय भेद 'प्रतितन्त्र सिद्धान्त' का स्वरूप कहा गया है—

(२९) समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः॥२९॥

सूत्रार्थ— समानतन्त्रसिद्धः = समानतन्त्र- (शास्त्र द्वारा) जो सिद्धान्त रूप से प्रतिपादित विषय सिद्ध (स्वीकृत) है, परतन्त्रासिद्धः = दूसरे अन्य शास्त्र में वह विषय असिद्ध (स्वीकृत नहीं) है, प्रतितन्त्रसिद्धान्तः =ऐसा विषय (वह) प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहलाता है।

व्याख्या— पूर्व सूत्र के 'तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः' पद की अनुवृत्ति यहाँ इस सूत्र में भी जाननी चाहिए। एक शास्त्र में जो विषय विशेषतया विवेचित है, जिस उद्देश्य विशेष से शास्त्र का शुभारम्भ किया गया है। तदनुरूप विषय का प्रतिपादन है, उस शास्त्र के समानतन्त्र में उपर्युक्त विषय को तदनुरूप ही स्वीकृत कर लिया गया है; किन्तु अन्य दूसरे शास्त्रों में, जिनका कि वह प्रमुख विषय प्रतिपाद्य नहीं है, उस उपर्युक्त विषय को तदनुरूप में स्वीकृत नहीं माना गया; वरन् उस विषय का प्रतिपादन दूसरी तरह से हुआ है। ऐसे अर्थ-प्रमुख विषय अपने-अपने शास्त्रों में प्रतिपादित होने के कारण प्रतितन्त्र-सिद्धान्त कहलाते हैं। (जैसे-न्यायशास्त्र के अनुयायी संसार का प्राकट्य, कर्म से बतलाते हैं; किन्तु सांख्य शास्त्रियों की मान्यता ऐसी न होकर, वह कार्य को ही नित्य कहते हैं, यही प्रतितन्त्र-सिद्धान्त है)॥ २९॥

अब इस सूत्र में तीसरे 'अधिकरण' नामक सिद्धान्त का लक्षण प्रतिपादित किया जा रहा है—

(३०) यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ— यत्सिद्धौ = जिस विषय की सिद्धि हो जाने के पश्चात्, अन्यप्रकरणसिद्धिः = अन्य दूसरे सन्दर्भ में संयुक्त अर्थों-विषयों की जो सिद्धि प्राप्त हो जाती है, सः = वह, अधिकरणसिद्धान्तः = अधिकरण सिद्धान्त कहलाता है।

व्याख्या— जब प्रमुख प्रकरण (विषय) सिद्ध हो जाता है, तब उसके साथ संयुक्त दूसरे अन्य प्रकरण स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं। उन प्रकरणों का उस प्रकार सिद्ध (निश्चय) हो जाना ही अधिकरण सिद्धान्त कहलाता है। जैसे— आत्मा की सिद्धि का प्रकरण है; इसमें शरीर एवं इन्द्रियों से आत्मा का अस्तित्व अलग है, यह सिद्ध करना है। यह तथ्य दर्शन एवं स्पर्शन से प्रत्यक्ष प्रकट होता है। यदि आत्मा शरीर एवं इन्द्रियों द्वारा अलग न होता, तो इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों का ज्ञान तो हो सकता था (चक्षु से रूप का, हाथ से स्पर्श का), जो ज्ञान अन्य इन्द्रियों ने प्राप्त कर लिया है, उसका ज्ञान दूसरी इन्द्रियों को कभी नहीं होता है। इसे इस प्रकार जानना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति अपने नेत्र द्वारा जिस एक वस्तु को देखता है, उसे हाथ से पकड़कर कहता है कि जिसे देख रहा हूँ, उसे ही पकड़कर उठा रहा हूँ। यदि आत्मा देह एवं इन्द्रियों से अलग न होता, तो दोनों इन्द्रियों द्वारा देखने और छूने का ज्ञान एक साथ नहीं होता। चूँकि आत्मा अलग है, इसलिए देखने और छूने दोनों का ज्ञान एक साथ हो जाता है। इस उदाहरण से भी यही स्पष्ट हुआ कि आत्मा शरीर से अलग है। यही अधिकरण नामक सिद्धान्त है॥ ३०॥

अब अभ्युपगम नामक चतुर्थ सिद्धान्त का लक्षण कहा जा रहा है—

(३१) अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ— अपरीक्षिताभ्युपगमात् = जिस अर्थ-विषय की परीक्षा न हुई हो, उसे स्वीकृत कर लेने पर, तद्विशेषपरीक्षणम् = उस अर्थ के विशेष परीक्षण को ही, अभ्युपगम सिद्धान्तः = अभ्युपगम सिद्धान्त कहा जाता है।

व्याख्या— सूत्र में किसी प्रमुख विषय के निश्चय करने के लिए विशेष परीक्षण का प्रसंग प्रस्तुत किया गया है। उस विषय के मूल अंश के परीक्षण हेतु जब उसके अपरीक्षित किसी अंश को उस क्षण के लिए स्वीकृत कर लेते हैं, तब ऐसा स्वीकृत करना ही 'अभ्युपगम सिद्धान्त' कहलाता है।

यहाँ 'शब्द' से सम्बन्धित प्रसंग चल रहा है। नैयायिकों की मान्यतानुसार शब्द, गुण एवं अनित्य है; किन्तु प्रतिवादी ऐसा नहीं मानता। वह शब्दों को न गुण मानता है और न अनित्य। शब्द की नित्यता व द्रव्यता दोनों ही अभी तक अपरीक्षित हैं। शब्द-सम्बन्धी इन दोनों तथ्यों की परीक्षा करना वांछित है। जब वादी कुछ क्षण के लिए यह मान लेता है कि शब्द द्रव्य है, तब शब्द के द्रव्य होने पर 'वह (शब्द) नित्य है या अनित्य', इस प्रमुख विषय की परीक्षा करनी चाहिए। ऐसे क्षणों में शब्द के अपरीक्षित धर्म 'द्रव्यत्व' की चर्चा प्रसंग में स्वीकृत करना ही 'अभ्युपगम सिद्धान्त' के अन्तर्गत आता है। वादी का ऐसा मानना अपनी बुद्धि एवं प्रतिभा के अतिशय को और प्रतिवादी की बुद्धि की उपेक्षा को सिद्ध करने के लिए होता है।

सूत्रकार ने चारों सिद्धान्तों के नामों का जो निर्धारण किया है, उनके निर्वचन के अनुसार उस सिद्धान्त पद का लक्षण भली-भाँति प्रकट हो जाता है॥ ३१॥

अब 'अवयव' नामक पदार्थ का विवेचन किया जा रहा है—

(३२) प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थ— प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि = प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन- ये पाँच, अवयवा: = अवयव कहे गये हैं।

व्याख्या— न्याय सूत्र के अन्तर्गत सोलह पदार्थों में से सर्वप्रथम 'प्रमाण' नामक पदार्थ का विवेचन किया गया है। प्रमाणों में से एक 'अनुमान' नामक प्रमाण है, जिसका निरूपण इसी अध्याय के प्रथम आह्निक में तीसरे व पाँचवें सूत्र में विस्तारपूर्वक किया गया है। इसी अनुमान नामक प्रमाण का विवरण ही 'अवयव' है। यहाँ यह पद सांकेतिक है। वस्तुत: किसी समूह के विभिन्न अंशों को 'अवयव' के नाम से जाना जाता है। यह 'अवयव' पद उस समूह का संकेतक है। वह समूह ही विशिष्ट वाक्य है। सूत्र में वर्णित प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन— ये पाँच अवयव हैं। इसी कारण उस वाक्य समूह को 'पञ्च अवयव वाक्य' कहा जाता है। किसी भी वस्तु की सिद्धि के लिए अनुमान नामक प्रमाण का उपयोग जिस वाक्य समूह के माध्यम से किया जाता है, वे वाक्य-समूह ही प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयव कहलाते हैं।

अनुमान नामक प्रमाण के दो भेद कहे गये हैं— १. स्वार्थानुमान प्रमाण एवं २. परार्थानुमान प्रमाण।

१. स्वार्थानुमान — जहाँ व्यक्ति स्वयं किसी अर्थ को जानने के लिए उसके साधक-हेतु, उदाहरण आदि अवयवों का चिन्तन करता है, तदनुसार विषय की वास्तविकता को जान लेता है। इसमें प्रतिज्ञा आदि अवयव के उच्चारण की आवश्यकता नहीं होती। इसे ही स्वार्थानुमान प्रमाण कहा गया है।

२. परार्थानुमान— जहाँ दूसरे व्यक्ति को कोई विषय समझाने का प्रयत्न किया जाता है, वहाँ प्रतिज्ञा आदि अवयवों का उपयोग आवश्यक होता है; क्योंकि बिना अवयवों के प्रयोग के दूसरे किसी को समझाना असंभव है। यह परार्थानुमान वहाँ वांछित होता है, जहाँ उच्चारित वाक्य समूह पर श्रोता की श्रद्धा न हो।

न्याय- वैशेषिकों की यह निश्चित मान्यता है कि स्वार्थानुमान में भले ही दो अथवा तीन अवयवों का प्रयोग मान लिया जाए; किन्तु परार्थानुमान में अर्थ के पूर्ण निश्चय के लिए प्रतिज्ञा आदि पञ्च अवयवों का प्रयोग अति आवश्यक है।

कुछ प्राचीन नैयायिकों ने प्रतिज्ञा आदि पञ्च अवयवों के अलावा अर्थ सिद्धि में प्रयोग होने वाले अन्य पञ्च अवयवों की भी कल्पना की है, वे निम्न हैं— १. जिज्ञासा २. संशय ३. शक्यप्राप्ति ४. प्रयोजन एवं ५. संशयव्युदास।

अर्थ साधन में इनका सीधा उपयोग कुछ भी नहीं है। यह बात अलग है कि परम्परा द्वारा या दूरागत कोई उपयोग भले ही हो जाए॥ ३२॥

पञ्च अवयवों में से 'प्रतिज्ञा' नामक अवयव के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है—

(३३) साध्यनिर्देश: प्रतिज्ञा॥ ३३॥

सूत्रार्थ— साध्यनिर्देश: = साध्य का निर्देशन करने वाले कथन को, प्रतिज्ञा = 'प्रतिज्ञा' नामक प्रथम अवयव कहा जाता है।

व्याख्या— जिस अर्थ की अभी सिद्धि नहीं हुई है, जिसके विषय में अभी संदेह की स्थिति बनी हुई है। सन्देह निवारण के पश्चात् उस साध्य अर्थ का निश्चय करने हेतु सबसे पहले उस विषय का निर्देश करना 'प्रतिज्ञा' कहलाता है। जैसे आत्मा चैतन्य है या अचैतन्य, शब्द नित्य है अथवा अनित्य। यह शब्द के 'चैतन्यत्व-अचैतन्यत्व', 'नित्यत्व, अनित्यत्व' में सन्देह है। सन्देह के निवारण के पश्चात् उस साध्य अर्थ का निश्चय करने के लिए उस विषय का निर्देशन करना ही 'प्रतिज्ञा' है॥ ३३॥

'प्रतिज्ञा' के पश्चात् अब 'हेतु' नामक अवयव का विवेचन किया जा रहा है—

(३४) उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः ॥ ३४॥

सूत्रार्थ— उदाहरणसाधर्म्यात् = उदाहरण के समान धर्म से, साध्यसाधनम् = साध्य का जो साधन होता है। हेतुः = वह (हेतु) नामक अवयव कहलाता है।

व्याख्या— उदाहरण के साधर्म्य (समान धर्म) द्वारा साध्य का जो साधन सिद्ध होता है,वह 'हेतु' नामक अवयव कहलाता है। इसे युक्ति भी कहा जाता है। उदाहरण, समानधर्म एवं विरुद्ध धर्म दो तरह का कहा गया है। यहाँ सूत्र में उदाहरण के समानधर्म द्वारा हेतु नामक अवयव का स्वरूप विवेचित किया गया है। जिस प्रकार 'प्रतिज्ञा' नामक अवयव में शब्द को अनित्य कहा गया है। वहाँ यह युक्ति देना कि 'शब्द उत्पत्तिवान् है; क्योंकि जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह नित्य नहीं हो सकती।' इस प्रकार साधर्म्य उदाहरण द्वारा शब्द का अनित्यत्व सिद्ध करने वाला घटक 'हेतु' या 'युक्ति' कहलाता है॥ ३४॥

जिस प्रकार से उदाहरण के समान धर्म से साध्य का साधन 'हेतु' होता है, उसी प्रकार उदाहरण के वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) से भी 'हेतु' होता है। अगले सूत्र में इसी वैधर्म्य हेतु का लक्षण कहा जा रहा है—

(३५) तथा वैधर्म्यात्॥ ३५॥

सूत्रार्थ— वैधर्म्यात् = उदाहरण के वैधर्म्य से, तथा = साध्य को सिद्ध करने वाले साधन वैधर्म्य 'हेतु' कहलाते हैं।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र के 'साधर्म्यात्' पद को अलग कर देने पर शेष समस्त सूत्र का यहाँ पर अनुवर्त्तन हुआ है। इस प्रकार से पूर्ण वाक्य हुआ-**'उदाहरण वैधर्म्यात् साध्य साधनं हेतुः'**। जिस प्रकार से उदाहरण के समानधर्म से साध्य का साधन हेतु होता है, उसी प्रकार उदाहरण के विरुद्ध धर्म द्वारा साध्य का साधन हेतु होता है। जैसे- शब्द उत्पन्न होने वाला होने के कारण अनित्य है, तो इसके विरुद्ध धर्म (लक्षण) से जो उत्पन्न होने वाला नहीं है, वह नित्य होना चाहिए। इस प्रकार से उदाहरण के विरुद्ध अर्थ द्वारा विरुद्ध हेतु की सिद्धि होती है। अतः इसे 'वैधर्म्य हेतु' नामक अवयव कहा गया है॥ ३५॥

'हेतु' के पश्चात् अब उदाहरण का लक्षण दिया जा रहा है—

(३६) साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्॥ ३६॥

सूत्रार्थ— साध्यसाधर्म्यात् = साध्य के साधर्म्य से, तद्धर्मभावी = उसके धर्म का प्रतिपादन करने वाले, दृष्टान्तः = दृष्टान्त को, उदाहरणम् = समानधर्म वाला 'उदाहरण' नामक अवयव कहते हैं।

व्याख्या— यहाँ सूत्र में साध्य के साधर्म्य होने के कारण अन्य दूसरे पदार्थ के धर्म का प्रतिपादन करने वाले दृष्टान्त को समान धर्म वाला उदाहरण कहा गया है। जैसे उत्पन्न होने वाली वस्तु या पदार्थ उत्पत्ति धर्मक कहलाता है तथा उत्पन्न होने के पश्चात् नष्ट भी हो जाता है, जैसे घट आदि। इस कारण वह अनित्य हुआ। इस प्रकार उत्पत्ति धर्मक वस्तु के उदाहरण द्वारा साध्य का अनित्यत्व सिद्ध होता है। इस प्रकार एक धर्मी घट में जब अनित्यत्व एवं उत्पत्ति धर्मकत्व के साध्य-साधन भाव को जान लेते हैं, तब निश्चित हो जाता है कि जो वस्तु उत्पत्ति धर्मक है, वह निश्चित ही अनित्य सिद्ध होगी। इस प्रकार धर्मों का साध्य-साधन भाव एक वस्तु में पाये जाने के कारण ही यह साधर्म्य उदाहरण कहलाता है॥ ३६॥

अब वैधर्म्य उदाहरण के लक्षण को कहा जा रहा है—

(३७) तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्॥ ३७॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा, तद्विपर्ययात् = उसके विरुद्ध लक्षण से दृष्टान्त वाक्य को, विपरीतम् = वैधर्म्य उदाहरण कहते हैं।

व्याख्या— उस (साध्य) के विपर्यय अर्थात् विरुद्ध लक्षणों के द्वारा जो दृष्टान्त वाक्य उत्पन्न होता है, वह वैधर्म्योदाहरण कहलाता है। जैसे— घट आदि अनित्य हैं; क्योंकि वे उत्पन्न होने वाले हैं तथा जो उत्पन्न नहीं होते, वे नित्य-शाश्वत कहलाते हैं। आकाश में उत्पत्ति धर्म का अभाव होने के कारण घट आदि के धर्म से विपर्यय अर्थात्-विपरीत अनुमान लगाया जाता है। अतः इस कारण से इस अनुमान को वैधर्म्य अर्थात् विरुद्ध धर्म वाला उदाहरण कहा जाता है॥ ३७॥

अब अगले सूत्र में 'उपनय' नामक चतुर्थ अवयव के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है—

(३८) उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः॥ ३८॥

सूत्रार्थ— तथा इति = यह उसी प्रकार है, वा = अथवा, न तथा = यह उस प्रकार का नहीं है, इति = ऐसा, उदाहरणापेक्षः = उदाहरण के अनुसार, साध्यस्य = साध्य का, उपसंहारः = सारांश (कथन) को, उपनयः = उपनय नामक चतुर्थ अवयव कहते हैं।

व्याख्या— यह वैसा ही है अथवा वैसा नहीं है। इस तरह के उदाहरण द्वारा साध्य का उपसंहार अर्थात् कथन करना ही उपनय कहलाता है। उपनय में कथन अथवा सारांश उदाहरण के सदृश ही होता है। पूर्व सूत्र में उदाहरण नामक अवयव के दो भेद कहे गये हैं। प्रथम-साधर्म्यमूलक एवं द्वितीय वैधर्म्यमूलक। इसी प्रकार यहाँ सूत्र में प्रयुक्त 'उपनय' के भी दो भेद हो जाते हैं— १. अन्वय उदाहरण मूलक एवं २. व्यतिरेक उदाहरण मूलक।

प्रथम उपनय अन्वय उदाहरण मूलक है। यहाँ उदाहरण 'घट' आदि पदार्थ हैं। तदनुसार 'तथा' संबोधित कर साध्याधिकरण पक्ष का पुनः निर्देशन करना 'उपनय' कहलाता है। इसके भेद निम्नवत् हैं, जैसे घट उत्पत्ति धर्मक है, वैसे ही शब्द भी उत्पत्ति धर्मक है।

द्वितीय उपनय व्यतिरेक-उदाहरण मूलक है। यहाँ पर उदाहरण 'आत्मा' आदि पदार्थ हैं। तदनुसार 'न तथा' कहकर पक्ष का पुनः कथन करना 'उपनय' कहलाता है। यथा— जिस प्रकार आत्मा अनुत्पत्ति धर्मक है, वैसा शब्द अनुत्पत्तिधर्मक नहीं है। यहाँ अनुत्पत्ति-धर्मकता के सारांश (कथन) का प्रतिषेध होने से 'उत्पत्ति धर्मकत्व' का शब्द में पुनः सारांश (कथन) अभिव्यक्त होता है। उपनय के ये दोनों भेद उदाहरण के दोनों भेदों की भाँति ही होते हैं॥ ३८॥

अब 'निगमन' नामक अवयव के स्वरूप को स्पष्ट किया जा रहा है—

(३९) हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्॥ ३९॥

सूत्रार्थ— हेत्वपदेशात् = हेतु के उपदेश (कथन) द्वारा, प्रतिज्ञायाः = प्रतिज्ञा का, पुनर्वचनम् = पुनः कहना, निगमनम् = 'निगमन' (नामक पाँचवाँ अवयव कहलाता) है।

व्याख्या— समानधर्म अथवा वैधर्म्य नामक उदाहरण के अनुसार कहे गये हेतु के उपदेश (कथन) पूर्वक प्रतिज्ञा का पुनः कथन करना 'निगमन' नामक पञ्चम अवयव कहलाता है। निगमन पद का शाब्दिक अर्थ हुआ-पूर्ण रूपेण जानकारी प्राप्त करना या सम्बन्ध स्थापित करना। तात्पर्य यह है कि जिसके द्वारा प्रतिज्ञा आदि पञ्च अवयवों का पूर्ण ज्ञान, सम्बन्ध या सार्थकता का साक्षात्कार कराया जाये, वह पञ्चम अवयव वाक्य समूह में 'निगमन' नामक अवयव है।

इसे उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, जैसे किसी व्यक्ति ने कहा कि सुदूर ऊँचाई वाले क्षेत्र में अग्नि है, ऐसा कहना 'प्रतिज्ञा' नामक अवयव हुआ। इस प्रतिज्ञा का जब हेतु पूछा गया, तो उत्तर मिला कि धुआँ उठ रहा है; इससे ज्ञात होता है कि यदि धुआँ है, तो अग्नि भी अवश्य होगी। जब यह कहा कि

उदाहरण द्वारा स्पष्ट करो कि धुआँ होने से अग्नि होना कैसे सिद्ध होता है ? तो उत्तर दिया कि 'भोजन अग्नि द्वारा बनता है तथा पाकशाला से धुआँ निकलता हुआ नित्यप्रति दृष्टिगोचर होता है। इस कारण धुआँ निकलना अग्नि की सिद्धि का हेतु है तथा पाकशाला इस तथ्य का उदाहरण है। जहाँ धुआँ है, वहाँ अग्नि जरूर होगी, यह उपनय हुआ और धुएँ को देखकर सुदूर स्थित ऊँचाई वाले क्षेत्र में पुनः अग्नि को कथन द्वारा व्यक्त करना 'निगमन' नामक अवयव हुआ॥ ३९ ॥

अब अगले सूत्र में तर्क का लक्षण कहा जा रहा है—

(४०) अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ॥ ४० ॥

सूत्रार्थ— अविज्ञाततत्त्वे = जिस वस्तु या पदार्थ का वास्तविक स्वरूप ज्ञात न हो, ऐसे; अर्थे = वस्तु के विषय में, तत्त्वज्ञानार्थम् = तत्त्वज्ञाम के लिए अर्थात् वस्तु की वास्तविकता को जानने के निमित्त; कारणोपपत्तिः = कारण (साधक) हेतु की सिद्धि से, ऊहः = ऊहा करना अर्थात् विविध भाँति के तर्कों-कारणों की कल्पना करना, तर्कः = तर्क कहलाता है।

व्याख्या— जब किसी वस्तु अथवा पदार्थ का यथार्थ स्वरूप मालूम नहीं होता, तब उस वस्तु के विषय के तत्त्वज्ञान के निमित्त अर्थात् वस्तु की यथार्थता को जानने हेतु जिन विभिन्न तरह के तर्कों-कारणों की कल्पना की जाती है, वह कल्पना ही तर्क कहलाती है।

मनुष्य जिस अर्थ-विषय को यथार्थ रूप से नहीं जानता, उसके जानने की इच्छा अवसर आने पर प्रकट होती है। जिसे वह जानना चाहता है, जब उसमें परस्पर विरुद्ध दो धर्म उसे प्रतीत होते हैं, तो उन धर्मों पर वह अलग-अलग. ढंग से सोचता है-क्या इस विषय को प्रतीयमान इस धर्मानुसार माना जाय या दूसरे धर्मानुसार ? जब वह उन दोनों विपरीत धर्मों के विषय में गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करता है, तब वह इच्छित अर्थ के प्रतीयमान विपरीत धर्मों में से किसी एक धर्म की स्वीकृति हेतु कुछ तर्कपूर्ण तथ्यों को देखता है। वह तर्क के आधार पर चिन्तन की इस स्थिति में पहुँच जाता है कि अमुक विषय में इस धर्म की मान्यता के लिए कुछ प्रमाण व हेतु उपलब्ध हैं, तब इसे ऐसा स्वीकारना चाहिए, अन्य लक्षणों को नहीं।

उठता हुआ धुआँ देखकर तर्क जागता है, यदि अमुक क्षेत्र में आग न होती, तो धुआँ न दिखाई देता या तर्क का रूप होगा- यदि धुआँ आग के अभाव में हो जाता, तो आग से प्रकट न होता, तब उस क्षेत्र में आग होनी चाहिए। यहाँ तर्क धुआँ एवं आग के कार्य-कारण भाव को प्रकट करता है। ऐसे ही तर्क का उदाहरण देहादि फल एवं कर्म के कार्य- कारण भाव को भी अभिव्यक्त करता है।

अतः तर्क स्वयं तत्त्वज्ञान न होकर वह तत्त्वज्ञान के लिए है, उसका सहायक है। प्रमाणों को अपना कार्य करने के लिए उनके मार्ग में आये संशयादि को अनावृत कर मार्ग को स्वच्छता प्रदान करता है। इसी रूप में 'तर्क' तत्त्वज्ञान की यथार्थता के लिए सहायक माना गया है। जिज्ञासु साधक ऐसे ही तर्क की सहायता से यथार्थ अर्थ- तत्त्व को जानने के निमित्त अपने मार्ग का चयन कर लेता है॥ ४० ॥

तर्क से सम्बन्धित विवेचना के पश्चात् 'निर्णय' के सन्दर्भ में सूत्रकार अगले सूत्र में लिखते हैं कि—

(४१) विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ॥ ४१ ॥

सूत्रार्थ— विमृश्य = संशय के प्रकट होने पर तर्क द्वारा विचार करने के पश्चात्, पक्षप्रतिपक्षाभ्याम् = पक्ष एवं प्रतिपक्ष (विपक्ष) के प्रयोग द्वारा, अर्थावधारणम् = अर्थ-विषय का अवधारण किया जाना अर्थात् स्वीकार करना ही 'निर्णय' कहलाता है।

व्याख्या— जब किसी विषय (पदार्थ) में संशय उत्पन्न हो जाता है, तब उसके निर्धारण के लिए

पक्ष एवं प्रतिपक्ष के माध्यम से जो वास्तविक रूप ज्ञात कर लिया जाता है, वही 'निर्णय' कहलाता है। किसी एक सजातीय धर्म में दो विपरीत धर्मों के परिलक्षित होने पर जब संशय उपस्थित हो जाता है, तब उस वस्तु का वास्तविक रूप क्या है? इसके निर्धारण के लिए तर्क के आधार पर धर्म एवं विधर्म-दोनों तरफ के हेतु को ढूँढ़ा जाता है। तत्पश्चात् पक्ष एवं विपक्ष के द्वारा उन हेतुओं को उपस्थित कर अपने कथन की सिद्धि एवं दूसरे के कथन की असिद्धि कर दी जाती है। उसमें से किसी एक के असिद्ध हो जाने पर वह निवृत्त हो जाता है और जो शेष रह जाता है, वही अर्थ का अवधारक होता है। उसे ही 'निर्णय' कहते हैं। निर्णय का यह भेद उसी अवसर के लिए है, जहाँ पक्ष एवं विपक्ष के प्रयोग से कथन पूर्वक अर्थ विषय का अवधारण करना निश्चित किया जाता है। इसमें कथन या उपदेश द्वारा अपने पक्ष की स्थापना एवं दूसरे के पक्ष का प्रतिषेध दोनों, वादी एवं प्रतिवादी के द्वारा निरन्तर क्रमशः सम्पन्न किया जाता है। जैसे अँधेरी रात्रि में रस्सी को देखकर उसमें सर्प का संशय उत्पन्न हो जाता है; किन्तु प्रकाश के आगमन पर उसके पक्ष एवं प्रतिपक्ष वाले लक्षणों के द्वारा यह ज्ञात हो जाता है कि यह सर्प नहीं रस्सी है। रस्सी के इस वास्तविक स्वरूप (ज्ञान) को ही 'निर्णय' कहा जाता है।

'निर्णय' के सन्दर्भ में यहाँ एक तथ्य और ध्यान में रखना चाहिए, वह यह कि प्रत्येक निर्णय के लिए यह जरूरी नहीं है कि वहाँ संशय के बाद पक्ष-विपक्ष द्वारा अर्थ का अवधारण होता है; ऐसा वहाँ पर होता है, जहाँ परस्पर दो लोगों में कथनोपकथन से किसी संशयात्मक विषय के निर्धारण के लिए प्रयास किया जाता है। इन्द्रिय एवं विषय के सन्निकर्ष से प्रकट प्रत्यक्ष ज्ञान में अर्थ को स्वीकार किया जाना, बिना संशय व पक्ष-विपक्ष के प्रयोग से हो जाता है। ऐसे ही शास्त्रानुशीलन से एवं गुरुजनों के उपदेश द्वारा जो निर्धारण हो जाता है, वह भी इसी प्रकार है। अभिप्राय यह हुआ कि संशय और पक्ष-विपक्ष की आवश्यकता वहाँ पर होती है, जहाँ अनुमान-प्रमाण से विषय का निर्णय किया जाता है। जहाँ प्रत्यक्ष या शब्द प्रमाण द्वारा अर्थावधारण होता है, वहाँ संशयादि अनावश्यक हैं-अपेक्षित नहीं हैं॥ ४१॥

॥ इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्॥

॥ अथ प्रथमाऽध्याये द्वितीयाह्निकम् ॥

(कथा-प्रकरण)

अनुमान प्रमाण के द्वारा किसी विषय का निर्णय आपस के विचार-विमर्श, कथा-उपदेशों पर अवलम्बित है। कथा के तीन रूप हैं- १. वाद २. जल्प एवं ३. वितण्डा। यहाँ क्रमशः वाद-कथा का निरूपण सूत्रकार द्वारा किया जा रहा है—

(४२) प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— सिद्धान्ताविरुद्धः = सिद्धान्त के विपरीत कथन न हो, प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः= प्रमाण एवं तर्क से साधन तथा उपालम्भ अर्थात् प्रतिषेध (जिसमें हो, उस), पञ्चावयवोपपन्नः = प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों से सम्पन्न हों (तथा), पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः = जिनमें पक्ष एवं विपक्ष के प्रयोगानुसार विषय का प्रतिपादन स्वीकार किया गया हो, वादः = (उस कथा को) वाद कहते हैं।

व्याख्या— प्रस्तुत सूत्र में 'परिग्रह' पद का अर्थ कथोपकथन- परस्पर चर्चा के लिए पक्ष-विपक्ष के प्रयोग द्वारा निर्धारित किये गये नियम आदि का स्वीकार करना किया गया है। एक अधिकरण (विषय) में प्रतीयमान दो विपरीत धर्म यहाँ 'पक्ष-विपक्ष' पदों द्वारा ग्राह्य हैं। अभिप्राय यह हुआ कि एक ही पदार्थ के दो विपरीत धर्मों के लक्षण द्वारा निर्धारित प्रमाण, तर्क, साधन एवं प्रतिषेध द्वारा पक्ष-प्रतिपक्ष के प्रयोगानुसार प्रतिज्ञा आदि अनुमान के पाँच अवयवों द्वारा प्रश्नोत्तर स्वरूप जो कथोपकथन चर्चा-कथा की जाती है, वह 'वाद'- कथा कहलाती है। सूत्र के शेष भाग में 'वाद' के तीन विशेषण (१. प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः, २. सिद्धान्ताविरुद्धः ३. पञ्चावयवोपपन्नः) कहे गये हैं, जो 'वाद' की प्रक्रिया के सन्दर्भ में निर्देशन करते हैं। इसे एक उदाहरण के द्वारा स्पष्टतया समझा जा सकता है-जैसे कोई व्यक्ति यह कहता है कि आत्मा है तथा दूसरा व्यक्ति कहता है कि आत्मा नहीं है। यहाँ एक आत्मा के होने में अपना तर्क देता है और दूसरा आत्मा के न होने में। इसे ही वाद कहना चाहिए; किन्तु दो विपरीत विषयों में विपरीत धर्मों का कहा जाना 'वाद' नहीं माना जा सकता; क्योंकि जैसे एक व्यक्ति ने कहा कि 'आत्मा नित्य है' और दूसरे ने कहा- देह अनित्य है। यह दोनों विषय नित्यत्व एवं अनित्यत्व विभिन्न धर्म में विद्यमान होने के कारण वाद का विषय नहीं हो सकते; क्योंकि एक विषय में तो परस्पर विपरीत धर्म रहेंगे ही नहीं और दो विपरीत धर्म वाले विषयों की चर्चा किसी भी तरह के विवाद को सिद्ध नहीं कर सकती। अतः एक विषय की सिद्धि-असिद्धि के लिए आपस में नोंक-झोंक करना ही 'वाद' कहलाता है ॥ १ ॥

अब कथा के द्वितीय प्रकरण 'जल्प' का स्वरूप विवेचित किया जा रहा है—

(४३) यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— यथोक्तोपपन्नः = (वाद-कथा में) जैसे कहा गया है, उससे उपपन्न-युक्त (अर्थात् प्रमाण एवं तर्क से साधन और उपालम्भ-प्रतिषेध के होने पर तथा; छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भः = छल, जाति एवं निग्रह स्थान के द्वारा अपने पक्ष को सिद्ध करना तथा दूसरे पक्ष का प्रतिषेध करना ही 'जल्प' नामक कथा कहलाती है।

व्याख्या— यहाँ पूर्व सूत्र के लक्ष्य पद को छोड़, शेष पूरा सूत्र पुनः प्रयुक्त हुआ है। ऐसा 'यथोक्तोपपन्न' सूत्र पद द्वारा निश्चित है। वाद कथा के समस्त प्रयोग यथापेक्षानुसार जल्प-कथा में भी लागू होते

हैं। तदनुसार जल्प-कथा में प्रमाण, तर्क आदि द्वारा अपने पक्ष की सिद्धि एवं दूसरे पक्ष का निषेध करना, स्वपक्ष के स्वीकृत सिद्धान्त के विपरीत किसी भी तरह का कथन-उपदेश आदि न करना, अनुमान प्रमाण के प्रयोग में पञ्चावयवों का आवश्यकतानुसार उपयोग करना, पक्ष-विपक्ष के प्रयोगानुसार विषयों को स्वीकार करना आदि सभी तथ्य 'जल्प कथा' में आवश्यक रूप से समाहित हैं। इन सभी के सहित छल, जाति एवं निग्रह स्थानों के द्वारा पक्ष-विपक्ष का साधन-प्रतिषेध भी होता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि 'वाद-कथा' के भी यही लक्षण हैं, तो फिर 'जल्पकथा' के रूप में अलग भेद यहाँ पर क्यों कहा गया? इसका समाधान सूत्रकार द्वारा इस प्रकार किया गया है कि 'वाद' में जय-पराजय का प्रश्न ही नहीं उठता। उसमें तो वास्तविक तथ्य का समाधान किया जाता है; परन्तु जल्प में जय-परायज का उद्देश्य निश्चित होता है। अत: इसमें छल आदि से भी स्वपक्ष के लिए सिद्धि-प्राप्ति का प्रयास किया जाता है। वाद में जय-पराजय का लक्ष्य न होने से छल, जाति आदि उपक्रमों द्वारा अभीष्ट को नहीं प्राप्त किया जाता। वाद द्वारा सत्यासत्य के निर्णय की पुष्टि ही की जाती है; किन्तु जल्प में असत्य पक्ष की भी सफलता के लिए छल, जाति, मिथ्याप्रवचन आदि सभी तरह के उपक्रमों को प्रयुक्त किया जाता है। इस प्रकार वाद कथा और जल्प कथा में भेद पूर्णतया स्पष्ट है।

'जल्प' में जब प्रमाणों का-अर्थ (विषय) का साधन बनाया जाता है, तब उस समय छल, जाति एवं निग्रह स्थान के प्रयोग से दूसरे पक्ष का निषेध करने से ये छल आदि स्वपक्ष की रक्षा करते हैं। इस प्रकार से ये अर्थ साधक प्रमाणों के सहयोगी रहकर अर्थ सिद्धि में औपचारिक रूप से सम्मिलित हुए माने जाते हैं। इसलिए 'जल्प' में प्रमाण आदि के अङ्गभूत हुए छल आदि का उपयोग किया जाता है। ये स्वच्छन्द रूप से किसी अर्थ विषय को पुष्ट नहीं करते, वरन् निषेध करने में ये स्वच्छन्द रहते हैं॥२॥

अब अगले सूत्र में क्रम प्राप्त 'वितण्डा'-कथा का स्वरूप प्रतिपादित किया जा रहा है—

(४४) स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ॥ ३॥

सूत्रार्थ— स: = वह (जल्प), प्रतिपक्षस्थापनाहीन: = (जब) प्रतिपक्ष की स्थापना (अर्थात् एक-दूसरे के पक्ष की सिद्धि) से रहित होता है, (तब) वितण्डा = 'वितण्डा' कहलाता है।

व्याख्या— जल्प कथा में प्रवृत्त होने के कारण जब तक प्रतिवादी अपने प्रतिपक्ष की स्थापना नहीं कर लेता, तब तक वह 'वितण्डा' कथा का स्वरूप रहता है। जल्प-कथा में पक्ष एवं विपक्ष दोनों की स्थापना होती है; किन्तु वितण्डा के अनुयायी अपने पक्ष की स्थापना किये बिना, दूसरे के पक्ष के निषेध में प्रवृत्त रहते हैं। यदि ऐसा होता है, तो फिर इस प्रकार का ('**स प्रतिपक्षहीनो वितण्डा**') सूत्र क्यों नहीं रच दिया? इसमें यथार्थता तो यह है कि वितण्डा के अनुयाइयों का अपना पक्ष तो निश्चित है- दूसरे के पक्ष का निषेध करना; परन्तु वह किसी साध्य की प्रतिज्ञा करने हेतु उदाहरण आदि से अपने पक्ष की स्थापना नहीं करता, मात्र परपक्ष के कथन का निषेध करता रहता है। इसलिए यहाँ सूत्र की सर्जना पूर्ण व वास्तविक है॥ ३॥

अब क्रम प्राप्त हेत्वाभासों का स्वरूप व्यक्त करने के उद्देश्य से सूत्रकार द्वारा उनके विभागों का वर्णन प्रस्तुत सूत्र में किया गया है—

(४५) सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासा:॥ ४॥

सूत्रार्थ— सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता: = सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, कालातीत (ये पाँच तरह के), हेत्वाभासा: = हेत्वाभास (कहे गये) हैं।

व्याख्या— सूत्र में हेत्वाभास के पाँच भेदों का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया गया है। ये भेद निम्न हैं-

१. सव्यभिचार २. विरुद्ध ३. प्रकरणसम ४. साध्यसम एवं ५. कालातीत। यही हेत्वाभास कहलाते हैं। यहाँ हेत्वाभास के विभाग मालूम हो जाते हैं; किन्तु हेत्वाभास के लक्षणों या स्वरूप का प्राकट्य नहीं किया गया, जो कि सूत्रकार द्वारा किया जाना आवश्यक था। यद्यपि हेत्वाभास का स्वरूप इस पद (हेतु का आभास) के निर्वचन द्वारा प्रकट हो जाता है। अत: यह कहना उचित न होगा कि यहाँ पर लक्षण का निर्देशन नहीं हुआ।

हेत्वाभास का अर्थ सूत्रकार द्वारा इस प्रकार किया गया है- जिसमें वास्तविक हेतु न हो; लेकिन हेतु के सदृश आभास हो रहा हो, उसे हेत्वाभास कहते हैं। हेतु की वास्तविकता-साध्य को सिद्ध करने के सामर्थ्य की है। हेत्वाभास के स्वरूप को निर्वचन द्वारा और भी स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है, जो यहाँ द्रष्टव्य है-

'हेतुवद् आभासन्ते इति हेत्वाभासा:।'

यहाँ 'वति' (वत्) प्रत्यय हेतु रूप से प्रयुक्त पद को हेतु से पृथक् होना स्पष्ट करता है, जो हेतु के सदृश आलोकित होता है; किन्तु यह वास्तविक हेतु नहीं है, हेतु से पृथक् है। इस तरह से यहाँ यह पद स्वयं ही निजरूप को प्रकट कर देता है॥४॥

अब इस सूत्र में हेत्वाभास के अन्तर्गत प्रयुक्त 'सव्यभिचार' नामक हेत्वाभास का स्वरूप प्रतिपादित किया जा रहा है—

(४६) अनैकान्तिक: सव्यभिचार:॥५॥

सूत्रार्थ— अनैकान्तिक: = जो हेतु एकत्र अवस्थित न हो (कई स्थानों पर हो), सव्यभिचार: = (वह) सव्यभिचार नामक हेत्वाभास कहलाता है।

व्याख्या— एक अन्त अर्थात् सिद्धान्त में जो हेतु व्यवस्थित होता है, उसे एकान्तिक कहा जाता है तथा जो हेतु ऐसा न हो, उसे अनैकान्तिक कहते हैं। हेतु के व्यवस्थित होने का अभिप्राय यह है कि हेतु का साध्य के अधिकरण में रहना, साध्याभाव के अधिकरण में न रहना। जो हेतु साध्य अधिकरण में रहते हुए साध्याभाव के अधिकरण में भी रहता है, वह एकत्र व्यवस्थित नहीं है। इस प्रकार का हेतु सव्यभिचार हेत्वाभास कहा जाता है। ''सव्यभिचार'' पद का अर्थ इस प्रकार यह किया गया है- एकत्र व्यवस्थित न होना, विभिन्न रूपों या स्थानों में यत्र-तत्र अभिचरण करना, पक्ष-विपक्ष दोनों जगह रह जाना आदि। इन रूपों में यह हेत्वाभास 'अनैकान्तिक एवं सव्यभिचार' दोनों ही नामों से जाना जाता है।

सव्यभिचार अनैकान्तिक के तीन भेद भी कहे गये हैं, जो निम्नवत् हैं-

१. साधारण २. असाधारण एवं ३. अनुपसंहारी। साधारण वह है, जो पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों में रहता है। असाधारण वह है, जो पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों से व्यावृत्त होता है अर्थात् वह न पक्ष में रहता है और न ही प्रतिपक्ष में, जैसे- **'शब्द: नित्य: शब्दत्वात्।'** तीसरा भेद अनुपसंहारी कहलाता है। यह केवलान्वयि पक्ष वाला है। जो पक्ष-विपक्ष से रहित हेतु कहा गया है, जैसे— **''सर्वं नित्यं, प्रमेयत्वात्''**।

उदाहरण के लिए - जैसे कोई व्यक्ति यह कहे कि शब्द स्पर्श वाला न होने से नित्य है, स्पर्श वाला घट या पट अनित्य देखा जाता है, तो शब्द स्पर्श वाला न होने से अनित्य के विरुद्ध धर्म वाला होना चाहिए, अत: नित्य है।

इस दृष्टान्त में अस्पर्शत्व और नित्यत्व का साध्य-साधनभाव नहीं हो सकता। यदि ऐसा कहा जाय कि जो अस्पर्श है वह नित्य है, जैसे— आत्मा, तो यह भी उचित नहीं; क्योंकि बुद्धि भी अस्पर्श ही रहती है; लेकिन वह नित्य नहीं है। अत: दोनों दृष्टान्तों में व्यभिचार उपस्थित होने से 'स्पर्शत्व न होना' ही सव्यभिचार (अनैकान्तिक) हेतु कहलाता है॥५॥

अब विरुद्ध हेत्वाभास का लक्षण कहा जा रहा है—

(४७) सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ— सिद्धान्तम् = अपने साध्य सिद्धान्त को, अभ्युपेत्य = भावनापूर्वक स्वीकार करने पर भी, तद्विरोधी = उस (साध्य) का विरोधी हेतु, विरुद्धः = 'विरुद्ध' नामक हेत्वाभास कहलाता है।

व्याख्या— परस्पर चर्चा, कथन आदि के क्रम में अपने स्वपक्ष में किसी साध्य धर्म (सिद्धान्त) को स्वीकार करके उसके (साध्य के) विपरीत हेतु का निर्देश करना ही 'विरुद्ध' हेत्वाभास कहलाता है। जैसे किसी व्यक्ति ने कहा कि सुदूर पर्वत में अग्नि है। इसकी वास्तविकता के लिए प्रमाण पूछा गया, तो उत्तर मिला कि 'पर्वत स्रोत (जलाशय) वाला' है। यहाँ जल स्रोत अग्नि के विरुद्ध लक्षण वाला है। अतः 'स्रोत' हेतु से 'विरुद्ध' हेत्वाभास हो जाता है। यहाँ स्रोत प्रमाण द्वारा अग्नि की सत्ता सिद्ध न होकर अभाव सिद्ध होता है; क्योंकि जहाँ स्रोत-जलाशय है, वहाँ अग्नि का होना असंभव है। इस प्रकार यहाँ अग्नि को सिद्ध न करने वाला हेतु होने के कारण जल स्रोत को 'विरुद्ध' हेतु मानना चाहिए। अपने स्वपक्ष-अर्थ का विरोधी होने के कारण विरुद्ध हेत्वाभास है। परिणामतः जो हेतु साध्य (सिद्धान्त) के अधिकरण अर्थात् पक्ष में न रहकर प्रतिपक्ष में रहता है, उसे 'विरुद्ध' हेत्वाभास कहा जाता है ॥ ६ ॥

अब क्रमिक रूप से 'प्रकरणसम' नामक हेत्वाभास का स्वरूप कहा जा रहा है—

(४८) यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ— निर्णयार्थम् = साध्य का निर्णय करने के लिए, अपदिष्टः = कहे हुए कथन पर भी, यस्मात् = जिस हेतु के द्वारा, प्रकरणचिन्ता = संशय के आधार पर पक्ष-विपक्ष रूप जिस प्रकरण को सिद्ध करने की चिन्ता होती है, सः = वह, प्रकरणसमः = 'प्रकरणसम' नामक तृतीय हेत्वाभास कहलाता है।

व्याख्या— साध्य का निश्चयपूर्वक निर्णय करने के लिए कहे हुए कथन-चर्चा-प्रसंग पर जिस हेतु के द्वारा संशय के आधार पर पक्ष-प्रतिपक्ष रूपी जिस प्रकरण को सिद्ध करने की चिन्ता होती है; किन्तु निश्चिन्ततापूर्वक कहने के पश्चात् भी प्रकरण की सिद्धि नहीं होती, वह 'प्रकरणसम' नामक तृतीय हेत्वाभास कहलाता है अर्थात् जिसके द्वारा सत्य अथवा असत्य होने में विश्वास न हो तथा वही वस्तु या पदार्थ विवाद में प्रमाण रूप में देना हो, तो उस कथन को 'प्रकरण-सम' कहा जायेगा। जैसे कोई यह कहे कि शब्द अनित्य है तथा उसकी अनित्यता में युक्ति दे कि शब्द उत्पत्तिवान् है, अतः अनित्य है तो यह विवादित विषय हो सकता है कि शब्द उत्पत्तिवान् है, या नहीं? अतः यहाँ शब्द की अनित्यता में उत्पत्ति होने की युक्ति को प्रकरण-सम नामक तृतीय हेत्वाभास कहा जायेगा। 'प्रकरण-सम' का 'अनैकान्तिक' से भेद है- अनैकान्तिक हेत्वाभास के चर्चा-प्रसंग में प्रतिपादित 'हेतु' किसी एक पक्ष के निर्णय में सक्षम नहीं होता; क्योंकि वह पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों में सम्यक् रूप से उपस्थित रहता है। फिर भी अनैकान्तिक से प्रकरण-सम का भेद इस प्रकार से जानना चाहिए।

अनैकान्तिक में पक्ष-प्रतिपक्ष वृत्ति एक ही धर्म हेतुरूप से प्रकट होता है, जैसे-सुदूर पर्वत में धुआँ उठने के कारण अग्नि का होना जाना जाता है। यहाँ पर अग्नि हेतु एकमात्र धर्म, धुआँ के भाव और अभाव दोनों ही स्थिति में उपस्थित रहता है। लकड़ी से संयुक्त होने से अग्नि में धुँआ रहता है; किन्तु दहकते अंगारे एवं तप्त लौह पिण्ड आदि के साथ धुआँ नहीं रहता। अतः अग्नि-हेतु भी सिद्धि में अनैकान्तिक है ॥७॥

अब सूत्रकार द्वारा 'साध्यसम' नामक हेत्वाभास का लक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है—

(४९) साध्याविशिष्टः साध्यत्वात्साध्यसमः ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ— साध्यत्वात् = साध्य होने के कारण, साध्याविशिष्टः = जो साध्य से भेद न रखता हो अर्थात् साध्य के समान हो (उसे), साध्यसमः = साध्यसम हेत्वाभास कहते हैं।

व्याख्या— साध्य होने से जो हेतु साध्य से भेद न रखता हो अर्थात् साध्य के समान हो, उसे साध्यसम हेत्वाभास कहते हैं। साध्य के सदृश, असिद्ध हेतु साध्यसम कहलाता है। एक ऐसा धर्म, जो स्वयं ही साध्य है, उसे यदि साधन के रूप में प्रकट कर दिया जाता है, तो वह साधक हेतु न रहकर हेत्वाभास हो जाता है। यहाँ हेत्वाभास का यह नाम - 'साध्यसम' स्वयं ही निजरूप को प्रकट कर देता है। स्वयं असिद्ध धर्म अन्य का साधन किस प्रकार होगा? इसी आधार पर कुछ नव्य आचार्यों द्वारा इसे 'असिद्ध' हेत्वाभास के नाम से भी सम्बोधित किया गया है।

असिद्ध (साध्यसम) हेत्वाभास को इस प्रकार समझा जा सकता है- जैसे कोई व्यक्ति यह कहे कि छाया द्रव्य है एवं उसका हेतु पूछने पर कहा जाय कि वह गतिमान् है; किन्तु छाया गतिशील वस्तु है अथवा नहीं, यह बात भी किसी प्रमाण से सिद्ध होनी चाहिए। अतः यहाँ छाया को द्रव्य बताकर उसे गतिशील कहना साध्यसम हेत्वाभास कहलायेगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि असिद्ध वस्तु के प्रमाण में असिद्ध वस्तु का उदाहरण देना साध्यसम कहलाता है; क्योंकि सर्वप्रथम तो साध्यधर्म का सिद्ध होना ही विवादित था तथा उसमें प्रमाण भी विवादित प्रस्तुत किया गया। तब साध्य के समान ही हेतु भी प्रमाणित करना पड़ेगा। अतः इसी कारण इसे 'साध्यसम' हेत्वाभास कहा जाता है। इस असिद्ध (साध्यसम) हेत्वाभास के तीन प्रकार कहे गये हैं- १. आश्रयासिद्ध (जिसका आश्रय सिद्ध न हो) हेत्वाभास, २. स्वरूपासिद्ध (जिसका स्वरूप सिद्ध न हो) हेत्वाभास एवं ३. व्याप्यत्वासिद्ध (जिसकी व्याप्ति सिद्ध न हो) हेत्वाभास ॥८॥

इसके पश्चात् अब 'कालातीत' नामक हेत्वाभास का निरूपण किया जा रहा है—

(५०) कालात्ययापदिष्टः कालातीतः॥ ९॥

सूत्रार्थ— कालात्ययापदिष्टः = काल के बीत जाने पर जिस हेतु का कथन किया जाए, कालातीतः = (वह) 'कालातीत' नामक हेत्वाभास कहलाता है।

व्याख्या— जब जिस-किसी विषय का विचार गतिशील रहने पर साध्य की सिद्धि के लिए जो हेतु उपयोग में लाया जाता है, यदि वह साध्य की सिद्धि के काल को लाँघ जाता है, तब उस विषय को कालातीत हेत्वाभास कहते हैं। यहाँ साध्य-सिद्धि के काल को लाँघ जाने का अभिप्राय साध्य-सिद्धि में हेतु की अक्षमता को सिद्ध करना है। हेतु की यह अक्षमता प्रमाणान्तर द्वारा साधित होती है। जैसे-किसी ने कहा कि शब्द नित्य है तथा उसके नित्य होने में समाधान दिया कि नेत्र का प्रकाश के साथ सम्बन्ध होने पर घट दृष्टिगोचर होता है; किन्तु यदि प्रकाश न हो, तो घट दृष्टिगोचर नहीं होगा। परन्तु प्रकाशाभाव में घट नष्ट नहीं होगा, वह जैसे का तैसा ही बना रहता है। इसी कारण प्रकाश की तरह शब्द भी नित्य है। जब मुख से बोलते हैं, तो वह प्रकट होता है, बाद में नहीं प्रकट होता; लेकिन शब्द की नित्यता में यह समाधान उचित नहीं है; क्योंकि रूप का ज्ञान प्रकाश के साथ ही हो सकता है; किन्तु शब्द मुख से निःसृत होने के पश्चात् मौन हो जाने पर तथा शब्दोत्पत्ति का समय बीत जाने पर भी दूर के लोगों को (शब्द सन्तति द्वारा) सुनाई देता है। अतः मुख आदि संयोग शब्द के अभिव्यञ्जक न होकर उत्पादक हैं। शब्द उत्पत्ति काल व्यतीत हो जाने पर भी उसकी उपस्थिति बनी रहती है, इसलिए इस हेतु को 'कालातीत' नामक हेत्वाभास कहा जाता है॥९॥

हेत्वाभास निरूपण के पश्चात् अब क्रमप्राप्त 'छल' का लक्षण सूत्रकार द्वारा कहा जा रहा है—

(५१) वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्॥ १०॥

सूत्रार्थ— अर्थविकल्पोपपत्या = विषय का उपपादन करने वाले के भाव से विविध या विरुद्ध काल्पनिक अर्थ करके, वचनविघातः = किसी के कहे गये वचन या कथन का खण्डन करना, छलम् = छल कहलाता है।

व्याख्या— किसी के द्वारा कहे गये विषय, पद या पदों के विपरीत अर्थ की कल्पना करके विषय (कथन) का खण्डन करना 'छल' कहलाता है। यहाँ इसका भाव यह हुआ कि विषय का प्रतिपादन करने वाले का उद्देश्य कुछ हो; किन्तु उसका अर्थ उसके विरुद्ध कर देने की प्रक्रिया को 'छल' कहा जाता है। जैसे- कोई यह कहे कि यह बम्बा है। यहाँ कहने वाले का भाव नहर के बम्बे से है; किन्तु यदि वहाँ नलकूप के द्वारा प्रवाहित जल को बम्बे के रूप में प्रयुक्त करने से अपना कार्य बनता हो, तो कह दें कि अमुक ने बम्बे का प्रयोग नल के लिए किया है, तो ऐसा कथन प्रायः छल की श्रेणी के अन्तर्गत ही आता है॥१०॥

अब छल के तीन भेदों या विभागों का वर्णन किया जा रहा है—

(५२) तत्त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति॥ ११॥

सूत्रार्थ— तत् = वह छल, त्रिविधम् = तीन प्रकार का है, वाक् छलम् = वाक्छल, सामान्यच्छलम् = सामान्य छल, उपचारच्छलम् = उपचारछल, च = और।

व्याख्या— वह 'छल' तीन प्रकार का कहा गया है- १. वाक्छल २. सामान्यछल और ३. उपचारछल। यही तीन छल कथन-चर्चा प्रसंगों में प्रयुक्त होते हैं। इनका प्रयोग प्रायः वे लोग करते हैं, जो अपने पक्ष को भलीभाँति सिद्ध करने में असमर्थ रहते हैं; किन्तु छल के माध्यम से शास्त्रार्थ में विजय पाना चाहते हैं॥११॥

अब 'छल' के अन्तर्गत वाक् नामक छल का विवेचन किया जा रहा है—

(५३) अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्॥ १२॥

सूत्रार्थ— अविशेषाभिहिते = सहज ढंग से कहे गये, अर्थे = कथन-चर्चा प्रसंग में, वक्तुः = वक्ता के, अभिप्रायात् = अभिप्राय से, अर्थान्तरकल्पना = अन्य-विपरीत अर्थ की कल्पना, वाक्छलम् = वाक्छल कहलाता है।

व्याख्या— प्रायः शब्दोच्चारण के क्रम में अधिकांश वाक्य या पद ऐसे भी होते हैं, जिनके एक से अधिक अर्थ निकलते हैं। वे सभी अर्थ प्रमुख होते हैं। उस वाक्य का उच्चारण करके वक्ता का भाव प्रायः किसी एक विशेष अर्थ को प्रकट करना होता है। सहज ढंग से अर्थ का कथन होने पर भी विशेष अर्थ की प्रतिपत्ति के कारण वहाँ पर उपलब्ध रहते हैं। उन कारणों की उपलब्धता में वक्ता के भाव को जान लेना दुष्कर नहीं होता और न उसमें किसी भी तरह के संदेह का अवकाश रहता है; किन्तु फिर भी जान बूझकर मात्र वक्ता के चर्चा प्रसंग को काटने के भाव से कहे गये पद के विपरीत अर्थ की कल्पना करके वक्ता के वाक्य-कथन को झुठलाया जाता है। यह झुठलाने का भाव ही वाक्छल कहलाता है। उदाहरणार्थ जैसे कोई व्यक्ति यह कहे कि अमुक के पास नव वस्त्र हैं। ऐसा कहने में उसका भाव नवीन वस्त्र से है; किन्तु नव का अर्थ नवीन एवं नौ दोनों ही होते हैं। इस प्रकार से शब्द उच्चारण के आधार पर छल होने के कारण यहाँ इसका नाम 'वाक्छल' पड़ा। यह 'छल' वक्ता का उपहास किये जाने की भावना से प्रवृत्त होता है॥१२॥

वाक्छल के पश्चात् सूत्रकार द्वारा सामान्यच्छल का लक्षण प्रतिपादित किया जा रहा है—

(५४) सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम्॥ १३॥

सूत्रार्थ— अतिसामान्ययोगात् = अति सामान्य (शब्दों) के साथ संयोग होने से, सम्भवतः = सम्भव

होने वाले, अर्थस्य = अर्थ का, असम्भूतार्थकल्पना = सम्भव न हो सकने वाले अर्थ की कल्पना करना ही, सामान्यच्छलम् = 'सामान्यछल' कहलाता है।

व्याख्या— अति सामान्य शब्दों के साथ संयोग से जो एक अर्थ की कल्पना कर ली जाती है और उस अर्थ के अनुसार किसी अन्य के द्वारा अभिव्यक्त सम्भावना को असत्य ठहराया जाता है, यह 'सामान्यछल' की परिधि में आता है।

जैसे कोई हर्ष व्यक्त करते हुए यह कहे कि यह ब्रह्मचारी विद्या और विनय दोनों से सम्पन्न है। 'विद्वान् और विनम्र है', इस कथन में वक्ता द्वारा एक अति सामान्य बात कही गई-कि ब्रह्मचारी में विद्या एवं विनम्रता की सम्पत्ति का होना सम्भव है। एक श्रेष्ठ ब्रह्मचारी में विद्या एवं विनम्रता रूपी सम्पत्ति की सम्भावना को व्यक्त करने का तात्पर्य उस ब्रह्मचारी की प्रशंसा करने से है। ब्रह्मचारी में ऐसा होना सम्भव है, इस कथन पर छलवादी इस सम्भावना को अति सामान्य के साथ संयुक्त कर देता है तथा एक असम्भव अर्थ की कल्पना करने लगता है। यदि ब्रह्मचारी में विद्या और विनम्रता की सम्पत्ति होना सम्भव है, तो व्रात्य में भी वैसी विद्या-ज्ञान एवं विनम्रता होनी चाहिए (व्रात्य अर्थात् वर्ण, धर्मादि से पतित हुआ व्यक्ति)। जो विशेषता गुण-कर्म के अनुसार ब्रह्मचारी में सम्भव है, उस अर्थ की मात्र ब्रह्मचारी में कल्पना करना उपर्युक्त कथन-चर्चा प्रसंग में दोष देना 'सामान्यछल' कहा जाता है। इस प्रकार वास्तविक अर्थ को तोड़-मरोड़कर विरोधात्मक अर्थ कर देना सामान्यछल कहलाता है ॥१३॥

अब 'उपचार' छल की विवेचना की जा रही है—

(५५) धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्॥ १४॥

सूत्रार्थ— धर्मविकल्पनिर्देशे = धर्म के विकल्प से शब्द का निर्देश करने पर, अर्थसद्भावप्रतिषेधः = वक्ता के प्रयोजन वाले अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध करना, उपचारच्छलम् = 'उपचार' नामक छल कहलाता है।

व्याख्या— शब्द का धर्म है अपने वास्तविक अर्थ का साक्षात् बोध कराना। यह बोध (ज्ञान) कहीं अभिधा-शक्ति के अनुसार और कहीं लक्षणा-शक्ति के अनुसार होता है। आलङ्कारिक विषयों में कहीं-कहीं व्यञ्जना के आधार पर अर्थ का साक्षात्कार होता है। शब्द के अर्थ-साक्षात् रूप धर्म की यह पद्धति विभिन्न तरह की है, इसे ही धर्म का विकल्प कहते हैं। अभिधा-शक्ति के द्वारा अर्थ-साक्षात् कराने पर, लक्षणा के अनुसार उस अर्थ के सद्भाव का निषेध एवं लक्षणा के द्वारा अर्थ का साक्षात् कराने पर अभिधा-शक्ति के आधार से उस अर्थ के सद्भाव का निषेध करना ही 'उपचार' नामक छल कहलाता है। जैसे- किसी ने कहा कि न्यायालय से बुलावा है। यहाँ इसका अभिप्राय यह हुआ कि न्यायालय में जो अधिकारी आदि हैं, वे बुला रहे हैं; लेकिन उसकी काट करते हुए यह कहना कि न्यायालय जड़ है, उसका बुलावा नहीं हो सकता। अतः यह कहना मिथ्या है। इसे ही 'उपचारच्छल' कहा गया है ॥१४॥

शास्त्रों के अर्थों की विवेचना-उद्देश, लक्षण एवं परीक्षा के रूप में की जाती है। प्रस्तुत प्रसंग लक्षण-निर्देश का है; किन्तु छल सम्बन्धी परीक्षा अति न्यून होने से सूत्रकार ने यहीं पर उसका विवेचन कर दिया है। इसी सन्दर्भ में अगले सूत्र में शिष्य अपनी जिज्ञासा प्रकट कर रहा है—

(५६) वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात्॥ १५॥

सूत्रार्थ— तदविशेषात् = उन दोनों में कल्पना की विशेषता न होने-(समानता होने) से, वाक्छलम् = वाक्छल, एव = ही, उपचारच्छलम् = उपचारच्छल है।

व्याख्या— वाक्छल एवं उपचारछल में कल्पना की विशिष्टता न होने के कारण एक जैसा-समान ही समझना चाहिए। इसका अभिप्राय यह है कि वाक्छल में अर्थान्तर की कल्पना से कथित कथन का निषेध किया जाता है। इसी प्रकार उपचार छल में भी है; क्योंकि यहाँ पर भी गुणभूत प्रयोग में प्रधान की कल्पना करके ही निषेध होता है। इसमें वादी-प्रतिवादी की कथन शैली में किंचित् भेद होता है। वक्ता द्वारा इसका प्रयोग गुणभूत अर्थ में किया गया है; किन्तु छलवादी ने अर्थान्तर की कल्पना करके उसका निषेध किया है। इससे दूसरे अन्य अर्थ के अर्थात् वक्ता द्वारा साक्षात् अर्थ के सद्भाव का निषेध दोनों जगह (वाक्छल,उपचारछल) एक समान है। इसलिए उपचार छल को यहाँ भिन्न कहना आवश्यक नहीं है ॥१५॥

अब इस सूत्र में सूत्रकार द्वारा शिष्य की जिज्ञासा का समाधान किया गया है—

(५७) न तदर्थान्तरभावात्॥ १६॥

सूत्रार्थ— तदर्थान्तर = उन दोनों वाक्छल एवं उपचारच्छल के अर्थ-भेद, भावात् = होने से, न = (एक जैसे-समान) नहीं (माने जा सकते) हैं।

व्याख्या— वाक्छल एवं उपचारच्छल के समावेश द्वारा वक्ता के अभिप्राय को सिद्ध करना एक जैसां-समान नहीं है; क्योंकि उन दोनों में परस्पर भेद है। वाक्छल में मात्र अर्थान्तर की कल्पना है, लक्षण सूत्र के अन्तर्गत अर्थान्तर की कल्पना को वाक्छल कहा गया है; किन्तु उपचारच्छल के लक्षण में अर्थ-सद्भाव के निषेध को उपचारच्छल कहा गया है। 'अर्थान्तर की कल्पना' एवं 'अर्थ सद्भाव के निषेध' में स्वरूपतः ही भेद है। वाक्छल के उदाहरण को देखें, यहाँ बिल्कुल स्पष्ट है- वहाँ अर्थ-वस्त्र के सद्भाव का निषेध नहीं है मात्र 'नव' पद के अर्थान्तर की कल्पना की गई है। उसी आधार पर वक्ता के कथनोपकथन में दोष कहा गया है; किन्तु उपचारच्छल में अर्थ सद्भाव का प्रतिषेध स्पष्ट है, देखें- 'बुलावे' के सन्दर्भ में न्यायालय अर्थ के सद्भाव का निषेध कर उसकी जगह न्यायालय में बैठे अधिकारी पुरुषों का कथन किया गया है, यथा-न्यायालय में बैठे अधिकारी बुला रहे हैं न कि न्यायालय। इस तरह से इन दोनों में असमानता होने से वाक्छल और उपचारच्छल- इन दोनों को एक जैसा नहीं मानना चाहिए। ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं ॥१६॥

जिज्ञासा की संतुष्टि के लिए सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत प्रसंग को प्रकारान्तर से स्पष्ट किया गया है—

(५८) अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादेकच्छलप्रसङ्गः॥ १७॥

सूत्रार्थ— अविशेषे = विशेषता (भेद) न मानने पर, वा = तो, किञ्चित्साधर्म्यात् = कुछ थोड़े से समान धर्म होने से, एकच्छलप्रसङ्गः = एक छलवाद प्रसङ्ग मान लेना उपस्थित हो जाएगा।

व्याख्या— सूत्रकार द्वारा छल के भेदों (विशेषताओं) का वर्णन किया गया है, यदि कुछ-थोड़े से समान धर्म द्वारा वाक्छल एवं उपचारच्छल एक मानकर छल के मात्र दो ही भेद मान लिए जाते हैं, तब ऐसा तो कुछ समानधर्म छल मात्र में सम्भव है। ऐसी दशा में दो भेद भी क्यों मानें? एक ही छल को मानना चाहिए। जिज्ञासु शिष्य जिस हेतु के आधार पर तीन भेद के स्थान पर छल के दो भेद मानता है, उसी हेतु के आधार पर माने गये दो भेदों का निषेध भी सम्भव है; क्योंकि उन दोनों भेदों में भी थोड़ा-थोड़ा समान धर्म बना रहता है। वह समानधर्म है- वक्ता के कथन के अर्थ- वैविध्य की कल्पना से उस कथन का खण्डन करने की कोशिश करना। इस प्रकार की मिलती-जुलती स्थिति प्रत्येक छल में रहती है। यदि इस तरह के थोड़े से समानधर्म के होने से दो भेद ग्रहण कर लिए जाते हैं, तो फिर तीन भेदों को ग्रहण करने में कौन-सी आपत्ति है? थोड़ा सा समान धर्म रहने पर कुछ विलक्षणता भी प्रत्येक छल के रूप में रहती है, जो कि लक्षण सूत्रों के द्वारा प्रकट कर दिया गया है ॥१७॥

छल की विवेचना के पश्चात् क्रम प्राप्त अब 'जाति' नामक पदार्थ के लक्षण को कहा जा रहा है—

(५९) साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ— साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम् = समानधर्म एवं विपरीत धर्म के द्वारा (वक्ता के उपस्थापित हेतु का), प्रत्यवस्थानम् = निषेध करना, जातिः = 'जाति' नामक पदार्थ कहलाता है।

व्याख्या— समानधर्म और विपरीत धर्म के द्वारा वादी के उपस्थापित हेतु का जो प्रसंग बाधा के रूप में प्रकट किया जाता है, उसी को 'जाति' नामक पदार्थ कहते हैं। मान लो वादी ने अपने पक्ष को हेतु-साध्य की व्याप्ति से सम्पन्न उदाहरण सहित- प्रतिष्ठित किया। जब प्रतिवादी इसका सही उत्तर देने में अपने को असमर्थ पाता है, तब हार से बचने तथा किसी न किसी तरीके से वादी को निरुत्तर करके उपस्थित लोगों को प्रभावित करने के भाव से 'जाति' नामक पदार्थ का प्रयोग करता है। वादी यदि उससे दब जाता है और 'जाति' के प्रयोग का निस्तारण नहीं कर पाता, तब ऐसी दशा में प्रतिवादी अपने प्रयास में सफल हो जाता है और वह चर्चा-प्रसंग में विजयी मान लिया जाता है।

'जाति' के चौबीस भेद कहे गये हैं, जिनके लक्षण एवं उदाहरणों का प्रतिपादन सूत्रकार द्वारा पाँचवें अध्याय के प्रथम आह्निक में विस्तार से किया गया है। इसमें सामान्यतया वादी के कथन से समानधर्म एवं विपरीतधर्म के आधार पर दोष प्रकट करना ही लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि यदि वादी उदाहरण के समानधर्म द्वारा साध्य को सिद्ध करने वाले हेतु के सहित स्वपक्ष की स्थापना करता है, तो प्रतिवादी उदाहरण के विपरीत धर्म द्वारा साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाले हेतु से वादी के प्रसंग में दोष प्रकट करता है और यदि वादी उदाहरण के विपरीत धर्म से साध्य को सिद्ध करने वाले हेतु के साथ स्वपक्ष की स्थापना करता है, तो प्रतिवादी उदाहरण के समान धर्म से साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाले हेतु से वादी के प्रसंग (कथन) में दोष का प्रकाशन करता है। अभिप्राय यह हुआ कि विपरीत भाव से प्रयुज्यमान प्रसंग जो अपनी कमजोरी को छिपाने एवं सत्य को झुठलाने के भाव से प्रकट किया जाता है, वह 'जाति' के नाम से जाना जाता है ॥१८॥

अब अगले सूत्र में 'निग्रहस्थान' का लक्षण प्रतिपादित किया जा रहा है—

(६०) विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ— विप्रतिपत्तिः = अभिमत से विपरीत या अवांच्छित ज्ञान का कथन करना, च = और, अप्रतिपत्तिः = कहे गये ज्ञान-कथन को न करना अर्थात् अज्ञानता के कारण मौन रह जाना, निग्रहस्थानम् = 'निग्रहस्थान' कहलाता है।

व्याख्या— वक्ता के द्वारा कहे हुए कथन-उपदेश को न समझना या उसका विपरीत अर्थ समझना ही 'निग्रहस्थान' कहलाता है। किसी के द्वारा पूछे हुए प्रश्न का स्पष्ट उत्तर न देना, चुप रह जाना भी इसी के अन्तर्गत आता है। चर्चा प्रसंग के क्षण में घबराहट के कारण अथवा वक्ता के उपदेश का उचित उत्तर न दे सकने की असमर्थता के कारण अपने अभिमत के विपरीत कह जाना या इस तरह की बात कह देना, जिसका कहना सभा स्थल एवं चर्चा-प्रसङ्गों में निन्दनीय एवं अवांछित हो; ऐसी स्थिति को 'निग्रहस्थान' अर्थात् पराजय का क्षण कहा गया है। यह 'विप्रतिपत्ति' का वर्णन हुआ। ऐसे ही 'अप्रतिपत्ति' पराजय का भी स्थान कहा गया है। अप्रतिपत्ति का अर्थ होता है 'अज्ञानता'। वक्ता ने जो स्वपक्ष की स्थापना की है या प्रतिवादी के उपदेश का जो निषेध किया है, अपनी अज्ञानता के कारण उन दोनों में से न तो प्रतिवादी वादी-के स्थापित पक्ष का निषेध करता है और न वादी द्वारा अपने निषिद्ध (विपरीत) पक्ष का निस्तारण करता है।

असमंजस (संकोच) की दशा में वह चुपचाप खड़ा रह जाता है, कुछ भी बोलने की स्थिति में नहीं रहता; इसे अप्रतिपत्ति मूलक 'निग्रहस्थान' कहा गया है।

'निग्रहस्थान' के २२ (बाईस) भेद कहे गये हैं; जिनका विवरण पञ्चम अध्याय के द्वितीय आह्निक में विस्तार से किया गया है ॥१९॥

इस सूत्र में सूत्रकार अपने जिज्ञासु शिष्य के प्रश्न का समाधान करते हुए कहता है कि 'दृष्टान्त' एवं सिद्धान्त के समान 'जाति' और 'निग्रहस्थान' के भी भेद होते हैं—

(६१) तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ॥ २० ॥

सूत्रार्थ— तद्विकल्पात् = उनके (साधर्म्य एवं वैधर्म्य के) विभिन्न भेदों के आधार पर, जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् = 'जाति' एवं 'निग्रहस्थान' के भी विभिन्न भेद हो जाते हैं।

व्याख्या— यहाँ सूत्र में 'तत्' सर्वनाम पद अठारहवें और उन्नीसवें सूत्र के क्रमशः साधर्म्य एवं वैधर्म्य तथा विप्रतिपत्ति एवं अप्रतिपत्ति दोनों का परामर्श (अध्याहार) करता है। समान धर्म तथा विपरीत धर्म तथा विप्रतिपत्ति एवं अप्रतिपत्ति के विभिन्न और परस्पर-प्रतिरोधी भेदों के आधार पर जाति एवं निग्रहस्थान के अनेक भेद हो जाते हैं। समानधर्म एवं विपरीत धर्म के विकल्प से 'जाति' के चौबीस भेदों का और विप्रतिपत्ति एवं अप्रतिपत्ति के विकल्प से बाईस निग्रह स्थानों का विस्तार से विवेचन पंचम अध्याय के प्रथम व द्वितीय आह्निक में क्रमशः किया गया है।

प्रत्येक पदार्थ में विभिन्न गुण होते हैं। वे गुण एक दूसरे से मिलते-जुलते भी होते हैं और आपस में प्रतिकूल भी होते हैं। उदाहरणार्थ-जैसे मनुष्य और जानवर में प्राण एक जैसे ही होते हैं; लेकिन शारीरिक संरचना में भेद रहता है। इसके साथ ही मनुष्य बुद्धिमान् है और पशु बुद्धिहीन। ऐसे ही मनुष्य भी कम या ज्यादा बुद्धि वाले होते हैं। विभिन्न तरह की कल्पना को ही विकल्प कहा जाता है एवं दूसरे के प्रश्न का जवाब न देना, दूसरे की बात को न समझना या उसके विपरीत अर्थ समझना-आदि विप्रतिपत्ति के अन्तर्गत आते हैं। अतः जाति एवं निग्रहस्थान के अनेक भेद हैं, जो कि पञ्चम अध्याय के दोनों आह्निकों में विवेचित किये गये हैं ॥२०॥

प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का उल्लेख इस प्रथम अध्याय के दोनों आह्निकों में किया गया है। सभी पदार्थों के लक्षण एवं उनके भेद भी यथा-क्रम सूत्रकार द्वारा कहे गये हैं। अब अगले अध्यायों के अन्तर्गत लक्षण आदि के अनुसार इन पदार्थों का परीक्षण किया जाएगा। इस प्रकार न्यायशास्त्र का सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय इसी अध्याय में साररूप में समाहित हो गया है।

॥ इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ॥

॥ अथ द्वितीयाध्याये प्रथमाह्निकम् ॥

यहाँ इस अध्याय में प्रमाणादि पदार्थों के लक्षणों-सिद्धान्तों (जो कि पूर्व अध्याय में विवेचित किये गये हैं) का परीक्षण किया जाएगा। परीक्षण पद्धति में सर्वप्रथम विचारणीय पदार्थ के सन्दर्भ में संशय प्रस्तुत किया जाता है। तत्पश्चात् पक्ष एवं विपक्ष को प्रस्तुत करते हुए विचारणीय विषय-सन्दर्भ की अवधारणा की जाती है। तदनुसार सबसे पहले 'संशय' (१/१/२३) का परीक्षण किया जाएगा; क्योंकि हर सन्दर्भ के परीक्षण के मूल में 'संशय' ही विद्यमान रहता है। प्रस्तुत सूत्र में जिज्ञासा एवं परीक्षण की उपयोगिता की दृष्टि से सूत्रकार कह रहे हैं कि —

(६२) समानानेकधर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशयः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— समानानेकधर्माध्यवसायात् = समान धर्म और अनेक धर्म के अध्यवसाय अर्थात् निश्चय से, अन्यतरधर्माध्यवसायात् = दोनों में से किसी एक धर्म के निश्चय से, वा = अथवा, न = नहीं (होता है), संशयः = संशय।

व्याख्या— संशयलक्षण सूत्र-१-१-२३ में समानधर्म के अध्यवसाय या अनेक धर्मों के निश्चय से जो संशय होना कहा गया है, वह उचित प्रतीत नहीं होता। यहाँ सूत्रकार द्वारा स्पष्ट किया गया है कि समान एवं अनेक धर्मों का या इन दोनों में किसी एक धर्म का ज्ञान होने से संशय प्रकट नहीं होता। यहाँ इस सूत्र में तीन तरह के सोदाहरण भाव व्यक्त किये गये हैं, देखें- १. धर्म (लक्षण) का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर फिर उस (धर्म) में संशय नहीं रह जाता; क्योंकि धर्म एवं धर्मी भिन्न पदार्थ हैं। जैसे— गाय सींग वाली, पूँछ के अन्त में बालों के गुच्छक वाली और सास्ना (गले के नीचे लटकते हुए चमड़े) वाली होती है। गाय के उपर्युक्त इन लक्षणों-धर्मों का ज्ञान यदि हो, तो गाय को देखते ही पहचान लिया जायेगा, फिर उसमें संशय नहीं होगा। २. अवधारणा से अनवधारणा रूप में संदेह नहीं रह सकता; क्योंकि कारण एवं कार्य समान रूप से ही होते हैं। अतः कारण को देखकर कार्य के अनुमान में संदेह नहीं रह जाता। ३. दोनों धर्मों में से एक के धर्म का अध्यवसाय हो जाने पर भी संशय नहीं रह जाता। जैसे दो वस्तुएँ समान धर्म वाली हैं, तो उनकी पहचान लक्षण ज्ञान के द्वारा हो जाएगी। जैसे- गाय के लक्षण का ज्ञान है तथा जंगल में विचरण करने वाली गाय सदृश नीलगाय को यदि देखें, तो तुरन्त देखते ही उसका नीलगाय होना समझ लिया जायेगा।

अतः संशय लक्षण सूत्र में जो संशय के हेतु कहे गये हैं, वे असंगत प्रतीत होते हैं। संशय-लक्षण के परीक्षण हेतु पाँचवें सूत्र तक यह पूर्व पक्ष का विषय प्रस्तुत है, इसका समाधान छठें सूत्र में किया गया है ॥१॥

विप्रतिपत्ति आदि भी संशय के निमित्त नहीं हो सकते। यहाँ सूत्र में पूर्वपक्ष की भावना से सूत्रकार अपने भाव व्यक्त कर रहा है—

(६३) विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायात् = विप्रतिपत्ति से, अव्यवस्था से एवं इनके निश्चय से; च = और (संशय उत्पन्न नहीं होता)।

व्याख्या— यहाँ इस सूत्र में उपर्युक्त प्रथम सूत्र से 'न संशयः' पदों की भी अनुवृत्ति जान लेनी चाहिए। केवल विप्रतिपत्ति या अव्यवस्था मात्र के होने से संशय नहीं होता। यहाँ इस पद का अर्थ यह हुआ- 'परस्पर दो भिन्न अर्थों' का जानना। जैसे- वैदिक दार्शनिकों के अनुसार 'आत्मा है' तथा 'आत्मा नहीं है'- यह चार्वाक मत है। आत्मा सम्बंधी इस विपरीत ज्ञान मात्र से संशय नहीं होता; जब तक कि उनमें से किसी एक के विषय में विशेष जिज्ञासा उत्पन्न न हो। इसी तरह से ऐसा अध्यवसाय भी संशय का जनक नहीं होता; क्योंकि कुछ नव्य आचार्यगण ऐसा मानते हैं और दूसरे आचार्य इसके विपरीत मानते हैं। ऐसे ही प्राप्ति की

अव्यवस्था एवं अप्राप्ति की अव्यवस्था मात्र से संशय नहीं होता; अपितु इन अव्यवस्थाओं के निश्चय से ही संशय होता है। संशय की स्थिति तभी होगी, जब उनमें से किसी विशेष की जानने की इच्छा होगी। प्राप्ति की अव्यवस्था है- वस्तु होती हुई प्राप्त होती है, जैसे— सामान्य घट-पट आदि। ऐसे ही कभी न होती हुई प्राप्त हो जाती है, जैसे मरुमरीचिका में जल। प्राप्ति की इस स्थिति में मात्र जान लेने से संशय नहीं होता; वरन् दूर से किसी वस्तु के दृष्टिगोचर होने पर विशेष की जिज्ञासा होने से संशय होगा कि अमुक वस्तु हमें सही होती हुई दृष्टिगोचर हो रही है या न होती हुई मरुमरीचिका के जल की भाँति दृष्टिगोचर हो रही है।

इसी प्रकार मात्र अप्राप्ति की अव्यवस्था संशय की उत्पत्ति का कारण नहीं होती। कोई वस्तु ढूँढ़ने पर भी न मिलने की दशा में विशेष अपेक्षा होने से ही संशय को प्रकट करती है कि यह अमुक वस्तु न होती हुई नहीं मिल रही या होती हुई नहीं दृष्टिगोचर हो रही है। मात्र अप्राप्ति की अव्यवस्था का जान लेना ही संशय का जनक नहीं होता। अतः यहाँ पर संशय लक्षण सूत्र में विप्रतिपत्ति आदि के द्वारा संशय होने का कथन उचित प्रतीत नहीं होता ॥२॥

इस सूत्र में विप्रतिपत्ति द्वारा संशय बतलाने में अन्य दोष होने का निर्देश सूत्रकार द्वारा पूर्वपक्ष रूप से किया गया है—

(६४) विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः ॥ ३॥

सूत्रार्थ— विप्रतिपत्तौ = विपरीत ज्ञानों में अर्थात् अर्थ विशेष के विरोध से, च = और, **सम्प्रतिपत्तेः** = अपने-अपने कथन को मान लेने से (संशय नहीं रहता)।

व्याख्या— किसी तथ्य (कथन) को मान लेने या उसकी विशिष्टता का अध्यवसाय (निश्चय) हो जाने पर संशय नहीं रहता, इसी निश्चयात्मक ज्ञान का नाम संप्रतिपत्ति कहा गया है। उदाहरणार्थ- 'एक विवाद का निर्णय करने वाले मध्यस्थ को वादी-प्रतिवादी दोनों पक्षों का कथन सुन लेने पर ही किसी अर्थ विशेष के विरोध करने एवं उसे मान लेने का ज्ञान हो जाता है। तभी वह निश्चयपूर्वक अपना निर्णय देता है, वह निर्णय ही सम्प्रतिपत्ति कहलाएगा; किन्तु जिसे दोनों पक्षों के वाद का ठीक ज्ञान नहीं है, उसे विपरीत ज्ञान होने के कारण संशय हो सकता है। जिसे पूर्ण ज्ञान है, उसे विप्रतिपत्ति अर्थात् मिथ्या विरोध भी संशय में नहीं पहुँचा सकता। अतः विप्रतिपत्ति को संशय का कारण नहीं माना जा सकता। यहाँ पर पूर्व पक्षी विप्रतिपत्ति को सम्प्रतिपत्ति का रूप प्रदान कर संशय हेतु में व्यभिचार-दोष की उद्भावना उत्पन्न करना चाहता है ॥३॥

अब अगले सूत्र में प्राप्ति-अप्राप्ति की अव्यवस्था द्वारा संशय का प्रकट होना कहा गया है, उसमें प्रकारान्तर से पूर्व पक्षी द्वारा दोष का दिग्दर्शन कराया जा रहा है—

(६५) अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः ॥ ४॥

सूत्रार्थ— च = और, अव्यवस्थायाः = प्राप्ति आदि की अव्यवस्था में संशय नहीं हो सकता; क्योंकि , अव्यवस्थात्मनि = वह अव्यवस्था अपने निज रूप में, व्यवस्थितत्वात् = व्यवस्थित है (अतः अव्यवस्था संशय का कारण नहीं हो सकती)।

व्याख्या— अव्यवस्था अपने निज रूप में सतत व्यवस्थित रहती है। यदि ऐसा न हो, तो वह अपने अस्तित्व को विस्मृत कर देती। इसलिए प्राप्ति आदि की अव्यवस्था संशय का कारण नहीं हो सकती। किसी पदार्थ के अस्तित्व में संदेह होने का ज्ञान अथवा शून्य के प्रति संदेहात्मक ज्ञान संशय को प्रकट नहीं कर सकता। यदि संशयात्मक ज्ञान को अपने स्वरूप में संशय का कारण मान लिया जाए, तो सर्वप्रथम उसे शून्य मानना होगा, जिससे वह किसी का कारण न बन सके; लेकिन ऐसा न होने से अव्यवस्था संशय का कारण नहीं बन सकती। प्रथम हेतु के सदृश यहाँ पर भी अनैकान्तिक दोष की उद्भावना समझी जा सकती है ॥४॥

उपर्युक्त स्थितियों में यदि कहे हुए हेतुओं से संशय का होना ग्रहण किया जाता है, तो फिर संशय बना रहना चाहिए। इस रूप में पूर्वपक्ष की भावना से सूत्रकार द्वारा समान धर्म का निरूपण किया जा रहा है—

(६६) तथाऽत्यन्तसंशयस्तद्धर्मसातत्योपपत्तेः॥ ५॥

सूत्रार्थ— तथा = इस प्रकार, तद्धर्मसातत्योपपत्तेः = उन समानधर्म आदि को सदैव बने रहने के कारण, अत्यन्तसंशयः = निरन्तर संशय बना रहना चाहिए।

व्याख्या— संशय के समय में समान धर्म आदि को कारण रूप में एकाकी ही स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार साधर्म्यरूप कारण के उपस्थित रहने पर भी उनसे प्रादुर्भूत संशय सतत बना रहेगा; परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः समानधर्म को संशय का कारण नहीं माना जा सकता। प्रायः पदार्थों में कोई न कोई साधर्म्य आदि संशय का कारण सदैव बना रहता है। पदार्थों में से साधर्म्य आदि कारणों का कभी पूर्ण रूपेण शमन नहीं हो सकता और तब संशय का पूर्ण शमन न होने के कारण संशय की स्थिति सदैव बनी रहेगी। वस्तुतः विचार करने पर कोई धर्मी ऐसा मालूम नहीं होता कि जिसमें थोड़े बहुत साधर्म्य की उपस्थिति न हो। हर धर्मी में कोई न कोई समान धर्म निरन्तर बना रहता है॥ ५॥

[उपर्युक्त इन पाँच सूत्रों (१/१/२३) द्वारा प्रतिपादित संशय के हेतुओं में-दोष की उद्भावना की गई है। यहाँ इसका यह उद्देश्य है कि हेतु को निर्दोष प्रतिपादित कर, उसके वास्तविक हेतु भाव को प्रकट किया जाये। हर पदार्थ के परीक्षण में यही भावना निहित होती है। आत्मा आदि का परीक्षण तृतीय-चतुर्थ अध्याय में हुआ है। जाति एवं निग्रह स्थानों का विस्तार पञ्चम अध्याय में किया गया है। छल की परीक्षा लक्षण-प्रसंग में की जा चुकी है और शेष बचे हुए प्रमाणों का परीक्षण इस (द्वितीय) अध्याय में किया जा रहा है।

यहाँ सबसे पहले संशय का परीक्षण शुरू में करने का उद्देश्य यह है कि प्रत्येक परीक्षण में संशय का प्रयोग होता है। यद्यपि पूरे शास्त्र में मुख्यतया प्रमाण-प्रमेय आदि का ही परीक्षण किया गया है। प्रयोजन, दृष्टान्त आदि पदार्थों का परीक्षण अनपेक्षित होने के कारण छोड़ दिया गया है।]

पूर्व सूत्रों में संशय-हेतुओं में जो दोष की उद्भावना की गयी है, उन सभी प्रतिरोधों (पूर्वपक्ष) का संक्षिप्त रूप से समाधान इस सूत्र में किया जा रहा है—

(६७) यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात् संशये नाऽसंशयो नाऽत्यन्तसंशयो वा॥

सूत्रार्थ— तद्विशेषापेक्षात् = उस (ज्ञान) के विशेष धर्म (के जानने) की अपेक्षा से, यथोक्ताध्यवसायांत् = पूर्ववत् कहे गये निश्चय-ज्ञान से , एव = ही, संशयः = संशय की प्राप्ति होने पर, असंशयः = संशय रहित, न = नहीं होता, वा = अथवा (और), अत्यन्तसंशयः = अत्यन्त संशय भी, न = नहीं होता।

व्याख्या— जैसा कि पूर्वपक्ष द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि साधर्म्य अथवा अन्य कई धर्मों की मात्र उपस्थिति से संदेह नहीं होता; वरन् साधर्म्य आदि के निश्चय-ज्ञान से संदेह होता है। जब तक अलग-अलग अनेकों धर्मियों में साधर्म्य आदि का ज्ञान नहीं होगा, तब तक सन्देह का होना असम्भव है। ऐसा पूर्व पक्ष का कहना उचित है; किन्तु इतना होने पर भी यह आवश्यक है कि उन विभिन्न ज्ञानों में से किसी एक विशेष ज्ञान के जानने की आकांक्षा हो, तभी साधर्म्य आदि कारणों से सन्देह प्रकट होता है। ऐसी स्थिति में न असंशय रहता है तथा न अत्यधिक संशय की ही स्थिति बनती है।

यहाँ संशय का प्रकट न होना या उसके अस्तित्व का खण्डन किसी भी तरह से नहीं हो सकता; क्योंकि मात्र साधर्म्य या विशेष ज्ञान से संशय की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि उसका स्पष्टीकरण माँगा जाए, तो यह कहा जाएगा कि जिस सूत्र में साधर्म्य के ज्ञान को संशयजनक कहा है, उसमें साधर्म्य मात्र का निश्चय संशयात्मक नहीं होगा। संशय तो साधर्म्य के निश्चय एवं धर्म विशेष की आकांक्षा अर्थात् हर विशेषण में जानने एवं नये विशेषण की जिज्ञासा को कहते हैं। अभिप्राय यह हुआ कि विशेष धर्म की अप्राप्ति में उसके प्राप्त होने

की आकांक्षा होती है; क्योंकि जब विशेष धर्म प्रत्यक्ष हो जाता है तब संशय का प्रश्न ही नहीं रह जाता ॥ ६ ॥

इस सूत्र में संशय की परीक्षा सम्पन्न कर अन्य दूसरे पदार्थों के सम्बन्ध में सूत्रकार कह रहे हैं—

(६८) यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसङ्गः ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ— यत्र = जहाँ (जिस पदार्थ के सम्बन्ध में), संशयः = संशय (परीक्ष्य हो), तत्र = वहाँ, एवम् = उक्त प्रकार से अर्थात् संशय की परीक्षा में समान ही, उत्तरोत्तर = उत्तर-प्रतिउत्तर का एक के बाद दूसरा, प्रसङ्गः = प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

व्याख्या— विवाद अथवा शास्त्र में आगे जहाँ-जहाँ प्रमाण आदि पदार्थों के वाक्यों, सिद्धान्तों-लक्षणों में सन्देह करके परीक्षा की गई है, या वाद, जल्प, वितण्डा, कथाओं आदि में जब कभी ऐसी स्थिति आती है कि प्रतिवादी द्वारा सन्देह का निषेध होता है, तब उन सभी स्थितियों में उपयुक्त ढंग से सन्देह के पक्ष में समाधान कर दिया जाना चाहिए। इसीलिए सर्वप्रथम शास्त्र में संदेह की परीक्षा का आदेश दिया गया है। अभिप्राय यह है कि जहाँ-जहाँ पर सन्देह होता है, वहाँ-वहाँ प्रश्नोत्तर करके परीक्षा की जाती है। इससे सिद्ध होता है कि प्रश्नोत्तर एवं परीक्षण को देखकर हर मनुष्य सन्देह कर सकता है। अतः सन्देह को ही परीक्षा का कारण समझना चाहिए। यदि सन्देह न हो, तो परीक्षा का प्रश्न ही नहीं होता। इसलिए सर्वप्रथम सन्देह की परीक्षा कर दी गई; ताकि शास्त्र का अनुशीलन करने वालों को प्रस्तुत विषय में किसी भी तरह की कठिनाई का सामना न करना पड़े ॥७ ॥

अब अगले सूत्र में पूर्व पक्ष के रूप में प्रमाण नामक पदार्थ की परीक्षा की जा रही है—

(६९) प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ— प्रत्यक्षादीनाम् = प्रत्यक्ष आदि का, अप्रामाण्यम् = प्रामाण्य नहीं, त्रैकाल्यासिद्धेः = तीनों कालों में असिद्ध होने से।

व्याख्या— यहाँ पर सूत्र में प्रयुक्त आदि शब्द से अनुमान, उपमान, शब्द का बोध हो जाता है। प्रत्यक्ष के सहित चारों प्रमाणों का प्रामाण्य असम्भव है। इसका कारण यह है कि हर प्रमाण तीनों कालों-भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् में प्रमेय को सिद्ध नहीं कर सकता। प्रमाण की प्रामाणिकता मात्र इसी तथ्य पर निर्भर है कि वह पूर्व से किसी न ज्ञात हुए प्रमेय का बिना किसी अवरोध के साक्षात् करा दे। प्रत्यक्ष प्रमाण मात्र वर्तमान विषय का साक्षात् करा सकता है; किन्तु वह भी पूर्ण निश्चय या सर्वथा बाधा रहित नहीं। भूत एवं भविष्य के अर्थ का साक्षात् कराने में यह हमेशा ही असमर्थ रहता है। ऐसी ही स्थिति उपमान-प्रमाण की भी रहती है। यद्यपि शब्द प्रमाण भूतकालिक घटना के अलावा कभी-कभी वर्तमान व भविष्यत् का ज्ञान कराने की जिम्मेदारी लेता है; किन्तु उसकी वास्तविकता सर्वदा संदिग्ध बनी रहती है; जो कि उसके प्रामाण्य के पग को उखाड़ फेंकती है। अनुमान का प्रयोग तीनों कालों के विषय में किया जा सकता है; किन्तु वह भी सदैव असन्दिग्ध नहीं रहता है। सुदूर अतीत एवं अनागत काल के विषय में सब कुछ साक्षात् कराना सदैव निश्चित नहीं रहता है।

प्रत्येक प्रमाण का ज्ञान इन तीन भेदों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है- १. प्रमेय के ज्ञान से पूर्व प्रमाण का ज्ञान होना चाहिए। २. प्रमेय का ज्ञान पूर्ण रूप से हो तथा ३. प्रमाण एवं प्रमेय का ज्ञान एक ही साथ हो जाए। विपक्षी की युक्ति है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का तीनों कालों में प्रामाण्य नहीं हो पाता, जैसा ऊपर प्रतिपादित किया जा चुका है। इन तीनों भेदों को विपक्षी ने अगले सूत्र में सिद्ध किया है ॥८ ॥

अब इस सूत्र में प्रमाण-प्रमेय के परस्पर पूर्वापरसहभाव की असम्भावना को क्रमशः यहाँ पूर्वपक्ष रूप में प्रतिपादित किया गया है—

(७०) पूर्वं हि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ— हि =अवश्य ही, पूर्वम् = प्रमेय से पहले, प्रमाणसिद्धौ = प्रमाण की सिद्धि होने से , इन्द्रियार्थसन्निकर्षात् = इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष (सम्बन्ध)से, प्रत्यक्षोत्पत्तिः =प्रत्यक्ष प्रमाण की उत्पत्ति, न = नहीं हो सकती।

व्याख्या— यदि प्रमेय की सिद्धि से पूर्व प्रमाण की स्थिति मानें, तो इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होगा; क्योंकि प्रमेय के ज्ञान (सिद्धि) को पूर्व माना गया है और जो इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न न हो, उसे प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कहा जा सकता। अब वह प्रत्यक्ष के धर्म में आ नहीं सकता, तब ऐसी स्थिति में उसे प्रत्यक्ष कहना विपरीत बात है। इससे यही मानना पड़ेगा कि जिस वस्तु की प्रत्यक्ष सत्ता न हो उसके साथ करण आदि कारकों का सन्निकर्ष नहीं हो सकता। अतः प्रमाण धर्म की अनुपपत्ति जैसी की तैसी बनी रही। ऐसी स्थिति में प्रमाण से पूर्व प्रमेय को मानना होगा; किन्तु यह प्रत्यक्ष के लक्षण के विरुद्ध होने से प्रमाण की सिद्धि नहीं कही जा सकती ॥९ ॥

अब अगले सूत्र में कहा जा रहा है कि प्रमाण की सिद्धि बाद में होनी भी युक्त नहीं है; क्योंकि —

(७१) पश्चात्सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः ॥ १० ॥

सूत्रार्थ— पश्चात् = (प्रमाण के) बाद (भी), सिद्धौ = (प्रमाण को) सिद्ध मान लेने पर, प्रमाणेभ्यः= प्रमाणों से, प्रमेयसिद्धिः = प्रमेय की सिद्धि, न = नहीं होती।

व्याख्या— यदि ऐसा मान लें कि प्रमेय-ज्ञान के पश्चात् प्रत्यक्ष प्रमाण का ज्ञान प्रादुर्भूत हुआ है, तो प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रमेय के ज्ञान हेतु प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि प्रमाण के अभाव में यदि प्रमेय की सिद्धि हो ही जाए, तो फिर प्रमाण से क्या लाभ ? अतः प्रमेय ज्ञान के बाद प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रादुर्भाव की बात कहना असंगत है। प्रमाण दृढ़तापूर्वक सिद्धि के लिए ही है, ऐसा कहना भी अर्थहीन ही है; क्योंकि वस्तु की योग्यता या लक्षण (धर्म) विनिर्मित करने वाले साधन को प्रमाण कहा गया है। यदि साधन के अभाव में ज्ञान का प्राकट्य मान लिया जाये, तो फिर अन्धे व्यक्ति को भी बिना नेत्र के दृश्य दिखाई पड़ जाना चाहिए। यह कहें कि नेत्रों के अभाव में रूप - सौन्दर्य का ज्ञान नहीं हो सकता, तब फिर साधन के अभाव में ज्ञान ही किस प्रकार प्रकट हो सकता है। अतः इस प्रतिपादन से यह सिद्ध हुआ कि प्रमेय-ज्ञान के बाद प्रमाण-ज्ञान का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। प्रमाण - प्रमेय की यह स्थिति असम्भव होने से प्रत्यक्ष का प्रामाण्य समाप्त हो जाता है ॥ १० ॥

अगले सूत्र में प्रमाण-प्रमेय के सहभाव की अशक्यता को स्पष्ट किया जा रहा है—

(७२) युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावो बुद्धीनाम् ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ— युगपत् सिद्धौ = एक ही काल में दोनों (प्रमाण और प्रमेय) की सिद्धि मानने पर, प्रत्यर्थनियतत्वात् = प्रत्येक विषय के लिए इन्द्रियों के नियत होने से, बुद्धीनाम् = बुद्धियों-ज्ञानों की, क्रमवृत्तित्वाभावः = क्रमशः वृत्ति का होना स्वीकार नहीं होगा।

व्याख्या— घ्राण-इन्द्रिय का ग्राह्य विषय गन्ध है। सूत्र में घ्राण- 'प्रमाण' और गन्ध 'प्रमेय' है। यहाँ पर यदि यह मान लिया जाये कि एक ही काल में प्रमाण और प्रमेय दोनों ज्ञानों की सिद्धि मिल जायेगी, तो ऐसा मानना उचित नहीं होगा; क्योंकि मन में एक ही काल में दोनों ज्ञानों की प्राप्ति नहीं होगी तथा प्रमाण-प्रमेय का एक साथ ज्ञान मान लेने पर मन की क्रमिक वृत्ति ही अस्त-व्यस्त हो जायेगी अर्थात् उनमें क्रमिक ज्ञान प्रकट होने का अभाव होकर एक साथ ही विभिन्न ज्ञान प्रकट होने लगेंगे एवं उनके परिणाम स्वरूप उसकी

निश्चयात्मक शक्ति क्षीण हो जायेगी। अत: इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रमाण एवं प्रमेय नामक दोनों ज्ञानों का एक साथ प्रादुर्भाव असम्भव है।

ऐसा मानना उस कथन के विपरीत है, जिसमें यह कहा गया है कि दोनों ज्ञानों का प्राकट्य न होना मन के अस्तित्व का प्रतीक है(१/१/१६)।

इसके अलावा यहाँ यह भी सोचने की बात है कि घ्राण आदि प्रमाण का ज्ञान अनुमान से होने से अनुमिति रूप है। इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय कही गयी हैं, अत: उनका प्रत्यक्ष होना असम्भव है; लेकिन घ्राण से उत्पन्न गन्ध का ज्ञान प्रत्यक्ष है। ऐसी दशा में प्रमाण का अनुमितिरूप ज्ञान एवं प्रमेय का साक्षात् रूप ज्ञान-इन दोनों का एक साथ होना सम्भव नहीं है। दोनों ज्ञान विजातीय हैं। युगपत् अर्थात् दोनों को एक साथ नहीं स्वीकार किया जा सकता है ॥११ ॥

अब यहाँ सूत्र में वादी द्वारा प्रत्यक्षादि के अप्रामाण्य में दिये गये 'त्रैकाल्यासिद्धेः' हेतु का प्रतिषेध में प्रयोग करके-प्रतिषेध की अनुपपत्ति को कहा जा रहा है—

(७३) त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ— त्रैकाल्यासिद्धेः = तीनों कालों में सिद्ध न होने से, प्रतिषेधानुपपत्तिः = प्रमाणों का प्रतिषेध नहीं बनता।

व्याख्या— कोई भी निषेधात्मक वाक्य जिसके निषेध हेतु संलग्न होगा, वही उसका 'निषेध्य' कहा जायेगा। अब यहाँ यह अवलोकन करना चाहिए कि यदि निषेध्य की अनुपस्थिति में निषेध पूर्व में संलग्न होता है, तब वह किसका निषेध करता है? निषेध्य प्रमाण का प्रामाण्य तो तब तक नहीं है; इस स्थिति में निषेध व्यर्थ हो जाता है। यदि निषेध्य-प्रमाण का प्रामाण्य पूर्व सिद्ध है और पश्चात् निषेध उपस्थित होता है, तो निषेध स्वयं ही सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि पूर्व सिद्ध प्रमाण के प्रामाण्य का-पश्चात् सिद्ध प्रामाण्य-निषेध से निषेध होना उचित नहीं माना जा सकता। अत: सिद्ध पदार्थ का निषेध सम्भव नहीं है। इस प्रकार वादी द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों का जो प्रतिषेध किया गया, वह उपपन्न (सिद्ध) नहीं होता॥ १२॥

अब अगले सूत्र में अन्य दूसरी विधि से प्रतिषेध की अयुक्तता को स्पष्ट किया जा रहा है—

(७४) सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ— सर्वप्रमाणप्रतिषेधात् = सभी तरह के प्रमाणों के प्रतिषेध से, च = भी, प्रतिषेधानुपपत्तिः = प्रमाण के प्रतिषेध की अयुक्तता हो जाती है।

व्याख्या— यदि प्रमाणों का प्रतिषेध (खण्डन) सत्य मान लिया जाये, तो उसकी उपपत्ति (सिद्धि) होनी चाहिए, जो कि हो नहीं पाती; क्योंकि प्रतिषेध की सत्यता-असत्यता के लिए किसी न किसी प्रमाण की आवश्यकता पड़ेगी, जब प्रत्येक प्रमाण की सत्ता नष्ट हो गई, तो उस प्रतिषेध को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण ही शेष नहीं। अतएव प्रतिषेध की सत्यता को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण न होने से वह (प्रतिषेध) स्वयमेव असिद्ध हो गया॥१३॥

यदि इसका प्रामाण्य पुन: माना जाता है, तो सभी प्रामाणों के प्रामाण्य का निषेध सम्भव नहीं होगा। इसी की विवेचना अब इस सूत्र में की जा रही है—

(७५) तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः ॥ १४॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा, यदि; तत्प्रामाण्ये = उस प्रतिषेध रूप वाक्य के प्रामाण्य को मानने पर, सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः = सभी तरह के प्रमाणों का प्रतिषेध होना, न = नहीं हो सकता।

व्याख्या— प्रतिषेध रूप-अनुमान-वाक्य में प्रयुक्त प्रतिज्ञा आदि पदार्थों में निहित प्रत्यक्षादि का प्रामाण्य यदि मान लिया जाता है, तो अन्य वक्ता के द्वारा प्रयुक्त अनुमान-वाक्य के प्रतिज्ञा आदि पदार्थों में

आश्रित प्रत्यक्षादि का प्रामाण्य भी अबाध रूप से मानना पड़ेगा; क्योंकि सभी अनुमान-वाक्य यथावत् हैं। वस्तुतः प्रामाण्यप्रतिषेध वाक्य के प्रामाण्य को मानना ही प्रामाण्यप्रतिषेध के मूल को समाप्त कर देता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह प्रामाण्यप्रतिषेध-वाक्य स्वयं ही प्रमाण रूप में प्रतिपादित किया गया है। इसे ही दृष्टान्त रूप में स्वीकार कर लेने पर सभी प्रमाणों की प्रामाणिकता स्वयमेव पुष्ट हो जाती है॥१४॥

इस सूत्र में त्रैकाल्यासिद्धिरूप पूर्वपक्षी के हेतु का खण्डन किया गया है—

(७६) त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत्तत्सिद्धेः ॥ १५ ॥

सत्रार्थ— च = और, शब्दात् = शब्द-ध्वनि के द्वारा, आतोद्यसिद्धिवत् = वीणा आदि वाद्ययन्त्रों की सिद्धि के सदृश, तत्सिद्धेः = उन प्रमाणों की त्रैकाल्य सिद्धि द्वारा, अथवा प्रमाणों से तीनों कालों में प्रमेय की सिद्धि द्वारा, त्रैकाल्य = तीनों कालों में, अप्रतिषेधः = प्रमाणों की प्रमेय ग्राहकता का प्रतिषेध असंगत है।

व्याख्या— जब जहाँ पर जैसा सम्भव होता है, तब वहाँ प्रमाण, प्रमेय के पहले, बाद व साथ में रहता हुआ उस (प्रमाण) का बोध कराने वाला होता है। प्रमाण-प्रमेय का ग्रहण प्रमेय से पूर्व, पश्चात् अथवा साथ-साथ रहकर नहीं कर सकता; ऐसा प्रतिषेध सदैव असंगत होता है। इसका भाव यह हुआ कि यथानुकूल समस्त दशाओं में प्रमाण द्वारा प्रमेय का ग्रहण किया जाता है। सूत्र में वाद्य-यन्त्र की ध्वनि के उदाहरण द्वारा इस प्रकार से स्पष्ट किया गया है- जिस प्रकार शब्द ध्वनि से वाद्यों का पहचानना प्रत्यक्ष सिद्ध है, उसी प्रकार प्रमाण भी सिद्ध है और उनकी त्रैलोक्य में भी असिद्धि नहीं स्वीकारी जा सकती। जैसे- 'जब किसी देवालय में वाद्य बज रहा होता है, तब दूरस्थ व्यक्ति उसकी ध्वनि का श्रवण करता है। ध्वनि की विशेषता से वह जान लेता है, वह वीणा आदि अमुक वाद्य ही बजाया जा रहा है।' इस प्रकार वाद्य साध्य-प्रमेय है और शब्द साधन-प्रमाण। ऐसे प्रसंगों में पूर्व में उपस्थित साध्य का, बाद में होने वाले शब्द रूप साधन-प्रमाण द्वारा साक्षात् होता है। सूत्र में साध्य 'पूर्व' एवं साधन 'अपर' कहा गया है। अतः प्रमेयों के पूर्व सिद्ध प्रमाणों का भी होना सिद्ध होता है, जैसे सूर्य का प्रकाश (सिद्ध प्रमाण) पूर्व में विद्यमान होता है और वस्तु (साध्य-प्रमेय) बाद में ज्ञात होती है॥ १५॥

अब अगले सूत्र में अर्थ को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्त द्वारा प्रमाण एवं प्रमेय की उपपत्ति निरूपित की जा रही है—

(७७) प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्॥ १६॥

सूत्रार्थ— च = और, तुलाप्रामाण्यवत् = तुला के प्रमाण होने के समान, प्रमेयता = एक ही वस्तु या पदार्थ में प्रमाण एवं प्रमेय का व्यवहार किया जाता है।

व्याख्या— यहाँ सूत्र में 'तुला' पद का अर्थ -'बाट सहित तराजू' किया गया है। सामान्यतया 'तुला' का अर्थ मात्र तराजू माना जाता है; किन्तु प्रमुखतः तुला 'बाट' है; क्योंकि किसी पदार्थ या वस्तु का भार 'बाट' के आधार पर निश्चित होता है। 'तराजू' तो मात्र 'बाट' के उपयोग का साधन है। अतः यहाँ पर तुला की सीमा में से 'बाट' का निकालना अनुचित होगा।

यहाँ पर भार-मापक साधन रूप तराजू को तुला और भार-रूप स्वर्ण-चाँदी आदि द्रव्य को प्रमेय कहा गया है। जैसे- यदि किसी वस्तु या पदार्थ का भार जानना हो, तो उसके लिए तराजू का उपयोग करना पड़ेगा तथा भार का ज्ञान 'बाट' से होगा। अब यदि बाट के ठीक होने की जाँच का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाए, तो उस बाट को दूसरे बाट द्वारा मापना (तोलना) पड़ेगा। इस तरह बाट रूप प्रमेय ही उस बाट की पुष्टि हेतु प्रमाण होता है, इसी प्रकार- यदि किसी बाट से एक किलो रजत तोली गई, तो बाट प्रमाण और रजत प्रमेय

होगी और उस एक किलो तुली हुई रजत से यदि कोई अन्य वस्तु तोलें, तो अब वह रजत प्रमाण और वह वस्तु प्रमेय होगी। अत: यह सिद्ध हुआ कि जो पदार्थ या वस्तु ज्ञान का कारण होगा, वही प्रमाण कहलायेगा तथा ज्ञान का विषय होने से उसी पदार्थ या वस्तु को प्रमेय कहा जायेगा। इस प्रकार से शास्त्र में जहाँ जैसा प्रतिपाद्य प्रसङ्ग हो, उसे वहाँ वैसा ही जानने का प्रयास करना चाहिए॥१६॥

प्रमाणज्ञान क्या प्रमाणन्तरापेक्षित है? प्रस्तुत जिज्ञासा का समाधान स्वयं सूत्रकार द्वारा इस सूत्र में किया जा रहा है-

(७८) प्रमाणत: सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः॥ १७॥

सूत्रार्थ— प्रमाणानाम् = प्रमाणों के, प्रमाणत: = प्रमाण से, सिद्धेः = सिद्धि मान लेने पर तो, प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः = अन्य प्रमाणों के सिद्ध होने का प्रसङ्ग उत्पन्न हो जाएगा।

व्याख्या— यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि (ज्ञान की प्राप्ति) का होना अन्य किन्हीं दूसरे प्रमाणों से माना जाता है, तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अलावा उन प्रमाणों को स्वीकारने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है, जिनसे प्रत्यक्षादि को जाना जाता है। यदि उन प्रमाणों को मान लिया जाता है, तो उन्हें जानने हेतु उन प्रमाणों के अतिरिक्त दूसरे अन्य प्रमाणों की आवश्यकता महसूस होगी। इस प्रकार एक के आगे एक प्रमाण स्वीकारने से अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। फिर सूत्रकार द्वारा उद्देशग्रंथ में चारों प्रमाणों का उल्लेख किया भी गया है, उसमें न्यूनातिन्यून दोष तो आ ही जायेगा। प्रमाण के निर्देशन में इस तरह के दोषों का उत्पन्न होना वांछनीय नहीं है। किन्तु इस प्रकार अनेक दोष प्रकट होते रहने से अनन्त प्रमाण भी किसी एक पदार्थ को सिद्ध नहीं कर सकते तथा उसे बिना किसी अन्य प्रमाण के ही मानना पड़ेगा॥१७॥

अब यहाँ इस सूत्र में अन्य दोषों पर भी प्रकाश डाला जा रहा है—

(७९) तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणसिद्धिवत्प्रमेयसिद्धिः॥ १८॥

सूत्रार्थ— तद्विनिवृत्तेः = प्रमाण के बिना प्रमाण की सिद्धि से, वा = अथवा, प्रमाणसिद्धिवत् = प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि होने के समान, प्रमेयसिद्धिः = प्रमेयों की भी सिद्धि हो जायेगी।

व्याख्या— यदि अनवस्था आदि दोषों के डर से ऐसा स्वीकार कर लिया जाये कि प्रमाणों के बिना अर्थात् प्रमाणान्तर की विनिवृत्ति (अनुपस्थिति) में भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि समझ लिया जाना असम्भव नहीं है, तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अभाव में भी सभी प्रमेयों का जान लेना सम्भव हो जायेगा। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्षादि प्रमाणों का मानना बेकार हो जायेगा। इस प्रकार से सभी प्रमाण विलुप्त हो जायेंगे और तब 'प्रमाण' पदार्थ का प्रतिपादन असंगत हो जायेगा॥१८॥

अब अगले सूत्र में उक्त जिज्ञासा के पूर्व पक्ष का समाधान किया जा रहा है—

(८०) न प्रदीपप्रकाशसिद्धिवत्तत्सिद्धेः॥ १९॥

सूत्रार्थ— प्रदीपप्रकाशसिद्धिवत् = दीपक और प्रकाश की सिद्धि के सदृश, तत्सिद्धेः = उन (प्रत्यक्षादि-प्रमाणों) की सिद्धि, न = नहीं होती।

व्याख्या— जिस प्रकार दीपक के द्वारा प्रकाश उत्पन्न होता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। दीपक का दृष्टिगोचर होना अथवा न होना, यह प्रकाश पर निर्भर करता है; किन्तु दीपक को देखने के लिए किन्हीं दूसरे नेत्रों की आवश्यकता महसूस नहीं होती। अत: नेत्र ही दीपक के होने या न होने का निर्णय कर देते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्षादि प्रमाण से जिन-जिन वस्तुओं को ज्ञात किया जाता है, उन-उन पदार्थों के ज्ञान द्वारा उनके प्रत्यक्ष होने का अनुभव होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रकाश में ही घट-पट आदि वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उसी प्रकार प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि होने में अनवस्था दोष प्राप्त नहीं होता॥१९॥

अब इस सूत्र में विशेष प्रमाण प्रत्यक्ष की परीक्षा की जा रही है—

(८१) प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात्॥ २०॥

सूत्रार्थ— असमग्रवचनात् = अपूर्ण कथन या वचन से, प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिः = प्रत्यक्ष का लक्षण अच्छी तरह से सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या— प्रत्यक्ष के लक्षण में सभी तथ्य (वचन) पूरी तरह से नहीं कहे गये। इस कारण प्रत्यक्ष का लक्षण अच्छी तरह से प्रकट नहीं होता। यदि यह कहें कि प्रत्यक्ष के लक्षण में क्या कमी है? तो कहा जाता है कि उसके सभी कारण प्रकट नहीं किये गये। प्रत्यक्ष के लक्षण में कहा गया है कि इन्द्रियों के विषय से प्रकट हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष है; किन्तु इन्द्रियों के विषयों से किसी भी तरह के ज्ञान का प्राकट्य नहीं होता। ज्ञान के प्राकट्य हेतु आत्मा का मन से सन्निकर्ष होता है तथा मन का इन्द्रियों से सन्निकर्ष (सम्बन्ध) होता है। तभी ये इन्द्रियाँ अपने विषय-वस्तु को स्वीकारने में पूर्ण सक्षम होती हैं। जबकि आत्मा, मन एवं इन्द्रिय-इन तीनों का सन्निकर्ष ज्ञान के प्राकट्य का कारण है, तब मात्र इन्द्रियों से ही उसका प्राकट्य मानना कभी उचित नहीं हो सकता। अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्षादि का जो लक्षण (कथन) प्रतिपादित किया गया है, वह आधा-अधूरा होने के कारण उपयुक्त नहीं कहा जा सकता॥२०॥

इस सूत्र में प्रत्यक्ष लक्षण की अपूर्णता को सूत्रकार स्वयं ही स्पष्ट कर रहे हैं—

(८२) नात्ममनसोः सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः॥ २१॥

सूत्रार्थ— आत्ममनसोः = आत्मा एवं मन के, सन्निकर्ष = संयोग का, अभावे = अभाव होने से, प्रत्यक्षोत्पत्तिः = प्रत्यक्ष की उत्पत्ति, न = (सम्भव) नहीं है।

व्याख्या— जिस प्रकार से इन्द्रियों का विषयों से सन्निकर्ष न हो, तो प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा का मन से सन्निकर्ष (संयोग) न हो, तो भी प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं होती। जिस तरह इन्द्रिय एवं अर्थ का संयोग प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आवश्यक है, उसी तरह से आत्मा एवं मन का संयोग भी ज्ञान की प्राप्ति हेतु आवश्यक है। उदाहरणार्थ- मन कहीं अन्यत्र केन्द्रित हो और कोई बात घट जाए, तो उस घटना का सही ज्ञान नहीं हो पाता। उस स्थिति में आँखें किसी विषय-पदार्थ को अपने समक्ष उपस्थित होते हुए भी नहीं देख पातीं। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा एवं मन के संयोग के अभाव में ज्ञान की उत्पत्ति कभी सम्भव नहीं हो सकती॥२१॥

यदि इन्द्रिय एवं अर्थ का संयोग होने पर ही प्रत्यक्ष-ज्ञान की प्राप्ति से वे (इन्द्रिय एवं अर्थ) प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण हैं, तो वह दशा दिक्, देश, काल एवं आकाश में भी मिलती है। इसी का निरूपण इस सूत्र में किया जा रहा है—

(८३) दिग्देशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसङ्गः॥ २२॥

सूत्रार्थ— एवम् = इसी प्रकार, दिग्देशकालाकाशेषु = दिशा, देश, काल, आकाश के सन्दर्भ में, अपि = भी, प्रसङ्गः = अपूर्ण कथन की प्राप्ति होती है।

व्याख्या— किसी भी तरह के ज्ञान की प्राप्ति की अवस्था में दिशा, देश, काल एवं आकाश की स्थिति आवश्यक होती है। तब इन्हें भी प्रत्यक्षज्ञान का कारण समझना चाहिए। यहाँ प्रत्यक्ष लक्षण सूत्र में इनका वर्णन न होना लक्षण की अपूर्णता का द्योतक है।

यद्यपि प्रत्यक्ष लक्षण में यह आपत्ति आधाररहित है। ज्ञान के प्राकट्य में दिशा आदि के कारण न होने से भी उनके सामीप्य को अलग नहीं किया जा सकता। अतः इनको कारण माने जाने में कोई विशेष हेतु होना चाहिए, ताकि ज्ञान के प्राकट्य के प्रति इनकी कारणता स्पष्ट हो सके। इसके विपरीत दिशा आदि के

रहते यदि इन्द्रिय एवं अर्थ का संयोग न हो, तब ज्ञान का प्राकट्य न होना और यदि हो, तो प्रकट होना, यह सिद्ध करते हैं कि दिशा आदि की विद्यमानता आवश्यक है। इसलिए वे ज्ञान-प्राकट्य के प्रति अन्यथा सिद्ध मात्र हैं,कारण नहीं; क्योंकि दिशा, देश, काल आदि के अभाव में किसी भी ज्ञान का प्राकट्य असम्भव है ॥२२॥

अब अगले सूत्र में पूर्व पक्ष का समाधान किया जा रहा है—

(८४) ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो नाऽनवरोधः॥ २३॥

सूत्रार्थ— आत्मनः = आत्मा का, ज्ञानलिङ्गत्वात् = ज्ञान लक्षण (लिङ्ग) होने से, अनवरोधः = अवरोध का न होना, न = नहीं होता।

व्याख्या— आत्मा का विशिष्ट गुण होने के कारण ज्ञान आत्मा का लिङ्ग (लक्षण) कहलाता है। ज्ञान आत्मा के अस्तित्व का साक्षात् कर्त्ता है। अतः ज्ञान की प्राप्ति में दिशा आदि जड़-पदार्थों का कारण मानना निरर्थक है। आत्मा का ज्ञान के साथ निरन्तर सम्पर्क बना रहता है तथा जिस वस्तु या पदार्थ का नित्य-प्रति निरन्तर सम्पर्क होता रहे, तो अति सहज होने के कारण उसका उल्लेख करना अनिवार्य नहीं होता ॥२३॥

इन्द्रिय एवं मन के संयोग का उल्लेख तो लक्षण-सूत्र में होना ही चाहिए। इस सन्दर्भ में सूत्रकार द्वारा इस सूत्र में कहा जा रहा है—

(८५) तदयौगपद्यलिङ्गत्वाच्च न मनसः॥ २४॥

सूत्रार्थ— च = और, तदयौगपद्यलिंगत्वात् = एक समय में विभिन्न ज्ञानों का लिङ्ग (लक्षण) न पाये जाने से, मनसः = मन के सन्निकर्ष को कहने की, न = आवश्यकता नहीं है।

व्याख्या— पूर्व सूत्र में वर्णित 'अनवरोधः' पद की अनुवृत्ति इस सूत्र में समझना चाहिए। मन की दशा से यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि एक ही काल में विभिन्न ज्ञानों की प्राप्ति नहीं हो सकती। एक साथ ज्ञानों का उत्पन्न न होना मन का ही लक्षण (लिंग) है। यह इसलिए हो पाता है कि जिस इन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष होता है, उसी इन्द्रिय से ग्रहणीय विषय का ज्ञान प्राप्त होता है, दूसरा अन्य ज्ञान ग्रहणीय नहीं होता। एक विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होने की स्थिति में यह स्पष्ट हो जाता है कि उस इन्द्रिय के संग मन का संयोग हो रहा है। इस तरह से प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति मन एवं इन्द्रिय के संयोग की कारणता सहज ही मिल जाती है। यदि प्रत्यक्ष लक्षण के अन्तर्गत उसका वर्णन नहीं किया गया, तो यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि उपर्युक्त भेद से प्रत्यक्ष लक्षण के अन्तर्गत इन्द्रिय एवं मन के संयोग का संग्रह हो जाता है। अतः यहाँ पर मन के सन्निकर्ष का उल्लेख करने की अतिरिक्त आवश्यकता नहीं॥ २४॥

अब इस सूत्र में इन्द्रिय एवं अर्थ के संयोग की प्रमुखता का उल्लेख किया जा रहा है—

(८६) प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य स्वशब्देन वचनम्॥ २५॥

सूत्रार्थ— प्रत्यक्षनिमित्तत्वात् = प्रत्यक्ष का निमित्त होने से, च = केवल, इन्द्रियार्थयोः = इन्द्रिय एवं अर्थ (विषय) के, सन्निकर्षस्य = संयोग का, स्वशब्देन = अपने शब्द से (अर्थात् 'इन्द्रिय' एवं 'अर्थ' इन अपने बोधक पदों से), वचनम् = कथन (लक्षण सूत्र में) किया गया है।

व्याख्या— प्रत्यक्ष लक्षण सूत्र के अन्तर्गत इन्द्रियार्थ के संयोग का बोध कराने वाले अपने वाचक पदों से कथन (उपदेश) इसीलिए होता है कि इन्द्रिय और अर्थ का संयोग मात्र प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण होता है। उससे अन्य अनुमिति आदि का ज्ञान नहीं होता। आत्मा एवं मन का संयोग आदि- प्रत्यक्ष अनुमिति, उपमिति, शाब्द आदि समस्त ज्ञानों में निमित्त होते हैं। इन्द्रियार्थ संयोग मात्र-प्रत्यक्ष ज्ञान में ही कारण होता है। जो ज्ञान सामान्य ज्ञानों में कारण है, उसका उल्लेख प्रत्यक्ष ज्ञान विशेष के लक्षण में किया जाना उचित नहीं था।

उल्लेख न करने पर भी प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति उसकी निमित्तता में किसी भी तरह का अवरोध नहीं आता। वे तो सभी तरह के ज्ञानों में एक जैसे समान कारण हैं। जो मात्र प्रत्यक्ष ज्ञान में कारण होते हैं, अन्यत्र में कारण नहीं हैं; उनका ही विवेचन लक्षण सूत्र के अन्तर्गत किया गया है। यही उचित था; क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रमुख कारण यही है। अत: प्रत्यक्ष लक्षण सूत्र में कहीं पर भी किसी प्रकार की कमी नहीं है॥२५॥

इन्द्रियार्थ के संयोग का और भी कारण है, जो यहाँ इस सूत्र में बतलाया जा रहा है—

(८७) सुप्तव्यासक्तमनसां चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षनिमित्तत्वात्॥ २६॥

सूत्रार्थ — च = और, सुप्तव्यासक्तमनसाम् = सोये हुए एवं अत्यन्त लीन हुए पुरुष का ज्ञान, इन्द्रियार्थयो: = इन्द्रिय एवं उनके अर्थ के, सन्निकर्षनिमित्तत्वात् = संयोग के निमित्त होने से प्रमुख है।

व्याख्या— प्रत्यक्ष लक्षण सूत्रान्तर्गत इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष का ग्रहण किया गया है, आत्मा एवं मन के सन्निकर्ष का नहीं। इसका कारण यह हुआ कि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय एवं अर्थ का संयोग ही प्रमुख कारण होता है और आत्मा एवं मन का संयोग गौण कारण है। इस यथार्थता को इस तरह से समझना चाहिए—

जब मनुष्य सोने से पूर्व यह संकल्प कर लेता है कि मुझे ठीक अमुक समय उठ करके अमुक कार्य पर जाना है, तो वह उस संकल्पित समय पर अवश्य ही उठ जाता है। ऐसे क्षणों में दृढ़ संकल्प वाले आत्मा में ठीक समय पर वह भाव उभर आता है; आत्मा मन को प्रेरित करता है, मन इन्द्रिय के साथ लगकर उसे सचेत करता है और मनुष्य अपने संकल्पित समय में उठ जाता है। यहाँ आत्मा एवं मन के संयोग को प्रबोध में प्रेरक कारण कहा जा सकता है; परन्तु मनुष्य जब किसी ऐसे संकल्प से नहीं सोया है। वह गहरी निद्रा में सोया हुआ है। बाहर तेज शब्द हो रहे हैं, घण्टे एवं गोले आदि छूटने या जरूरत होने पर झकझोर कर जब कोई उसे उठाता है, तब ऐसे क्षणों में बाहरी ध्वनि एवं श्रोत्रेन्द्रिय या तीव्र स्पर्श और त्वक् इन्द्रिय का संयोग सबसे पहले होता है। यहाँ प्रबोध ज्ञान की उत्पत्ति का यही प्रमुख कारण है; क्योंकि उसे विषयेन्द्रिय के संयोग से ज्ञान होता है, अत: इसमें आत्मा और मन के संयोग को प्रधानता नहीं दी जा सकती। इसमें तो इन्द्रिय एवं उसका विषय ही प्रधान कारण है॥ २६॥

इस सूत्र में इन्द्रिय एवं विषयों के संयोग की प्रमुखता को सिद्ध करने के लिए सूत्रकार एक अन्य हेतु को प्रकट कर रहे हैं—

(८८) तैश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम्॥ २७॥

सूत्रार्थ— च = तथा, ज्ञानविशेषाणाम् = ज्ञान विशेषों का, तै: = उन (इन्द्रिय एवं विषय) के द्वारा, अपदेश: = कथन-व्यवहार होता है।

व्याख्या— उन इन्द्रियों एवं विषयों के द्वारा ही प्रत्यक्षीभूत विशिष्ट-विभिन्न ज्ञानों का व्यवहार-कथन निर्देशन होता है। जैसे घ्राणेन्द्रिय से सूँघना, नेत्रेन्द्रिय से दृश्यावलोकन करना, जिह्वा से रसास्वादन करना, त्वगेन्द्रिय से स्पर्श करना आदि। यहाँ सूँघना, दृश्यावलोकन करना, रसास्वादन करना, स्पर्श करना आदि ज्ञान का व्यवहार इन्द्रियों से होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति में इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष की प्रमुखता सिद्ध होती है। अत: आत्मा और मन का संयोग न कहकर इन्द्रियार्थ के संयोग से ज्ञान का निर्देशन किया गया है, दूसरे कारणों से नहीं॥२७॥

अब अगले सूत्र में पूर्व पक्ष का प्रस्तुतीकरण हो रहा है—

(८९) व्याहतत्त्वादहेतुः॥ २८॥

सूत्रार्थ— व्याहतत्त्वात् = विरोधी होने के कारण, अहेतु: = यह हेतु निरर्थक है।

व्याख्या— पूर्व कथित छब्बीसवें सूत्र में प्रत्यक्ष ज्ञान हेतु इन्द्रिय एवं विषय का संयोग प्रमुख कहा गया है तथा आत्म-मन: संयोग की कारणता का निषेध नहीं किया है; किन्तु ऐसा मानने से एक ही काल में दो तरह के ज्ञान का उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष धर्म समाप्त (नष्ट) हो जाएगा। यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि मन में एक काल में एक ही ज्ञान की प्राप्ति होती है, दो ज्ञानों की नहीं। अत: इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा एवं मन का सन्निकर्ष ही समस्त ज्ञानों का हेतु है। इन्द्रियार्थ का सन्निकर्ष इसका हेतु नहीं कहा जा सकता॥ २८॥

इस सूत्र में उपर्युक्त पूर्वपक्ष का निस्तारण किया जा रहा है—

(९०) नार्थविशेषप्राबल्यात्॥ २९॥

सूत्रार्थ— अर्थविशेषप्राबल्यात् = अर्थ-विषय विशेष की प्रबलता होने से, न = (दोष) नहीं होता।

व्याख्या— आत्ममन: सन्निकर्ष ज्ञान को उत्पन्न करने वाला कहा गया है। इस सिद्धान्त में किसी भी तरह का व्याघात नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से प्राय: यह देखा जाता है कि प्रगाढ़ निद्रा में सोया हुआ व्यक्ति भी उच्च ध्वनि या किसी भी तरह के शब्द से उठ बैठता है। उससे यह कहा जाता है कि यह सब इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष से हुआ है; किन्तु यह अवधारणा व्यर्थ है। मन के अभाव में ज्ञान कभी भी नहीं हो सकता। इसमें इन्द्रिय द्वारा मन को जाग्रत् कर ज्ञान की शक्ति दी गई है और मन ने वह ज्ञान आत्मा के समीप में पहुँचाया। यदि आत्मा और मन का सन्निकर्ष न हुआ होता, तो कैसा भी प्रचण्ड शब्द क्यों न किया जाता, नींद नहीं टूट सकती थी। कार्य के सक्रिय होने पर इन्द्रिय ही मुख्य होती है तथा कार्य के निष्क्रिय होने पर मन मुख्य हो जाता है। इन्द्रिय एवं मन-इन दोनों में पृथक् कारण होने से उसमें व्याघात होना नहीं माना जा सकता। आत्मा एवं मन के अभाव में ज्ञान का प्राकट्य नहीं होता; किन्तु विशिष्ट अर्थ होने से इन्द्रिय के द्वारा मन को कार्य में संलग्न किया गया है। अत: इन्द्रिय को प्रधान (मुख्य) मानकर इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष का तथ्य यहाँ प्रतिपादित किया गया है॥ २९॥

अब अगले सूत्र में प्रत्यक्ष की परीक्षा की जा रही है—

(९१) प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धे:॥ ३०॥

सूत्रार्थ— एकदेशग्रहणात् = एक देश का ग्रहण करने से (अर्थात् एक क्षेत्र-स्थान विशेष के देखने मात्र से), उपलब्धे: =उपलब्धि होने पर, प्रत्यक्षम् = प्रत्यक्ष प्रमाण का, अनुमानम् = अनुमान सिद्ध हो जाता है।

व्याख्या— इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अनुमान ही कहलाता है; क्योंकि एक ही काल में नेत्र द्वारा वृक्ष, पट, घट, मकान आदि का एक ही भाग दृष्टिगोचर होगा। उसका पृष्ठ भाग नहीं दृष्टिगोचर होगा। वैसे देखने से ज्ञान पूरे वृक्ष का होता है; फिर भी पूरा विषय प्रत्यक्ष न होने से उसका अनुमान ही करना पड़ेगा कि वृक्ष का पृष्ठ भाग भी इसी तरह का होगा। ठीक वैसे ही जैसे कि कहीं से धुआँ को निकलते हुए देखकर सहज ही अग्नि का अनुमान हो जाता है। यहाँ पर भी एक देश (क्षेत्र) के ग्रहण से उस वस्तु अथवा पदार्थ, वृक्षादि का अनुमान होता है। अत: प्रत्यक्ष को अन्य प्रमाण न मानकर उसे अनुमान ही मानना चाहिए। यही उचित होगा॥ ३०॥

'प्रत्यक्ष अनुमान नहीं है,' उपर्युक्त सूत्र में वर्णित इस जिज्ञासा का समाधान अब इस सूत्र में किया जा रहा है—

(९२) न प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात्॥ ३१॥

सूत्रार्थ— प्रत्यक्षेण = प्रत्यक्ष से, अपि=भी यावत्-तावत् = जितने का ज्ञान होगा, उतने के; उपलम्भात् =उपलब्ध होने से उसे, न = प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता।

व्याख्या— वृक्ष का जितना हिस्सा प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होता है, उतने ही ज्ञान से पूर्ण वृक्ष का

ज्ञान हो जाता है। यदि एक ही हिस्से का प्रत्यक्ष होना मान लिया जाये,तो प्रत्यक्ष का न होना, नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से दो वस्तुओं की व्याप्ति ज्ञान होने से ही उनमें से एक को देखने से दूसरे का अनुमान सहज ही हो जाता है। जैसे-धुआँ एवं अग्नि को पूर्व में कभी देखा जा चुका है,तभी तो धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान होता है और यदि पहले नहीं देखा गया है, तो फिर अनुमान नहीं होगा। इस उदाहरण से यह ज्ञात हुआ कि अनुमान भी प्रत्यक्ष के द्वारा ही सिद्ध होता है। इस प्रकार एकदेश(क्षेत्र)का प्रत्यक्ष ज्ञान मान लेने से प्रत्यक्ष की सत्ता का निषेध करने वाले सिद्धान्त का स्वयं ही प्रतिषेध हो जाता है ॥३१॥

उपर्युक्त सूत्र में वर्णित जिज्ञासा के समाधान में एक और भी दोष है, जिसे इस सूत्र में स्पष्ट किया गया है—

(९३) न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात् ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थ— च = और, केवल; अवयविसद्भावात् = अवयवी के प्रत्यक्ष (विद्यमान) होने से, एकदेशोपलब्धिः = एक देश की प्राप्ति, न = नहीं हो सकती।

व्याख्या— अवयवी पूर्ण रूप से स्वतन्त्र द्रव्य है, अतः उसके द्वारा एकदेश (क्षेत्र) की उपलब्धि नहीं होगी, वरन् एकदेश और उसके सहयोगी (साथी) एक देशीय दोनों की ही उपलब्धि हो जाती है। इसमें अवयव सन्निकर्ष कारण एवं अवयवी सन्निकर्ष कार्य माना जाता है। इस ज्ञान को ही प्रत्यक्ष ज्ञान की संज्ञा प्रदान की गई है। ऐसा नहीं हो सकता कि एकदेश में समवेत अवयवी इन्द्रिय से असन्निकृष्ट रह जाये। इन्द्रिय सन्निकृष्ट एकदेशरूप अवयवों में अवयवी समवेत है और उपलब्धि के कारण इन्द्रिय संयोग से जुड़ा हुआ है। ऐसी दशा में एकदेश की प्राप्ति होने से अवयवी की प्राप्ति न हो, यह असम्भव है; क्योंकि अवयवी उस एकदेश के सदृश-इन्द्रिय सन्निकृष्ट है। एक अवस्था में रहते हुए अवयव का ग्रहण हो जाय और अवयवी का न हो ऐसा असम्भव है ॥३२॥

इस सूत्र में अवयवी को प्रमाणित करने में पूर्वपक्ष का कथन प्रस्तुत किया गया है—

(९४) साध्यत्वादवयविनिसन्देहः ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ— साध्यत्वात् = साध्य होने से, अवयविनि = अवयवी के सन्दर्भ में, सन्देहः = सन्देह है।

व्याख्या— यहाँ पर पूर्व पक्ष का कथन है कि अवयवी की उपस्थिति एवं उसका प्रत्यक्ष होना उचित नहीं माना जा सकता; क्योंकि अवयवी में सन्देह है। अवयवी अवयवों में अलग वस्तु है, ऐसा सिद्ध होने पर ही अवयवी का प्रत्यक्ष होना माना जा सकता है। उपर्युक्त सूत्र क्र० ३२ में 'अवयविसद्भावात्' जो हेतु प्रदान किया गया है, यथार्थतः वह उचित नहीं है; क्योंकि इस तथ्य को प्रमाणों के द्वारा सिद्ध नहीं किया गया कि अवयव समूह के रूप में प्रतीयमान पदार्थ उन अवयवों से अलग है, उन अवयवों से प्रकट होता और उन्हीं में वह पदार्थ समवेत रहता है। इस प्रकार से साध्य होने से अवयवी है, अथवा नहीं? ऐसी सन्देह की स्थिति बनी रहती है। साध्य को ही सिद्ध जानकर हेतु रूप में उपस्थित कर दिया गया, यह मात्र विप्रतिपत्ति हुई; एक विपरीत पक्ष को उद्धृत कर आधार रहित कथन हेतु रूप में कह दिया गया है। यह विप्रतिपत्ति ही अवयवी के सन्दर्भ में सन्देह है। इसलिए उपर्युक्त हेतु अहेतु मात्र है, अपने उद्देश्य को पुष्ट नहीं कर पाता ॥३३॥

अवयवी को स्वीकार न करने की स्थिति में दोष का समाधान अब अगले सूत्र में किया जा रहा है—

(९५) सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थ— अवयव्यसिद्धेः = अवयवी के असिद्ध होने पर, सर्वाग्रहणम् = सभी का ग्रहण नहीं होता।

व्याख्या— यदि अवयवी को असिद्ध माना जाता है, अवयवी को अवयव से अलग द्रव्य न स्वीकारें, तो मात्र किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि भेदों में समस्त पदार्थ समाहित हैं। अवयवी के अस्वीकार में किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष होना असंभव है। इसका कारण यह है कि पदार्थ की संरचना उसके मूल उपादान-तत्त्व परमाणु से शुरू होती है। यदि परमाणुओं का समूह द्रव्यान्तर को प्रकट नहीं करता, तो वह परमाणु रूप में अवस्थित रहेगा। परमाणु कभी दृष्टि का विषय नहीं हो सकता। तत्त्व की वह अवस्था अतीन्द्रिय है; परन्तु पदार्थ का ज्ञान होना संभव है; क्योंकि वर्तमान में विविध पदार्थ लोक में दृष्टिगोचर होते हैं। यदि अवयवी को नहीं स्वीकार किया जायेगा, तो प्रत्यक्ष का अभाव होने से अनुमान आदि प्रमाण भी अपने विषयों में सन्नद्ध नहीं होंगे। मात्र परमाणु-समूह स्वीकारने से इन पदार्थों का नेत्र आदि से ज्ञान होना असम्भव है। फिर भी ज्ञान होना सम्भव रूप में माना जाता है। जैसे- यह पात्र है, वृक्ष है, छोटा-बड़ा है, सक्रिय-निष्क्रिय है आदि रूप में द्रव्यादि पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान यथावत् होता है। गुणादि धर्मों का भी इसी रूप में अस्तित्व जाना जाता है। इन सभी द्रव्यादि पदार्थों का ग्रहण होने से सिद्ध होता है कि अवयवों से अवयवी पृथक् और स्वतन्त्र पदार्थ है ॥३४॥

अब इस सूत्र में अवयवी को सिद्ध करने के लिए सूत्रकार एक अन्य युक्ति प्रस्तुत कर रहे हैं—

(९६) धारणाऽऽकर्षणोपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

सूत्रार्थ— च = तथा, धारणाऽऽकर्षणोपपत्तेः = धारण एवं आकर्षण की उपपत्ति-सिद्धि से भी अवयवी का पृथक् एवं स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध होता है।

व्याख्या— धारण एवं आकर्षण की उपपत्ति अर्थात् सिद्धि से भी अवयवी का पृथक् एवं स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध होता है। एक अवयव के धारण करने से सभी अवयवों का धारण करना हो जाता है। इसका भाव यह है कि एक अवयव के ज्ञान से ही समस्त अवयवों का ज्ञान हो जाता है तथा अवयवों के प्रत्यक्ष होने से एक अवयव से ही उसके साथी सभी अवयवों को जान लिया जाता है। अवयवी के अवयव दो तरह के होते हैं-१. प्रत्यक्ष होने वाले और २. अप्रत्यक्ष होने वाले। इन दोनों में से किसी एक अवयव को देखकर ही अवयवों के समूह रूप अवयवों का ज्ञान हो जाने से अवयवी सिद्ध हो जाता है। प्राय: यह कहा जा सकता है कि पदार्थों में धारण आकर्षण की अनुभूत दशा को यथार्थ व उपयुक्त मानते हुए आवश्यक नहीं है कि अवयव के अतिरिक्त अवयव ग्रहण किया जाये। 'वृक्ष, घट, पट' आदि का ज्ञान विषय अवयवी न होकर परमाणुओं का समूह कहा जा सकता है। अवयव के समूह में वृक्षादि बुद्धि होती है।

उपर्युक्त कथन तर्क की कसौटी पर शुद्ध प्रकट नहीं होता। परमाणु समूह यदि परमाणुओं के अलावा है तथा परमाणुओं में उपस्थित रहता है, तब 'समूह' के नाम से 'अवयवी' मान लिया जाना चाहिए। नाम चाहे जो भी कुछ रख लिया जाये; लेकिन वह अपने रूप से एक जैसा है तथा अवयवों में बना रहता है। यही अवयवी का स्वरूप है ।

यदि समूह अवयवों से अलग अपना कोई स्वरूप नहीं रखता, वह केवल परमाणु रूप है, तो फिर वृक्षादि पदार्थों में न तो एकत्व की उपस्थिति संभव होगी और न ही तरह-तरह के पदार्थों के विलक्षण स्वरूप में प्रकट होने का कोई कारण बतलाया जा सकता है। यदि विभिन्न परमाणुओं में एकत्व की उपस्थिति मानी जायेगी, तो वह स्पष्टतया भ्रान्ति होगी। इन परमाणुओं में एकत्व की उपस्थिति को वास्तविक रूप से स्वीकारने योग्य कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अभिप्राय यह हुआ कि एक वृक्ष है, एक घट है आदि में एकत्व का विषय क्या एक ही अर्थ है या अनेक हैं ? यदि पहला है, तो अवयवी को मान लिया। यदि दूसरा है, तो

अनेक में एक ज्ञान होना विषय-विरुद्ध ज्ञान होने से वह भ्रान्तिपूर्ण होगा, अत: धारण-आकर्षण के आधार पर सभी तरह के व्यवहार की सम्पन्नता हेतु अवयवी को ग्रहण करना आवश्यक है॥ ३५॥

अब इस सूत्र में 'अनेकत्व में एकत्व बुद्धि वस्तुभूत नहीं है' का उपपादन कर समाधान किया गया है—

(९७) सेनावनवद् ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम्॥ ३६॥

सूत्रार्थ— सेनावनवत् = सेना और वन के समान, ग्रहणम् = ज्ञान (होता है, अनेकत्व में एकत्व का), इति = ऐसा, चेत् = यदि (कहो तो वह ठीक), न = नहीं कह सकते; क्योंकि, अणूनाम् = परमाणुओं का ज्ञान, अतीन्द्रियत्वात् = अतीन्द्रिय होने से अर्थात् इन्द्रियगम्य न होने से ऐसा कहना अर्थहीन है।

व्याख्या— यदि ऐसा कहा जाय कि जैसे दूरस्थ सेना तथा उसके अवयव (सैनिक) एवं वन तथा उसके अवयव (वृक्ष) एक जैसे ही दृष्टिगोचर होते हैं, इन दोनों में परस्पर भेद होने का कोई भी ज्ञान नहीं होता। इसी तरह एकत्रित परमाणुओं के भेद का ज्ञान न होने से वे एक जैसे ही दृष्टिगोचर होते हैं, तो ऐसा कहना उचित नहीं है; क्योंकि सेना और जंगल के प्रत्यक्ष होने से वहाँ मानव और पेड़-पौधे प्रत्यक्ष हो जाते हैं; किन्तु परमाणु इन्द्रियों से परे हैं। वे किस प्रकार से दृष्टिगोचर हो सकते हैं। अत: सेना और वन का उदाहरण परमाणुओं से अत्यधिक युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता है। अवयवी इससे पृथक् है। इसी को प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करना उपयुक्त होगा। इस प्रकार से प्रत्यक्ष नामक प्रमाण की परीक्षा पूरी हुई॥३६॥

अब अगले सूत्र में अनुमान नामक प्रमाण की परीक्षा की जाती है। शिष्यों की भावनानुसार अनुमान लक्षण में व्यभिचार दोष की आशंका व्यक्त करने हेतु सूत्रकार कहते हैं —

(९८) रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्रमाणम्॥ ३७॥

सूत्रार्थ— रोधोपघातसादृश्येभ्य: = रोध, उपघात एवं सादृश्य के द्वारा (अर्थात् रुकावट, तोड़-फोड़ एवं समानता के कारण), व्यभिचारात् = व्यभिचार होने से, अनुमानम् = अनुमान को, अप्रमाणम् = प्रमाण नहीं माना जा सकता।

व्याख्या— पूर्वपक्षानुसार अनुमान को प्रामाणिक मानने में जो प्रमाण दिये गये हैं, वे रोध, उपघात एवं सादृश्य से व्यभिचार-दोष होने के कारण मान्य नहीं हैं। अनुमान नामक प्रमाण के लक्षण-सूत्र में अनुमान के तीन भेद कहे गये हैं, जिनमें से प्रथम पूर्ववत्, द्वितीय शेषवत् एवं तृतीय सामान्यतोदृष्ट है।

कारण द्वारा कार्य का अनुमान लगाना प्रथम भेद है। जैसे काले-काले उमड़ते बादलों को देखकर या चींटियों को अपने अण्डे लेकर जाते देखकर भविष्य में होने वाली वर्षा का अनुमान लगाया जाता है। ऐसी स्थिति व्यभिचार दोष से दूषित है; क्योंकि कभी-कभी इस तरह के काले-काले बादलों के आगमन पर वर्षा नहीं होती एवं चीटियों की बाँबी (भीटा) तोड़ देने से चीटियाँ अण्डे लेकर सुरक्षित स्थान के लिए चल देती हैं। इससे वर्षा का अनुमान लगाना दोषपूर्ण हो जाता है।

अनुमान का द्वितीय भेद शेषवत् है। इसमें कार्य द्वारा कारण का अनुमान लगाया जाता है। नदी में बाढ़ आने से ऊपर कहीं वर्षा हुई होगी, यह अनुमान ग्रहणीय नहीं है; क्योंकि ऊपर कहीं बाँध बनाकर पानी को रोक दें और पुन: उसे एक साथ छोड़ा जाय, तब भी बाढ़ आ जायेगी। इससे भी ऊपर वर्षा होने का अनुमान दोषपूर्ण (मिथ्या) हो जाता है।

अनुमान का तृतीय भेद सामान्यतोदृष्ट है। इसके अन्तर्गत कार्य-कारण भाव न होने पर साधक द्वारा साध्य का अनुमान लगाया जाता है। जैसे मयूरों के शब्द सुनने से वर्षा का अनुमान लगाया जाता है; किन्तु किसी मनुष्य के द्वारा उसकी ध्वनि का अनुकरण करने पर ध्वनि के समान होने से उसके आधार पर वर्षा का अनुमान लगाना मिथ्या होगा। शब्द सही है या नहीं, इसमें भी सन्देह हो सकता है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण

का पूर्व वर्णित लक्षण दोषपूर्ण सिद्ध हो जाता है॥ ३७॥

इस सूत्र में सूत्रकार द्वारा अनुमान के अप्रामाण्य का कथन निराधार है, यह प्रस्तुत किया गया है—

(९९) नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात्॥ ३८॥

सूत्रार्थ— एकदेशत्राससादृश्येभ्य: = एकदेश अर्थात् ऊपर अवरोध (रोक) हट जाने से नदी में बाढ़ आ जाना, त्रास अर्थात् चींटियों की बाँबी (भीटा) का टूट जाना और सादृश्य अर्थात् किसी व्यक्ति द्वारा मयूर की तरह ध्वनि करना, अर्थान्तरभावात् = अर्थान्तर होने से, न = नहीं (उपर्युक्त सूत्र में वर्णित आशंका - व्यभिचार दोष - का होना सिद्ध नहीं होता)।

व्याख्या— एकदेश, त्रास और सादृश्य के द्वारा अर्थान्तर होने के कारण अनुमान प्रमाण में व्यभिचार दोष नहीं होता, जैसे एकदेश अर्थात् ऊपर हुई वृष्टि से जब नदी में बाढ़ आती है, तब उस समय वर्षा का पानी मटमैला रहता है, झाग उठते रहते हैं, रास्ते की वृक्ष वनस्पतियाँ फल-पत्ते आदि उसमें बहकर आते हैं। इन सभी प्रमाणों से वर्षा का अनुमान लगाया जाता है। यह स्थिति अवरुद्ध पानी के खुल जाने पर एक-आध नदी में अधिक पानी आने से सर्वथा भिन्न है। मात्र पानी के बढ़ने से ऊपर हुई वर्षा का अनुमान नहीं लगता। चींटियों का अण्डे लेकर भागना भी, जो भय से होता है, उसे स्वाभाविक नहीं कह सकते। आने वाली वृष्टि का अनुमान तभी होता है, जब स्थान-स्थान पर चींटियाँ चल-फिर रही हों। यही एक मात्र वर्षा ऋतु के आगमन की पहचान होती है। कहीं एक-आध जगह पर चींटियों का भीटा (बाँबी) टूट जाने पर यत्र-तत्र गमन करना वर्षा का अनुमान नहीं कराता; क्योंकि यह ऋतु परिवर्तन का हेतु नहीं होता।

जहाँ पर किसी मनुष्य के द्वारा मोर के शब्दों का अनुकरण होता है, वह वास्तव में मोर के शब्द नहीं हैं। वृष्टि का अनुमान तो मयूर के शब्दों से ही संभव है। मोर आने वाली वर्षा ऋतु को समझते हैं। काले-काले उमड़ते हुए मेघों को देखकर मोर बोलते हुए नर्तन क्रिया में लीन हो जाते हैं। यह स्थति वर्षा का सहज अनुमान कराने में उचित माध्यम है। जो मनुष्य मोर के यथार्थ शब्द एवं उसके अनुकरण के भेद को जानता है, उसके लिए यथार्थ शब्द साध्य का साधन होते हैं। समस्त कृमि-कीट मोरों की ध्वनि को ठीक से पहचानते हैं। अनुकरण ध्वनि से उनको किसी भी तरह का भय नहीं होता। अत: अनुकरण -ध्वनि से वर्षा का अनुमान लगाना अनुमाता का दोष है, जो असंबद्ध सहज साधन से विशेष अर्थ को जानना चाहता है। अनुमान के जो दृष्टान्त ऊपर कहे गये हैं, वे यथार्थ हैं, कृत्रिम नहीं। कृत्रिम और यथार्थ हेतुओं में अन्तर है। इससे यह सिद्ध होता है कि अनुमान प्रमाण निर्दोष है॥ ३८॥

अनुमान के सन्दर्भ में शिष्य अन्यत्र आशंका करते हुए कहता है कि अनुमान त्रिकाल विषय है; क्योंकि अनुमान द्वारा तीनों कालों में होने वाली वस्तुएँ ग्रहणीय हो जाती हैं। क्रिया के आधार पर ही तीनों कालों की पहचान होती है और तदनुसार तीन काल निर्मित होते हैं। यहाँ सूत्र में शिष्य के उक्त आशय को समझकर सूत्रकार ने उसकी आशंका को व्यक्त किया है—

(१००) वर्त्तमानाभाव: पतत: पतितपतितव्यकालोपपत्ते:॥ ३९॥

सूत्रार्थ— पतत: = गिरने वाले (फल आदि) पदार्थों के, पतित = गिरा हुआ (और), पतितव्यकालोपपत्ते: = गिरने वाला कहा जाने से अर्थात् पतितव्य काल के उपपन्न होने से, वर्त्तमानाभाव: = वर्तमान काल का अभाव है।

व्याख्या— काल के व्यावहारिक वर्गीकरण का अवलम्बन 'क्रिया' है। कोई भी क्रिया कहीं से शुरू होकर किसी स्थान विशेष पर सम्पन्न हो जाती है। क्रिया की गतिशील दशा में कुछ अंश पूर्ण या सम्पन्न होता है, कुछ अंश आगे होने के लिए शेष बना रहता है। जो पूर्ण हो चुका है, वह भूतकाल का है, जो शेष है वह भविष्यत् काल का है। इन दोनों कालों के मध्य में वर्तमान काल का आभास नहीं मिलता। इससे तो यही

मानना पड़ता है कि वर्तमान काल का अस्तित्व ही नहीं है। उदाहरणार्थ देखें-वृक्ष की शाखा से टूटकर फल गिरा। किसी बिन्दु पर फल का जितना मार्ग अभी तक पूरा हुआ, वह भूत काल हुआ। जितनी राह आगे पूर्ण करना शेष है, वह भविष्यत् हुआ। वर्तमान का यहाँ कुछ भी पता नहीं चलता, ऐसी अवस्था में अनुमान को त्रिकालविषय कहना आधारहीन ही है॥ ३९॥

वर्तमान काल के अभाव में भूत-भविष्यत् असिद्ध है, इस आशंका का समाधान सूत्रकार द्वारा अब आगे के सूत्र में किया जा रहा है—

(१०१) तयोरप्यभावो वर्तमानाभावे तदपेक्षत्वात्॥ ४०॥

सूत्रार्थ— वर्तमानाभावे = वर्तमान का अभाव होने पर, तयो: = उन दोनों (भूत एवं भविष्यत्) का, अपि = भी, अभाव: = अभाव हो जायेगा; क्योंकि, तदपेक्षत्वात् = उस वर्तमान की अपेक्षा होने से (यही सिद्ध होता है)।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में कहा गया है कि 'चालू क्रिया का जितना मार्ग पूर्ण हो गया है, वह भूत कहलाता है। जो आगे का मार्ग पूरा करना है, वह भविष्यत् है। वर्तमान की यहाँ जानकारी नहीं मिलती।' यहाँ यह कथन उपयुक्त नहीं है; क्योंकि काल विभाजन की अभिव्यक्ति क्रिया पर आधारित है, मार्ग पर नहीं। जब यह कहा जाता है कि-फल गिर रहा है; यह गिरने की प्रक्रिया जब तक चलती रहती है, वही वर्तमान काल है। कार्य शुरू होने से पूर्व का काल भविष्यत् (पतितव्यकाल) होता है और जब पतन क्रिया पूर्ण हो जाती है, वहाँ से क्रिया का भूतकाल हो जाता है। इस प्रकार से जब द्रव्य में चालू रहती हुई पतन क्रिया गृहीत होती है, वही कार्य का वर्तमान काल कहलाता है। यह वर्तमान, क्रिया और द्रव्य के सम्बन्ध को स्वीकार करने का प्रयोजक है। उसी के अवलम्बन पर भविष्यत् अर्थात् अनागत काल है। यदि वर्तमान का अस्तित्व स्वीकार न किया जायेगा, तो भूत-भविष्यत् काल भी नहीं स्वीकारा जा सकता है; क्योंकि वर्तमान काल से ही उन दोनों की तुलना होती है। अत: जो समय वहाँ से पतित होने में लगता है, उसे ही वर्तमान काल माना जाना चाहिए। इस प्रकार से वर्तमान का अभाव नहीं कहा जा सकता॥४०॥

अगले सूत्र में वर्तमान की सिद्धि में एक अन्य हेतु और प्रतिपादित किया गया है—

(१०२) नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षासिद्धि:॥ ४१॥

सूत्रार्थ— अतीतानागतयो: = भूत और भविष्यत् काल की, इतरेतरापेक्षा = पारस्परिक अपेक्षा (सहायता) के द्वारा, सिद्धि: = सिद्धि, न = नहीं हो सकती।

व्याख्या— वर्तमान की मान्यता के बिना भूत एवं भविष्य की सिद्धि आपस में एक दूसरे के सहयोग भर से नहीं हो सकती। जैसे कि भूतकाल किसे कहते हैं, इसका उत्तर यही होगा कि जो भविष्यत् से विपरीत है। पुन: प्रश्न होगा कि भविष्यत् काल क्या है? तो उत्तर होगा कि जो भूतकाल से भिन्न है। इस तरह एक की सिद्धि से दूसरे की अपेक्षा (सहायता) हुई। अत: यह अन्योन्याश्रय दोष है तथा दोनों के प्रमाणित न होने से आपस में वे अपने में से किसी एक को भी सिद्ध नहीं कर सकते।

यह एक निश्चित तथ्य है कि काल का वर्गीकरण किसी क्रिया या अर्थ के श्रेष्ठ भाव पर आश्रित है। वर्तमान काल वह है, जब कोई भी कार्य गतिशील रहता है या जब तक कोई पदार्थ उपस्थित रहता है। यदि इसे ग्रहण न किया जाय, तो भूत-भविष्य दोनों अन्योन्याश्रित रहने के कारण असिद्ध हो जायेंगे। भूत, भविष्य के अभाव में न होगा और भविष्य, भूत के अभाव में। एक दूसरे के अभाव में दोनों किसी भी तरह आत्म सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते। चलते हुए मार्ग में जो केन्द्र बिन्दु उस क्रिया को भूत-भविष्य दो भागों में विभक्त करता है, वही वर्तमान काल का प्रतीक है।

यथार्थता यही है कि जब तक कोई क्रिया और पदार्थ प्रकट नहीं होता, वह उसका भविष्य है। प्रकट

होकर जब तक गतिशील रहता है, वह वर्तमान है और क्रिया के पूर्ण हो जाने पर वह अतीत कहलाता है। क्रिया एवं अर्थ के श्रेष्ठ भाव रूप में अभिव्यक्त वर्तमान काल, भूत और भविष्य को अलग बाँटता है। अत: वर्तमान को ग्रहण किये बिना भूत-भविष्य का अभिव्यञ्जन असंभव है। किसी भी अर्थ की प्रतीति होना असम्भव होगा; क्योंकि प्रत्येक वस्तु या तो भूत होगी या फिर भविष्य, जिसे स्वीकार करना सम्भव नहीं है। अत: वर्तमान की अवहेलना करना उचित नहीं है ॥४१ ॥

वर्तमान के प्रमाण की प्रामाणिकता के प्रकट करने में सूत्रकार एक हेतु और इस सूत्र में दे रहे हैं—

(१०३) वर्त्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः ॥ ४२ ॥

सूत्रार्थ— वर्त्तमानाभावे = वर्तमान के अभाव में, प्रत्यक्षानुपपत्तेः = प्रत्यक्ष के उपपन्न (सिद्धि) न होने से, सर्वाग्रहणम् = सबका ग्रहण नहीं हो सकता।

व्याख्या— यदि वर्तमान का अभाव मान भी लिया जाय, तो फिर प्रत्यक्ष की असिद्धि हो जायेगी अर्थात् जो अपने समक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है, उसे भी अस्वीकार करना होगा तथा प्रत्यक्ष को ग्रहण न करने पर सभी को स्वीकार न करना होगा अर्थात् किसी का भी ग्रहण न हो सकेगा। जो वस्तु या पदार्थ अपने समक्ष उपस्थित नहीं है, उसे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। जो वस्तु समक्ष है, वही प्रत्यक्ष कहलायेगी। यदि उसे भी न मानें, तो फिर अनुमान एवं शब्द प्रमाण को भी नहीं माना जा सकेगा; क्योंकि प्रत्यक्ष तो अनुमान एवं शब्द प्रमाण दोनों का ही सहयोगी है। यदि इन प्रमाणों की उपपत्ति (सिद्धि) न हुई, तब फिर किसी भी तरह के ज्ञान का अस्तित्व नहीं रह पायेगा। वर्तमान का ग्रहण दो तरह से हो सकता है- प्रथम तो वस्तु के अस्तित्व से तथा दूसरा-क्रिया के होने से। वस्तु का अस्तित्व यह द्रव्य है, घट-पट आदि एवं क्रिया जैसे- पकाना, खाना, जल भरना आदि। ये दोनों बातें प्रत्यक्ष होती हुई देखी जाती हैं। इसी के द्वारा वर्तमान की सिद्धि होती है। अत: वर्तमान काल का स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है ॥४२ ॥

उपर्युक्त विषय को इस सूत्र में और भी अधिक स्पष्ट किया जा रहा है—

(१०४) कृतताकर्त्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथा ग्रहणम् ॥ ४३ ॥

सूत्रार्थ— कृतताकर्त्तव्यतोपपत्तेः = कृतता अर्थात् क्रिया की पूर्णता और कर्त्तव्यता की उपपत्ति (सिद्धि) से, तु = तो, उभयथा = दोनों प्रकार से, ग्रहणम् =(वर्तमान काल की सत्ता) स्वीकृत होती है।

व्याख्या— कार्य की पूर्णता एवं कर्त्तव्य की उपपत्ति (सिद्धि) से वर्तमान की सत्ता स्वीकारी जाती है। कार्य की शुरुआत अभी नहीं हुई; किन्तु आगे होगी, यथा- उठायेंगे, पकायेंगे आदि में भविष्यत् काल हुआ और कार्य का पूर्ण होना जैसे- घर बन गया, भोजन हो चुका आदि में कृत अर्थात् भूतकाल का ज्ञान होता है; लेकिन इन दोनों की उपपत्ति में वर्तमान की उपपत्ति निहित है। जैसे-घर बनाकर सामने आ गया, इसमें अतीत बदलकर वर्तमान हो गया तथा घर बनने की क्रिया शुरू हो गयी है। अभी घर पूर्ण रूप से निर्मित नहीं हुआ, तब यह क्रिया जो हो रही है, वर्तमान में निहित है। इस तरह से भूत और भविष्यत्काल में भी वर्तमान की उपपत्ति (सिद्धि) हो रही है। जब मात्र मुख्य क्रिया को लक्ष्य करके वर्तमान का कथन होता है, तब वहाँ पर विशुद्ध वर्तमान काल अभिहित होता है। इस तरह से क्रिया की चालू अवस्था में वर्तमान काल की स्वीकृति भूत-भविष्यत् से सम्बद्ध एवं असम्बद्ध दोनों प्रकार से होता है। सम्बद्ध में तीनों कालों का समाहार होता है और असम्बद्ध में विशुद्ध रूप से वर्तमान काल रहता है ॥४३ ॥

अब क्रम प्राप्त उपमान-प्रमाण की परीक्षा पूर्व पक्ष के मतानुसार सूत्रकार करते हुए कहते हैं कि-

(१०५) अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः ॥ ४४ ॥

सूत्रार्थ— अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यात् = अत्यन्त प्रायैक अर्थात् प्राय: और एकदेश के समान धर्म होने से, उपमानासिद्धिः = उपमान की सिद्धि नहीं हो सकती।

व्याख्या— उपमान नामक प्रमाण समानधर्म के आधार पर अर्थ का बोध कराता है। पदार्थ के अन्तर्गत साधर्म्य तीन प्रकार का कहा गया है-१. अत्यन्त साधर्म्य २. प्राय: साधर्म्य एवं ३. एकदेश साधर्म्य। इनका कोई भी प्रकार उपमान को सिद्ध करने की स्थिति में नहीं होता। अत्यन्त साधर्म्य समान जातीय पदार्थों में सम्भव है, ऐसा प्रयोग कदापि कोई नहीं करता है। प्राय: गाय को देखकर यह अनुमान हो जाता है कि नीलगाय भी इसी तरह की होती होगी। इस तरह से उपमान एवं अनुमान में कोई भेद नहीं जान पड़ता है। यह तो कहा ही जा सकता है कि गाय के समान नीलगाय होती है। अत्यन्त साधर्म्य में जैसे उपमान की प्रवृत्ति नहीं होती, वैसे ही 'प्राय: साधर्म्य' में भी नहीं होती। प्राय: साधर्म्य का भाव कतिपय चिह्नों का समान होना है। कान, सींग, पूँछ आदि चिह्न अनेक पशुओं के एक जैसे होते हैं। ऐसे उपमान का प्रयोग कभी कोई नहीं करता। सामान्य समानता होने से भी उपमान सिद्ध नहीं होता। जैसे— कोई कहे कि जैसा बैल है, वैसा ही भैंसा है। यह भी उपमान की सिद्धि के उपयुक्त नहीं है। इसी तरह एकदेश साधर्म्य के मिलने से भी उपमान कभी सिद्ध नहीं होता; क्योंकि समस्त वस्तुओं-पदार्थों में किसी दूसरी वस्तु के धर्म मिल सकते हैं। एक-आध धर्म प्रत्येक अन्य वस्तु-पदार्थ से मिल जाता है। अत: उपमान को प्रमाण नहीं ही माना जा सकता। उसे असिद्ध ही मानना चाहिए।।४४॥

उपमान से सम्बन्धित उपर्युक्त पूर्व पक्ष की आशंका का समाधान अब इस सूत्र में किया जा रहा है—

(१०६) प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः ॥ ४५ ॥

सूत्रार्थ— प्रसिद्धसाधर्म्यात् = प्रसिद्ध-प्रख्यात समान धर्म से, उपमानसिद्धेः = उपमान नामक प्रमाण के सिद्ध होने पर, यथोक्तदोषानुपपत्तिः = पूर्वोक्त दोषों की उपपत्ति नहीं होती।

व्याख्या— यदि प्रख्यात् समान धर्म के द्वारा उपमान प्रमाण सिद्ध हो जाये, तो उपर्युक्त सूत्र में वर्णित दोष की प्राप्ति नहीं होती। अभिप्राय यह है कि साध्य की पूर्णता या न्यूनता का आश्रय प्राप्त करके उपमान प्रमाण प्रवृत्त नहीं होता; वरन् प्रसिद्ध समानता के आधार पर प्रवृत्त होता है।

उपमान प्रमाण के लक्षण सूत्र- १/१/६ में '**प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्**' कहा गया है। प्रसिद्ध समान धर्म से साध्य का साधन हो, वह उपमान नामक प्रमाण कहलाता है। जिन पदार्थों का आपस में समान धर्म लोक प्रख्यात है या फिर जिनका समान धर्म निर्धारित रूप से मालूम हो जाता है, वहीं उपमान प्रवृत्त होता है। अत्यन्त साधर्म्य, प्राय: साधर्म्य-कुछ धर्मों की समानता तथा अति न्यून समान धर्म के आधार पर उपमान की प्रवृत्ति नहीं होती। इसका भाव यह है कि अत्यन्त साधर्म्य आदि उपमान के प्रयोजक नहीं हैं, उसका प्रयोजक एक मात्र 'प्रसिद्ध साधर्म्य' ही है। यही उपमान के रूप में साध्य को सिद्ध करने के लिए तत्पर होता है।

इस प्रकार का समान धर्म गो-गवय का प्रसिद्ध है। यहाँ पर 'गवय' (नीलगाय) पशु में शक्ति ग्रह साध्य है। व्यक्ति यह नहीं जानता कि 'गवय' शब्द कौन से शब्द का वाची है। उसके संज्ञान में है कि जैसी गाय है, वैसी ही नीलगाय होती है। वह प्राय: वनों में रहती है। व्यक्ति जब कभी वनों में जाकर देखता है, तो उसे पूर्व में कहा हुआ 'गो-गवय' का साधर्म्य याद हो आता है और उसी अवधारणा के तहत इसका निश्चय कर लेता है कि गो-जैसा होने से यह पशु 'गवय' पद वाचक है। अत: उपमान प्रमाण का फल है- 'गवय' शब्द का गवय-पशु में शक्ति ग्रह हो जाना। ऐसे प्रयोगों में जहाँ दो पदार्थों का 'प्रसिद्ध समानधर्म' है वहाँ उपमान की प्रवृत्ति का निषेध नहीं किया जा सकता। अत: उपमान के संदर्भ में पूर्व सूत्र द्वारा निर्देशित दोष पूर्णतया असंगत प्रतीत होता है।।४५॥

यहाँ शिष्य शंका करता है कि उपमान प्रमाण भले ही रहे; किन्तु इसे अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानना चाहिए। यह अनुमान के अन्तर्गत है। सूत्रकार इस सूत्र में शिष्यों के इस आशय को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि—

(१०७) प्रत्यक्षेणाऽप्रत्यक्षसिद्धेः ॥ ४६ ॥

सूत्रार्थ— प्रत्यक्षेण = प्रत्यक्ष से, अप्रत्यक्षः = अप्रत्यक्ष अर्थ की, सिद्धेः = सिद्धि होने से उपमान भी अनुमान के अन्तर्गत होगा।

व्याख्या— पूर्वपक्ष का कथन है कि सादृश्य के प्रत्यक्ष होने पर परोक्ष पदार्थ सिद्ध होगा और तभी उपमान एवं अनुमान में किसी भी तरह का अन्तर नहीं रहेगा। जिस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञात हुए धुएँ को देखकर अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान होता है अर्थात् अग्नि है, तो धुआँ अवश्य होगा। इसी तरह से प्रत्यक्ष जानी हुई गाय को देखकर यह अनुमान हो जाता है कि 'गवय' (नीलगाय) भी ऐसी ही होती होगी। इस प्रकार पूर्वोक्त अनुमान से इसमें कोई भेद प्रतीत नहीं होता। अतः यह अनुमान के अन्तर्गत आ जाता है। ऐसी दशा में उपमान-प्रमाण को अलग मानना उचित नहीं है। दोनों समान ही हैं॥ ४६ ॥

इस सूत्र में अनुमान-प्रमाण से उपमान-प्रमाण का भेद प्रतिपादित किया जा रहा है—

(१०८) नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्यामः ॥ ४७ ॥

सूत्रार्थ— गवये = गवय के, अप्रत्यक्षे = प्रत्यक्ष न होने पर, उपमानस्य = उपमान के, प्रमाणार्थम् = प्रमाण का अर्थ, न = नहीं, पश्यामः = देखते हैं (दृष्टिगोचर होता है।)

व्याख्या— गवय के अप्रत्यक्ष होने पर उपमान-प्रमाण की स्थिति नहीं बनती। इसका अभिप्राय यह हुआ कि गवय के अप्रत्यक्ष रहने पर उपमान-प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती; किन्तु अनुमान की प्रवृत्ति अग्नि के न रहने पर भी होती है। इस कारण यहाँ पर उपमान-प्रमाण, अनुमान-प्रमाण से अलग प्रतीत होता है। गौ की समानता होने के कारण गौ- जाति के जितने भी पशु हैं, उनसे सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान उपमान का फल कहलाता है। जब उसके गौ होने का ज्ञान है, तब वही प्रत्यक्ष प्रमाण हुआ; लेकिन अनुमान तो अप्रत्यक्ष वस्तु का किया जाता है। इस प्रकार से यहाँ अनुमान और उपमान का भेद स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है ॥४७ ॥

अगले सूत्र में अनुमान से उपमान के भेद का एक अन्य कारण और कहा जा रहा है-

(१०९) तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः ॥ ४८ ॥

सूत्रार्थ— तथा = तथा (यह गौ के समान ही है), इति = इस प्रकार, उपसंहारात् = उपसंहार (वचन) से, उपमानसिद्धेः = उपमान की सिद्धि होने से, अविशेषः = दोनों में कोई भेद नहीं है अर्थात् अनुमान एवं-उपमान-प्रमाण में समानता है, न = ऐसा नहीं है।

व्याख्या— जिस तरह की गाय होती है, उसी तरह का 'गवय' होता है। ऐसा साधर्म्य के उपसंहार से 'उपमान' सिद्ध होता है। ऐसा अनुमान-प्रमाण में नहीं होता। यही दोनों (उपमान एवं अनुमान) में विशेषता होती है। ऐसे विशेष ज्ञान के द्वारा उपमान स्वतन्त्र प्रमाण कहलाता है, यही मान्यता है। अनुमान-प्रमाण में ऐसा नहीं होता; क्योंकि उसमें व्याप्ति ज्ञान परमावश्यक है अर्थात् लक्षणों को देखने के पश्चात् किसी अप्रत्यक्ष वस्तु का अनुमान किया जाता है, इसमें यह विशेषता होती है। यही इन दोनों (उपमान एवं अनुमान) में परस्पर भेद है। इस प्रकार से उपमान नामक प्रमाण की परीक्षा सम्पन्न हुई ॥४८ ॥

अब इस सूत्र से क्रम प्राप्त शब्द प्रमाण की परीक्षा शुरू की जा रही है। यहाँ शब्द को अतिरिक्त प्रमाण स्वीकारने में की गई आशंका को सूत्रित किया जा रहा है-

(११०) शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ॥ ४९ ॥

सूत्रार्थ— अर्थस्य = अर्थ के,अनुपलब्धेः = अनुपलब्धि के कारण, अनुमेयत्वात् = अनुमेय होने से, शब्दः = शब्द-प्रमाण, अनुमानम् = अनुमान ही है।

व्याख्या— शब्द-प्रमाण को भी अनुमान के अन्तर्गत मान लेना चाहिए। उसे अतिरिक्त प्रमाण मानना आवश्यक नहीं है; क्योंकि शब्द द्वारा जिस अर्थ की जानकारी दी जाती है, वह अनुपलब्ध अर्थात् अप्रत्यक्ष रहता है। शब्द रूप हेतु से वह अनुमेय है, ऐसा ही जानना चाहिए। जिस प्रकार अग्नि का निश्चित चिह्न धुआँ है और धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान हो जाता है, उसी प्रकार शब्द के द्वारा अग्नि का नाम सुनकर ही अग्नि का स्वरूप ज्ञात हो जाता है। शब्द द्वारा अनुमान के सदृश अर्थ की प्रतीति होने से शब्द-प्रमाण को अनुमान से अलग नहीं समझना चाहिए। अतः अनुमान भी शब्द के अन्तर्गत ही है। शब्द और अनुमान में कोई विशेष भेद नहीं प्रतीत होता॥४९॥

शब्द को अनुमान से अलग न मानने में एक और कारण है, जो यहाँ दिया जा रहा है—

(१११) उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात्॥५०॥

सूत्रार्थ— अद्विप्रवृत्तित्वात् = भिन्न अर्थात् दो तरह की प्रवृत्ति न होने से, उपलब्धेः = उपलब्धि का कारण शब्द है।

व्याख्या— यदि शब्द एवं अनुमान दोनों अलग-अलग प्रमाण हों, तो फिर इनकी प्रवृत्ति का प्रकार भी भिन्न होना चाहिए; लेकिन प्रायः देखा जाता है कि अर्थ बोध के लिए दोनों प्रमाणों की प्रवृत्ति एक जैसी ही प्राप्त होती है। अतः इस कारण से भी शब्द और अनुमान दोनों एक ही हैं; क्योंकि अनुमान के द्वारा जिस तरह का ज्ञान होता है, उसी तरह का ज्ञान शब्द प्रमाण के द्वारा भी होता है। उदाहरणार्थ-जैसे कोई यह कहे कि 'आज वर्षा होगी'; क्योंकि मयूर नाच रहा है। यहाँ मोर का नाचना देखने से ही वर्षा का दृश्य नेत्र के समक्ष घूम जाता है; किन्तु वर्षा प्रत्यक्ष नहीं होती। अतः दोनों में अर्थ बोध का प्रकार एक होने से शब्द प्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत मानना उचित होगा॥५०॥

इसी पक्ष में यहाँ एक और कारण दिया जा रहा है—

(११२) सम्बन्धाच्च॥ ५१॥

सूत्रार्थ— च = और, सम्बन्धात् = पारस्परिक सम्बन्ध होने से भी शब्द-अनुमान से पृथक् नहीं है।

व्याख्या— उपर्युक्त ४९ वें सूत्र में '**शब्दोऽनुमानम्**' पदों की यहाँ पुनरावृत्ति जाननी चाहिए। शब्द अनुमान है, अन्य प्रमाण नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि शब्द और अर्थ का आपस में नियत सम्बन्ध देखा जाता है। जब यह सम्बन्ध पूर्णरूपेण ज्ञात हो जाता है, तभी सम्बन्ध ज्ञाता को शब्द द्वारा अर्थ का साक्षात् होता है। प्रायः यही स्थिति अनुमान में देखी जाती है। जिस प्रकार का सम्बन्ध लिङ्ग और लिङ्गी का अनुमान में देखा जाता है, वैसा ही सम्बन्ध शब्द और अर्थ में भी देखने को मिलता है। इस प्रकार लिङ्ग-लिङ्गी में तथा शब्द-अर्थ में परस्पर-सम्बन्ध स्वीकारना भी दोनों प्रमाणों में एक जैसा है। इससे सिद्ध होता है कि इन दोनों में किसी भी तरह का भेद नहीं है, दोनों समान हैं। उपर्युक्त आधारों के अनुसार शब्द को अनुमान के अन्तर्गत मानना चाहिए॥५१॥

उपर्युक्त सूत्रों में पूर्व पक्ष द्वारा शब्द और अनुमान की एकता सम्बन्धी तथ्य दिये गये हैं। अब उत्तर पक्ष द्वारा 'शब्द प्रमाण, अनुमान नहीं है' इस आशंका का समाधान दिया जा रहा है—

(११३) आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसम्प्रत्ययः॥५२॥

सूत्रार्थ— आप्तोपदेशसामर्थ्यात् = आप्तजन के उपदेश-सामर्थ्य से, शब्दात् = शब्द के द्वारा, अर्थसंप्रत्ययः = अर्थ का उचित ज्ञान प्राप्त होता है।

व्याख्या— अप्रत्यक्ष पदार्थों का ज्ञान मात्र शब्द से नहीं होता; परन्तु यह आप्तजनों या वेद आदि शास्त्रों द्वारा निर्धारित होता है, जिसके आधार पर अर्थ का ज्ञान प्राप्त होता है, ऐसा अनुमान में नहीं होता। यही अनुमान और शब्द में ज्ञान की प्रवृत्ति का भेद होता है। अनुमान में हेतु एवं साध्य का परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव- सम्बन्ध होता है। हेतु व्याप्य एवं साध्य व्यापक होता है। वेद के रूप में ईश्वर द्वारा एवं दूसरे लौकिक शब्दों के विषय में आप्त-पुरुषों के द्वारा की गई यह व्यवस्था रहती है कि कौन-सा शब्द किस अर्थ को प्रकट करने की शक्ति रखता है। शब्द में विशिष्ट अर्थ का बोध कराने की सामर्थ्य आप्तजनों के उपदेश में निहित है। शब्द द्वारा अर्थ का बोध इसी सामर्थ्य द्वारा होता है। ऐसे अर्थ बोध में योग्यता, आकांक्षा आदि सहकारी कारण रहते हैं। अर्थबोध के ये सभी प्रकार अनुमान में नहीं होते। उदाहरणार्थ शब्द का अर्थ में शक्ति संग्रह होता है, वैसे धुएँ का अग्नि में शक्ति संग्रह होना कभी सम्भव नहीं । अतः शब्द-प्रमाण अनुमान से विशेष है। दोनों प्रमाणों में अन्तर है; यह यहाँ स्पष्ट प्रतीत होता है ॥५२॥

अन्य कारणों से भी शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध ग्राह्य नहीं है। इस सूत्र में यही स्पष्ट किया जा रहा है—

(११४) प्रमाणतोऽनुपलब्धेः ॥५३॥

सूत्रार्थ— प्रमाणतः = शब्दार्थ के अनुमान होने में और कोई प्रमाण, अनुपलब्धेः = उपलब्ध नहीं।

व्याख्या— वादी द्वारा शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध कहा जाना अन्य किसी प्रमाण विशेष से सिद्ध नहीं होता; क्योंकि शब्द जिस इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होता है, उससे अर्थ ग्रहण नहीं हो सकता। जैसे किसी से कहें कि 'पुस्तक लाओ'। यह शब्द कान द्वारा श्रवण किया गया; किन्तु कान पुस्तक नहीं ला सकता। यह कार्य तो हाथ द्वारा ही सम्पन्न होगा। इससे भी शब्द और अर्थ का सम्बन्ध प्रमाणित नहीं होता। धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान प्रमाणित है; क्योंकि जहाँ से धुँआ उठते हुए देखा जाता है, वहाँ जाकर अग्नि को देखा जा सकता है; किन्तु शब्द को श्रवण कर उसके अर्थ की प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं हो सकती। इससे यह ज्ञात होता है कि शब्द को अनुमान प्रमाण स्वीकारना नहीं है ॥५३॥

(११५) पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः ॥५४॥

सूत्रार्थ— पूरण = भर जाना, प्रदाह = जल जाना, पाटन = कट जाना आदि की, अनुपलब्धेः = अनुपलब्धि से, च = और, सम्बन्धाभावः = सम्बन्ध का अभाव (शब्द अर्थ के प्राप्ति लक्षण में) सिद्ध होता है।

व्याख्या— यदि यह मान लिया जाये कि शब्द के अन्दर ही उसका अर्थ भी निहित है, तो जो भी व्यक्ति मिष्टान्न का नाम ले, तो उसका मुख नाम लेते ही मीठा हो जाना चाहिए, अन्न शब्द कहने पर उसका पेट भर जाना चाहिए, अग्नि का नाम लेते ही मुँह जल जाना चाहिए तथा किसी भी अस्त्र जैसे- खड्ग का नाम लेने पर मुख कट जाना चाहिए; लेकिन ऐसा कुछ भी होता दिखाई नहीं देता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द और अर्थ में ऐसा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है कि जिससे शब्द कहते ही अर्थ का ज्ञान प्राप्त हो जाये और न ही शब्द के अन्दर अर्थ होता है। यदि ऐसा मान लिया जाये कि अर्थ के अन्दर शब्द रहता है, तो फिर कण्ठादि में अर्थ के रहने का कोई स्थल नहीं रहता। अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि शब्दार्थ का व्याप्ति सम्बन्ध मानना उचित नहीं होगा ॥५४॥

जिज्ञासु कहता है कि शब्द और अर्थ का परस्पर व्यवस्थित सम्बन्ध प्रतीत होता है; किन्तु तब उसका निषेध नहीं होना चाहिए। सूत्र में शिष्य की इसी जिज्ञासा को व्यक्त किया जा रहा है—

(११६) शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः ॥ ५५ ॥

सूत्रार्थ— शब्दार्थ = शब्द और अर्थ की, व्यवस्थानात् = व्यवस्था से, अप्रतिषेधः (शब्दार्थ-सम्बन्ध का) प्रतिषेध नहीं होना चाहिए।

व्याख्या— पूर्व पक्ष के कथनानुसार शब्द का अर्थ नियत है अर्थात् जिस शब्द का जो अर्थ है, वह प्रत्येक वस्तु के लिए निश्चित है। जैसे 'घट' आदि विशेष शब्द का प्रयोग विशेष वस्तु घड़ा आदि के लिए ही होगा; वस्त्र, घोड़ा आदि के लिए नहीं। इसके द्वारा शब्दार्थ के परस्पर-सम्बन्ध का बोध होता है। यदि शब्द और अर्थ का कोई नियत व्यवस्थित सम्बन्ध न हो, तो प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ का बोध हो जाना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता। किसी शब्द द्वारा किसी अर्थ का बोध (साक्षात्) कराने में एक व्यवस्था होती है। इस व्यवस्था के कारण ही उनका परस्पर सम्बन्ध है। इसलिए शब्दार्थ के परस्पर सम्बन्ध का प्रतिषेध नहीं मानना चाहिए। इससे उनका व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध सिद्ध होता है। अतः यही मान्यता उचित है ॥५५॥

इस सूत्र में पूर्वपक्ष की जिज्ञासा का समाधान दिया जा रहा है—

(११७) न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य ॥ ५६ ॥

सूत्रार्थ— शब्दार्थसंप्रत्ययस्य = शब्द से अर्थ प्रत्यय का अनुभव ज्ञान, सामयिकत्वात् = समय के अनुसार होने से , न = (उपर्युक्त मान्यता) उचित नहीं है।

व्याख्या— किसी विशिष्ट शब्द द्वारा जिस विशेष अर्थ का बोध होता है, उसका कारण शब्दार्थ का प्राप्ति लक्षण सम्बन्ध नहीं है; वरन् वह समयानुसार होता है। उसका कारण समय है। अतः शब्दार्थ के प्राप्ति लक्षण- सम्बन्ध का निषेध नहीं करना चाहिए, यह मानना उचित नहीं होगा। शब्द द्वारा अर्थ बोध में इनके प्राप्ति सम्बन्ध का कोई स्थान नहीं है। वह 'समय' (संकेत) के कारण सम्पन्न होता है। 'समय' का तात्पर्य है कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ वाच्य या अभिधेय है, इस प्रकार का निर्धारित संकेत 'समय' है।

शब्दार्थ का सम्बन्ध सहज नहीं है; क्योंकि वह देश, काल व पात्र के अनुसार कल्पना किया हुआ है। भिन्न-भिन्न भाषाओं में किसी एक वस्तु को नामित करने वाले विभिन्न शब्द हैं। कहीं-कहीं पर तो जिस शब्द का जो अर्थ स्वीकारा जाता है, दूसरी भाषा में उसी शब्द का विपरीत अर्थ होता है। इससे सिद्ध हुआ कि शब्द का अर्थ काल्पनिक है तथा जो व्यक्ति किसी भी शब्द को नहीं जानते, उनके समक्ष बारम्बार उच्चारण किये जाने पर भी वह उसका अर्थ नहीं जान सकते। अतः यहाँ पर शब्दार्थ की बात कहना उचित प्रतीत नहीं होता ॥५६॥

शब्दार्थ का बोध निर्धारित तथ्य के आधार पर होता है। यहाँ सूत्र में इसे एक अन्य हेतु द्वारा प्रतिपादित किया जा रहा है—

(११८) जातिविशेषे चानियमात् ॥ ५७ ॥

सूत्रार्थ— च = और, जातिविशेषे = जाति विशेष में, अनियमात् = कोई नियम न होने से भी शब्द के सहज-सम्बन्ध की मान्यता नहीं बनती।

व्याख्या— विश्व में विभिन्न भाषाएँ कार्य विस्तारण हेतु प्रयोग में लाई जाती हैं। उनके अपने-अपने चिह्न होते हैं। एक अर्थ का ज्ञान कराने हेतु ध्वनि-संकेत अनेक होते हैं। इसी के आधार पर भाषाओं का भेद है। शब्दार्थ का यदि ऐसा सम्बन्ध स्वाभाविक होता कि अमुक शब्द अमुक निश्चित अर्थ का बोध करायेगा, तो विभिन्न वर्गों में भेद से अर्थबोध हेतु इच्छानुसार संकेत का होना असंभव होता। इस स्थिति में मानव अपने भावों को प्रकट करने के लिए एक ही तरह की ध्वनियों का प्रयोग करता, जैसा कि प्रायः पशु-

पक्षियों में दृष्टिगोचर होता है। जिसका जो सहज कार्य होता है, वह कभी किसी जाति विशेष में नहीं बदलता है। जैसे सूर्य की ऊर्जा एवं प्रकाश समस्त वर्गों व सभी पदार्थों को एक ही जैसा उपलब्ध होता है। उसमें देश, काल एवं पात्र का कोई भी भेद बाधक नहीं होता। जाति विशेष के वर्णन से शब्द एक ही जाति के लोगों में भिन्नता प्रकट करने के कारण भी उसमें सहज सम्बन्ध की मान्यता प्रतिष्ठित नहीं होती। अत: शब्द के द्वारा अर्थ का बोध समयानुसार होता है- नियत संकेत के द्वारा होता है, सहज-स्वाभाविक मान्यता नहीं बन पाती ॥५७॥

पूर्व प्रसङ्गानुसार यह निश्चित किया गया कि शब्द प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं होता। शब्द अपने आप में एक अलग प्रमाण है। इस बात को समझ के मन में जिज्ञासु वेद में विवेचित पुत्रकामेष्टि यज्ञ एवं अभ्यासादि के प्रसङ्गो को केन्द्रित कर शब्द की प्रामाण्यता के सन्दर्भ में उत्पन्न आशंका को सूत्रकार यहाँ व्यक्त करता है—

(११९) तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्य: ॥ ५८ ॥

सूत्रार्थ— अनृत = मिथ्या, व्याघात् = परस्पर विरोध एवं, पुनरुक्त = बारम्बार एक तथ्य कहना, दोषेभ्य: = इन दोनों दोषों के होने से, तदप्रामाण्यम् = उन (आप्त वचनों) वाक्यों को प्रमाण रूप में नहीं मानना चाहिए।

व्याख्या— अमृत (आप्त वाक्यों-वचनों) को प्रामाणिक इसलिए नहीं माना जा सकता कि उन-आप्त वचनों में मिथ्यावाद यह है कि पुत्र की इच्छा वाले व्यक्ति द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ करने पर भी पुत्र उत्पन्न नहीं होता। इस तरह यज्ञ करने पर स्वर्ग मिलेगा भी कि नहीं, यह तथ्य संशयात्मक ही है। परस्पर विरोधी तथ्य यह प्रकट करते हैं कि किसी शास्त्र में अनुदित काल में अर्थात् सूर्योदय से पूर्व नक्षत्रमण्डल दिखाई देता है, तब यज्ञ करने का उपदेश है और किसी में उदित काल अर्थात् सूर्य का उदय हो जाय, तब करने का नियम है और किसी में अध्युषितकाल अर्थात् जब तारागण भी न दृष्टिगोचर हों और न सूर्योदय ही हुआ हो, तब करने का आदेश मिलता है। ऐसी दशा में यहाँ कौन-सा आदेश या नियम उचित है और कौन-सा नहीं? इसका निस्तारण किस प्रकार हो। पुनरुक्त दोष यह है कि एक ही तथ्य या सिद्धान्त को बारम्बार शास्त्रों में कहा गया है। अत: इस प्रकार से उन (आप्त कथनों-वाक्यों) में दोष होने अथवा सही निर्धारण न होने से संशय-संदेह की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अत: इस संशयात्मक स्थिति के कारण उन्हें प्रामाणिक मानना उचित प्रतीत नहीं होता ॥५८॥

जिज्ञासु की उपर्युक्त आशंका का सूत्रकार द्वारा यहाँ सूत्र में यथा क्रम समाधान दिया जा रहा है—

(१२०) न कर्मकर्त्तृसाधनवैगुण्यात् ॥ ५९ ॥

सूत्रार्थ— कर्मकर्त्तृसाधन = कर्म, कर्त्ता और साधनों के, वैगुण्यात् = विगुण (गुणहीन अर्थात् यथा-योग्य न होने से), न = (आशंका या दोष मानना उचित) नहीं होता।

व्याख्या— कर्मफल मात्र आदेश पर अवलम्बित नहीं रहता। जैसे कोई यह कहे कि अमुक कार्य अतिशीघ्र करो। कर्त्ता जब तक उस कर्म को नहीं करता, तब तक उसका फल उसे नहीं मिल सकता। भोजन बनकर जब तैयार होगा, तभी खाया जायेगा। यदि नहीं बना होगा, तो कह देने मात्र से ही क्या खाया जा सकता है? अर्थात् नहीं। कर्म, कर्त्ता एवं साधन तीनों के सम्यक् होने पर ही कर्म का फल मिलेगा। इसमें रसोई बनाने का कार्य-कर्म है, बनाने वाला कर्त्ता है और रसोई के लिए सामान एकत्र करना-साधन है। कर्त्ता, कर्म और साधन-इन तीनों का होना जरूरी होता है। इनमें से यदि किसी एक का भी अभाव रहा, तो फल की सिद्धि नहीं होगी। गुणहीनता का एक और भेद है, जैसे कोई व्यक्ति बीमार है, डॉक्टर ने उसे उसके मर्ज के विपरीत दवा दे दी हो, तो उसका प्रभाव भी विपरीत होगा; लेकिन इस दशा में भी उस दवा या उसके प्रयोग

को फल-रहित नहीं कह सकते। ऐसी ही बात पुत्रेष्टि के सन्दर्भ में भी हो सकती है। याज्ञिक के किसी दोष से यज्ञ का फल न मिल सके, तो वेद के उपदेश को मिथ्या कहना उचित नहीं होगा; क्योंकि पुत्रेष्टि यज्ञ द्वारा अधिकांश को पुत्र होना सुनने में आता है। ऐसे ही वर्षा हेतु भी यज्ञ किया जाता है, तो उसके प्रभाव से वर्षा होती है। यह सभी प्रत्यक्ष सिद्धियाँ हैं। अत: आप्त वाक्यों-वचनों में दोष बतलाना उचित नहीं होगा ॥५९॥

अब अगले सूत्र में व्याघात नामक द्वितीय दोष का समाधान किया जा रहा है—

(१२१) अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात् ॥ ६० ॥

सूत्रार्थ— अभ्युपेत्य = हवन के संकल्पित समय को स्वीकार करने के पश्चात्, कालभेदे = हवन के पश्चात् काल भेद से अर्थात् संकल्पित समय (काल) का उल्लंघन करने पर, दोषवचनात् = कथन या वचन (उपदेश) से दोष उत्पन्न होता है।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र द्वारा 'न व्याघात' पदों की यहाँ अनुवृत्ति जाननी चाहिए। हवन करने के समय को लेकर जो भेद उत्पन्न हुए हैं, वे सब काल भेद से अर्थात् हवन के संकल्पित समय का उल्लंघन करने से हुए हैं। अग्निहोत्र का अपना एक निश्चित काल (समय) होता है। जैसे कोई यह संकल्प करता है कि मैं सूर्योदय होने पर (उदित काल में) हवन करूँगा या फिर अनुदितकाल (सूर्योदय के पूर्वकाल) में करूँगा। यदि वह अपने (किये हुए संकल्प को छोड़कर) अनुदित या अध्युषितकाल (यह वह समय है, जब न तो तारागण दिखाई देते हों और न सूर्य ही उदय हुआ हो) में हवन करता है, तो उसके लिए यह उल्लंघन ही दोषयुक्त होगा। यदि एक काल हेतु दो तरह के आदेश होते, तो उसमें व्याघात-दोष हो सकता था; किन्तु अलग-अलग काल में होने वाले यज्ञों का अलग-अलग काल निर्देशन करना व्याघात-दोष का कारण नहीं हो सकता। यज्ञ कार्य किसी भी काल में सम्पन्न किया जाये, उससे पुण्य ही होता है; किन्तु दोष-वचन में यही रहस्य है कि संकल्पित काल के त्याग करने में कर्त्ता के प्रमाद एवं अनुष्ठान के प्रति उदासीनता व आलस्य के भाव प्रकट होते हैं। इसी कारण स्वीकृत काल के त्याग को दोषपूर्ण कहा गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि यज्ञ करने वाले कर्त्ता को अपने कार्य के प्रति सदैव तत्पर एवं जागरूक रहना चाहिए ॥६०॥

अब यहाँ इस सूत्र में पुनरुक्त विषयक तृतीय दोष का समाधान सूत्रकार द्वारा किया गया है—

(१२२) अनुवादोपपत्तेश्च ॥ ६१ ॥

सूत्रार्थ— च = और, अनुवादोपपत्ते: = अनुवाद के उपपत्ति अर्थात् सिद्धि से आप्तवचन-वाक्य में पुनरुक्त-दोष नहीं होता।

व्याख्या— उपर्युक्त जिन सूत्रों-वाक्यों (वचनों) में पुनरुक्त दोष की उद्भावना की गई है, वास्तव में वहाँ पर पुनरुक्त दोष नहीं है; क्योंकि उन आप्त वचनों में अनुवाद का होना सम्भव होता है। जो वाक्य कथन निरुद्देश्य बारम्बार अर्थ-रहित कहे जाते हैं, वहाँ पर पुनरुक्त दोष होता है; किन्तु जहाँ पर शब्द या शब्द समूह का बारम्बार प्रयोग किसी विशेष उद्देश्य से किया जाता है, उसे 'अनुवाद' कहा जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों एवं ऋग्वेद ३.२१.२,६.१६.१०-१२, ३.२७,१३-१५, १.१२.१,३.२७.४,५.२८.५-६, आदि में एक वाक्य या तथ्य को दो बार अलग-अलग विशिष्ट अर्थों में व्यक्त किया गया है। वहाँ उन स्थलों में होने से ऐसा किया गया है। जन-सामान्य इस प्रयोग को निरुद्देश्य एवं निरर्थक मानकर पुनरुक्त का भ्रम मान बैठते हैं; लेकिन यथार्थ रूप वैसा नहीं है, उसके सार्थक होने से उसमें पुनरुक्त दोष नहीं होता ॥६१॥

अगले सूत्र में अनुवाद-वाक्यों की सार्थकता को कहा जा रहा है—

(१२३) वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ ६२ ॥

सूत्रार्थ— च = और, वाक्यविभागस्य = वाक्य के विभाग का, अर्थग्रहणात् = अर्थ ग्रहण किए जाने से भी पुनरुक्त दोष किसी भी तरह सिद्ध नहीं होता। शब्द स्वयं में प्रमाण है, ऐसा समझना चाहिए।

व्याख्या— आप्त वचनों-वाक्यों का विभागीकरण भिन्न-भिन्न ढंग से आचार्यों ने किया है। विभागीकरण किन्हीं विशेष उद्देश्यों के आधार पर ही किया गया है। उन्हीं के अन्तर्गत एक विभाग 'अनुवाद' भी है, जिसे महापुरुषों ने प्रमाणरूप में माना है। अत: इसकी प्रामाणिकता निर्बाध है। इसमें पुनरुक्त दोष की सम्भावना नहीं रहती। वाक्य के दो भेद कहे गये हैं, जिनमें प्रथम-विधायक एवं द्वितीय अनुवादक है। इस कारण से भी अनुवादक की सार्थकता सिद्ध होती है। इस कारण यहाँ भी पुनरुक्त दोष का होना सिद्ध नहीं होता॥६२॥

अब अलगे सूत्र में ब्राह्मण-वाक्यों के तीन तरह के भेदों को बतलाया जा रहा है—

(१२४) विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्॥ ६३॥

सूत्रार्थ— विध्यर्थवादानुवादवचन = विधि वचन, अर्थवाद वचन, अनुवाद वचन के; विनियोगात् = (ये तीन भेद) ब्राह्मण ग्रन्थों में विनियोग किये गये हैं अर्थात् कहे गये हैं।

व्याख्या— ब्राह्मण-वचनों-वाक्यों का विनियोग (प्रयोग) तीन प्रकार से किया गया है अर्थात् इन वाक्यों का तीन भागों में समन्वय हो जाता है। जो क्रमश: इस प्रकार हैं-१. विधिवचन २. अर्थवादवचन एवं ३. अनुवाद वचन। कर्मकाण्ड से सम्बन्धित सभी ब्राह्मण-वाक्य इन्हीं तीनों विभागों के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं॥६३॥

इस सूत्र में विधिवचन-वाक्य का लक्षण कहा जा रहा है—

(१२५) विधिर्विधायक:॥ ६४॥

सूत्रार्थ— विधायक: = विधायक (प्रेरक) वाक्य को, विधि: = विधिवाक्य कहा गया है।

व्याख्या— शास्त्र सम्मत जो वाक्य या कथन कर्मानुष्ठान हेतु प्रेरणा प्रदान करता है, वह विधि वाक्य कहलाता है। भाष्यकारों ने इसमें दो अर्थ किये हैं- १. 'नियोग' एवं २. 'अनुज्ञा'। व्यक्ति को कार्य के प्रति प्रवृत्त करना ही नियोग है। जिस कथन या वाक्य से 'यह करें', 'वह पढ़ें' आदि प्रेरणा मिलती हो, वह नियोग विधि वचन है। उदाहरणार्थ-स्वर्ग की इच्छा वाला व्यक्ति हवन करे। जो वाक्य या वचन जानकार व्यक्ति को कुछ विशेष जानकारी देता हो, वह अनुज्ञा विधिवाक्य या वचन कहलाता है। जैसे-'अग्निहोत्रं जुहुयात्' यहाँ पर वचन अग्निहोत्र की साधन-सामग्री की प्राप्ति हेतु व्यक्ति को प्रेरित कर हवन के लिए प्रवृत्त करता है। साधनों के अभाव में यज्ञ करना सम्भव नहीं, इसलिए उसके हेतु द्रव्योपार्जन आदि में प्रवृत्ति को जाग्रत् करता है। यहाँ यह तथ्य जान लेना चाहिए कि जब ये 'विधि वाक्य' यज्ञादि में अप्रवृत्त व्यक्ति को प्रवृत्त करते हैं, तब 'नियोग विधि वाक्य' कहलाते हैं। तथा जब प्रवृत्ति की इच्छा वाले व्यक्ति को साधन- सामग्रियों को एकत्रित करने के लिए सचेष्ट करते हैं, तब वे 'अनुज्ञाविधि वाक्य' कहलाते हैं॥६४॥

विधि वचन के पश्चात् अब अगले सूत्र में क्रम प्राप्त अर्थवाद वाक्यों के विषय में विवेचना की जा रही है—

(१२६) स्तुतिर्निन्दा परकृति: पुराकल्प इत्यर्थवाद:॥ ६५॥

सूत्रार्थ— स्तुति:=प्रशंसा, निन्दा = बुराई, परकृति: = दूसरे के द्वारा किये गये कार्य का विवरण देना, पुराकल्प: = पुराने घटनाक्रमों को व्यक्त करना, इति = इस प्रकार से ये सभी, अर्थवाद: = अर्थवाद वचन माने जाते हैं।

व्याख्या— ऐसे वे सभी वाक्य या वचन, जो किसी कार्य की प्रशंसा और निन्दा करते हों, दूसरे के किये गये कार्यों का विवरण देते हों और पुराने घटनाक्रम का उल्लेख करते हों-अर्थवाद वचन के नाम से संबोधित किये जाते हैं।

जिस वाक्य या वचन में किसी कार्य या पदार्थ के गुणों की प्रशंसा की जाये, वही स्तुति है। यदि किसी के कार्यों की प्रशंसा की जाये, तो वह उस प्रशंसा से सर्वाधिक खुश होता है; लेकिन यदि उसके कार्य के दोषों का बखान किया जाय, तो वही उसकी निन्दा है। निन्दा करने से लोग अप्रसन्न होते हैं। कभी-कभी निन्दा का परिणाम अच्छा भी होता है। अधिकाधिक लोग अपनी निन्दा होते देखकर अपनी बुराइयों का त्याग कर नये जीवन का संकल्प ले लेते हैं; परदोष-दर्शन को ही निन्दा कहा जाता है। निन्दा के बाद अब परकृति वचन को स्पष्ट करते हैं- दूसरों के अच्छे या बुरे कर्मों का वर्णन करते हुए स्तुति या निन्दा करके शुभ कार्यों के प्रति किसी को प्रेरणा देना ही परकृति है। उदाहरणार्थ युधिष्ठिर सत्य बोलने के कारण धर्मराज के नाम से जाने जाते थे; किन्तु उन्होंने 'अश्वत्थामा मारा गया,' कहकर भ्रम फैला दिया कि जो अश्वत्थामा मारा गया वह वीर अश्वत्थामा था या फिर अश्वत्थामा नामक हाथी था। अत: इस छलपूर्वक वचन से उन्हें नरक में जाना पड़ा। यहाँ इस वचन से यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि यत् किञ्चित् झूठ बोलना भी नरक प्राप्ति का साधन है, मनुष्य को ऐसे दोषों से बचना चाहिए, अत: इसे परकृति-वाक्य कहते हैं। अब पुराकल्प का वर्णन करते हैं-प्राचीन काल में महान् पुरुषों ने जिस धर्म का आचरण किया है, उस धर्म को जीवन में धारण करना ही पुराकल्प है। जैसे यह कहें कि गाँधीजी ने अमुक अच्छे-अच्छे कार्य किये, उनके द्वारा देश को आजादी मिली। हम लोगों को भी तदनुसार अच्छे मार्ग का अवलम्बन लेना चाहिए। यह पुराकल्प कहलाता है ॥ ६५ ॥

अगले सूत्र में अनुवाद का लक्षण कहा जा रहा है—

(१२७) विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ६६ ॥

सूत्रार्थ— विधिविहितस्य = विधि विहित अर्थ का, अनुवचनम् = (किसी प्रयोजन से)पुन: कहा जाना, अनुवाद: = अनुवाद कहलाता है।

व्याख्या— विधि विहित अर्थ का - विधान के पश्चात् किसी प्रयोजन वश पुन: कथन करना अनुवाद' कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है— १. शब्दानुवाद २. अर्थानुवाद। विधि-वाक्य को उन्हीं शब्दों द्वारा दुहरा देना ही शब्दानुवाद कहलाता है तथा जिसमें शब्दों को न दुहराकर विहित अर्थ का कथन किया जाता है, वह अर्थानुवाद कहलाता है। वेद में तीन तरह के वाक्य मिलते हैं, तदनुसार लोक व्यवहार में भी तीन तरह के वाक्य प्रयोग में लाये जाते हैं। जैसे- कोई मालिक अपने पाचक को आदेश करे कि रसोई 'पकाओ', इसे विधि वाक्य कहेंगे। यदि कोई यह उपदेश करे कि भोजन के पचने से व्यक्ति सदैव स्वस्थ बना रहता है-इसे अर्थानुवाद कहेंगे। मालिक अपने नौकर को आदेश करे कि 'जल पिलाओ', 'शीघ्र जल पिलाओ'-तो इसे पुन: आवृत्ति होने के कारण अनुवाद कहा जायेगा। जल माँगने की शीघ्रता का संकेत होने से वाक्य का दो बार प्रयुक्त होना पुनरुक्त दोष नहीं माना जा सकता। शीघ्रता के उद्देश्य से ही यह वाक्य दो बार प्रयुक्त किया गया है। पुनरुक्त दोष उसे कहते हैं, जब बिना किसी उद्देश्य विशेष के ही एक वाक्य या वचन को बारम्बार प्रयोग में लाया जाये। जहाँ पुन: कथन किसी उद्देश्य विशेष से होता है, वहाँ पुनरुक्त दोष नहीं होता ॥६६ ॥

अगले सूत्र में आशंका करते हुए जिज्ञासु कहता है कि अनुवाद और पुनरुक्त दोनों एक जैसे ही हैं, इनमें भेद नहीं है—

(१२८) नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः ॥ ६७ ॥

सूत्रार्थ— अनुवादपुनरुक्तयो:=अनुवाद और पुनरुक्त में, विशेष: = भेद,न= नहीं माना जाता; क्योंकि,शब्दाभ्यासोपपत्ते:= शब्द का अभ्यास पुन: कथन होने से(अनुवाद और पुनरुक्त)दोनों एक ही जैसे हैं।

व्याख्या— अनुवाद और पुनरुक्त में किसी भी तरह का भेद नहीं माना जा सकता है; क्योंकि अनुवाद और पुनरुक्त- इन दोनों में शब्द का अभ्यास (पुनरावृत्ति) एक-जैसा ही अर्थात् समान रहता है। पुनरुक्त एवं अनुवाद-ये दोनों एक ही हैं; क्योंकि इन दोनों में ही शब्दार्थ की आवृत्ति में समानता रहती है। अभ्यास में आये शब्द का अर्थ भी उभयत्र जाना जाता है। ऐसी स्थिति में यह कहा जाना अनुपयुक्त है कि अनुवाद संगत एवं पुनरुक्त असंगत होता है। दोनों का प्रकार एक जैसा होने से दोनों को युक्त मानना चाहिए या फिर दोनों को अयुक्त माना जाना चाहिए॥६७॥

अगले सूत्र में सूत्रकार उक्त शंका का निराकरण करते हैं—

(१२९) शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः॥६८॥

सूत्रार्थ— शीघ्रतरगमनोपदेशवत् = अतिशीघ्र जाने के लिए उपदेश के समान, अभ्यासात् = अभ्यास के होने से अर्थात् पुनः उच्चारणमात्र की समानता से, अविशेषः = अनुवाद एवं पुनरुक्त में अभेद मानना, न = उचित नहीं प्रतीत होता।

व्याख्या— अनुवाद और पुनरुक्त-इन दोनों में केवल शब्द की पुनः आवृत्ति करने की समानता से इन्हें एक जैसा-अभिन्न मानना उचित प्रतीत नहीं होता। या फिर सूत्र में 'अभ्यास' पद 'पुनरुक्त' के लिए प्रयुक्त मान लिया जाए तब सूत्रार्थ होगा- पुनरुक्त से अनुवाद का अभेद नहीं है; क्योंकि इस अर्थ में हेतु निर्दिष्ट नहीं रहता है। इसलिए सूत्रार्थ का प्रथम भेद ही उपयुक्त है। अभ्यास द्वारा अर्थात् शब्द के बारम्बार उच्चारण मात्र की समानता से अनुवाद एवं पुनरुक्त का अभेद (एक जैसा) मानना उचित नहीं है। यद्यपि यहाँ पर सूत्र के हेतु-पद- 'अभ्यासात्' का अर्थ 'सार्थक अभ्यास' मानना चाहिए। यहाँ पर ऐसा ही भाव सूत्रगत उदाहरण से प्रकट होता है। अनुवाद एवं पुनरुक्त में अभेद इस कारण नहीं है; क्योंकि अनुवाद में शब्द का अभ्यास सार्थक होता है और पुनरुक्त में निरर्थक होता है। जैसे किसी से शीघ्रतापूर्वक जाने के लिए कहा जाय कि- जाओ-जाओ अर्थात् जल्दी जाओ, देर न करो। ऐसा कहा जाना अभिप्राययुक्त है, इससे शीघ्र जाने का आदेश स्पष्ट होता है। यहाँ 'जाना' क्रिया में अतिशयता लाने के उद्देश्य से 'जाओ' पद का पुनः उच्चारण है, अतः यह अनुवाद है, पुनरुक्त नहीं। जहाँ शब्द का पुनः उच्चारण निरर्थक होगा, वह पुनरुक्त होगा। जैसे यह दो बार कहें कि वह जाता है, वह जाता है, तो यह निरर्थक कथन पुनरुक्त होगा॥६८॥

इस सूत्र में आचार्य ने शब्द प्रामाण्य के अन्य भी समाधान दिये हैं —

(१३०) मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्॥६९॥

सूत्रार्थ— मंत्रायुर्वेदप्रामाण्यवत् = मंत्र एवं आयुर्वेद प्रमाण के समान, च = और, आप्तप्रामाण्यात् = आप्तजनों के वाक्य के प्रमाणित होने से, तत्प्रामाण्यम् = उन आर्षग्रन्थों-वेदों की प्रामाणिकता है।

व्याख्या— किसी भी कथन या प्रसङ्ग का साक्षात्कृतधर्मा व्यक्ति आप्त होता है। शब्द-प्रमाण के लक्षण- सूत्र इसी दर्शन के प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक के सातवें सूत्र की व्याख्या के अन्तर्गत यह कहा गया है कि आप्त परब्रह्म - परमात्मा है, जो अनन्त विश्व-ब्रह्माण्ड का चतुर्दिक् साक्षात्कृतधर्मा है। इस प्रकार से सर्वशक्ति सम्पन्न महापुरुष का कहा गया हर शब्द प्रमाण होता है। तदनुसार सूत्र में 'आप्त प्रमाण' हेतु दिया गया है। उपर्युक्त आप्त वचनों के प्रमाण स्वीकारने के कारण समस्त ऐसे शब्द प्रमाण हैं, जो आप्तजनों के द्वारा कहे गये हैं। सूत्र के 'तत्प्रामाण्यम्' पद में 'तत्' सर्वनाम द्वारा सभी वेदों का ग्रहण होना अभिप्रेत है। उपर्युक्त हेतु के आधार पर उसको पुष्ट करना आवश्यक है। सूत्र में इसके लिए दो दृष्टान्त-मन्त्र प्रमाण एवं आयुर्वेद प्रमाण दिये गये हैं।

जिस तरह से मन्त्र एवं आयुर्वेद प्रामाणिक हैं, उसी तरह से आप्त जनों के वचन (वाक्य) भी प्रामाणिक होते हैं और इन्हीं के द्वारा वेद आदि आर्षग्रन्थों का प्रामाणिक होना भी सिद्ध होता है। मन्त्रों के विधि-विधान से जप करने से जप का फल भी प्रत्यक्ष रूप से मिलता है तथा आयुर्वेद की जो औषधि जिस रोग के निवारणार्थ निर्धारित की गई है, वही उस रोग में लाभ प्रदान करती हुई प्रत्यक्षतया देखी जाती है। इस प्रकार से आप्तपुरुषों के वचन भी प्रामाणिक होते हैं और वेद आदि वाक्यों की प्रामाणिकता भी इन्हीं के आधार पर निश्चित होती है। इनके प्रमाण में किसी भी तरह की शंङ्का नहीं होनी चाहिए। आप्त प्रामाण्य से ही वेदों का प्रामाण्य निश्चित है तथा लौकिक वचनों में भी आप्तजन ही प्रामाणिकता के आधार हैं॥६९॥

॥ इति द्वितीयाऽध्याये प्रथममाह्निकम् समाप्तः ॥

॥ अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयाह्निकम्॥

प्रथम आह्निक में प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों पर प्रकाश डाला गया। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द (१.१.३ के अनुसार) ये चार प्रमाण वर्णित हैं; किन्तु शिष्य की जिज्ञासा है कि प्रमाणों की संख्या मात्र चार मानना उचित नहीं है; क्योंकि ऐतिह्य आदि अन्य प्रमाणों के विषय में भी सुना जाता है। आचार्य ने शिष्य की इसी आशंका को अगले सूत्र में सूत्रित किया है। इससे आगे के सूत्रों में समाधान प्रस्तुत किया है।

(१३१) न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाऽभावप्रामाण्यात्॥ १॥

सूत्रार्थ— ऐतिह्यार्थापत्तिसम्भवाऽभाव = ऐतिह्यअर्थापत्ति, संभव और अभाव; प्रामाण्यात् = प्रमाण होने से, (प्रमाणों का) चतुष्ट्वम् = चार होना मानना, न = उचित नहीं है।

व्याख्या— उद्देश सूत्र क्र० १.१.३ में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण वर्णित हैं; किन्तु प्रमाणों की यह चार संख्या उचित नहीं है, क्योंकि ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव— ये चार प्रकार के प्रमाण और हैं। इस प्रकार प्रमाणों की संख्या आठ हुई। इनमें ऐतिह्य प्रमाण उन प्राचीन प्रवादों-कथानकों को कहा जायेगा, जिनके प्रथम प्रवक्ता को बता पाना सम्भव नहीं होता, किन्तु वे आप्त पुरुषों द्वारा कथित होते हैं, जैसे— कोई कथानक प्रचलित है, उसके विषय में कहा जाता है कि लोग ऐसा कहते चले आये हैं। यहाँ पुरुषों ने ऐसा कहा है आदि, इस प्रकार की परम्पराएँ या कथानक ऐतिह्य प्रमाण के अन्तर्गत आयेंगे।

जब एक कथन से दूसरे अर्थ की प्राप्ति हो जाये, तब उसे अर्थापत्ति प्रमाण कहेंगे। जैसे रमेश हृष्ट-पुष्ट और तन्दुरुस्त तो है, किन्तु वह दिन में भोजन ग्रहण नहीं करता। इस कथन में यह नहीं कहा गया कि रमेश रात्रि में भोजन करता है, किन्तु इससे यह अर्थ अवश्य निकलता है कि वह तन्दुरुस्त है और दिन में भोजन नहीं लेता, अत: रात्रि में भोजन अवश्य लेता होगा। इस प्रकार यह अर्थापत्ति प्रमाण हुआ। 'सम्भव प्रमाण' वह है, जहाँ किसी शब्द या वाक्य से किसी ऐसे अर्थ का बोध होता हो, जिसके बिना अन्य अर्थ (जो कहा जा रहा है) का ज्ञान सम्भव न हो। जैसे— एक क्विंटल भार के कहने पर उसमें १०० किलो वजन होना भी बोधित होता है। इस प्रकार एक क्विंटल कहने पर उसमें एक किलोग्राम भार के अस्तित्व का भी बोध होता है। इस प्रकार यह 'सम्भव' प्रमाण हुआ; क्योंकि एक किलो भार के अस्तित्व का ज्ञान होने पर ही एक क्विंटल भार का ज्ञान होना सम्भव है।

जहाँ पर्याप्त कारण का अभाव हो, वहाँ कार्य का ज्ञान न हो पाना 'अभाव प्रमाण' कहलाता है। जैसे-बादल तो गहरे हैं, पर वर्षा नहीं हो पा रही है। इसका अर्थ है कि कारण (बादलों का होना) तो विद्यमान है, किन्तु पर्याप्त कारण नहीं है, क्योंकि वात (वायु) के तीव्र होने से वर्षा नहीं हो पा रही है। अत: वर्षा होने के लिए वात का शान्त होना रूप कारण नहीं है। इस शान्त वायु रूप कारण के अभाव में वर्षा रूप कार्य नहीं हो पा रहा है, अत: यह अभाव प्रमाण कहलाएगा॥१॥

उपर्युक्त सूत्र में प्रमाण आठ बताए गये, किन्तु वास्तव में प्रमाण चार हैं, अत: प्रथम चार प्रमाणों में ही अन्य चार प्रमाणों का अन्तर्भाव बताते हुए अगले सूत्र में सूत्रकार शंका का समाधान करते हैं—

(१३२) शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावाऽनर्थान्तरभावा-च्चाप्रतिषेधः॥ २॥

सूत्रार्थ— शब्दे = शब्द प्रमाण में, अन्तर्भाव होने से, अनुमाने = अनुमान नामक प्रमाण में, अर्थापत्ति सम्भवाभावाऽनर्थान्तरभावात् = अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव नामक प्रमाणों का अन्तर्भाव होने से, च = और,

अप्रतिषेधः = प्रतिषेध उचित नहीं है (प्रमाणों की संख्या विषयक आशंका उचित नहीं है।)

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में ऐतिह्य प्रमाण को अलग से बताया गया है, किन्तु वास्तविकता यह है कि ऐतिह्य प्रमाण का अर्न्तभाव शब्द प्रमाण में ही हो जाता है, क्योंकि इन दोनों का लक्षण मिलता-जुलता है। शब्द का लक्षण आप्तोपदेश बताया गया है-'**आप्तोपदेशः शब्दः**'। अर्थात् आप्त पुरुषों द्वारा किया गया उपदेश ही शब्द प्रमाण है। ऐतिह्य भी आप्त उपदेश ही है। शब्द और ऐतिह्य (ऐतिहासिक तथ्य) में अन्तर मात्र इतना भर है कि शब्द में कथन का प्रवक्ता निश्चित रहता है और ऐतिह्य में प्रवक्ता का निर्देश नहीं रहता; किन्तु इससे उसके आप्त उपदेश होने में कोई आशंका नहीं हो सकती। अस्तु, ऐतिह्य को शब्द प्रमाण के अन्तर्गत ही माना जाना चाहिए।

इसी प्रकार अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये तीनों प्रमाण अनुमान प्रमाण के ही अन्तर्गत आते हैं, क्योंकि इनके लक्षण भी अनुमान की तरह ही हैं। प्रत्यक्ष के आधार पर सम्बद्ध अप्रत्यक्ष का बोध अनुमान द्वारा होता है। जैसे- कहीं धूम्र उठ रहा है, तो वह प्रत्यक्ष है, इसके आधार पर अप्रत्यक्ष अग्नि का बोध होता है। अतः धुआँ देखकर यह जान लिया जाता है कि यदि वहाँ धुआँ है, तो अग्नि भी अवश्य होगी। अर्थापत्ति में एक वाक्य में उसके प्रत्यक्ष अर्थ के आधार पर अप्रत्यक्ष का बोध स्वतः हो जाता है। जैसे— विगत सूत्र की व्याख्या में बताया गया था कि रमेश हृष्ट-पुष्ट है, किन्तु दिन में भोजन नहीं करता। इसमें यह स्पष्ट नहीं है कि रात्रि में भोजन करता है या नहीं, किन्तु अर्थापत्ति के द्वारा यह बोध हो जाता है कि हृष्ट-पुष्ट होने के लिए भोजन तो लेता है, पर दिन में न लेकर रात्रि में लेता है। अतः अनुमान प्रमाण में अर्थापत्ति प्रमाण का अन्तर्भाव हो जाता है। अलग से उसका नाम रखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

सम्भव प्रमाण में भी यही स्थिति है, दो सम्बद्ध पदार्थ जो एक दूसरे के बिना नहीं हो सकते, वह अपने अस्तित्व से दूसरे का बोध करा देते हैं। जैसे-एक क्विंटल भार कहते ही उसमें सौ कि०ग्रा० का बोध होता है। इसमें एक किलोग्राम के अस्तित्व का स्वतः बोध हो गया। अनुमान में भी एक प्रत्यक्ष से दूसरे अप्रत्यक्ष का बोध होता है, अतः सम्भव प्रमाण का भी अनुमान प्रमाण में अन्तर्भाव हो जाता है।

यही स्थिति अभाव प्रमाण में होती है। जैसा कि पूर्व सूत्र के उदाहरण में बताया गया था कि बादल गहरे हैं, किन्तु वर्षा नहीं हो रही है। यह वर्षा होने का अभाव, इसके पर्याप्त कारण शान्त वायु के अभाव का अनुमान करा रहा है। यदि बादल गहरे होने के साथ वायु भी शान्त होती (तीव्र न होती), तो वर्षा अवश्य होती। इसमें एक अभाव के द्वारा दूसरे अभाव का अनुमान होता है, अतः अभाव भी अनुमान प्रमाण के ही अन्तर्गत आयेगा। अस्तु, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, प्रमाणों के ये चार भेद ही हैं॥२॥

अब शिष्य पुनः आशंका करता है, कि उपर्युक्त शब्द आदि प्रमाणों में इन अन्य चार प्रमाणों का समाहार हो जाता है, किन्तु अर्थापत्ति को तो प्रमाण की श्रेणी में रखना ही उचित नहीं लगता। अतः आचार्य सूत्रकार ने शिष्य के इसी आशय को अगले सूत्र में सूत्रित किया है—

(१३३) अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात्॥ ३॥

सूत्रार्थ— अर्थापत्तिः = अर्थापत्ति नामक प्रमाण, अप्रमाणम् = प्रमाण नहीं कहा जा सकता, अनैकान्तिकत्वात् = अनैकान्तिक होने अथवा व्यभिचार दोष होने से।

व्याख्या— शिष्य की आशंका है कि 'अर्थापत्ति' को प्रमाण की श्रेणी में नहीं माना जा सकता; क्योंकि उसके उदाहरण से अनैकान्तिक (व्यभिचारी) दोष उत्पन्न होता है। उदाहरण है- बादलों के गहरे होने पर भी वर्षा नहीं हो रही है। इससे यह अर्थ निकला कि बादल गहरे हों, तो वर्षा अवश्य होती है; किन्तु कई

बार ऐसा भी होता है कि बादल गहरे रहने पर भी वर्षा नहीं होती। वर्षा होने के लिए बादलों का उपस्थित रहना मात्र ही आवश्यक नहीं है। अत: इस वैषम्य की स्थिति में अर्थापत्ति को प्रमाण मानना उचित नहीं लगता ॥३ ॥

अगले सूत्र में आचार्य अर्थापत्ति का प्रामाण्यत्व सिद्ध कर रहे हैं, क्योंकि शिष्य ने अर्थापत्ति के स्वरूप को भली-भाँति नहीं समझा है—

(१३४) अनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानात् ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ— अनर्थापत्तौ = अनर्थापत्ति में, अर्थापत्त्यभिमानात् = अर्थापत्ति के अभिमान से (अर्थापत्ति विषयक व्यभिचार दोष की आशंका उचित नहीं है)।

व्याख्या— अर्थापत्ति प्रमाण में व्यभिचार दोष बताना अनुचित है, क्योंकि कारण के विद्यमान न होने पर कार्य सम्पन्न नहीं होता। अर्थापत्ति द्वारा यही बोध होता है कि कारण के होने पर ही कार्य सम्पन्न होता है। उदाहरणार्थ-बादल न होने पर वर्षा नहीं होती, इससे अभिप्राय (अर्थापत्ति) यह निकलता है कि वर्षा रूप कार्य होने के लिए बादल रूप कारण आवश्यक है, परन्तु कई बार ऐसा भी होता है कि बादल है, तो भी वर्षा नहीं होती, इससे व्यभिचार दोष उत्पन्न नहीं होता। यदि बादलों के बिना यही बरसात हो जाती, तो व्यभिचार दोष उत्पन्न होता। दूसरा उदाहरण है-पिता है, तो पुत्र हो सकता है; किन्तु यदि पुत्र नहीं है, तो भी पिता के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अत: अर्थापत्ति प्रमाण को अनर्थापत्ति कहना व व्यभिचारी दोष से ग्रसित मानना उचित नहीं है। इससे स्पष्ट है कि अर्थापत्ति का विषय है कि कारण के रहने पर ही कार्य सम्पन्न होना अर्थात् ऐसा कभी नहीं होता कि कारण के बिना कार्य हो जाए, यदि ऐसा होता तब व्यभिचार दोष होता। अत: सिद्ध है कि अर्थापत्ति को प्रमाण श्रेणी में मानने में कोई बाधा नहीं है ॥४ ॥

इसी पक्ष में आचार्य सूत्रकार अन्य तर्क प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१३५) प्रतिषेधाप्रामाण्यं चानैकान्तिकत्वात् ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ— च = और , अनैकान्तिकत्वात् = अनैकान्तिक होने के कारण, प्रतिषेधाप्रामाण्यम् = प्रतिषेध (निषेध) का अप्रामाण्य है।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में अर्थापत्ति को व्यभिचार दोष से मुक्त सिद्ध किया गया है, उसी को इसमें और पुष्ट किया गया है। अर्थापत्ति में किसी भी तरह व्यभिचार दोष नहीं आता। कारण यह है कि वाद प्रस्तुत कर्त्ता का खण्डन ही व्यभिचार दोष से संयुक्त है, क्योंकि भ्रमवश अर्थापत्ति को अनर्थापत्ति कहा गया है। अनैकान्तिक होने से अर्थापत्ति प्रमाण नहीं है, यह प्रतिषेध वाक्य है, इससे अर्थापत्ति की प्रामाणिकता का प्रतिषेध किया गया है, न कि अर्थापत्ति के सद्भाव का; क्योंकि प्रतिषेध का विषय अर्थापत्ति का सद्भाव नहीं है। अस्तु अर्थापत्ति के अस्तित्व पर इससे कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फलस्वरूप प्रतिषेध अपने लक्ष्य को पूरा न कर पाने के कारण अनैकान्तिक है, अत: वह अप्रमाणभूत है, उससे किसी का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। निष्कर्षत: अर्थापत्ति सम्बन्धी यह खण्डन उपयुक्त नहीं है ॥५ ॥

अगले सूत्र में इसी तथ्य को और भी स्पष्ट किया जा रहा है—

(१३६) तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्त्यप्रामाण्यम् ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा, तत्प्रामाण्ये = उस प्रतिषेध वाक्य को प्रमाण मान लें, तो भी; अर्थापत्त्यप्रामाण्यम् = अर्थापत्ति का अप्रामाण्य, न = सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या— यदि प्रतिषेध वाक्य को प्रमाण मान भी लें, तो भी अर्थापत्ति को अप्रामाणिक नहीं माना जा

सकता। यदि कारण की विद्यमानता में कार्य के न होने को व्यभिचार की संज्ञा दें, और उसका निषेध करें तथा उस निषेध को ही प्रमाण स्वीकार कर लें, तब अर्थापत्ति को ही प्रमाण स्वीकार करने में क्या त्रुटि है। अर्थापत्ति का विषय है- कार्योत्पत्ति के द्वारा अपने कारण की सत्ता को न त्यागना। जहाँ कारणों के सद्भाव में कार्योत्पत्ति का न होना कहकर अर्थापत्ति पर अप्रामाण्य का दोष लगाया है, वह अनुपयुक्त है। कारण यह है कि वहाँ कारणों के पूर्ण न होने से कार्य की अनुत्पत्ति होती है। जैसे-मेघ रहने पर भी वर्षा का न होना। यहाँ वर्षा के कारण रूप मेघ तो हैं, पर वायु शान्त नहीं है, जिससे बादल उड़े जा रहे हैं, वर्षा नहीं हो पाती। यहाँ शान्त वायु का रहना भी आवश्यक है। ये न होने से पूर्ण कारण विद्यमान नहीं है। अत: यह कारण की न्यूनता कारण का धर्म है, न कि अर्थापत्ति का विषय। यदि कारण की उत्पत्ति न हो और कार्य हो जाय, तब अर्थापत्ति के प्रामाण्य को दोषी माना जा सकता है, किन्तु ऐसा है नहीं। अस्तु, अर्थापत्ति का प्रामाण्य सिद्ध है॥६॥

अब शिष्य की आशंका है कि अर्थापत्ति का प्रामाण्य सिद्ध हो गया; किन्तु अभाव को प्रमाण क्यों माना गया। जो अपने आप में अभाव है, वह प्रमाण कैसे हो सकता है? शिष्य की इसी भावना को आचार्य सूत्रकार अगले सूत्र में सूत्रित कर रहे हैं—

(१३७) नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः॥७॥

सूत्रार्थ— अभावप्रामाण्यम् = अभाव प्रामाण्य,प्रमेयासिद्धेः = उसके प्रमेय की सिद्धि न होने पर, न = नहीं हो सकता।

व्याख्या— प्रमेय की सिद्धि के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है और जिसके माध्यम से प्रमेय सिद्ध न हो, उसे प्रमाण मानना उचित नहीं है। अभाव के द्वारा भी प्रमेय सिद्ध नहीं होता। अत: उसे भी प्रमाण मानना दोषपूर्ण है। उदाहरणार्थ गाय की सिद्धि हेतु अश्व का उदाहरण प्रस्तुत करें, तो गाय की सिद्धि नहीं हो सकती। अत: अभाव को प्रमाण की श्रेणी में माना जाना उचित प्रतीत नहीं होता॥७॥

अगले सूत्र में आचार्य अभाव को प्रमाण सिद्ध करने के लिए युक्तिपूर्ण एक उदारहण प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१३८) लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धिः॥८॥

सूत्रार्थ— लक्षितेषु = लक्षित किये गये (या कहे गये) पदार्थों में, अलक्षितानाम् = अलक्षित (न कहे गये) पदार्थों का, अलक्षणलक्षितत्वात् = लक्षण न दीख पड़ने से, तत्प्रमेयसिद्धिः = अभाव प्रमेय की सिद्धि होती है।

व्याख्या— यदि अभाव के द्वारा प्रमेय सिद्धि होती है, तब अभाव के प्रामाण्य में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। उदाहरणार्थ-एक स्थान पर कई घट रखे हैं, उनमें कुछ घटों पर कोई चिह्न बने हैं तथा कुछ पर चिह्नों का अभाव है। उस सन्दर्भ में किसी को कहा जाय कि वे उनमें से बिना चिह्न वाले घट ले आयें। वह वहाँ से बिना चिह्न वाले घट ले आये। इस उदाहरण से स्पष्ट हुआ कि चिह्नों का अभाव भी घटों की पहचान में सहायक बना। अत: अभाव को प्रमाण माना जा सकता है; क्योंकि यहाँ लक्षणों का अभाव उस प्रमाण (ज्ञान पहचानने) का हेतु है और प्रमा के हेतु को ही प्रमाण कहते हैं॥८॥

अगले सूत्र में सूत्रकार अभाव प्रमाण के अस्तित्व में आशंका उठाकर समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१३९) असत्यर्थे नाभाव इति चेन्नान्यलक्षणोपपत्तेः॥९॥

सूत्रार्थ— असति = विद्यमान न होने से, अर्थे = अर्थ के प्रतियोगी (विषय) के, अभावः = अभाव, न = नहीं हो सकता,चेत् = यदि, कहो तो; न = नहीं कहा जा सकता, कारण यह है कि; अन्यलक्षणोपपत्तेः = अन्य पदार्थ में लक्षण मिलने से।

व्याख्या— जो वस्तु या पदार्थ पूर्व में कभी रहा हो और बाद में नष्ट हो जाए, तो उसका अभाव कहा

जा सकता है; परन्तु जो पदार्थ पहले कभी अस्तित्व में ही नहीं था, उसका अभाव कैसे सम्भव है? वस्तुत: भाव के नष्ट होने को ही अभाव कहते हैं। प्रत्येक वस्तु की कोई न कोई संज्ञा (नाम) होती है। उस संज्ञा वाली वस्तु का अभाव तभी संभव होगा, जब उस नाम वाली वस्तु अनुपलब्ध होगी। उस वस्तु की ही संज्ञा (नाम) निश्चित की जायेगी, जो पूर्व में कभी हो चुकी होगी, तब फिर अभाव कहाँ रहा। यदि यह कहा जाय कि आकाश के कुसुम और खरगोश के शृंग (सींग) होते ही नहीं और न कभी उत्पन्न होकर नष्ट हुए हैं, तब फिर उनका नाम कैसे हो गया और इनका अभाव भी बताया जाता है, इस आशंका का समाधान यह है कि कुसुम (फूल) और शृंग (सींग) तो जगत् में प्रत्यक्षत: देखे जाते हैं तथा उनके नाम भी होते ही हैं, उन्हें क्रमश: आकाश और खरगोश के साथ जोड़कर अभाव कह दिया जाता है। यदि फूल और सींग का अस्तित्व जगत् में न होता, तो उनके नाम भी नहीं होते और उनका अभाव कहने का प्रश्न भी उत्पन्न नहीं होता॥९॥

अब प्रश्न यह है कि जो लक्षण संसार में दीख पड़ते हैं उनका अभाव क्यों कहा जाता है? शिष्य की इस आशंका को सूत्रकार अगले सूत्र में सूत्रित कर रहे हैं—

(१४०) तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतु:॥ १०॥

सूत्रार्थ— तत्सिद्धे: = चित्त वाले पदार्थों में लक्षणों की सिद्धि में, अलक्षितेषु = लक्षण सहित पदार्थ में अभाव बताना, अहेतु: = हेतु रहित (ज्ञान का हेतु नहीं) है।

व्याख्या— लक्षण वाले पदार्थों में स्थित लक्षणों का, जिन पदार्थों में वे लक्षण नहीं हैं, उनमें (उन लक्षणों का) अभाव बतलाना हेतुरहित है। जैसे- कुछ घड़ों में फूल-पत्ती आदि के कोई चिह्न बने हैं और कुछ घड़ों में वे चिह्न नहीं हैं, तो उन बिना चिह्न वाले घड़ों में फूल-पत्ती आदि का अभाव कहना तर्क संगत न होकर असंगत है; क्योंकि जिनमें चिह्न बने हैं, उनमें उनका अभाव कह नहीं सकते; क्योंकि वे विद्यमान हैं, जिनमें चिह्न (लक्षण) कहे ही नहीं गये, उनमें उन का अभाव कहना बाधित है, जो बन्ध्या के पुत्र सदृश है। जो है ही नहीं, उसका अभाव कैसा? किसी अन्य में विद्यमान लक्षण का दूसरे में अभाव कहना अहेतुक है, जो नितान्त असंगत है॥१०॥

विद्यमान का अन्यत्र अभाव कहना उचित नहीं, उपर्युक्त आशंका इसलिए उठाई गई है, क्योंकि अन्योन्याभाव के तात्पर्य को ठीक से समझा नहीं गया है। अगले सूत्र में इसी शंका का समाधान कर रहे हैं—

(१४१) न लक्षणावस्थितापेक्षासिद्धे:॥ ११॥

सूत्रार्थ— लक्षणावस्थितापेक्षासिद्धे: = जो लक्षण विद्यमान हैं, उनकी अपेक्षा से अन्य स्थान पर अभाव की सिद्धि होने के कारण, न = आशंका उचित नहीं है।

व्याख्या— हर वस्तु का अलग लक्षण होता है। जिस वस्तु का जो लक्षण है, वह उसी वस्तु में विद्यमान होगा। अभाव प्रमाण के सन्दर्भ में यहाँ यह अभिप्राय नहीं है कि जिसमें वह लक्षण है (मानों किसी वस्त्र में छींट का लक्षण है), वह नष्ट हो जाने पर कहा जाय कि लक्षण का अभाव हो गया, वरन् तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु में जो लक्षण है,उसकी अपेक्षा से अन्य वस्तु में लक्षण के अभाव का ज्ञान हो जाये। माना किसी वस्त्र में छींट के निशान हैं और दूसरे वस्त्र में कोई निशान नहीं है- सादा है, तो कोई किसी को कहे कि वहाँ जो वस्त्र रखे हैं, उनमें से बिना छींट के निशान वाला वस्त्र ले आओ और वह उनमें से बिना छींट का सादा वस्त्र ले आये। इस उदाहरण में जिस (लक्षित वस्त्र में) निशान था, उसकी अपेक्षा से (चाहना से) बिना निशान वाला वस्त्र (अलक्षित वस्त्र) छाँटकर ले लिया गया अर्थात् चिह्न के अभाव से वांछित वस्त्र की पहचान हो गई। इस पहचान का हेतु अभाव (चिह्नों का अभाव) होने से अभाव का प्रामाण्य सिद्ध होता है। यह समाधान लक्षित और अलक्षित वस्त्रों के अन्योन्याभाव के कारण सम्भव हुआ। यह अन्योन्याभाव न समझ पाने के कारण ही शिष्य ने अभाव के प्रामाण्य में आशंका उठाई थी॥११॥

अब अभाव प्रमाण के लक्षण की सार्थकता हेतु तर्क प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१४२) प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ— च = और, प्राक् = पहले, उत्पत्तेः = उत्पत्ति से, अभावोपपत्तेः = अभाव की उपपत्ति (सिद्धि) होने के कारण भी (पूर्व में उठाई गयी आशंका उचित नहीं है)।

व्याख्या— उत्पन्न और विनष्ट होने के आधार पर अभाव के दो प्रकार माने गये हैं। किसी वस्तु या पदार्थ (कार्य) के उत्पन्न होने के पूर्व उसकी जो अवधि मानता है,उसे उसका प्राक्-अभाव (प्रागभाव) कहते हैं तथा किसी वस्तु के उत्पन्न होकर नष्ट होने-ध्वंस होने के पश्चात् जो अभाव हो जाता है, उसे ध्वंसाभाव कहते हैं। ऊपर दिये गये उदाहरण में जिसमें छींट के वस्त्र की अपेक्षा से बिना छींट का वस्त्र पहचानने और लाने की बात कही गई थी, उसमें अलक्षित वस्त्र (जिसमें चिह्न नहीं था) में प्रागभाव माना जायेगा, प्रध्वंसाभाव नहीं। कुछ लोग अत्यन्ताभाव भी बताते हैं, पर वह उचित नहीं; क्योंकि अत्यन्ताभाव होने पर वस्तु का न लक्षण होगा और न नाम। जब लक्षण और नाम कुछ न होगा, तब अभाव किसका? अतः अत्यन्ताभाव को मान्यता नहीं दी गई है। इस प्रकार अभाव का प्रामाण्य सिद्ध हो गया, किन्तु उसे अलग से प्रमाण न मानकर अनुमान प्रमाण में समाविष्ट कर लिया गया है। इस प्रकार पूर्व में वर्णित आठ प्रमाणों को इन्हीं चार— प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द में समाहित कर लिया गया है ॥१२॥

इस सूत्र तक प्रमाणों की संख्या के सम्बन्ध में विभिन्न उदाहरणों द्वारा परीक्षण किया गया और चार प्रमाण स्वीकृत हुए। अब शब्द प्रमाण के सन्दर्भ में शब्द के नित्यानित्यत्व का विचार प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१४३) विमर्शहेत्वनुयोगे च विप्रतिपत्तेः संशयः ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ— विमर्शहेत्वनुयोगे = संशय हेतु के सन्दर्भ में, च = और, विप्रतिपत्तेः = विप्रतिपत्ति से (शब्द के नित्यता और अनित्यता में), संशयः = संशय होने से उसे सिद्ध करना है।

व्याख्या— शब्द के सन्दर्भ में विद्वानों का मत है कि वह नित्य भी है और अनित्य भी। कई विद्वान् उसे आकाश का गुण होने के कारण व्यापक और नित्य मानते हैं। वे इसको उत्पन्न होने वाला न मानकर आविर्भूत होने वाला मानते हैं। कई लोग उसे पृथिवी के गुण गन्ध की तरह अनित्य मानते हैं, क्योंकि आकाश जड़ है और उससे उत्पन्न होने के कारण शब्द भी जड़ और अनित्य है। वे विद्वान् शब्द को जड़ (अनित्य) मानते हुए पृथिवी आदि के गुणों की तरह नाशवान् मानते हैं। कई विद्वान् इन्द्रिय जन्य ज्ञान के समान शब्द को उत्पन्न और नष्ट होने वाला मानते हैं। इन विभिन्न प्रकार के मतों से यह संशय उत्पन्न होता है कि शब्द नित्य है या अनित्य? इसी शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार अगले सूत्र में शब्द के अनित्य होने को सत्य मानकर उसी सन्दर्भ में विचार प्रस्तुत कर रहे हैं ॥१३॥

(१४४) आदिमत्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ— आदिमत्वात् = आदिमान् (आदि-उत्पन्न होने वाला) होने से, ऐन्द्रियकत्वात् = इन्द्रिय का विषय (इन्द्रिय संयोग से ग्राह्य) होने से, च = और, कृतकवत् = बनी हुई वस्तुओं के सदृश, उपचारात् = उपचार पूर्वक (व्यवहार-प्रयोग) हुआ मानने से (शब्द अनित्य है)।

व्याख्या— शब्द किसी कारण से उत्पन्न होने वाला कार्य है। इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाता है (कर्णेन्द्रिय से)। साथ ही उसकी उत्पत्ति में इन्द्रियों का संयोग (सन्निकर्ष) आवश्यक है। वह उच्चारण से पहले नहीं होता। आदिवान् [अर्थात् जिसका आदि (प्रारंभ) हो ऐसा] होने से उसकी उत्पत्ति भी होती है। अतः उसे नित्य (शाश्वत) नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार निर्मित वस्तुएँ प्रयोग में आती हैं, इन्द्रिय ग्राह्य हैं

और इन्द्रियों के उपयोग में आने वाली हैं, अत: अनित्य हैं। जिन पदार्थों की उत्पत्ति होती है, वे अनित्य नहीं, 'आदि' हैं। जो पदार्थ अनादि हैं, वे इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं हो सकते। ऐसे पदार्थ ही नित्य कहलाते हैं। जिस प्रकार प्रजापति (कुम्भकार) घटादि पात्रों का निर्माण करता है, ठीक वैसे ही वक्ता मुख से बोलकर शब्द का निर्माण करता है। इससे भी स्पष्ट है कि शब्द अनित्य है। अन्य वस्तुओं के समान शब्द भी संयोग जनित है; क्योंकि शब्द को भी होंठों की विभिन्न मुद्राएँ बनाकर बोलना पड़ता है। यदि कोई चाहे कि होंठों को बन्द करके बोले-शब्द निकाले, तो यह सम्भव नहीं है; क्योंकि ऐसा करने से वायु के आवागमन का मार्ग रुक जायेगा और शब्द न निकल सकेगा। शब्द की उत्पत्ति वायु के संयोग के बिना नहीं हो सकती। अस्तु, सिद्ध है कि संयोग से उत्पन्न होने वाला शब्द नित्य नहीं हो सकता॥१४॥

अब शिष्य पुन: आशंका करता है कि शब्द का अनित्यत्व तो सिद्ध हुआ, किन्तु इसमें जो हेतु 'आदिमत्वात्' दिया है, वह उचित नहीं है। शिष्य के इसी तर्क को सूत्रकार ने अगले सूत्र में सूत्रित किया है—

(१४५) न घटाभावसामान्यनित्यत्वान्नित्येष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च॥ १५॥

सूत्रार्थ— घटाभावसामान्यनित्यत्वात् = घटाभाव एवं घटत्व आदि सामान्य के नित्य होने से, च = और, नित्येषु अपि = नित्य पदार्थों में भी, अनित्यवत् = अनित्य पदार्थों के सदृश, उपचारात् = उपचार (व्यवहार) होने से, न = (आदिमान् आदि हेतुओं से) शब्द का अनित्यत्व सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या— शब्द के अनित्यत्व का हेतु जो आदिमान् (कारण वाला) होना बताया गया है, वह उचित नहीं है; क्योंकि घट आदि भी आदिमान् हैं; किन्तु घट टूट जाने पर उसका अभाव सदा बना रहता है। एक घट टूट जाने पर दूसरा भले ही बन जाय, पर वह दूसरी मिट्टी वाला होगा। पूर्व में ध्वस्त घट फिर दुबारा नहीं बन सकता। अत: इस घट का अभाव (घटाभाव) नित्य है। इसी प्रकार आदिमान् शब्द का नित्यत्व उचित है। शब्द के अनित्यत्व के सम्बन्ध में यह तर्क उचित नहीं है; क्योंकि वह इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है। घट और पट आदि के घटत्व और पटत्व का ग्रहण भी तो इन्द्रियों द्वारा होता है, क्योंकि घटत्व (घट की जाति), पटत्व (पट की जाति) की तरह ही सभी वस्तुओं की जाति अपने-अपने लक्षणों सहित उनमें (वस्तुओं में) रहती है। इन्द्रिय ग्राह्य होने के कारण उसे अनित्य नहीं कहा जा सकता। इसी कारण ऐन्द्रियक होने से शब्द को भी अनित्य नहीं माना जा सकता। शब्द के अनित्यत्व का तीसरा हेतु 'कृतकवदुपचारात्' बताया गया है अर्थात् स्थूल पदार्थों के समान व्यवहार में आने के कारण शब्द अनित्य है, किन्तु इस कारण भी शब्द को अनित्य नहीं माना जा सकता। स्थूल (अनित्य) पदार्थों के विभाग हो सकते हैं, उसी प्रकार नित्य (सभी नष्ट न होने वाले) तत्त्व भी विभक्त हों, ऐसे व्यवहार में आते हैं, जैसे आकाश नित्य है, उसके विभाग नहीं हो सकते, फिर भी कहा जाता है कि घट में स्थित आकाश घटाकाश, मठ में स्थित आकाश मठाकाश, उसी प्रकार महाकाश आदि कहे जाते हैं। इसी प्रकार आत्मा को सुख-दु:ख का भोक्ता न होने पर भी दु:खी-आत्मा, सुखी आत्मा; शरीर के मरने पर मृतात्मा आदि शब्द व्यवहार में प्रयोग किये जाते हैं, उसी प्रकार शब्द भी नित्य हैं, पर अनित्य की तरह प्रयुक्त होते हैं। अस्तु, ऊपर के सूत्र में शब्द के अनित्य होने के जो तीन कारण बताये गये हैं, उनमें व्यभिचार दोष है, अत: उसको अनित्य कहना उचित नहीं है॥१५॥

अब आचार्य व्यभिचार दोष के परिहार की युक्ति प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१४६) तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचार:॥ १६॥

सूत्रार्थ— तत्त्वभाक्तयो: = तत्त्व (वास्तविक और यथार्थ) तथा भाक्त औपचारिक-गौण के, नानात्वविभागात् = अनेक भेद होने के कारण परस्पर भिन्न होने से, अव्यभिचार: = व्यभिचार दोष नहीं है।

व्याख्या— नित्यत्व दो प्रकार का होता है। प्रथम तात्त्विक अर्थात् यथार्थ- मुख्य और द्वितीय भाक्त अर्थात् औपचारिक-गौण। यदि मुख्य और गौण का अन्तर विवेक पूर्वक समझा जाये, तो शब्द के अनित्य होने के जो तीन हेतु बताये हैं, उनमें वर्णित व्यभिचार दोष का निराकरण हो सकता है। घट आदि के प्रध्वंसाभाव को नित्य बताकर शब्द का अनित्यत्व सिद्ध करने हेतु प्रस्तुत किये गये प्रथम कारण को अनैकान्तिक बताया गया है, यह उचित नहीं है। वास्तव में 'प्रध्वंसाभाव' नित्य नहीं है; क्योंकि एक वस्तु नष्ट होने पर वह न सही उसी तरह की दूसरी वस्तु पुन: उत्पन्न हो जाती है। जैसे घट आदि, मनुष्य आदि। एक घट टूट जाने पर अथवा एक मनुष्य की मृत्यु हो जाने पर उसका तो सदा के लिए प्रध्वंसाभाव हो जाता है, किन्तु इस अभाव को नित्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि कुछ दिन या कुछ वर्ष बाद पुन: दूसरा घट बन जाता है तथा उस मनुष्य का (जो मर गया था) पुर्नजन्म हो जाता है। इस प्रकार यह अभाव वास्तविक (तात्त्विक-मुख्य) न होकर भाक्त (औपचारिक-गौण) है। कारण यह है कि नित्य वस्तु का न कभी उद्‌भव होता है और न विनाश ही। आकाश, आत्मा आदि के जो विभक्त होने की बात कही है, वह भी काल्पनिक है, न कि वास्तविक; क्योंकि घटाकाश, मठाकाश आदि जो विभाग बताये जाते हैं, वे घट और मठ के सन्दर्भ में कल्पित किये जाते हैं; ठीक उसी तरह आत्मा में सुख, दु:ख, मृत्यु आदि मन और शरीर के सम्बन्ध से कल्पित किये जाते हैं। सुख-दु:ख मन को होते हैं तथा मृत्यु शरीर की होती है; किन्तु आत्मा पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार आकाश-आत्मा आदि सदा एकरूप रहते हैं, इनमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। जिनमें परिवर्तन होता है, वे नाशवान् हैं, जो नाशवान् हैं, वे अनित्य हैं। अस्तु, आकाश और आत्मा जैसे नित्य पदार्थों को अनित्य मानकर शब्द से तुलना करना उचित नहीं है। इस प्रकार शब्द के अनित्यत्व के सम्बन्ध में दिये गये हेतु में व्यभिचार दोष सिद्ध नहीं होता॥ १६॥

अब शब्द के अनित्यत्व के सन्दर्भ में दिये गये द्वितीय हेतु 'ऐन्द्रियकत्व' में व्यभिचार दोष नहीं है, यह सिद्ध कर रहे हैं—

(१४७) सन्तानानुमानविशेषणात्॥ १७॥

सूत्रार्थ— सन्तानानुमान = शब्द सन्तान के अनुमान के, विशेषणात् = विशेषण से (भी व्यभिचार दोष सिद्ध नहीं होता।)

व्याख्या— शब्द में सन्तान परम्परा के अनुमान विशेषण के होने से भी शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है। जिस प्रकार सन्तान उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शब्द भी वायु के प्रहार (धक्के) और मुखादि अवयवों की विशेष चेष्टा से उत्पन्न होता है, अत: उसका अनित्य होना स्पष्ट है। वादी का कथन यह था कि जाति विषयक ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है, किन्तु वह नित्य है और शब्द की उत्पत्ति भी इन्द्रियों द्वारा होती है अथवा शब्द भी इन्द्रिय ग्राह्य है, अत: वह भी नित्य है। वादी का यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि इन्द्रियों से सन्तति की उत्पत्ति के समान ही शब्द सन्तति भी मुखादि द्वारा उत्पन्न होती है, अत: वह अनित्य है॥१७॥

अब सूत्रकार वादी द्वारा प्रस्तुत 'कृतकवदुपचार' हेतु में व्यभिचार दोष का परिहार प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१४८) कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्येष्वप्यव्यभिचार इति॥ १८॥

सूत्रार्थ— कारणद्रव्यस्य = कारण द्रव्य का, प्रदेशशब्देन = प्रदेश नामक शब्द के द्वारा, अभिधानात् = कथन होने से, नित्येषु अपि = नित्य पदार्थों में भी, इति = यह, अव्यभिचार: = व्यभिचार दोष नहीं है।

व्याख्या— सूत्र क्र० १५ में वादी द्वारा शब्द के अनित्यत्व के तीसरे हेतु 'कृतकवदुपचारात्' (स्थूल पदार्थों के समान नित्य कहे जाने वाले पदार्थ भी व्यवहार में आने से) में व्यभिचार दोष बताया गया था, किन्तु

इस सूत्र में आचार्य इस दोष का परिहार कर रहे हैं कि आकाश आदि नित्य पदार्थों के साथ घट-मठ आदि के संयोग से, जो उनके विभाग सूचक शब्द घटाकाश, मठाकाश आदि प्रयुक्त होते हैं, उनसे आकाश के नित्यत्व में कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न नित्य कहे जाने वाले तत्त्वों में व्यभिचार दोष ही आता है। आकाशादि कारण द्रव्य (पदार्थ) हैं, इनके साथ प्रदेश आदि शब्द जुड़ने से व्यापकत्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता। यद्यपि प्रदेश शब्द विभाग सूचक है, किन्तु आकाश आदि के साथ इसका प्रयोग लोक व्यवहारवश है, न कि आकाश को विभक्त करने के लिए। यदि आकाश के सन्दर्भ में आत्मा का प्रदेश अथवा हृदय प्रदेश, कटि प्रदेश, घट प्रदेश आदि कहा जाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि सम्पूर्ण आकाश हृदय में, कटि में या घट में स्थित हो गया; क्योंकि वह सर्वदेशीय है। एक देशीय पदार्थों के साथ वह मात्र व्यवहार में प्रयुक्त होता है। इससे स्पष्ट है कि कारण द्रव्य आकाश, आत्मा आदि के साथ प्रदेश शब्द का कथन करने से इन नित्य पदार्थों में व्यभिचार दोष उत्पन्न नहीं होता॥१८॥

अब आचार्य एक अन्य युक्ति द्वारा शब्द का अनित्यत्व सिद्ध कर रहे हैं—

(१४९) प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च॥१९॥

सूत्रार्थ— प्राक् = पूर्व में, उच्चारणात् = उच्चारण से, अनुपलब्धेः = उपलब्ध न होने पर, च = और, आवरणाद्यनुपलब्धेः =आवरण आदि प्रतिबन्धों के उपलब्ध न होने से(शब्द का अनित्य होना सिद्ध होता है)।

व्याख्या— उच्चरित होने पर ही शब्द अस्तित्व में आता है; क्योंकि उच्चारण से पूर्व वह कहीं अस्तित्व में नहीं होता। यदि वह अस्तित्व में होता, तो श्रवणेन्द्रिय के सन्निकर्ष में आकर सुनाई देता। यदि यह माना जाय कि शब्द तो रहता है; किन्तु वह छिपा रहता है, तो यह उक्ति भी उचित नहीं है; क्योंकि छिपने के लिए कोई आवरण भी उपलब्ध नहीं होता। अस्तु, स्पष्ट है कि उच्चारण से पूर्व न तो शब्द का अस्तित्व है; और न ही उसके अनुपलब्ध होने का कोई कारण-आवरण आदि उपलब्ध होता है, जो शब्द को श्रवणेन्द्रिय तक आने में बाधा उत्पन्न करे। अत: शब्द की उत्पत्ति, संयोगादि कारणों से होती है, यही सिद्ध होता है।

यदि कोई यह आशंका करे कि शब्द तो नित्य है और उच्चारण के समय उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है, तो यह आशंका कारणविहीन है; क्योंकि उच्चारण से शब्द की अभिव्यक्ति नहीं, उत्पत्ति ही होती है। जब प्राणी को कुछ बोलने की इच्छा या आकांक्षा होती है, तब अन्त: प्रेरणा से हृदय में स्थित वायु कण्ठ, तालु, दन्त, ओष्ठ आदि स्थानों पर प्रहार करता हुआ (टक्कर मारता हुआ), शब्द की उत्पत्ति का उसी प्रकार कारण बनता है; जिस प्रकार वीणा के तारों पर उँगलियाँ चलकर मधुर स्वर की उत्पत्ति का कारण बनती हैं। इस प्रकार उच्चारण होने पर शब्द उत्पन्न हो जाता है और सुनाई पड़ता है, इसके बाद नष्ट हो जाता है। अत: स्पष्ट है कि उत्पत्ति और विनाशशील होने के कारण शब्द अनित्य है॥ १९॥

अब वादी के आरोप की विवेचना अगले सूत्र में की जा रही है—

(१५०) तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः॥२०॥

सूत्रार्थ— तदनुपलब्धेः = उस आवरण की अनुपलब्धि के, अनुपलम्भात् = उपलब्ध (प्रतीत) न होने से, आवरणोपपत्तिः = आवरण होने की सिद्धि होती है।

व्याख्या— पूर्व सूत्र में यह कहा गया कि उच्चारण से पूर्व शब्द नहीं होता। वह तो उच्चारण के समय ही उत्पन्न होता है और बाद में नष्ट हो जाता है। यदि ऐसा मान भी लें कि उच्चारण से पूर्व शब्द है, पर किसी आवरण की उपलब्धि भी नहीं होती, जिससे यह स्वीकार किया जाए कि उस आवरण के कारण उच्चारण पूर्व शब्द सुनाई नहीं पड़ता। इस सूत्र में वादी पुन: कहता है कि मात्र दिखाई न पड़ने से यह कैसे

मान लिया जाय कि आवरण नहीं है। शब्द भी तो सुनाई पड़ने के बाद नष्ट हो जाता या छिप जाता है, तब क्या छिपने से पूर्व उसके अस्तित्व को नकारते हैं? अस्तु, केवल प्रत्यक्ष न होने से ही आवरण की अनुपलब्धि कैसे मान ली जाये। अत: आवरण का होना सिद्ध है ॥२०॥

इस सन्दर्भ में वादी की भावना को व्यक्त करने हेतु आचार्य आगे और भी हेतु दे रहे हैं—

(१५१) अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भाववन्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ— अनुपलम्भात् = उपलब्ध (प्रतीत) न होने से, अपि = भी, अनुपलब्धिसद्भाववत् = अनुपलब्धि (अप्राप्ति) के सद्भाव के समान होने, आवरणानुपपत्ति: = आवरण की सिद्धि न होना, अनुपलम्भात् = दिखाई न देने मात्र से (उपलब्ध न होने से), न = नहीं माना जा सकता।

व्याख्या— किसी वस्तु या पदार्थ की अप्रत्यक्षता को अनुपलब्धि कहा जाता है तथा अनुपलब्धि का न होना ही उसका प्रत्यक्ष होना है। यदि आवरण की उपलब्धि पर भी उस (वस्तु-पदार्थ) की अनुपलब्धि मानें, तो भी उसके अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसे इस तरह समझें कि कण्ठ, मुख, तालु आदि जो वायु के संयोग के कारणस्थल हैं, इनसे आवरण को अलग करके शब्द प्रकट होता है। यह (शब्द) पहले से ही अस्तित्व में रहता है, इसी कारण अविद्यमान शब्द का प्रत्यक्ष होना नहीं पाया जाता। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि शब्द उत्पन्न नहीं प्रकट होता है और अनित्य न होकर नित्य है ॥२१॥

अगले सूत्र में विगत दो सूत्रों में प्रस्तुत वादी की आशंकाओं का आचार्य द्वारा समाधान किया जा रहा है—

(१५२) अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतु: ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ— अनुपलब्धे: = आवरण के प्राप्त न होने पर,अनुपलम्भात्मकत्वात् = अनुपलम्भ स्वरूप होने (उपलम्भ का भाव न होने) से, अहेतु: = (पूर्व कथन) हेतु युक्त नहीं है (अर्थात् मानने योग्य नहीं है)।

व्याख्या— उसी वस्तु या पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, जो कहीं उपलब्ध होती है। जो कहीं उपलब्ध नहीं है, उसका अभाव कहा जाता है। ज्ञान का अभाव अनुपलब्धि कहलाता है, अत: उसका भाव (होना) नहीं कहा जा सकता। यदि यह माना जाय कि आवरण का भाव है, तो उसकी उपलब्धि होना आवश्यक है और उसकी अनुभूति भी अपेक्षित है, जब तक यह ज्ञान न होगा कि आवरण है, तब तक उसकी सत्ता की सिद्धि संदिग्ध ही रहेगी। यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान न भी हो, तो भी उसका अस्तित्व सिद्ध है, तो यह उसका भ्रम मात्र होगा। कारण यह है कि अभाव का कारण अभाव नहीं हो सकता। जो वस्तु या पदार्थ अभाव स्वरूप है, उसका भाव (उपलब्धि) नहीं हो सकता। जब आवरण का अभाव नहीं है, तो उसकी उपलब्धि क्यों नहीं होती? यदि उपलब्धि नहीं है तो आवरण का अभाव (न होना) ही कहा जायेगा। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि जब शब्द को ढँकने वाला कोई आवरण नहीं है, तो शब्द (उच्चारण के पूर्व) विद्यमान है, और यदि ऐसा है, तो उसे (उच्चारण से पहले ही) सुनाई अवश्य पड़ना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं दीखता। अत: स्पष्ट है कि अपनी उत्पत्ति (उच्चरित) होने से पूर्व अस्तित्व में न होने के कारण शब्द सुनाई नहीं देता, अस्तु वह अनित्य ही है ॥२२॥

अब वादी के उस अन्य भाव को सूत्रकार सूत्रित कर रहे हैं, जिसके कारण वह शब्द को नित्य मानता है—

(१५३) अस्पर्शत्वात् ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ— अस्पर्शत्वात् = स्पर्शरहित होने के कारण (भी शब्द का नित्यत्व सिद्ध है)।

व्याख्या— समस्त संयुक्त पदार्थ स्पर्श किये जा सकते हैं (छुए जा सकते हैं), इससे ही उनका अनुभव होता है। जैसे-पृथ्वी, जल, आदि। आकाश का स्पर्श सम्भव नहीं है, वह सूक्ष्म है, इसलिए उसे नित्य

मानते हैं। शब्द का भी स्पर्श नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह सूक्ष्म है। अस्तु, स्पर्श न किये जा सकने के कारण शब्द नित्य है। पृथ्वी जल आदि को संयुक्त पदार्थ इसलिए माना गया है, क्योंकि इनमें अन्य तत्त्व भी सम्मिलित हैं। जैसे पृथ्वी में जल, वायु, अग्नि एवं आकाश भी सम्मिलित हैं; जल में वायु, अग्नि और आकाश, अग्नि में वायु और आकाश तथा वायु में आकाश तत्त्व सम्मिलित हैं। इस प्रकार इन पदार्थों के संयुक्त होने से इनके गुण क्रमशः गन्ध, रस, एवं दाह अनित्य हैं। आकाश विभु (विराट्) है, वह नित्य है, अस्तु, उसका गुण 'शब्द' भी नित्य है ॥२३॥

अब अस्पर्श के कारण शब्द को नित्य मानना अनुचित बताते हुए सूत्रकार इसका समाधान करते हैं—

(१५४) न कर्मानित्यत्वात्॥ २४॥

सूत्रार्थ— कर्म = कर्म, अनित्यत्वात् = अनित्य होने से, न = उपर्युक्त हेतु (स्पर्श होने मात्र से शब्द को नित्य मानना) स्वीकार्य नहीं है।

व्याख्या— मात्र स्पर्श रहित होने से शब्द को अनित्य मानना उपयुक्त नहीं है। कर्म को भी तो स्पर्श नहीं किया जा सकता तथा उत्पत्ति धर्म वाला भी है, किन्तु वह अनित्य है। इस प्रकार सिद्ध है कि स्पर्श न होने के कारण (कर्म के समान) शब्द को नित्य मानना उचित नहीं है ॥२४॥

अब अगले सूत्र में 'स्पर्शवान्' नित्य है, ऐसा सिद्ध कर रहे हैं—

(१५५) नाणुनित्यत्वात्॥ २५॥

सूत्रार्थ— न = (उपर्युक्त कथन उपयुक्त) नहीं है, अणु नित्यत्वात् = अणु के नित्य होने से।

व्याख्या— पूर्व में जो वर्णन किया गया कि स्पर्शरहित पदार्थ नित्य और स्पर्शवान् अनित्य होता है, यह हेतु उचित नहीं, वरन् व्यभिचार दोष से पूर्ण है; क्योंकि स्पर्शरहित कर्म अनित्य होता है, यह ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। अब यह सिद्ध किया जा रहा है कि अणु स्पर्शवान् है, किन्तु नित्य है। अतः स्पष्ट है कि स्पर्शवान् अथवा अस्पर्शवान् होने से नित्यत्व या अनित्यत्व में कोई प्रभाव नहीं पड़ता ॥२५॥

अब प्रश्न कर्त्ता शब्द के नित्यत्व हेतु एक अन्य तर्क प्रस्तुत कर रहा है—

(१५६) सम्प्रदानात्॥ २६॥

सूत्रार्थ— सम्प्रदानात् = सम्प्रदान से (विद्यमान वस्तु किसी को देने से भी शब्द का नित्यत्व सिद्ध होता है)।

व्याख्या— शब्द के सम्प्रदान(किसी को दिये जाने)से भी शब्द का नित्यत्व सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि गुरु के द्वारा शब्द रूप में शिष्य को उपदेश दिया जाता है। वे शब्द शिष्य के पास सुरक्षित रहते हैं। कालान्तर में वह शिष्य अपने शिष्य को उसी प्रकार शब्द-उपदेश करता है। इस प्रकार यह क्रम परम्परया चलता रहता है। इससे स्पष्ट है कि शब्द नित्य है। शब्द के नित्य होने का एक कारण यह भी है कि जो वस्तु दान में दी जाती है, वह पहले से विद्यमान होती है; क्योंकि अविद्यमान का दान नहीं दिया जा सकता। जो देने के पूर्व और पश्चात् भी विद्यमान हो, वह नित्य है। शब्द भी उच्चारण से पूर्व गुरु के हृदय में विद्यमान रहता है और उच्चारण के पश्चात् भी शिष्य के पास सुरक्षित रहता है। अतः वह नित्य है,ऐसा सिद्ध होता है ॥२६॥

अब शब्द के अनित्यत्व के सन्दर्भ में आचार्य एक अन्य तर्क दे रहे हैं—

(१५७) तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः॥ २७॥

सूत्रार्थ— तद् = अन्तराल, अनुपलब्धेः = उस (शब्द) के (गुरु और शिष्य के बीच) अन्तराल में उपलब्ध न होने से (उक्त सन्दर्भ में), अहेतुः = यह हेतु युक्ति संगत नहीं है।

व्याख्या— सूत्रकार आचार्य कहते हैं कि शब्द यदि नित्य है तो उच्चारण से पूर्व और उच्चारण के पश्चात् शिष्य तक पहुँचने तक शब्द को बराबर सुनाई पड़ते रहना चाहिए; पर ऐसा होता नहीं। गुरु के मुख से उच्चारण के समय तो शब्द प्रत्यक्ष होता है और बाद में लुप्त हो जाता है। यदि वह नित्य होता तो गुरु के चुप हो जाने के बाद भी सुनाई देता रहता; किन्तु ऐसा भी नहीं होता। अस्तु, स्पष्ट है कि शब्द उच्चारण से पूर्व और पश्चात् भी विद्यमान न होने से अनित्य है॥२७॥

अब वादी शब्द के नित्यत्व के पक्ष में पुनः दूसरा हेतु प्रस्तुत कर रहा है—

(१५८) अध्यापनादप्रतिषेधः॥ २८॥

सूत्रार्थ— अध्यापनात् = अध्यापन से (अन्तराल में शब्द की विद्यमानता सिद्ध होती है, अस्तु),अप्रतिषेधः = (सम्प्रदान हेतु का) प्रतिषेध करना उचित नहीं है।

व्याख्या— उपर्युक्त हेतु का परिहार आचार्य द्वारा शिष्य के 'अध्यापन' हेतु से हो जाता है। गुरु और शिष्य के बीच कुछ दूरी अवश्य होती है। फिर एक आचार्य (गुरु) के समक्ष कई विद्यार्थी (शिष्य) बैठे रहते हैं। आचार्य द्वारा उच्चरित शब्द पीछे तक बैठे सभी विद्यार्थियों को स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं, इससे स्पष्ट है कि आचार्य और शिष्य के बीच जो अध्यापन प्रक्रिया चलती है, उसमें दोनों के बीच अन्तराल में शब्द पूरी तरह विद्यमान रहता है। यदि ऐसा न हो तो अध्यापन प्रक्रिया सम्भव ही नहीं है। पूर्व सूत्र में जो यह कहा गया था कि उच्चारण के समय ही शब्द उत्पन्न होता है और बाद में नष्ट हो जाता है, तो यह भी उचित नहीं है; क्योंकि उच्चारण से पूर्व बहुत से शब्द आचार्य के हृदय में विद्यमान रहते हैं, उन्हीं में से जब जिन शब्दों के उच्चारण की आवश्यकता होती है, आचार्य उच्चरित कर देता है। उच्चारण किए हुए शब्द विद्यार्थी सुनता है और उन्हें अपने ज्ञान में रख लेता है। बाद में उस ज्ञान को वह शब्दों के रूप में अपने शिष्यों को बताता है। इस प्रकार शब्द उच्चारण के पूर्व और बाद तक स्थिर रहते हैं। अतः शब्द का नित्यत्व स्पष्ट ही है॥२८॥

अब आचार्य पुनः शब्द के अनित्यत्व के सम्बन्ध में तर्क देकर समझा रहे हैं—

(१५९) उभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः॥ २९॥

सूत्रार्थ— उभयोः = दोनों, पक्षयोः = पक्षों में, अध्यापनात् = समान रूप से अध्यापन होने से,अन्यतरस्य = दोनों (पक्षों) में से किसी एक का भी, अप्रतिषेधः = प्रतिषेध (निषेध) नहीं हो सकता।

व्याख्या— अध्यापन कार्य शब्द के नित्य और अनित्य होने, दोनों ही स्थितियों में सम्पन्न होता रह सकता है। विद्या का दान अन्य स्थूल पदार्थों के दान के समान नहीं है, जो उठाया और प्रदान कर दिया। उसके लिए तो आचार्य को मुँह, कण्ठ, तालु इत्यादि से विशेष प्रयत्न करने पड़ते हैं, तब शब्द उत्पन्न होता है और शिष्य श्रवणेन्द्रिय से सुनकर उसे समझ लेता है, फिर अपने विवेक से उसे आवश्यक स्थानों पर लागू करता है। आचार्य द्वारा उच्चरित शब्द तो उसी समय नष्ट हो जाता है, जब वे बोल चुकते हैं। इस प्रकार यह युक्ति उचित नहीं कि 'अध्यापन' प्रक्रिया के उदाहरण से शब्द का नित्यत्व है। अन्ततः निष्कर्ष यही है कि दोनों ही पक्षों (शब्द के नित्य या अनित्य होने) से अध्यापन कार्य में कोई बाधा न होने से यह हेतु उचित नहीं है। अतः शब्द का अनित्यत्व ही सिद्ध होता है॥ २९॥

अब वादी शब्द के नित्यत्व हेतु एक अन्य 'हेतु' प्रस्तुत कर रहा है—

(१६०) अभ्यासात्॥ ३०॥

सूत्रार्थ— अभ्यासात् = अभ्यास के कारण (शब्द का नित्यत्व सिद्ध होता है)।

व्याख्या— बारम्बार के प्रयोग को अभ्यास कहा जाता है। शब्द का बार-बार उच्चारण होना शब्द की नित्यता प्रकट करता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति कहे कि मैंने अमुक वस्तु कई बार देखी है। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि वह वस्तु नित्य है। यदि ऐसा न होता तो उसे कई बार देखा जा सकना सम्भव न होता। ठीक ऐसा ही शब्द के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। शब्द को भी अनेक बार बोले जाते देखकर, यह सिद्ध होता है कि शब्द नित्य है॥३०॥

अब सूत्रकार इसका भी परिहार कर रहे हैं—

(१६१) नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात्॥ ३१॥

सूत्रार्थ— न = (उक्त हेतु उपयुक्त) नहीं है, अन्यत्वे = अन्य भेद (अनित्य अस्थिर)में, अपि = भी, अभ्यासस्य = अभ्यास का, उपचारात् = उपचार अथवा व्यवहार होने से।

व्याख्या— वादी ने कहा था कि नित्य में अभ्यास देखा जाता है, अत: बार-बार अभ्यास में आने के कारण शब्द नित्य है। किन्तु इस सूत्र में आचार्य का कथन है कि जो नित्य नहीं है, उसमें भी अभ्यास पाया जाता है। जैसे- क्रिया भी अनित्य है। उदाहरणार्थ-कोई कहे कि राम दो बार भोजन करता है, श्याम तीन बार झाड़ू लगाता है। इसमें भोजन करना व झाड़ू लगाना क्रिया है। इन दोनों क्रियाओं का बार-बार होना इनका अभ्यास द्योतित करता है। ये क्रियाएँ अस्थिर अर्थात् अनित्य है। इस प्रकार 'अभ्यास' से यह सिद्ध नहीं होता कि शब्द नित्य है; क्योंकि वह तो अनित्य पदार्थों क्रियाओं में भी होता देखा जाता है॥३१॥

वादी के द्वारा प्रस्तुत अभ्यास हेतु का भी प्रतिषेध हो जाने पर अब वह (वादी) उपर्युक्त सूत्र में वर्णित 'अन्य' शब्द को केन्द्र बनाकर पुन: शब्द के नित्यत्व को सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा है—

(१६२) अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताऽभाव:॥ ३२॥

सूत्रार्थ— अन्यस्मात् = अन्य (पदार्थों से), अन्यत् = अन्य, अनन्यत्वात् = अनन्य (स्वरूप से अभिन्न) होने के कारण, अनन्यत् = अनन्य है, इति = इसके कारण, अन्यताभाव: = अन्यत्व का अभाव है (भेद का अभाव है)।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में आचार्य ने वादी के 'अभ्यास' हेतु को (शब्द के नित्यत्व में) इसलिए नकार दिया था; क्योंकि वह तो अन्यों (अन्य क्रियाओं-पदार्थों) के साथ भी लागू होता है; किन्तु वे तो अनित्य हैं। अब वादी 'अन्य' के अस्तित्व को ही नकारते हुए कह रहा है कि 'अन्य' (भेद या अन्य पदार्थ) कुछ है ही नहीं। कारण यह है कि 'अन्य' या वस्तु का होना स्वत: अपनी ही अपेक्षा से 'अनन्य' अर्थात् 'एक' ही है। एक वस्तु का दुबारा होना नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार 'अन्य' (कोई वस्तु-पदार्थ) अपने से अन्य नहीं हो सकता, अस्तु वह 'अनन्य' है; क्योंकि कोई वस्तु (अन्य) अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करती। जब 'अन्य' ही 'अनन्य' है, तो सिद्ध है कि 'अन्य' का कोई अस्तित्व नहीं है और जब 'अन्य' अस्तित्वहीन है, तो 'अन्य' में अभ्यास का व्यवहार होना, कहना अनुचित है॥३२॥

अब आचार्य वादी का एक अन्य तर्क से समाधान कर रहे हैं—

(१६३) तदभावे नास्त्यनन्यता तयोरितरेतरापेक्षसिद्धे:॥ ३३॥

सूत्रार्थ— तदभावे = उस अन्य (भिन्न) के अभाव में, न = नहीं, अस्ति = हो सकता है, अनन्यता = अनन्य होना, तयो: = उन दोनों (अन्य और अनन्य शब्द) में, इतरेतर-अपेक्ष-सिद्धे: = एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्धि होने के कारण (अनन्य की सिद्धि अन्य से होने के कारण)।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में वादी ने 'अन्यदन्यस्मात्' पद से स्वत: ही अन्य पद को सिद्ध कर दिया

है, अत: उसका यह कहना है कि 'अन्य' अपनी ही अपेक्षा से अनन्य होता है; युक्ति संगत नहीं है। कारण यह है कि 'अनन्य' पद को स्वीकार कर लेना ही प्रकारान्तर से 'अन्य' पद को स्वीकार करना है; क्योंकि अनन्य शब्द 'नञ्' के साथ 'अन्य' पद के समास होने से ही बना है। न अन्य: इति अनन्य: अर्थात् जिसका अन्य नहीं है वह अनन्य है। यदि 'अन्य' नहीं है तो फिर 'नञ्' का समास किसके साथ हुआ है। स्पष्ट है कि अन्य और अनन्य दोनों पद हैं। क्योंकि दोनों एक दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध होते हैं। अन्य के अभाव में अनन्यता सिद्ध नहीं हो सकती। अत: अनन्यता के अभाव से शब्द का नित्य होना भी सम्भव नहीं है॥३३॥

वादी का यह तर्क खण्डित हो जाने पर अब वादी शब्द के नित्यत्व हेतु एक अन्य हेतु प्रस्तुत कर रहा है—

(१६४) विनाशकारणानुपलब्धे: ॥ ३४॥

सूत्रार्थ— विनाशकारण-अनुपलब्धे: = विनाश के कारण उपलब्ध न होने से (भी शब्द का नित्यत्व सिद्ध होता है)।

व्याख्या— किसी भी अनित्य पदार्थ का विनाश होना सुनिश्चित होता है और उस विनाश का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। जैसे घट (घड़ा), पट (वस्त्र) आदि अनित्य पदार्थ हैं। इनका विनाश इनके कारण द्रव्यों में विभाग हो जाने पर होता है। जैसे— घट का कारण द्रव्य मिट्टी है, तो घट के फूट जाने अर्थात् मिट्टी के अलग-अलग (विभक्त) हो जाने पर घट का विनाश हो जाता है, इसी प्रकार पट वस्त्र का कारण द्रव्य धागा है, उनके अलग-अलग हो जाने अर्थात् फट जाने पर वस्त्र का विनाश हो जाता है। पर शब्द भी यदि अनित्य है, तो उसके विनाश का कोई कारण होना चाहिए था, पर वैसा कोई कारण उपलब्ध न होने से शब्द की नित्यता सिद्ध होती है॥३४॥

अब इसका निषेध करते हुए सूत्रकार आचार्य अगला सूत्र सृजित कर रहे हैं—

(१६५) अश्रवणकारणानुपलब्धे: सततश्रवणप्रसङ्ग: ॥ ३५ ॥

सूत्रार्थ— अश्रवणकारणानुपलब्धे: = सुनाई न देने के कारणों के दिखाई न देने (उपलब्ध न होने) से (शब्द का),सतत श्रवण प्रसङ्ग: = निरन्तर सुनाई देने का प्रसङ्ग उपस्थित होना चाहिए।

व्याख्या— इस सूत्र में सूत्रकार शब्द के नित्यत्व हेतु वादी द्वारा पूर्व में प्रस्तुत तर्क का खण्डन कर रहे हैं, जिसके अन्तर्गत वादी ने कहा था कि विनाशशील पदार्थ के विनाश का कोई न कोई कारण अवश्य होता है; किन्तु शब्द के विनाश का कोई कारण उपलब्ध न होने से उसे नित्य समझना चाहिए। आचार्य सूत्रकार इस सूत्र में प्रतिवाद कर रहे हैं कि कारण उपलब्ध न होने मात्र से उसे नित्य कैसे मान लिया जाये। प्राय: देखा जाता है कि बोलते समय शब्द सुनाई पड़ता है, उसके बाद सुनाई देना बन्द हो जाता है; किन्तु इस सुनाई देना बन्द हो जाने अथवा निरन्तर सुनाई न देने का कोई कारण उपलब्ध नहीं होता। कारण उपलब्ध न होने से क्या यह मान लिया जाय कि शब्द है? यदि है तो निरन्तर सुनाई देना आवश्यक है, क्योंकि सुनाई देना ही उसकी विद्यमानता का द्योतक है। व्यवहार में ऐसा न होने से शब्द का नित्यत्व सिद्ध नहीं होता॥ ३५ ॥

अब आचार्य सूत्रकार शब्द के नित्यत्व में वादी द्वारा दिये गये तर्क 'विनाशकारणानुपलब्धे:' से असन्तुष्ट होकर इसका वास्तविक उत्तर अगले सूत्र में दे रहे हैं—

(१६६) उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्त्वादनपदेश: ॥ ३६ ॥

सूत्रार्थ— च = और, उपलभ्यमाने = [विनाश का कारण (अनुमान से)] उपलब्ध हो जाने पर, अनुपलब्धे: = (शब्द विनाश कारण की) अनुपलब्धि के, असत्त्वात् = विद्यमान न रहने पर, अनपदेश: = (शब्द के नित्यत्व में दिया) यह हेतु उचित नहीं है।

व्याख्या— इससे पूर्व के सूत्र क्र० ३४ में वादी ने यह तर्क दिया था कि शब्द के विनष्ट होने का कोई कारण उपलब्ध न होने से वह नित्य है। किन्तु इस सूत्र में सूत्रकार इसका उत्तर दे रहे हैं कि शब्द के विनाश का कारण अनुमान से सिद्ध है। क्योंकि जगत् में देखा जाता है कि जो वस्तु उत्पन्न हुई है, वह नष्ट भी अवश्य होती है; तो शब्द भी जब उत्पन्न होता है, तो नष्ट भी अवश्य होगा, यह बात अनुमान से सिद्ध है। निरन्तर परिवर्तन या क्षीणता को प्राप्त होना विनष्ट होने का लक्षण है। शब्द भी जब उत्पन्न होता है, तो धीरे-धीरे उसकी ध्वनि कम होती जाती है (जैसे- शंख-घंटा-ध्वनि) और कम होते-होते नष्ट हो जाती है, तो जो वादी ने कहा कि विनाश का कारण उपलब्ध न होने से शब्द नित्य है, इसका प्रतिवाद यह है कि शब्द का (मन्दत्व, क्षीणता आदि दोषों के कारण) नष्ट होना अनुमान से सिद्ध है। अत: उस कारण (विनाश के कारण) के उपलब्ध होने और शब्द विनाश कारण की अनुपलब्धि के विद्यमान रहने से वादी का 'विनाशकारणानुपलब्धे:' कथन असंगत है॥ ३६॥

अब आचार्य शब्द विनाश के स्पष्ट कारण को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं—

(१६७) पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावे नानुपलब्धि:॥ ३७॥

सूत्रार्थ — पाणिनिमित्तप्रश्लेषात् = हाथ के शब्द निमित्त के साथ सम्पर्क होने से, शब्दाभावे = शब्द का अभाव हो जाने से, अनुपलब्धि: = (विनाश के कारण की) अनुपलब्धि, न = नहीं है।

व्याख्या — पूर्व सूत्र की व्याख्या मे घंट ध्वनि का उदाहरण देकर सूत्रकार ने शब्द (ध्वनि) के क्रमश: मन्द क्षीण होते-होते नष्ट हो जाने की बात कही थी। इस सूत्र में वे शब्द विनाश कारण को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि घंटा जो मुग्दर से बजाया जाता है, उसकी ध्वनि मुग्दर प्रहार के साथ उत्पन्न होती है, जो शब्द सन्तान (शब्द की निरन्तरता) के साथ कुछ देर तक रहती है और अन्तत: (कुछ ही क्षणों में मन्द होते-होते) नष्ट हो जाती है। यह शब्द सन्तान शब्द के 'वेग-संस्कार' के कारण होता है। यदि कोई व्यक्ति घंटा बजते ही उस पर हाथ लगा दे, तो उसका स्पर्श 'वेग संस्कार' (ध्वनि-कम्पनों) के स्पष्ट अनुभव को रोक देता है, जिससे शब्द-सन्तान (शब्द सातत्य) उत्पन्न होना बंद हो जाता है और फिर शब्द (ध्वनि) सुनाई नहीं देता। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि जो शब्द हाथ से घण्टे पर मुग्दर का प्रहार करके उत्पन्न किया गया था, वह घण्टे पर हाथ लगा देने से नष्ट हो जाता है। अत: उत्पन्न और नष्ट हो जाने से शब्द की अनित्यता सिद्ध है। इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि शब्द के निमित्त के साथ पाणि (हाथ) का संयोग करने से, शब्द के रुक जाने से, शब्द विनाश कारण की अनुपलब्धि न होने से शब्द की अनित्यता स्पष्ट है॥

अब इस हेतु 'विनाशकारणानुपलब्धे:' का प्रतिषेध करने के पश्चात् आचार्य अपने मन्तव्य को पुष्ट करते हुए एक अन्य तर्क दे रहे हैं—

(१६८) विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्ग:॥ ३८॥

सूत्रार्थ— विनाश कारणानुपलब्धे: = विनाश कारण के प्राप्त होने से, च = तथा, अवस्थाने = शब्द के स्थिर (नित्य) होने पर, तन्नित्यत्व प्रसङ्ग: उस (शब्द) के नित्य होने का प्रसङ्ग होगा।

व्याख्या— पूर्व सूत्र ३४ में वादी का कथन था कि शब्द के विनाश का कारण उपलब्ध न होने से शब्द का नित्य होना सिद्ध होता है। इसमें विचारणीय तथ्य यह है कि वादी ने उक्त कारण के होने पर 'शब्द' की नित्यता प्रतिपादित की है न कि 'शब्द-श्रवण' की। यदि शब्द नित्य है, तो उसका श्रवण भी नित्य अर्थात् सतत होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं और शब्द श्रवण के विनाश कारण की उपलब्धि या अनुपलब्धि की बात वादी ने नहीं कही। वस्तुत: शब्द श्रवण के विनाश-कारण की उपलब्धि [घण्टे में हाथ लगा देने से घण्टे

का शब्द सुनाई पड़ना रुक जाता है, बंद कर देना अथवा बोलना बंद कर देने पर शब्द सुनाई नहीं पड़ता, ये दोनों ही (हाथ लगाना और बोलना) शब्द के विनाशकारण हैं] होने पर तो उसे अनित्य मानना चाहिए; किन्तु वादी शब्द व शब्द श्रवण दोनों को नित्य मानता है, जो कि उचित नहीं है। यदि वह शब्द को नित्य मानता है अर्थात् स्थिर मानता है, तो शब्द श्रवण भी सतत होना चाहिए; किन्तु व्यवहार में वैसा दीख नहीं पड़ता। अत: विशेष प्रयत्न से उत्पन्न होने और विशेष प्रयत्न से समाप्त हो जाने के कारण शब्द अनित्य है॥ ३८॥

अब वादी पुन: आशंका करता है कि मुग्दर से घण्टा बजाने से शब्द उत्पन्न नहीं हो सकता और उसमें हाथ लगाने से वह नष्ट नहीं हो सकता। उसके आश्रय का स्पर्श नहीं हो सकता; क्योंकि वह आकाश का गुण है और आकाश उसका आश्रय है। अत: यह प्रतिषेध असंगत है। आचार्य सूत्रकार उसके इसी भाव को सूत्रित कर रहे हैं—

(१६९) अस्पर्शत्वादप्रतिषेध: ॥ ३९ ॥

सूत्रार्थ— अस्पर्शत्वात् = शब्दाधार स्पर्श रहित होने से, अप्रतिषेध: = प्रतिषेध उचित नहीं है(क्योंकि शब्द का आधार आकाश है, जो स्पर्श रहित है)।

व्याख्या— शब्द और उसका आश्रय या आधार स्पर्श रहित है। शब्द का आधार 'आकाश' है। उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता। (पृथ्वी, जल, वायु और तेज ये सभी स्पर्श किये जा सकते हैं, किन्तु आकाश स्पर्श रहित है।) घण्टे में मुग्दर के प्रहार द्वारा शब्द को उत्पन्न नहीं किया जाता वरन् उससे शब्द प्रादुर्भूत होता है तथा घण्टे में हाथ लगाकर शब्द का तिरोभाव होता है न कि शब्द का विनाश। चूँकि (शब्द गुणमाकाशम्) वह आकाश में विद्यमान रहता है, अत: प्रकट और तिरोहित होता है न कि उत्पन्न और विनष्ट। अत: प्रतिषेध का आधार ही असंगत होने से शब्द को अनित्य कहना भी असंगत है॥ ३९॥

अब आचार्य शब्द के अनित्य होने का एक अन्य तर्क दे रहे हैं—

(१७०) विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे॥ ४०॥

सूत्रार्थ— च = और, विभक्त्यन्तरोपपत्ते: = विभिन्न विभागों में भिन्न-भिन्न शब्दों की सिद्धि (उत्पत्ति) होने से, समासे = (शब्द) समुदाय में (स्पर्श, रूप, रस आदि में) समाहित नहीं रहता।

व्याख्या— एक ही घण्टा में अथवा एक ही वाद्ययन्त्र में अनेक विभाग वाले शब्द सुनाई पड़ते हैं। जैसे घंटे में पहले तीव्रतर, फिर तीव्र, फिर मन्द और फिर मन्दतर शब्द (ध्वनि) सुनाई पड़ता है। इसी प्रकार एक ही हारमोनियम या सितार में स, रे, ग, म, प,ध, नि, आदि अनेक स्वर निकलते हैं। अन्य गुण (गंन्ध, रस, स्पर्शादि) अपने आधार द्रव्य (पृथिवी, जल, वायु आदि) में एक ही रूप में सन्निविष्ट रहते हैं, किन्तु शब्द परिवर्तित होता रहता है। चूँकि शब्द आकाश का गुण है, इसलिए वह घण्टा एवं अन्य किसी पार्थिवादि द्रव्यों में रूपादि की तरह समाहित नहीं हो सकता। यदि ऐसा माना जाता है तो जिस प्रकार घण्टा आदि में रुप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि की तरह शब्द भी समाहित होगा और तब उसमें स्थित शब्द (ध्वनि) में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, किन्तु शब्द परिवर्तन देखा जाता है और यह परिवर्तन ही उसके अनित्यत्व का प्रमाणं है। तात्पर्य यह है- किसी वस्तु विशेष का जो रूप है वह एक जैसा ही रहता है, उसमें स्थित रस एक जैसा ही रहता है, उसकी गन्ध एक जैसी ही तथा उसका स्पर्श भी एक जैसा रहता है, पर शब्द परिवर्तित होता रहता है, अत: उसका विभिन्न श्रेणियों में इस प्रकार विभक्त होना (परिवर्तित होना) ही उसकी (शब्द की) अनित्यता का मुख्य कारण है। अत: वादी का यह तर्क कि शब्द नित्य है, आधार रहित है; क्योंकि शब्द की अनित्यता स्पष्ट है॥४०॥

सूत्रकार ने तेरहवें से चालीसवें सूत्र तक अनेक प्रकार से शब्द के नश्वरत्व-क्षणभङ्गुरत्व पर प्रकाश डाला है। लोक में प्राप्त शब्द के दो रूपों में से ध्वन्यात्मक शब्द की विवेचना के पश्चात् अब वर्णात्मक शब्द की विवेचना प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१७१) विकारादेशोपदेशात्संशयः ॥ ४१ ॥

सूत्रार्थ— विकारादेशोपदेशात् = विकार एवं आदेश का उपदेश (कथन) होने से (वर्ण में), संशयः = संशय है (कि इसे वर्ण में विकार कहा जाय या आदेश कहा जाय)।

व्याख्या— प्रस्तुत सूत्र के पहले की टिप्पणी में कहा गया है कि शब्द के दो रूप हैं, ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। इनमें ध्वन्यात्मक शब्द की चर्चा विगत सूत्रों में हो चुकी है। वर्णात्मक शब्द वह है, जिसे मानव समाज व्यवहार में प्रयोग करता है। उसी वर्णात्मक शब्द के विषय में जिज्ञासु द्वारा प्रस्तुत आशंका को सूत्रकार ने यहाँ सूत्रित किया है। वर्णात्मक शब्द में विकार भी पाये जाते हैं, आदेश भी। अतः संदेह उत्पन्न होता है कि इसमें विकार है या आदेश। उदाहरणार्थ व्याकरण के अनुसार कई बार 'इ' को 'य' किया जाता है, उस समय 'यकार' 'इकार' का विकार स्वरूप होता है। जैसे- सुधी+ उपास्यः में सुधी का इकार और और उपास्यः का उकार मिलकर सुध्युपास्यः बनता है। इसमें 'इ' का 'य' हुआ है। विकार का अर्थ है वस्तु या पदार्थ का अपने स्वरूप को बदलकर नये स्वरूप में आ जाना। जैसे- दूध अपने स्वरूप को बदलकर दही बन जाता है, तो इसमें दही को दूध का विकार कहेंगे। जो किसी स्थानीय अक्षर के स्थान में पहुँचकर प्रतिष्ठित होता है, उसे आदेश कहते हैं। जैसे- 'इ' के स्थान पर 'य' का प्रतिष्ठित हो जाना। अस्तु, एक ही प्रक्रिया को कोई आदेश कहते हैं, कोई विकार। यदि यह कहा जाये कि 'इकार' 'यकार' का कारण है, तो नये अक्षर 'य' के आने पर उसका कारण 'इ' ही न रहेगा। जैसे— दूध का दही बन जाने पर दूध विनष्ट हो जाता है, किन्तु शब्द में ऐसा नहीं है, उसमें 'इ' कार किसी न किसी रूप में बना रहता है। अतः इसे विकार नहीं कहा जा सकता। यदि यह कहा जाय कि दो कपालों के मिलने पर घट रूप कार्य बन जाता है, तो कपाल कारण और घट कार्य हुआ; किन्तु इस उदाहरण में घट रूप कार्य बन जाने पर कपाल रूप कारण का नाश नहीं होता-विकृत नहीं होता। अतः इसे विकार भी नहीं कह सकते। फिर 'इ' और 'य' में कार्य- कारण का सम्बन्ध भी नहीं है, इस कारण इसे (य) को आदेश कहना ही अधिक तर्क संगत है। यदि यह मान लिया जाये कि 'इ' और 'य' में कारण-कार्य सम्बन्ध है, तो इससे क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि यदि 'इकार' में कुछ मिलाकर या कुछ घटाकर 'यकार' बनता तो यह माना जा सकता था कि उनमें कारण-कार्यभाव है; किन्तु ऐसा भी नहीं है। इसमें तो वही स्थिति है जैसे किसी गाड़ी में एक बैल के स्थान पर उसके स्थानापन्न स्वरूप दूसरा बैल जोत दिया जाये। इसमें एक बैल दूसरे का कारण न होकर स्थानापन्न है। ठीक इसी प्रकार 'इकार' के स्थान पर 'यकार' को लगा देना आदेश है, न कि विकार। इसके आदेश होने का एक कारण और है कि सभी अक्षर नित्य हैं, उनमें विकार होना सम्भव नहीं है ॥४१ ॥

अब सूत्रकार वर्णों में विकार न होने का अन्य हेतु भी प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१७२) प्रकृतिविवृद्धौ विकारविवृद्धेः ॥ ४२ ॥

सूत्रार्थ— प्रकृति विवृद्धौ = प्रकृति की वृद्धि होने पर, विकार विवृद्धेः = विकार की वृद्धि होने से (वर्णों में विकार नहीं हो सकता)।

व्याख्या— जब किसी कार्य की प्रकृति (उपादान कारण) में वृद्धि हो जाती है, तो उसका कार्य (परिणाम) भी बढ़ जाता है। जैसे एक किलोग्राम दूध में जितना दही बनेगा चार किलोग्राम दूध में उसका चार गुना दही बनेगा। यहाँ उपादान कारण में वृद्धि होने से उसके कार्य (परिणाम) में भी वृद्धि हुई है; किन्तु वर्णों के साथ ऐसी बात नहीं है। उदाहरणार्थ 'इकार' से 'यकार' बनेगा, पर दो इकार होने पर दो यकार नहीं हो सकते। यथा- ग्रामणी पद (कर्त्ता कारक) बहुवचन में ग्रामण्यः बनेगा; परन्तु यहाँ ग्रामणी के 'इ' का 'य'

ही बना है। वैसे यदि इसमें विकार माना जाता तो 'ई' के स्थान पर दीर्घ 'य'(या) होना चाहिए; परन्तु वर्णों में ऐसा नहीं होता। अतः सिद्ध है कि वर्णों में विकार नहीं होता।।४२॥

उपर्युक्त सूत्र में दिये गये इस तथ्य पर शिष्य को आशंका होती है कि प्रकृति में न्यूनाधिक विकार उत्पन्न होने पर उसके कार्य (परिणाम) में भी न्यूनाधिक विकार उत्पन्न होता है। वादी के अनुसार वर्ण में विकार का न होना इस उदाहरण से सुसंगत नहीं है; क्योंकि कई उदाहरण ऐसे भी हैं जिनमें प्रकृति में विकार उत्पन्न होने पर उसके कार्य में उसके अनुपात में कम या अधिक विकार उत्पन्न होता है। वादी की इसी आशंका को सूत्रकार सूत्रित कर रहे हैं—

(१७३) न्यूनसमाधिकोपपत्तेर्विकाराणामहेतुः ॥ ४३ ॥

सूत्रार्थ— अहेतुः = उपर्युक्त हेतु उपयुक्त नहीं है, विकाराणाम् = विकारों की, उपपत्तेः = सिद्धि होने से, न्यूनसमाधिक = कम, अधिक और समान।

व्याख्या— इस सूत्र में शिष्य की यह आशंका सूत्रित है कि प्रकृति के कम या अधिक होने से जो विकार का कम या अधिक होना बताया गया है, यह शब्द के सन्दर्भ में उचित प्रमाण सिद्ध नहीं होता। कारण यह है कि विकार कम, अधिक और समान तीनों ही प्रकार के होते हैं। इनमें ऐसा भी देखा जाता है कि बड़े कारण से छोटे परिणामरूप कार्य उत्पन्न होते हैं जैसे- रुई। रुई का जब धागा बनाया जाता है, तो वह रुई की मात्रा से कम मात्रा में होता है; क्योंकि उसमें से कुछ अंश छीज जाता है। प्रकृति कम और कार्य अधिक के उदाहरण के रूप में किसी भी पौधे के बीज और वृक्ष की स्थिति को देखा जा सकता है। वट को ही लें, इसका बीज रूप कारण बहुत छोटा और कार्य रूप वृक्ष बहुत बड़ा होता है। इसी प्रकार कुछ उदाहरणों में प्रकृति और उसके विकार समान मात्रा में पाये जाते हैं। जैसे- स्वर्ण। जितनी मात्रा में स्वर्ण होगा उसका आभूषण बनाने पर भी वह उतनी ही मात्रा व भार वाला होगा। इसमें प्रकृति और उसका विकार दोनों समान हैं। अस्तु यह कहना कि जितनी मात्रा में प्रकृति होगी उतना ही विकार होगा, (और वर्णों में ऐसा नहीं होता अतः वर्ण विकारयुक्त नहीं हैं) उचित नहीं है॥ ४३॥

अब सूत्रकार आचार्य इसका समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत करेंगे—

(१७४) नातुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात् ॥ ४४॥

सूत्रार्थ— अतुल्य प्रकृतीनाम् = भिन्न या विलक्षण प्रकृति वाले, विकार विकल्पात् = विकारों की विरूपता या विकल्प भेद होने से, न = ऐसा कहना उचित नहीं है।

व्याख्या— पूर्व सूत्र में 'किसी भी कारण का वैरूप्य उसके कार्य का वैरूप्य होता है, इसी कारण प्रकृति को बड़ा, छोटा और बराबर का कहकर उसके विकार को प्रदर्शित किया और वर्णों में विकार होना बताया गया;' किन्तु यह तर्कसंगत नहीं है। विभिन्न प्रकृतियों के अनेक कार्य होते हैं; परन्तु वे एक समान नहीं होते। वट का बीज हो और वृक्ष आम का उगे ऐसा नहीं देखा जाता। आम का बीज है, तो वृक्ष भी आम का ही होगा। यदि वर्णों में विकार होता तो 'इ' के विकार के रूप में 'य' न आता, दोनों में सजातीयता होनी चाहिए थी; पर नहीं होती; किन्तु वर्णों के विकार में सजातीयता न होने से वर्णों में विकार की मान्यता उचित नहीं है॥

अब आशंकावादी पुनः नया प्रश्न कर रहा है—

(१७५) द्रव्यविकारे वैषम्यवद् वर्णविकारविकल्पः ॥ ४५ ॥

सूत्रार्थ— द्रव्यविकारे = द्रव्य के विकार में, वैषम्यवत् = वैषम्य होने के समान, वर्ण विकार विकल्पः = वर्ण विकार में विकल्प होना सम्भव है।

व्याख्या— इस सूत्र में आशंकावादी का कहना है कि जिस प्रकार द्रव्यों से उत्पन्न होने वाले विकार भी कई

बार विषम होते देखे जाते हैं। जैसे- दूध यदि मीठा है तो भी दही खट्टा ही होता है, इसी प्रकार वर्णों के विकारों की उत्पत्ति के विषय में भी समझा जा सकता है। फिर वर्णों के विकार के रूप में ह्रस्व अथवा दीर्घ 'इ' कार से विषम विकार 'य' कार भी होना कोई आपत्तिजनक नहीं है॥ ४५॥

अगले सूत्र में आचार्य सूत्रकार आशंकावादी शिष्य की शंका का समाधान कर रहे हैं—

(१७६) न विकारधर्मानुपपत्तेः॥ ४६॥

सूत्रार्थ— न = नहीं (आशंकावादी का मत उचित नहीं है), विकारधर्मानुपपत्तेः = वर्णों में विकार धर्म की अनुपपत्ति (अनुपलब्धि-असिद्धि) से।

व्याख्या— द्रव्यों में तो विकार का होना पाया जाता है; किन्तु शब्दों (वर्णों) में विकार नहीं होता; क्योंकि वे गुण हैं। अतः इनमें विकार धर्म की उपलब्धि न होने से 'यकारादि' 'इकारादि' के विकार रूप नहीं हो सकते। मिट्टी का विकार मिट्टी तथा स्वर्ण का विकार स्वर्ण ही हो सकता है। इकार और यकार में इस प्रकार का लक्षण नहीं मिलता, अतः केवल स्वरूप भिन्न होने से उसे विकार नहीं माना जा सकता। शब्द गुण तो है; किन्तु वह द्रव्य की तरह किसी अन्य गुण का आश्रय नहीं हो सकता। विकार से उत्पन्न होने वाले गुण द्रव्य में ही होते हैं। कारण यह है कि द्रव्य में परमाणुओं का संघात होता है, जिससे उस संघात में से कुछ अंश निकालकर तथा उसमें कुछ अन्य मिलाकर एक नया स्वरूप धारण कर लेते हैं, इसी को विकार कहते हैं; परन्तु गुण न तो संयुक्त है और न उसमें परमाणुओं का समुच्चय ही है। इस प्रकार जब गुण में विकार धर्म का होना ही शक्य नहीं तब (गुण होने के कारण) शब्द में विकार किस प्रकार हो सकता है? अस्तु, स्पष्ट है कि वर्ण में विकार नहीं हो सकता (इसमें 'आदेश' का मानना ही उपयुक्त है)॥ ४६॥

अब आचार्य इस सन्दर्भ में एक अन्य हेतु प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१७७) विकारप्राप्तानामपुनरापत्तेः॥ ४७॥

सूत्रार्थ— विकार प्राप्तानाम् = विकार को प्राप्त होने वाले द्रव्यों की, अपुनरावृत्तेः = पुनः आवृत्ति न होने के कारण (वर्णों में विकार नहीं माना जा सकता)।

व्याख्या— लोक में प्रायः देखा जाता है कि जो द्रव्य विकार को प्राप्त हो जाते हैं, वे पुनः अपने मूल स्वरूप में नहीं लौट पाते। जैसे- दूध विकार को प्राप्त हो जाने के बाद दही बन जाता है। इसके पश्चात् पुनः वह दूध नहीं बन सकता; परन्तु वर्णों में देखा जाता है कि 'इकार' के स्थान पर 'यकार' हो जाता है। जैसे- दधि+अत्र = दध्यत्र। इसके पश्चात् पुनः सन्धिविच्छेद कर देने पर उसके दधि+अत्र होने अर्थात् यकार से इकार हो जाने में कोई बाधा नहीं होती। अस्तु वह अपने मूल रूप में लौट आता है। इससे स्पष्ट है कि वर्णों में विकार मानना उचित नहीं है॥४७॥

उपर्युक्त उदाहरण को पर्याप्त न मानकर अब आशंकावादी विकार के पुनः मूल रूप में लौटने का उदाहरण प्रस्तुत कर रहा है—

(१७८) सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः॥ ४८॥

सूत्रार्थ— सुवर्णआदिनाम् = स्वर्ण आदि (के विकारों) के, पुनरापत्तेः = पुनः अपने मूल भाव में प्राप्त हो जाने से, अहेतुः = उपर्युक्त हेतु उचित नहीं है।

व्याख्या— आशंकावादी का विचार है कि शब्द को विकारयुक्त न मानने के लिए जो हेतु ऊपर दिया गया है,वह उचित नहीं है। तात्पर्य यह है कि आचार्य द्वारा जो यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि विकृत द्रव्य विकार को प्राप्त हो जाने पर, पुनः अपने मूल रूप में नहीं लौट सकता और इसके निमित्त जो दूध के दही बन जाने पर, पुनः दूध न बन पाने का उदाहरण दिया है, वह शब्द को विकारयुक्त न मानने के लिए

समीचीन नहीं है। विकार को प्राप्त हो जाने के पश्चात् पुनः अपने मूल रूप में आने वाले भी कई द्रव्य हैं, जैसे— सोना आदि। स्वर्ण के आभूषण बनाने के पश्चात् यदि उसे पुनः उसी रूप में लाना चाहें तो उसे तपाकर पुनः पूर्व रूप किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि वर्णों में भी इकार से यकार हो जाने और पुनः इकार हो जाने से उन्हें विकार युक्त माना जा सकता है॥४८॥

अब आचार्य इसका समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१७९) न तद्विकाराणां सुवर्णभावाव्यतिरेकात्॥ ४९॥

सूत्रार्थ— तद्विकाराणाम् = उस (सुवर्ण) के विकारों का, सुवर्णभावाव्यतिरेकात् = सुवर्ण स्वरूप से भेद न होने के कारण, न = (सुवर्ण का उदाहरण इस सन्दर्भ में) उचित नहीं है।

व्याख्या— सुवर्णरूप द्रव्य से उत्पन्न होने वाले विकाररूप आभूषण मूलतः सुवर्ण ही रहते हैं। उनकी आकृति भले ही बदल जाती है; किन्तु उनके सुवर्णभाव में कोई परिवर्तन नहीं होता। अतः यह उदाहरण शब्द को विकारवान् सिद्ध करने में सक्षम नहीं है। यदि कोई द्रव्य विकृत और भिन्न रूप होकर पुनः उसी रूप में आ जाता तो उसका दृष्टान्त उपयुक्त हो सकता है। जिस प्रकार सुवर्ण के आभूषण में सुवर्ण का धर्म बना रहता है, उसी प्रकार जब इकार से यकार हो जाता है तब उसमें इकार का धर्म शेष नहीं रहता। अतः स्पष्ट है कि सुवर्ण के उदाहरण से वर्णों में विकार होना सिद्ध नहीं होता॥ ४९॥

अब आशंकावादी वर्णों में विकार होने सम्बन्धी पुनः एक आक्षेप करता है—

(१८०) वर्णत्वाऽव्यतिरेकाद्वर्णविकाराणामप्रतिषेधः॥ ५०॥

सूत्रार्थ— वर्णत्याऽव्यतिरेकात् = वर्णत्व में अव्यतिरेक होने से, वर्णविकाराणाम् = वर्णों के विकारों का, अप्रतिषेधः = प्रतिषेध होना सम्भव नहीं है।

व्याख्या— जिस प्रकार सुवर्ण का विकार आभूषणरूप स्वर्ण ही होता है, उसी प्रकार एक वर्ण से बने दूसरे वर्ण में विकार का निषेध नहीं होता अथवा इस तरह भी कहा जा सकता है कि सुवर्ण निर्मित आभूषण में सुवर्ण का धर्म (सुवर्णत्व) बना रहता है, उसी प्रकार 'इ' वर्ण से बने य वर्ण में वर्णत्व (वर्ण का धर्म) बना रहता है। अस्तु, इस सुवर्ण के उदाहरण से वर्ण में विकार का निषेध करना उचित नहीं है॥ ५०॥

अब आचार्य इसका समाधान कर रहे हैं—

(१८१) सामान्यवतो धर्मयोगो न सामान्यस्य॥ ५१॥

सूत्रार्थ— सामान्यवतो धर्मयोगः = समान धर्म का जो आधार है, ऐसे धर्मी में धर्म का योग (अर्थात् सम्बन्ध) होता है, न सामान्यस्य = समान धर्म में नहीं होता।

व्याख्या— यकारादि, इकारादि के विकार रूप नहीं हैं। इसकी सिद्धि के लिए सुवर्ण का उदाहरण ही उपयुक्त है। कारण यह है कि समान धर्म के आधाररूप धर्मी में ही धर्म का योग होता है, समान धर्म में नहीं होता। सुवर्ण से निर्मित आभूषण, सुवर्णरूप धर्मी (अवयवी) के धर्म (अवयव) हैं, न कि सुवर्णत्व के। क्योंकि सुवर्णत्व तो सुवर्ण और आभूषण दोनों में समान है। अतः आभूषणादि सुवर्ण के विकार नहीं हैं। इसी प्रकार यकार और इकार दोनों ही वर्ण हैं-समान धर्मी हैं, स्वतन्त्र सत्ता वाले हैं, इनमें से कोई एक दूसरे पर आश्रित नहीं है अथवा कोई किसी का कारण और विकार नहीं है। वर्णत्व रूप धर्म दोनों में समान है, अतः आशंकावादी का उपर्युक्त मत असंगत है॥५१॥

वर्णों में विकार नहीं है, इस तथ्य की पुष्टि हेतु सूत्रकार आचार्य एक अन्य हेतु प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१८२) नित्यत्वेऽविकारादनित्यत्वे चानवस्थानात्॥ ५२॥

सूत्रार्थ— नित्यत्वे = वर्णों के नित्य होने पर, अविकारात् = अविकार होने से, च = तथा, अनित्यत्वे = अनित्य होने पर, अनवस्थानात् = स्थिर न रहने से (वर्णों में विकार होना सम्भव नहीं)।

व्याख्या— यदि वर्ण की नित्यता स्वीकार करते हैं, तो यह भी मानना पड़ेगा कि नित्य होने के कारण वर्णों में विकार नहीं हो सकता और यदि वर्णों में विकार है, तो वे नित्य नहीं हो सकते। यदि यह माना जाय कि वर्ण अनित्य है, तो द्वितीय वर्ण के उच्चारण के साथ ही प्रथम वर्ण विनष्ट हो जाता है, तब वह (प्रथम वर्ण) अनवस्थित हो जाता है और अनवस्थित (स्थितिहीन) होने से उसमें विकार होना सम्भव नहीं है। अस्तु, वर्ण को नित्य या अनित्य किसी भी स्थिति में मानने से, उसमें विकार होने की सिद्धि नहीं होती। अत: आशंकावादी द्वारा दी गई मान्यता असंगत है ॥५२॥

अब आशंकावादी दो सूत्रों द्वारा इस तथ्य का खण्डन कर रहा है—

(१८३) नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पाच्च वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ॥ ५३ ॥

सूत्रार्थ— नित्यानाम् = नित्यों (नित्य पदार्थों) के, अतीन्द्रियत्वात् = अतीन्द्रिय होने से, च = और, तद्धर्म विकल्पात् = उनमें (नित्य पदार्थों में) धर्म के विकल्प वैभिन्य से, वर्णविकाराणाम् = वर्णों में विकार होने का, अप्रतिषेधः = प्रतिषेध होना सङ्गत नहीं है।

व्याख्या— नित्य पदार्थ भी दो प्रकार के होते हैं। जिनमें कुछ के धर्म इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होते हैं और कुछ के इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होते। इनमें आकाश, काल आदि नित्य पदार्थ इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है तथा मनुष्यत्व (मनुष्य जाति), अश्वत्व (अश्व जाति), गोत्व (गो की जाति) आदि पदार्थ नित्य तो हैं; पर इन्द्रिय ग्राह्य हैं। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि नित्य पदार्थों में भी वैभिन्य है। इसी प्रकार कोई नित्य पदार्थ विकारी है और कोई नित्य पदार्थ अविकारी; किन्तु वर्ण नित्य होते हुए भी विकार युक्त हैं। यदि कोई यह आशंका करे कि नित्य में विकार और अविकार ये दोनों गुण एक साथ कैसे रह सकते हैं, तो इसे इस तरह समझा जा सकता है कि जब नित्य पदार्थ इन्द्रिय ग्राह्य और इन्द्रिय अग्राह्य दोनों प्रकार के हो सकते हैं, तब वे विकारवान् और अविकारवान् क्यों नहीं हो सकते ॥५३॥

अब वर्ण विकारवादी की भावना को अनित्यत्व के पक्ष में द्वितीय सूत्र में सूत्रकार प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१८४) अनवस्थायित्वे च वर्णोपलब्धिवत्तद्विकारोपपत्तिः ॥ ५४ ॥

सूत्रार्थ— अनवस्थायित्वे = शब्द के अनवस्थित (अनित्य) होने पर, च = और, वर्णोपलब्धिवत् = वर्णों की उपलब्धि होने के समान, तद्विकारोपपत्तिः = उनमें (वर्णों में) विकार होने की उपपत्ति होती है।

व्याख्या— इससे पूर्व के सूत्र में विकारवादी ने नित्य पदार्थों में विकार के अस्तित्व का तर्क दिया था, अब वह अनित्य पदार्थ में विकार होने व उसके समान वर्ण में विकार होने का प्रतिपादन कर रहा है। उसका कहना है कि उच्चरित किये गये वर्ण स्थाई नहीं होते, वे तो द्विक्षणावस्थाई हैं। एक-दो क्षण रहने के बाद वे नष्ट हो जाते हैं। जिस अल्प समय के लिए वे विद्यमान रहते हैं, उसी समय उनका ग्रहण-श्रवण होता है। जब कुछ समय के लिए उनकी स्थिति है, तो उनमें विकार होना भी सम्भव है; क्योंकि जो विद्यमान होता है,उसी में विकार होता है। अस्तु,वर्णों की उपलब्धि के समान उनमें विकार होने की भी सिद्धि होती है ॥५४॥

अब सूत्रकार आचार्य वादी द्वारा दिये गये दोनों तर्कों का खण्डन करके समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१८५) विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥ ५५ ॥

सूत्रार्थ— विकार धर्मित्वे = विकार धर्मी होने से, नित्यत्वाभावात् = नित्यत्व के अभाव से, च =

तथा, कालान्तरे = कालान्तर में (अन्यकाल में), विकारोपपत्तेः = विकार की सिद्धि होने से, अप्रतिषेधः = प्रतिषेधं असंगत है।

व्याख्या— यदि किसी पदार्थ को विकारी मानते हैं, तब उसे नित्य नहीं मान सकते; क्योंकि एक ही प्रकार के पदार्थ (नित्य अथवा अनित्य) में धर्म की भिन्नता (धर्म वैभिन्य) नहीं हो सकती। जैसे— विगत सूत्र की व्याख्या में एक नित्य पदार्थ को विकारवान् और एक को अविकारवान् कहा गया है। दूसरी बात यह है कि अन्यकाल (कालान्तर) में किसी भी नित्य पदार्थ में विकार का आना भी असंगत है। उदाहरणस्वरूप जब 'इकार' का उच्चारण होता है, तब 'यकार' सुनाई नहीं पड़ता और जब 'यकार' उच्चारण होता है, तब 'इकार' श्रवण नहीं होता। इसी प्रकार दधि+अत्र में 'ध' में 'इकार' का उच्चारण होता है, तब यकार सुनाई नहीं पड़ता और जब संधि करके 'दध्यत्र' उच्चारण किया जाता है, तब 'यकार' सुनाई पड़ता है, 'इकार' नहीं। जब एक वर्ण उच्चरित होने के बाद वहाँ रहता ही नहीं, तब उसका विकार अगला वर्ण कैसे हो सकता है। दधि उच्चारण में 'इ' विनष्ट हो गया, तब 'य' किसका विकार होगा। कारण यह है कि तब 'य' का तथाकथित कारण रूप 'इ' तो नष्ट हो ही गया, फिर कारण भाव में कार्य किस प्रकार निष्पन्न माना जाये। अतः वर्ण को अनित्य (नश्वर) मानने पर भी उसमें विकार की सिद्धि नहीं होती॥५५॥

अब आचार्य वर्ण विकार की असिद्धि हेतु एक अन्य तर्क दे रहे हैं —

(१८६) प्रकृत्यनियमाद्वर्ण विकाराणाम्॥५६॥

सूत्रार्थ— वर्णविकाराणाम् = वर्ण विकारों की, प्रकृत्यनियमात् = प्रकृति का नियम न होने के कारण (वर्णों में विकारों की मान्यता नहीं हो सकती)।

व्याख्या— लोक में देखा जाता है कि प्रकृति और उसके विकार निश्चित होते हैं, जैसे- दूध और दही क्रमशः प्रकृति और विकार हैं। इसी प्रकार मिट्टी और घट क्रमशः प्रकृति और विकार हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि दही प्रकृति और दूध उसका विकार हो जाय तथा घट प्रकृति और मिट्टी उसका विकार हो जाय; परन्तु वर्णों में ऐसा देखा जाता है कि उनमें प्रकृति-विकृति का कोई निश्चित नियम नहीं है। जैसे कभी 'इ' के स्थान पर 'य' हो जाता है और कभी 'य' के स्थान पर 'इ' हो जाता है। यथा- दधि + अत्र में 'इ' के स्थान पर 'य' होकर 'दध्यत्र' बन जाता है और 'व्यध' धातु के जब रूप चलते हैं, तब विध्यति बन जाता है। यहाँ व्यध के 'य' का 'इ' बनकर वि हो गया है। यदि यह नियम होता कि 'इ' प्रकृति और 'य' उसकी विकृति है, तब फिर कभी ऐसा न हो पाता कि 'य' का 'इ' हो गया; पर वर्णों में ऐसा निश्चित नियम न होने से स्पष्ट है कि उनमें विकार नहीं होता॥५६॥

अब विकारवादी छल के आश्रय से उपर्युक्त हेतु का उत्तर अगले सूत्र में दे रहा है—

(१८७) अनियमे नियमान्नानियमः॥५७॥

सूत्रार्थ— अनियमे = अनियम में, नियमात् = नियम होने से, अनियमः = अनियम, न = नहीं।

व्याख्या— पूर्व सूत्र में जो यह कहा गया कि वर्ण विकारों में प्रकृति का अनियम है अर्थात् नियम नहीं है, तो यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि उसमें भी एक सीमा, एक व्यवस्था है। अतः उसे भी नियम ही माना जायेगा, तब फिर नियम को अनियम क्यों कहा गया? अतः नियम होते हुए अनियम नहीं कहना चाहिए॥५७॥

अगले सूत्र में आचार्य वादी के इस तर्क का खण्डन कर रहे हैं—

(१८८) नियमानियमविरोधादनियमे नियमाच्चाप्रतिषेधः॥५८॥

सूत्रार्थ— नियमानियमविरोधात् = नियम और अनियम के परस्पर विरोधी होने से, अनियमे =

अनियम में, नियमात् = (अनियम में) नियम होने से, च = और, अप्रतिषेध: = प्रतिषेध उचित नहीं है।

व्याख्या— नियम एवं अनियम परस्पर एक दूसरे के विरोधी हैं। परस्पर विरोधी तत्त्व एक साथ नहीं रह सकते। अस्तु, नियम में अनियम कहना पूर्णत: अनुचित है। इसलिए वर्णों में विकार की मान्यता असंगत है। अब यदि कोई कहे कि वर्णों में होने वाले परिवर्तन क्या हैं ? क्योंकि जब वर्णों में विकार नहीं है, तो उनमें परिवर्तन क्यों होते हैं ? इसी बात को सूत्रकार आचार्य अगले सूत्र में स्पष्ट कर रहे हैं ॥५८॥

(१८९) गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यस्तु विकारोपपत्तेर्वर्णविकारा: ॥५९॥

सूत्रार्थ— तु = तो, गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रास वृद्धिलेशश्लेषेभ्य: = गुणान्तर (अन्यगुण की प्राप्ति), उपमर्द (एक गुण के विनाश के साथ दूसरे गुण का उत्पन्न होना), ह्रास (दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व प्रयुक्त होना), वृद्धि (ह्रस्व वर्ण का दीर्घ हो जाना), लेश (पद का लघु-छोटा हो जाना), श्लेष (पद में किसी वर्ण के अधिक आने से पद का बढ़ जाना) आदि से, विकारोपपत्ते: = विकारों की सिद्धि होने से, वर्ण विकारा: = वर्णों में विकार (परिवर्तन) होते हैं (इस प्रकार समझना चाहिए)।

व्याख्या— प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने (वादी द्वारा बारम्बार वर्णों में विकार कहे जाने के कारण) वर्णों में परिवर्तन (विकार) के स्वरूप को स्पष्ट किया है कि वस्तुत: वर्णों में विकार परिणाम मूलक (कारण कार्य भावपरक) नहीं होता, वह तो वर्ण का परिवर्तन मात्र है, जो गुणान्तर उपमर्द, ह्रास, वृद्धि, लेश और श्लेष के कारण होता है। इनमें एक गुण के हट जाने और उसके स्थान पर अन्य गुण के आ जाने को गुणान्तरापत्ति कहते हैं। जैसे- उदात्त के स्थान पर अनुदात्त या स्वरित का आ जाना आदि। इसी प्रकार एक वर्ण के विनष्ट हो जाने और उसके स्थान पर दूसरे वर्ण का उपजन (प्रादुर्भाव) हो जाने को उपमर्द कहते हैं। जैसे दधि+अत्र में 'इ' का लोप उपमर्द होकर 'य' का उपजन हो जाता है। वर्ण का अपनी मात्रा से कम हो जाना ह्रास कहलाता है। तात्पर्य यह है दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व वर्ण प्रयुक्त हो जाता है। जैसे- चित्रगो का चित्रगु: पद प्रयुक्त होता है। ह्रस्व वर्ण का दीर्घ अथवा इन दोनों के स्थान पर प्लुत हो जाना वृद्धि कहलाता है। जैसे- देवदत्त का देवदत्त ३ आदि। पद के लघु (छोटे) हो जाने को लेश कहते हैं। इसमें वर्ण का लोप हो जाने से उसके प्रयोग में न आने से पद छोटा हो जाता है। जैसे अस् धातु के रूप में द्विवचन, बहुवचन में स्त:, सन्ति हो जाते हैं। इनमें प्रारम्भ का अ लुप्त हो जाने से पद छोटे हो गये हैं। जब पद में कोई वर्ण अधिक आ जाता है और पद बढ़ जाता है, तब इसे श्लेष कहते हैं। जैसे- स्कुद में नुम् का आगम हो जाने से स्कुन्द पद बन जाता है। इस प्रकार पदों में जो परिवर्तन या विकार होते हैं, वे गुणान्तरापत्ति, उपमर्द, ह्रास, वृद्धि, लेश और श्लेष आदि के कारण होते हैं, न कि कारण-कार्य रूप में प्रकृति विकार के कारण ॥५९॥

अब आचार्य पद का स्वरूप स्पष्ट करेंगे; क्योंकि कोई अर्थ सम्पूर्ण पद का होता है, किसी वर्ण मात्र का नहीं।

(१९०) ते विभक्त्यन्ता: पदम् ॥६०॥

सूत्रार्थ— ते = वे (वर्ण), विभक्त्यन्ता: = अन्त में विभक्ति लग जाने पर, पदम् = पद कहलाते हैं।

व्याख्या— जब वर्णों के अंत में विभक्ति लग जाती है, तब उनकी संज्ञा पद कहलाती है। विभक्ति नामक प्रत्यय दो प्रकार के हैं। एक वे जो नाम के साथ लगते हैं, दूसरे वे जो धातु (क्रिया) के साथ लगते हैं। नाम के साथ लगने वाले प्रत्यय (विभक्ति) को 'नामिक' तथा धातु के साथ लगने वाले प्रत्यय को 'आख्यातिक' कहते हैं। नाम (संज्ञा) के साथ सु, औ, जस् आदि विभक्ति प्रत्यय तथा क्रिया (धातु) के साथ - तिप्, तस्, झि आदि विभक्ति प्रत्यय लगते हैं। उदाहरणार्थ- देवदत्त पकाता है, में देवदत्त में नामिक प्रत्यय और पचति में आख्यातिक प्रत्यय लगे हैं। इस प्रकार देवदत्त और पचति ये दोनों पद संज्ञक हैं ॥६०॥

पद का निरूपण किया जा चुका। चूँकि प्रत्येक पद का कुछ अर्थ होता है। अतः अब पद का बोध कराने वाले अर्थ (पदार्थ) का निरूपण करेंगे—

(१९१) तदर्थेव्यक्त्याकृतिजाति सन्निधावुपचारात् संशयः ॥६१॥

सूत्रार्थ— तदर्थे = उस पद के अर्थ में, व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधौ = व्यक्ति, आकृति एवं जाति (इन तीनों) के सान्निध्य अर्थात् अनिवार्य उपस्थिति में, उपचारात् = उपचार (पद का प्रयोग-व्यवहार) होने से, संशयः = संशय होता है (कि प्रयुक्त पद में उपर्युक्त में से कौन सा अर्थ समझा जाय)।

व्याख्या— पदार्थ (पद के अर्थ) में तीन चीजें एक साथ विदित होती हैं। जिससे उनके उपचार से शंका उत्पन्न होती है। भावार्थ यह है कि चूँकि पदार्थ प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण किया जाता है। इसलिए उससे तीन बातें प्रकट होती हैं। १.व्यक्ति, २. आकृति ३. जाति। इसमें यह शंका उत्पन्न होती है कि उस पद का अर्थ इन तीनों में से किसी एक को माना जाय अथवा इन तीनों को सम्मिलित रूप से। उदाहरणार्थ जब हम किसी गाय को देखते हैं, तो उसके शरीर (व्यक्ति) रूप (आकृति) और जाति (गो जाति) का बोध होता है। अब इसमें यह संदेह उत्पन्न होता है कि एक शरीर (व्यक्ति) को गो कहें अथवा उसकी आकृति (रूप) को गऊ कहें अथवा उसकी जाति (गोत्व) को गऊ कहें या तीनों के समुच्चय को गऊ कहें। यह स्पष्ट नहीं हो पाता ॥६१॥

अगले सूत्र में आचार्य इसी बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि किसी शब्द से (उस पद का) क्या और कितना अर्थ लिया जाये—

(१९२) याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसङ्ख्यावृद्ध्युपचय वर्णसमासानुबन्धानांव्यक्ता-वुपचाराद्व्यक्तिः ॥६२॥

सूत्रार्थ— याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्धिअपचयवर्णसमासानुबन्धानाम् = या शब्द, समूह, त्याग, परिग्रह, संख्या, वृद्धि, अपचय, वर्ण, समास और अनुबन्ध का; व्यक्तौ = व्यक्ति में, उपचारात् = उपचार-व्यवहार होने से, व्यक्तिः = पद का अर्थ व्यक्ति होना सिद्ध होता है। (जाति और आकृति नहीं)।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या में आचार्य ने 'गो' के उदाहरण द्वारा पदार्थ को समझाने का प्रयत्न किया था। प्रस्तुत सूत्र या शब्द से प्रारम्भ होने से प्रतीत होता है कि या शब्द गो पद के लिए ही है, इसीलिए उसमें गो पद को सिद्ध करने के लिए विभिन्न विशेषताएँ (पहचान) बताई गई हैं। इस सूत्र में आचार्य गो पद का अर्थ व्यक्ति सिद्ध करना चाह रहे हैं, जाति और आकृति नहीं। इसे शब्दशः क्रमशः इस प्रकार समझा जा सकता है। **या शब्द—** इस शब्द का प्रयोग गो पद के साथ मानना चाहिए। जैसे या गौस्तिष्ठति या गौर्गच्छति आदि। चलना या बैठना व्यक्ति रूप (जीवन्त) गौ के लिए ही सम्भव है न कि आकृति या जाति रूप गौ के लिए। **समूह—** किसी झुण्ड को समूह कहते हैं। गौओं का झुण्ड कहने से व्यक्ति गौओं का ही बोध होता है, जाति आदि का नहीं। **त्याग—** किसी को छोड़ देने को त्याग कहते हैं। वैद्य को गाय देता है- (वैद्याय गां ददाति) में व्यक्ति गो के लिए ही संकेत है, जाति आदि के लिए नहीं। **परिग्रह—** परिग्रह का अर्थ ग्रहण करना है। किसी वस्तु पर अपना अधिकार प्रकट करना भी परिग्रह है। जब कोई कहता है, चैत्रस्य गौः (अर्थात् यह गाय चैत्र की है) तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि द्रव्य(व्यक्ति) रूप गौ पर चैत्र का अधिकार प्रकट किया जा रहा है,न कि जाति रूप गाय पर। **संख्या—** गणना करने पर संख्या का बोध होता है। जब कहा जाता है २० गौएँ, २५ गौएँ तब व्यक्ति रूप गाय का ही बोध होता है, जाति रूप तो गो मात्र में समान है। अतः उसकी गणना संभव नहीं। **वृद्धि—** बढ़ने को वृद्धि कहते हैं। जब कहा जाता है गोवर्धन, तब व्यक्ति रूप गाय का बढ़ना ही अभिप्रेत होता है। **जाति—** आकृति आदि का बढ़ना संभव नहीं। **अपचय—** ह्रास को अपचय कहते हैं। द्रव्य (व्यक्ति) रूप गो ही अंग-अवयवों का ह्रास अपचय संभव है,

जाति आदि में नहीं। **वर्ण—** वर्ण रूप-रंग को कहते हैं। जैसे-शुक्ला गौ, कपिला गौ आदि विशेषण द्रव्यात्मक, शरीर के ही सम्भव हैं। अत: गौ पद का अर्थ व्यक्ति रूप से ही लेना उपयुक्त है। **समास—** दो पदों का योग समास कहलाता है। गोहितम्, गोसुखम् इस समस्त पद से गोदेह के लिए हितकर अथवा सुखकर साधन बताया जाता है। यह कथन किसी गो जाति, आकृति के लिए संभव नहीं। **अनुबन्ध—** समान जातीय प्रजनन को अनुबन्ध कहते हैं। समान जातीय सन्तान उत्पन्न करना भी द्रव्यात्मक गो के लिए ही सम्भव है, न कि जाति आकृति आदि के लिए। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गो पद का अर्थ व्यक्ति रूप द्रव्य रूप गो ही है न कि जाति, आकृति आदि॥६२॥

अब सूत्रकार उपर्युक्त कथन को दोष पूर्ण मानकर उसका प्रतिषेध कर वस्तु स्थिति से अवगत करा रहे हैं कि पदार्थ में जाति का होना भी आवश्यक है—

(१९३) न तदनवस्थानात्॥ ६३॥

सूत्रार्थ— तदनवस्थानात् = उस (व्यक्ति) के अनवस्थान अथवा अनैकान्तिक दोष से, न = उक्त अर्थ (पद का अर्थ व्यक्ति) उचित नहीं है।

व्याख्या— विगत सूत्र में पद का अर्थ व्यक्ति बताया गया है, जो अवस्था (अनैकान्तिक) दोष के कारण संगत नहीं है। कारण यह है कि जाति और आकृति को छोड़कर व्यक्ति का कोई अस्तित्व सम्भव नहीं है। जब यह कहा जाता है कि मनुष्य जाति है, तब मनुष्यत्व और उसकी आकृति सहित ही व्यक्ति का ग्रहण होता है। यदि मनुष्य कहने में मनुष्य की आकृति और मनुष्यत्व की विद्यमानता मानी जाय, तब मनुष्य का अस्तित्व रह ही नहीं सकता। इसी प्रकार गो के विषय में है। गो-पद का तात्पर्य गोत्व और उसकी आकृति भी है। इससे स्पष्ट है कि पदार्थ (पद का अर्थ) जाति है, न कि व्यक्ति॥६३॥

अब प्रश्न उठता है कि यदि पद का अर्थ जाति है, तो फिर 'या शब्द' आदि का व्यवहार व्यक्ति के लिए क्यों किया जाता है। इसका उत्तर देते हुए आचार्य अगले सूत्र में अनेक उदाहरण देते हुए उसे गौण बता रहे हैं—

(१९४) सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्च-कटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचार:॥ ६४॥

सूत्रार्थ— सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनअधिपत्येभ्य: = सहचरण (सहचारी होना), स्थान, तादर्थ्य, वृत्त, (व्यवहार), योग (सम्बद्ध होना), साधन (सिद्ध किये रखना), आधिपत्य आधिपतित्व दर्शाना इन सभी निमित्तों से, ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्न पुरुषेषु अतद्भावेऽपि तदुपचार: = ब्राह्मण, मञ्च, कट (चटाई) राजा, सक्तु (सत्तू), चन्दन, गङ्गा, शाटक (रेशमी वस्त्र), अन्न, पुरुष, इन सभी में वैसा अर्थ न होने पर भी, वैसा व्यवहार (शब्द का प्रयोग) किया जाता है।

व्याख्या— कई बार ऐसा होता है कि किसी विशेष कारणवश जो अर्थ जिस शब्द का वाच्य नहीं है, उसके लिए भी उस पद-शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। उपर्युक्त सूत्र के आधे भाग में सहचरण से आधिपत्येभ्य: तक विभिन्न निमित्तों का वर्णन किया गया है और आधे भाग में ब्राह्मण से पुरुषेषु तक विभिन्न अर्थ निर्दिष्ट हैं, जो विशिष्ट निमित्त के कारण व्यवहार में ऐसे पदों के द्वारा कथित हैं, जो उस अर्थ के वाचक नहीं हैं। इनका क्रमश: वर्णन अधोलिखित है-

सहचरण- किसी के साथ में आवश्यक रूप से रहने को सहचरण कहते हैं। उदाहरणार्थ कोई ब्राह्मण नियमित रूप से कोई लाठी अपने साथ रखता है, तो कभी सहज क्रम में उस ब्राह्मण के सन्दर्भ में कह दिया जाता है 'यष्टिकां भोजय' अर्थात् लाठी को भोजन करा दो। इस उदाहरण में लाठी ब्राह्मण के सहचरण के

कारण उस ब्राह्मण का बोध कराती है। वस्तुतः यष्टिका (लाठी) शब्द का वाच्यार्थ ब्राह्मण नहीं है तथापि सहचरण के कारण वह ब्राह्मण अर्थ में प्रयुक्त हो गया है। ऐसे प्रयोग को गौण प्रयोग कहते हैं। ठीक इसी प्रकार गो पद के विषय में समझा जा सकता है। गो पद का मुख्य वाच्यार्थ मात्र व्यक्ति नहीं होता, तो भी गौण रूप में उसका प्रयोग हो जाता है, वस्तुतः तो उसका अभिप्राय गो जाति से ही होता है।

स्थान- स्थान का अभिप्राय किसी जगह विशेष से है। सूत्र में 'स्थान' के अनुक्रम में 'मञ्च' शब्द आया है, मंच का अर्थ मचान है, जहाँ बैठकर मनुष्य खेतों की फसल की रखवाली किया करते हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रख किसी ने कहा कि मचान चिल्ला रहे हैं (मञ्चाः क्रोशन्ति)। यहाँ मंच शब्द का प्रयोग उस पर बैठे मनुष्यों के लिए किया गया है। वस्तुतः मंच शब्द का वाच्यार्थ मनुष्य नहीं है, तो भी उनसे सम्बन्धित स्थान को ही मनुष्य कह दिया गया है।

तादर्थ्य- किसी सम्बन्धित पदार्थ के निमित्त प्रयुक्त हुआ कोई पद तदर्थ प्रयोग कहलाता है। इसकी भावस्थिति को तादर्थ्य कहते हैं। सूत्र में तादर्थ्य पद के अनुक्रम में 'कट' शब्द है। 'कट' का अर्थ चटाई है। 'कट' से सम्बन्धित कारण-द्रव्य वीरण (पटेरे) हैं। चटाई निर्माण के लिए कारण रूप में विद्यमान वीरण (पटेरे) को व्यवस्थित करते किसी को देखकर कोई कहे कि 'कटं करोति' (चटाई बनाता है), तो यहाँ पटेरे के लिए कट शब्द का प्रयोग तदर्थ हुआ है, अतः यह तादर्थ्य प्रयोग कहलाएगा। वीरण का अर्थ चटाई न होने पर भी इस शब्द का प्रयोग चटाई के लिए हुआ है।

वृत्त- आचरण को वृत्त कहते हैं। सूत्र में वृत्त के अनुक्रम में राज्य शब्द आया है, जिसका अर्थ है- राजा। जब कोई राजा या प्रशासक यम की तरह कठोर या क्रूर व्यवहार करता है। तब उसके लिए यम शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है, यमो राजा अर्थात् यह राजा नहीं यमराज है। इसी प्रकार किसी दानशील और उदार को कुबेर कह दिया जाता है। इन उदाहरणों में वृत्त (आचरण) के कारण उस शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिसका अर्थ वस्तुतः वैसा नहीं होता।

मान- किसी वस्तु के परिमाण या नाप-तौल को मान कहते हैं। सूत्र में मान के अनुक्रम में 'सक्तु' का उल्लेख हुआ है। तात्पर्य यह है कि कोई ढाई सेर के बाँट से तुले सत्तू को ढाई सेर सत्तू कह देता है, जबकि सत्तू स्वयं कोई तौल नहीं है, पर उसके अर्थ में प्रयोग हो जाता है; क्योंकि वह प्रायः तौला जाता है। अस्तु, यह गौण प्रयोग हुआ।

धारण- किसी के द्वारा कोई वस्तु अपने में धारित किये जाने (रखे जाने) को धारण कहते हैं। यथा-तराजू में रखे हुए चन्दन को 'तुला चन्दन' कह दिया जाता है। वस्तुतः चन्दन का तुला से कोई सम्बन्ध नहीं है; पर उसमें रखे जाने के कारण तुला का चन्दन के विशेष अर्थ में प्रयोग कर दिया गया है। सूत्र धारण के अनुक्रम में चन्दन का प्रयोग हुआ है।

सामीप्य- किसी के समीप (पास) में स्थित होने को सामीप्य कहते हैं। सूत्र में सामीप्य के अनुक्रम में गंगा का उल्लेख हुआ है। कई बार कहा जाता है कि गंगायां घोषः अर्थात् गंगा में घोषी (यादव) जाति के लोग रहते हैं। इसका अभिप्राय यह होता है कि गंगा के किनारे घोषी रहते हैं, न कि गंगा के अंदर धारा में। किन्तु सामीप्य के कारण ऐसा कहा जाता है, यह भी गौण प्रयोग है।

योग- किसी से सम्बद्ध होने को योग कहते हैं। हरे रंग से सम्बद्ध कपड़े को हरित वस्त्र कह दिया जाता है। यह भी योग होने के कारण गौण प्रयोग है। सूत्र में योग के अनुक्रम में शाटक प्रयुक्त है, जिसका अर्थ है रेशमी वस्त्र या साड़ी। जिसे योग के सन्दर्भ में कह दिया जाता है- काली, हरी आदि।

साधन- किसी को सिद्ध किये रखने, बनाये रखने को साधन कहते हैं। सूत्र में साधन के अनुक्रम में अन्न

शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिसका अभिप्राय है कि अन्न प्राणों को बनाये रखने का साधन है, अतः साधन होने के कारण अन्न को ही प्राण कह दिया जाता है। 'अन्नं वै प्राणाः' आदि।

आधिपत्य- किसी पर अधिकार, शासन आदि होने को आधिपत्य कहते हैं। सूत्र में आधिपत्य शब्द के अनुक्रम में पुरुष पद का उल्लेख हुआ है, इसका उदाहरण किसी परिवार -खानदान, कुल के मालिक, प्रशासक, संचालक के रूप में दिया जा सकता है। जैसे- रामःकुलम् (रामस्य कुलम्)। राम के कुल को रामकुल कहा जाता है। वैसे राम नाम का कोई कुल नहीं है। इस प्रकार आधिपत्य के कारण किसी पुरुष के नाम का प्रयोग जिस पर आधिपत्य है, उसके साथ कर दिया जाता है। यह भी गौण प्रयोग है। इस प्रकार उपर्युक्त तरह के प्रयोग गौण रूप में होते हैं, न कि मुख्य अभिधावृत्ति के अनुसार। पूर्व सूत्र में 'या शब्द' आदि पर आधारित उदाहरण स्वरूप गो पद का व्यक्ति रूप में जो प्रयोग उपचार हुआ है, उसे गौण प्रयोग ही समझना चाहिए। सारांश यह है कि व्यक्ति के साथ जाति का निश्चित ही सहचरत्व है, बिना उसके व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं। अस्तु, गो पद का अर्थ व्यक्ति मात्र न होकर जाति भी है उसका मात्र व्यक्ति अर्थ समझना उचित नहीं है ॥६४॥

यहाँ पर जिज्ञासु कहता है कि यदि 'पद' का अर्थ 'व्यक्ति' नहीं है, तो 'आकृति' मानना चाहिए। उसकी इसी भावना को आचार्य अगले सूत्र में सूत्रित कर रहे हैं—

(१९५) आकृतिस्तदपेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः ॥ ६५ ॥

सूत्रार्थ— सत्त्व व्यवस्थानसिद्धेः = प्राणियों में व्यवस्था के सिद्ध होने से (जीवों में भेद होने का ज्ञान), तदपेक्षत्वात् = उस (आकृति) की अपेक्षा से होने के कारण, आकृतिः = आकृति को ही पदार्थ मानना चाहिए।

व्याख्या— इस सूत्र में सूत्रकार जिज्ञासु की भावना को सूत्रित कर रहे हैं कि पदार्थ को आकृति ही मानना चाहिए। कारण यह है कि जब तक आकृति का ज्ञान नहीं होगा, तक तक जीवों का भेद कि यह गाय है, यह अश्व है, यह सिंह है, यह महिष (भैंस) है, स्पष्ट ही नहीं होगा। अतः यही मानना उचित है कि आकृति ही पदार्थ है, जाति अथवा व्यक्ति नहीं। आकृति और व्यक्ति में मूलभूत अन्तर यह है कि आकृति गुण है और व्यक्ति द्रव्य है। आकृति का समान होना ही जाति का लक्षण है। कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति (जीव) की एक आकृति (देह संरचना) होती है, उसी के माध्यम से उसकी जाति की पहचान होती है। जैसे-गऊ में गऊपन का बोध होता है। यदि आकृति न हो, तो जाति को पहचानना सम्भव नहीं हो सकता। अतः आकृति को ही पदार्थ मानना उचित है ॥६५॥

अब प्रश्न यह है कि जिसकी कोई आकृति है, उसकी कोई न कोई जाति अवश्य होती है। अतः जिज्ञासु कहता है कि जाति को ही पदार्थ क्यों न मान लिया जाय। जिज्ञासु की इसी भावना को आचार्य सूत्रकार सूत्रित कर रहे हैं—

(१९६) व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसङ्गात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवके जातिः ॥ ६६ ॥

सूत्रार्थ— व्यक्त्याकृति युक्ते = व्यक्ति एवं आकृति से युक्त होते हुए, अपि = भी, अप्रसंगात् = प्रसंग न होने से, मृद्गवके = मिट्टी की बनी गाय में, प्रोक्षणादीनाम् = प्रोक्षण (स्नान) आदि का, जातिः = जाति ही पदार्थ है।

व्याख्या— इस सूत्र में जिज्ञासु कहता है कि गाय तो मिट्टी की बनी भी होती है। उसमें आकृति एवं व्यक्ति प्राणी (प्राणवान्) गाय के समान विद्यमान होते हैं; किन्तु मिट्टी की गाय के साथ ऐसा व्यवहार नहीं होता कि गाय को स्नान कराओ (गां प्रोक्षय), गाय को लाओ (गामानय), गाय को दुहता है (गांदोग्धि) आदि। जबकि वहाँ गाय की आकृति एवं व्यक्ति विद्यमान हैं, अस्तु जाति (गाय की, जाति के जो लक्षण होते हैं, वे)

विद्यमान न होने से ऐसा व्यवहार होता है, अतः वास्तविक गाय के लिए गाय का पदार्थ जाति मानना अधिक युक्तिसंगत है। अब यदि यह आशंका करें कि आकृति और व्यक्ति से जाति का सम्बन्ध न माना जाये, तब गाय और बकरी में भेद करना कठिन हो जायेगा। तब इस शंका का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि आकृति एवं व्यक्ति तो हर एक जीव में होते ही हैं, इसलिए आकृति एवं व्यक्ति के द्वारा तो जाति का पता नहीं चल सकता। यह कार्य तो उसके लक्षण अथवा धर्म से हो सकता है। जिस किसी पदार्थ में जिस जाति के लक्षण दिखें, उसकी वही जाति मानी जायेगी ॥६६॥

अब आकृतिवादी कहता है कि आकृति और व्यक्ति के बिना जाति का ज्ञान नहीं हो सकता, अतः आकृति को ही पदार्थ क्यों न मान लिया जाये—

(१९७) नाकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः॥ ६७॥

सूत्रार्थ— आकृति व्यक्त्यपेक्षत्वात् = आकृति और व्यक्ति की अपेक्षा से, जात्यभिव्यक्तेः = जाति की अभिव्यक्ति होने से, न = नहीं है (केवल जाति ही पदार्थ)।

व्याख्या— आकृति और व्यक्ति की अपेक्षा से ही जाति का ज्ञान होता है। कारण यह है कि जाति का अभिव्यक्त होना आकृति और व्यक्ति पर निर्भर है। जब हमें किसी गाय का दर्शन होता है। तब प्रत्यक्षतः तो उसका शरीर और आकृति ही दिखाई पड़ती है। उसका गोत्व नहीं दीखता। गाय को देखकर यह कोई नहीं कहता कि यह गोत्व (गऊपन) है। अतः स्पष्ट है कि केवल जाति कोई पदार्थ नहीं है ॥६७॥

अब प्रश्न यह उठता है कि आकृति को पदार्थ माना जाय अथवा व्यक्ति को। कारण यह है कि आकृति का होना तभी सम्भव है, जब व्यक्ति हो और व्यक्ति की कोई न कोई आकृति होनी आवश्यक है। यदि व्यक्ति को पदार्थ मानें, तो आकृति उससे पृथक् कैसे रह सकेगी? अतः हर स्थिति में आकृति ही प्रत्यक्षतः दृष्टिगोचर होगी। अस्तु, आकृति को ही पदार्थ माना जाना तर्क संगत प्रतीत होता है। जिज्ञासु के इस तर्क का समाधान बताते हुए अब आचार्य अगले सूत्र में व्यक्ति, आकृति अौर जाति तीनों को ही पदार्थ बता रहे हैं—

(१९८) व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः॥ ६८॥

सूत्रार्थ— तु = तो, व्यक्त्याकृतिजातयः = व्यक्ति, आकृति और जाति ये समस्त, पदार्थः = पद के अर्थ हैं।

व्याख्या— इस सूत्र में तु शब्द पूर्व मतों का निषेध करता है अथवा प्रस्तुत मत की विशेषता का बोधक है। सूत्रकार का कथन है कि पद का अर्थ (पदार्थ) व्यक्ति, आकृति एवं जाति तीनों ही हैं। कहीं व्यक्ति का प्राधान्य रहता है, तब आकृति और जाति गौण रहती है तथा कहीं जाति का प्राधान्य रहता है, तब व्यक्ति और आकृति गौण रहती है। इसी प्रकार कहीं आकृति की प्रधानता रहती है, तब जाति और व्यक्ति गौण रहते हैं; किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि एक प्रधान रहेगा और शेष दो गौण। जहाँ भेद की विवक्षा और स्थिति का बोध कराना आवश्यक होता है, वहाँ व्यक्ति का प्राधान्य रहता है। जैसे- 'याशब्द' द्वारा पूर्व सूत्रों (६२ वें) में व्यक्ति (गाय आदि) की ओर संकेत किया गया है। जब किसी प्राणी की सामान्य स्थिति का बोध कराना आवश्यक हो, तब पद का प्रमुख अर्थ जाति होता है। यथा गौ बहुत सीधी होती है, गौ का दूध अधिक गुणकारी रहता है आदि। यहाँ गो पद का प्रधान अर्थ गाय जाति है। व्यक्ति और आकृति गौण अर्थ हैं। इसी प्रकार गो को क्रय करने के समय उसके अंग-अवयवों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। जैसे - गाय टेढ़े सीगों वाली है, गाय मोटी है आदि। ऐसे अवसर पर गो पद का अर्थ आकृति प्रधान है। शेष दो अर्थ गौण हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि पद का अर्थ व्यक्ति,जाति एवं आकृति तीनों ही होता है। उनमें केवल प्रधानता व गौणता रहती है ॥६८॥

अब अगले तीन सूत्रों में आचार्य व्यक्ति, आकृति एवं जाति को परिभाषित कर रहे हैं—

(१९९) व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्तिः॥ ६९॥

सूत्रार्थ— व्यक्तिः = व्यक्ति है, गुणविशेषाश्रयः = गुण विशेषों का आश्रय होने से, मूर्तिः = मूर्ति ही (एकत्रित अवयवों वाला द्रव्य)।

व्याख्या— व्यक्ति का अभिप्राय है कि व्यक्त अर्थात् अभिव्यक्त प्रकट हुआ द्रव्य। अथवा यह कहें कि इन्द्रिय ग्राह्य प्रकट द्रव्य ही व्यक्ति है; किन्तु इसमें कुछ गुण विशेषों का होना आवश्यक है। ये हैं- गुरुत्व, कठिनत्व, द्रवत्व आदि। इन गुण विशेषों के समुच्चय से युक्त द्रव्य ही व्यक्ति अथवा मूर्ति कहलाता है। यों तो गुणों के आश्रय काल, आत्मा, आकाश आदि अमूर्त्त द्रव्य भी हैं; किन्तु सूत्र में वर्णित 'मूर्ति' का संकेत मूर्त्त द्रव्यों के ग्रहण से है ॥६९ ॥

अब सूत्रकार आकृति का लक्षण बता रहे हैं—

(२००) आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या ॥ ७० ॥

सूत्रार्थ— जातिलिङ्गाख्या = जाति के लिङ्गों को प्रकट करती है,जो (वह); आकृतिः = आकृति है

व्याख्या— जिससे जाति के लक्षण प्रकट होते हैं, उसे आकृति कहते हैं। प्राणी की देहरचना में विभिन्न अवयव होते हैं। ये ही उसकी आकृति विशिष्ट बनाते हैं। यह आकृति ही जाति का बोध कराती है। इस आकृति से ही गाय, भैंस, शेर, कुत्ता, घोड़ा, आदि का पता चल जाता है। इनके अंगों जैसे- मुख, सिर, पैर (खुर), सींग, पूँछ आदि को देखकर पता चल जाता है कि ये कौन सा पशु है। यदि प्राणिदेह के अवयवों और अवान्तर अवयवों की नियत रचनाविशेष न हो, तो गोत्व, अश्वत्व, का ज्ञान ही न हो सकेगा। अतः आकृति ही जाति की बोधक है। जिन द्रव्यों में आकृति विशेष अभिव्यक्त नहीं होती, उनमें जाति व व्यक्ति का ज्ञान तो होता दीखता है, आकृति का नहीं। जैसे- मिट्टी, सोना आदि के ढेले हों, तो मिट्टी की, सोने की जाति और व्यक्ति (मिट्टी और सोने का व्यक्त रूप) का तो बोध होगा, उनकी आकृति का नहीं। ऐसी स्थिति में पदार्थ - आकृति नहीं कहलायेगा ॥७० ॥

अब सूत्रकार जाति का लक्षण बता रहे हैं—

(२०१) समानप्रसवात्मिका जातिः ॥ ७१ ॥

सत्रार्थ— समान प्रसवात्मिका = समान उत्पत्ति वाले विभिन्न जीवों का एकरूपत्व, जातिः = जाति है (अथवा समान ज्ञान उत्पन्न करने वाली जाति कहलाती है)।

व्याख्या— जिन पदार्थों और जीवों की उत्पत्ति एक ही तरह से हुई है और जिनकी आकृति समान है, उनकी उस समता को जाति (सामान्य) कहते हैं। प्राणियों की उत्पत्ति और आकृति की समता के कारण ही जाति को 'सामान्य' भी कहा जाता है। जैसे- संसार भर की गौएँ एक ही जाति की मानी जाएँगी। कारण यह है कि उन सबकी उत्पत्ति एक जैसी है तथा आकृति- चार पैर, दो सींग, एक सिर, गले के नीचे लटकने वाली खाल (सासना-गलकम्बल) तथा एक पूँछ भी सभी गौओं में समान होती है। इसलिए ये सभी चिह्न ही उनकी जाति (गोत्व) का निर्धारण करते हैं। यही गोत्व (सभी गायों में समानता) ही जाति है। इसी प्रकार शेर, अश्व, मनुष्यों के सम्बन्ध में भी समझा जा सकता है। जातियों के भी दो प्रकार हैं। एक सामान्य, दूसरी विशेष। सामान्य वह है, जिसमें सामान्यतः समानता का ज्ञान होता है। जैसे- मनुष्य के दो पैर, दो हाथ, एक सिर, पेट पीठ आदि। विशेष वह, जिसमें इन चिह्नों के अतिरिक्त लक्षण, जैसे— काले, गोरे आदि का भेद। यह विशेष जाति कहलाती है। अस्तु, साजात्य प्रजनन व एकरूपता ही जाति है ॥७१ ॥

॥ इति द्वितायाऽध्याये-द्वितीयमाह्निकं समाप्तम् ॥

॥ अथ तृतीयाऽध्याय:प्रथममाह्निकम् ॥

विगत (द्वितीय) अध्याय में प्रमाणों का परीक्षण किया गया। न्यायदर्शन में नि:श्रेयस के साधनों में प्रमाण के उपरान्त प्रमेय का क्रम आता है। अस्तु, इस तृतीय अध्याय में प्रमेय परीक्षण किया जा रहा है। प्रमेय कौन है ? इसके सन्दर्भ में न्याय दर्शन के प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक के नवें सूत्र में आत्मा आदि बारह प्रमेयों का निर्देश किया गया है। इसमें 'आत्मा' ही प्रमुख प्रमेय है। इसी का विवेचन इसमें प्रस्तुत किया जा रहा है।

विचारणीय है कि आत्मा क्या है ? क्या शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का संघात (समुदाय) ही आत्मा है ? अथवा आत्मा इनसे भिन्न कोई और वस्तु है। इस सन्देह का जन्म इसलिए होता है कि संसार में आत्मा सम्बन्धी व्यवहार के दो स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। व्यवहार से अभिप्राय है कर्त्ता के साथ कार्य एवं करण के सम्बन्ध का कथन (व्यपदेश)। यह कथन दो प्रकार से होता है- १. अवयव से समुदाय का कथन २. अन्य से अन्य का कथन। इनमें प्रथम कथन का उदाहरण है- मूलैर्वृक्षस्तिष्ठति **अर्थात् मूल (जड़ों) के सहारे वृक्ष खड़ा है तथा** स्तम्भै: प्रासादो ध्रियते **अर्थात् स्तम्भों (खम्भों) के द्वारा महल धारण किया हुआ है। इन उदाहरणों में जड़ और खम्भे क्रमश: वृक्ष और भवन (महल) के अवयव हैं, उससे अलग नहीं। वृक्ष और भवन उसके समुदाय हैं।**

दूसरे प्रकार के व्यवहार में अन्य से अन्य का कथन किया जाता है, जिनमें कर्त्ता, करण (साधन) और कार्य परस्पर भिन्न पदार्थ होते हैं। जैसे- परशुना वृश्चति **अर्थात् परशु (कुल्हाड़े) से काटता है। इसी प्रकार** प्रदीपेन पश्यति **अर्थात् दीपक से देखता है। इनमें परशु और प्रदीप करण (साधन) हैं। काटी जाने वाली और देखी जाने वाली वस्तु कोई और तथा काटने वाला और देखने वाला कोई और है। इस प्रकार ये तीनों पृथक्-पृथक् हैं। ठीक इसी तरह प्राणियों के विषय में संसार में यह व्यवहार देखने में आता है कि आँखों से देखता है, मन से जानता है, बुद्धि से विचारता है तथा शरीर से सुख-दु:ख का अनुभव करता है आदि। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आँख से कौन देखता है ? मन से कौन जानता है, बुद्धि से कौन विचार करता है तथा शरीर से सुख-दु:ख का अनुभव कौन करता है ? यहाँ यह निश्चय किया जाना आवश्यक है कि उपर्युक्त कथन अवयव से संघात रूप समझा जाय अथवा अन्य से अन्य का कथन माना जाय; क्योंकि सोचने-जानने का माध्यम मन आदि है, इनसे भिन्न कोई और है, जो वस्तुत: कर्त्ता है। इसी सन्दर्भ में सूत्रकार अध्याय का प्रारम्भ करते हैं कि आत्मा देह आदि से भिन्न है, अत: इसके सम्बन्ध में जो कथन है, उसका स्वरूप 'अन्य से अन्य का कथन' ही उपयुक्त है। इसी सन्दर्भ में यह सूत्र प्रस्तुत है-**

(२०२) दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— दर्शनस्पर्शाभ्याम् = दर्शन तथा स्पर्शन (चक्षु एवं त्वक्) इन्द्रियों के द्वारा, एकार्थग्रहणात् = (पदार्थ का) एक ही अर्थ ग्रहण करने से (आत्मा के इन्द्रियों से पृथक् होने की पुष्टि होती है)।

व्याख्या— जगत् में प्राय: यह देखा जाता है कि एक इन्द्रिय द्वारा जो अर्थ ग्रहण किया जाता है, वह दूसरी इन्द्रिय द्वारा भी ग्रहण किया जाता है। जैसे- एक आमफल को कोई व्यक्ति नेत्रों से देखता है, वही त्वचा द्वारा स्पर्श भी करता है, वही रसना (जिह्वा) के द्वारा उसका स्वाद भी ले सकता है, तो यह देखने, स्पर्श करने और चखने का विषय एक ही है, साथ ही इनका कर्त्ता भी एक ही है और वह इन इन्द्रियों के द्वारा उस विषय का ज्ञान प्राप्त करता है अर्थात् वह इन्द्रियों से अलग है और उनका संचालन करता है। यदि ऐसा न होता अर्थात् आत्मा पृथक् न होता, तो जिस विषय को देखा जाता, उसी समय उसका स्पर्श करना और स्वाद लेना सम्भव न होता। कारण यह है कि किसी अन्य द्वारा देखे हुए को कोई अन्य स्पर्श न कर पाता अथवा उसका स्वाद न ले पाता। अस्तु, स्पष्ट है कि जो आत्मा चक्षुओं द्वारा दर्शन करता है, त्वचा द्वारा स्पर्श करता है, रसना द्वारा रस (स्वाद) ग्रहण करता है, वह निश्चित ही इन्द्रियों से पृथक् है और वह इन्द्रियों का संघात रूप नहीं हो सकता ॥१ ॥

अब इन्द्रिय-चैतन्य वादी उपर्युक्त कथन में आपत्ति प्रस्तुत कर रहा है। सूत्रकार उसकी भावना को अगले सूत्र में सूत्रित कर रहे हैं-

(२०३) न विषयव्यवस्थानात्॥ २॥

सूत्रार्थ— विषयव्यवस्थानात् = इन्द्रिय विषयों के निर्धारण से, न = उक्त कथन ठीक नहीं है।

व्याख्या— इन्द्रिय समूह स्वत: चैतन्य है। उसके अतिरिक्त आत्मा कोई पृथक् पदार्थ है, ऐसा सिद्ध नहीं होता। चक्षुओं के द्वारा रूप का ज्ञान प्राप्त होता है। नासिका के माध्यम से गन्ध का पता चलता है और रसना के माध्यम से रस का ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि जिस कार्य के लिए जो इन्द्रिय निश्चित है, वही उस कार्य को सम्पन्न कर सकती है। यदि कोई चाहे कि नासिका के द्वारा देखने का कार्य करे अथवा चक्षु के द्वारा गन्ध लेने का कार्य करे, तो यह सम्भव नहीं है। यदि आत्मा का अस्तित्व अलग से होता और वह इन्द्रियों का संचालक होता, तब किसी भी इन्द्रिय से कोई भी कार्य सम्पन्न करा सकता था। जैसे- नेत्रों द्वारा सूँघने और नासिका द्वारा देखने का कार्य करा सकता था; किन्तु ऐसा कभी देखने में नहीं आता। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक इन्द्रिय अपने नियत विषय से सम्बद्ध है और इसी से उसे अपने विषय का ज्ञान होता है। चूँकि इन्द्रियाँ स्वयं चैतन्य स्वरूप हैं, अत: चेतन आत्मा के अस्तित्व को अलग से मानने की कोई आवश्यकता नहीं है॥२॥

आचार्य इन्द्रिय चैतन्यवादी की उपर्युक्त आपत्ति का अगले सूत्र में समाधान करते हैं—

(२०४) तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेध: ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— तद्व्यवस्थानात् = इन्द्रियों के विषय के व्यवस्थान (निर्धारण) से, एव = ही, आत्मसद्भावात् = आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होने से, अप्रतिषेध: = उपर्युक्त प्रतिषेध (आपत्ति) उचित नहीं है।

व्याख्या— विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा विषय ग्रहण करने की पृथक्-पृथक् व्यवस्था के कारण ही आत्मतत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होता है। कोई भी एक इन्द्रिय सभी विषयों का ग्रहण नहीं कर सकती। एक इन्द्रिय एक ही विषय ग्रहण करती है। इससे सिद्ध है कि विभिन्न इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण करने वाला चेतना आत्म-तत्त्व कोई और है। इससे चेतन आत्म तत्त्व के अस्तित्व की सिद्धि होती है। वस्तुत: इन्द्रियाँ भृत्य सेवक की तरह आत्मा के आदेश पर कार्य करती हैं, इनसे कार्य लेने वाला तो चैतन्य आत्मा ही है। विभिन्न इन्द्रियों द्वारा एकत्र विषयों का ज्ञान आत्मा को हो जाता है, इसीलिए एक बार विषय ग्रहण करने के पश्चात् कई वर्ष बाद भी पुन: उसका स्मरण बना रहता है। जैसे- कभी किसी ने आम खाया, तो कई वर्ष बाद आम को देखते ही उसके रस का ज्ञान हो जाता है, इसी प्रकार नेत्र बन्द करके उसे सूँघने मात्र से उसके स्वरूप व रस का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार उसके रूप को देखकर उसके रस व गन्ध का ज्ञान हो जाता है। यद्यपि इस प्रकार के ज्ञान का कोई क्रम निर्धारित नहीं है। इस प्रकार इन सभी प्रकार के विषयों का ज्ञाता आत्मा ही है, इन्द्रियाँ नहीं। वे तो मात्र माध्यम हैं। अस्तु, चेतन आत्मा का अस्तित्व पूर्णतया सिद्ध है॥३॥

अब आचार्य शरीर को ही आत्मा मानने वालों का समाधान अगले सूत्र में कर रहे हैं-

(२०५) शरीरदाहे पातकाभावात्॥ ४॥

सूत्रार्थ— शरीरदाहे = शरीर को जलाने पर, पातक-अभावात् = पाप का अभाव होने से (आत्मा) के पृथक् अस्तित्व की सिद्धि होती है।

व्याख्या— शरीर (मृतक शरीर) की दाह क्रिया करने वाले को कोई पाप नहीं लगता। यदि आत्मा शरीर से अलग न होती, तो मृत्यु होने की सिद्धि भी नहीं होती और इस स्थिति में जब शरीर को जलाया जाता, तब निश्चित रूप से पातक (पाप) लगता। यदि शरीर को ही आत्मा माना जाता तो, उसके जलने के साथ ही उसके द्वारा किये गये पाप-पुण्य विनष्ट हो जाते और फिर किसी को भी अगले जीवन में सुख-दु:ख आदि प्राप्त न होते ; क्योंकि विगत पाप-पुण्य से ही आगत जीवन में सुख-दु:ख प्राप्त होते हैं। फिर ऐसा मानने से यह

दोष भी उपस्थित होगा कि जिसने पाप-पुण्य किया वह तो नष्ट हो गया और जो उत्पन्न हुआ है, उसे उसका फल मिले, यह तो कृत-हानि और अकृताभ्यागम दोष हो जायेगा। फिर जब शरीर के साथ ही जीवन पाप-पुण्य सब नष्ट हो गये, तब ब्रह्मचर्यादि द्वारा स्वर्ग-मोक्ष आदि के लिए कोई प्रयत्न क्यों करेगा? इससे स्पष्ट है कि आत्मा शरीर से पृथक् है, जो शरीर के नष्ट होने के पश्चात् भी बनी रहती है ॥४॥

अब जिज्ञासु की अगली आशंका को आचार्य सूत्रित कर रहे हैं—

(२०६) तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ— तद्-अभावः = उस (पातक-पाप) का अभाव है, सात्मकप्रदाहे = आत्मा के साथ देहादि का प्रदाह (जला देने) कर देने पर, अपि = भी, तद् नित्यत्वात् = उस (आत्मा) के नित्य होने से।

व्याख्या— विगत सूत्र की व्याख्या में कहा गया था कि मृत देह को जलाने पर कोई पाप नहीं लगता; क्योंकि उसमें से आत्मा निकल जाती है। इस सूत्र में देहात्मवादी कहता है कि जीवित शरीर को जलाने पर भी कोई पातक नहीं लगना चाहिए; क्योंकि आत्मा नित्य है, उसे जलाया जाना सम्भव ही नहीं है, ऐसी स्थिति में उसकी हिंसा कैसे हो सकती है? जब हिंसा हो ही नहीं सकती, तब जलाने वाले को पातक भी नहीं लग सकता। यदि आत्मा नित्य है, तो उसकी हिंसा नहीं हो सकती? और यदि उसकी हिंसा होना मानें, तब उसके नित्यत्व पर प्रश्न चिह्न लगेगा। अतः हिंसा को ढाल बनाकर जो आत्मा को देहादि से भिन्न कहा गया है, वह उचित नहीं है, क्योंकि किसी भी स्थिति (शरीर से पृथक् आत्मा के रहने व शरीर को ही आत्मा मानने) में हिंसा होना सिद्ध नहीं होता। अस्तु, शरीर से अलग आत्मा का अस्तित्व होना संदिग्ध है ॥५॥

अब सूत्रकार उपर्युक्त आपत्ति का समाधान कर रहे हैं-

(२०७) न कार्याश्रयकर्तृवधात् ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ— न = नहीं (नित्य आत्मा का विनष्ट होना, वध होना हिंसा नहीं है; क्योंकि) कार्याश्रयकर्तृवधात् = कार्य के आश्रय स्वरूप शरीर एवं कार्य करने वाली इन्द्रियों के वध, पीड़न से हिंसा होती है।

व्याख्या— इस सूत्र में सूत्रकार आचार्य आत्मा को शरीर से अलग मानने के पक्ष में तर्क देते हुए कहते हैं, विगत सूत्र में जो यह तर्क दिया गया कि आत्मा नित्य है, तो फिर हिंसा कैसी? यह तर्क-युक्त है। कारण यह है कि हिंसा की जो बात कही गई, वह शरीर और इन्द्रियों आदि के लिए है न कि आत्मा के लिए; क्योंकि नित्य होने के कारण आत्मा की तो हिंसा हो ही नहीं सकती। वास्तविकता यह है कि आत्मा के समस्त कार्यों का आश्रय शरीर है और उन्हें सम्पादित करने वाली इन्द्रियाँ हैं। शरीर और इन्द्रियों को किसी प्रकार का कष्ट या पीड़ा पहुँचाना अथवा उन्हें नष्ट करना हिंसा करने वाला कहा जाता है।

यों तो आत्मा शरीर से पृथक् है। शरीर से आत्मा निकल जाने पर उसे (शरीर को) नष्ट करने, जलाने आदि में कोई पाप नहीं है; किन्तु यदि उसके (आत्मा के) शरीर में रहते हुए उसे (शरीर को) नष्ट होते देखकर उसे (आत्मा को) कष्ट होता है और किसी को कष्ट पहुँचाना हिंसा है। यह ठीक उसी तरह है, जैसे- कोई अपना कुरता अपने आप उतार कर फेंक दे और कोई दूसरा व्यक्ति उठा ले, तो पहले वाले व्यक्ति को कोई कष्ट नहीं होता; किन्तु यदि कोई किसी से जबरदस्ती उसका कुरता उतरवाये, तो उसे कष्ट होगा। एक शरीर में रहते-रहते अहंकार वश आत्मा को उसके साथ अनुराग हो जाता है, जिसके कारण उसे (शरीर को) ताड़ित, नष्ट होते देखकर उसे (आत्मा को) पीड़ा होती है।

इसी सन्दर्भ में इसे हिंसा कहा गया है न कि नित्य आत्मा को नष्ट होते देखकर उसे (आत्मा को) पीड़ा होती है। अस्तु, स्पष्ट है कि पूर्व सूत्र में वादी द्वारा जो आत्मा की हिंसा के तर्क द्वारा तथ्य को असंगत कहा गया वह नितान्त गलत है ॥६॥

अब आचार्य उपर्युक्त मत को पुष्ट करने के लिए अगले सूत्र में एक और तर्क दे रहे हैं—

(२०८) सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात्॥ ७॥

सूत्रार्थ— सव्यदृष्टस्य = बाँयी आँख द्वारा देखे गये पदार्थ का, इतरेण = दूसरी-दायीं आँख द्वारा, प्रत्यभिज्ञानात् = प्रत्यभिज्ञान (पूर्वापर) होने से स्पष्ट है (कि आत्मा, शरीर और इन्द्रियों आदि से पृथक् है)।

व्याख्या— पूर्व और अपर-पहले और बाद के विषय में मिले हुए ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे श्याम नामक किसी व्यक्ति को किसी ने पहले आगरा में देखा हो, उसी व्यक्ति को बाद में हरिद्वार में देखकर पहचान ले कि यह वही श्याम है, जिसे मैंने आगरा में देखा था, तो यह ज्ञान 'प्रत्यभिज्ञान' कहलायेगा। इसी प्रकार कोई व्यक्ति पहले किसी पदार्थ को बायीं आँख से देखे और बाद में उसी पदार्थ को दायीं आँख से देखकर प्रत्यभिज्ञान करे कि यह वही पदार्थ है, जिसे बायीं आँख से पहले देखा था, तो यह प्रत्यभिज्ञान इन्द्रियों और आत्मा का पार्थक्य द्योतित करता है। वस्तुतः आत्मा इन्द्रियादि से अलग है, तभी तो बायीं आँख से देखा गया पदार्थ कालान्तर में वह (आत्मा) दायीं आँख द्वारा देखकर प्रत्यभिज्ञान (पहचान) कर लेता है। अन्यथा यदि चक्षु आदि इन्द्रियों को ही आत्मा मानें, तो एक आँख द्वारा देखी गई वस्तु, दूसरी आँख को कैसे स्मरण रहेगी। स्पष्ट है कि सभी पदार्थों का ज्ञाता आत्मा ही है, जो इन्द्रियों को मात्र माध्यम बनाता है, अन्यथा इन्द्रियों के लिए स्मरण रखना और एक के द्वारा देखे गये पदार्थ को दूसरे के द्वारा पहचानना कैसे सम्भव होता? अस्तु, पदार्थ का चेतन द्रष्टा आत्मा इन्द्रिय-देहादि से पृथक ही है॥७॥

अब वादी उपर्युक्त कथन को दोषपूर्ण बताते हुए एक तर्क दे रहा है। आचार्य ने वादी की भावना को अगले सूत्र में सूत्रित किया-

(२०९) नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात्॥ ८॥

सूत्रार्थ— न = उपर्युक्त हेतु उचित नहीं है, नासास्थितव्यवहिते = नासिका की हड्डी से व्यवहित, एकस्मिन् = एक ही आँख में, द्वित्वाभिमानात् = दो के अभिमान (भ्रम) से।

व्याख्या— विगत सूत्र में जो आत्मा को इन्द्रियों से पृथक् कहा है, वह सुसंगत नहीं है। कारण यह है कि इस निमित्त जो हेतु आँख का दिया है, उसमें आधार नेत्रों का दो होना है और नेत्र दो दीखते हुए भी एक ही चक्षु इन्द्रिय है। चक्षु इन्द्रिय के बीच में नासिका की हड्डी आ जाने से एक ही चक्षु इन्द्रिय दो प्रतीत होती है। इसे इस प्रकार भी मान सकते हैं, जैसे- एक नदी पर यदि पुल बना दिया जाय तो वह एक होती हुई भी दो जैसी लगती है। विगत सूत्र में जो बाईं आँख का प्रत्यभिज्ञान दायीं आँख द्वारा होने की बात कही गई है, जिसके आधार पर 'आत्मा' की सिद्धि की गई है; वह तो एक ही इन्द्रिय से प्रत्यभिज्ञान है। एक इन्द्रिय का प्रत्यभिज्ञान दूसरी इन्द्रिय द्वारा होता, तब यह कुछ तर्कसंगत माना जा सकता था। अस्तु, अलग से आत्मा मानने के स्थान पर इन्द्रिय को चेतन आत्मा मानने में कोई दोष नहीं है॥८॥

अब सूत्रकार उपर्युक्त सूत्र में वादी द्वारा लगाये दोष का समाधान कर रहे हैं-

(२१०) एकविनाशे द्वितीयाविनाशान्नैकत्वम्॥ ९॥

सूत्रार्थ— एकविनाशे = एक (चक्षु) के विनष्ट हो जाने पर, द्वितीयाऽविनाशात् = दूसरे चक्षु का विनाश न होने से,न एकत्वम् = चक्षु का एक होना सिद्ध नहीं होता।

व्याख्या— यदि चक्षु इन्द्रिय एक होती, तो बाएँ या दायें किसी एक नेत्र के विनष्ट हो जाने पर दोनों ही विनष्ट हो जाते। इसी प्रकार एक नेत्र में कोई बीमारी हो जाने पर या फूट जाने पर दोनों से दिखाई न पड़ता; किन्तु ऐसा नहीं होता। एक नेत्र में कोई अवरोध हो जाने पर दूसरा नेत्र यथावत् कार्य करता रहता है। इससे स्पष्ट है कि चक्षु इन्द्रिय दो हैं, अतः एक के द्वारा देखे गये दृश्य का स्मरण कालान्तर में दूसरे को भी हो जाता

है। यह प्रत्यभिज्ञान पृथक् चेतन आत्मा द्वारा ही सम्भव है। अतः सिद्ध है कि इन्द्रियादि से आत्मा पृथक् है॥९

सूत्रकार के उपर्युक्त तथ्य पर वादी पुनः आक्षेप कर रहा है कि अवयव के नष्ट होने पर अवयवी बना रहता है, अतः उपर्युक्त तर्क ठीक नहीं है। वादी के आक्षेप को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

(२११) अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ॥ १० ॥

सूत्रार्थ— अवयवनाशे = देह के किसी एक अवयव (अंग) के नष्ट हो जाने पर, अपि = भी, अवयव्युपलब्धेः = अवयवी (देही) की उपलब्धि बने रहने से, अहेतुः = उपर्युक्त हेतु सुसंगत नहीं।

व्याख्या— विगत सूत्र में जो यह तर्क दिया गया कि एक नेत्र के क्षतिग्रस्त हो जाने पर भी दूसरा नेत्र यथावत् कार्य करता रहता है, अतः नेत्र इन्द्रियाँ दो हैं। यह तर्क ठीक नहीं है; क्योंकि प्रायः यह देखा जाता है कि शरीर का एक अंग नष्ट हो जाने पर भी अवयवी (शरीरधारी) बना रहता है। किसी पेड़ की एकाध शाखायें टूट जायें, कट जायें, तो पेड़ का अस्तित्व नष्ट नहीं होता, वह वैसा ही बना रहता है। इसी प्रकार नेत्र इन्द्रिय एक ही है, वे दो दिखाई देती हैं। इनमें एक अवयव (एक आँख) के नष्ट हो जाने पर शेष अवयव बने रहने से दूसरा नेत्र यथावत् काम करता रहता है। अस्तु, चक्षु इन्द्रिय दो हैं, ऐसा कहना संगत नहीं है॥१०॥

अब आचार्य वादी के इस तर्क का समाधान देते हैं, कि दो चक्षु स्पष्ट होने से उपर्युक्त कथन ठीक है—

(२१२) दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ— दृष्टान्तविरोधात् = दृष्टान्त का विरोध होने से, अप्रतिषेधः = उपर्युक्त हेतु का प्रतिषेध युक्तियुक्त नहीं है।

व्याख्या— नेत्रेन्द्रिय को एक सिद्ध करने के लिए वादी ने जो तर्क दिया, वह समीचीन नहीं है। कारण यह कि यदि वृक्ष को अंगी कहें, तो उसकी सभी शाखाएँ अंग होंगी; किन्तु एक शाखा दूसरी शाखा का अंग नहीं मानी जा सकती। ठीक इसी तरह एक चक्षु भी दूसरे चक्षु का अंग नहीं हो सकता, वह तो शरीर का ही अंग है। यदि नेत्रेन्द्रिय एक ही होती, तो एक के रोगग्रस्त हो जाने पर दूसरे को भी रोगी होना चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः स्पष्ट है कि नेत्र दो ही हैं। यदि नाक की हड्डी के अतिरिक्त दोनों नेत्रों को देखें तो भी उनके गोलक अलग-अलग ही दिखाई पड़ते हैं, अस्तु नेत्रों का दो होना सिद्ध है। जब नेत्र दो हैं, तो एक वस्तु का प्रत्यभिज्ञान दूसरे को होना भी सिद्ध होता है और शरीर तथा आत्मा का अलग होना भी स्पष्ट ही है॥ ११ ॥

चेतन आत्मा-तत्त्व के देहादि संघात से पृथक् होने के पक्ष में आचार्य एक अन्य तर्क दे रहे हैं—

(२१३) इन्द्रियान्तरविकारात्॥ १२ ॥

सूत्रार्थ— इन्द्रियान्तरविकारात् = अन्य इन्द्रिय में उत्पन्न हुए विकार से (एक इन्द्रिय के विषय-दर्शन के प्रभाव से अन्य इन्द्रिय में भी विकार उत्पन्न होने से-आत्मा और शरीर का पृथक्त्व सिद्ध होता है)।

व्याख्या— एक इन्द्रिय के द्वारा अपने विषय को ग्रहण करने के साथ ही अन्य इन्द्रिय में विकार उत्पन्न हो जाता है। जैसे कि स्वादिष्ट फल अथवा मिठाई को देखकर मुँह में पानी भर आता है। इसी प्रकार किसी पके आम को सूँघकर उसको देखने और खाने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। नेत्रों (चक्षु इन्द्रिय) का विषय रूप है, रसना (जिह्वा) का विषय रस तथा नासिका का विषय गन्ध है। उपर्युक्त उदाहरणों में एक में चक्षु इन्द्रिय द्वारा फल या मिठाई के रूप को देखा गया और उससे रसनेन्द्रिय में पानी भर आया अर्थात् विकार उत्पन्न हो गया, इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में घ्राणेन्द्रिय द्वारा एक पके आम को सूँघने पर उसे देखने की और खाने की इच्छा उत्पन्न हो गई अर्थात् नेत्रेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय में विकार उत्पन्न हो गया, यह तभी सम्भव हो सकता है, जब शरीर, इन्द्रियों और आत्मा को पृथक् माना जाये। वस्तुतः आत्मा ही विभिन्न इन्द्रियों के माध्यम से भोग करता है। इन्द्रियों के माध्यम से समस्त विषयों का ज्ञान आत्मा को होता है और वह एक इन्द्रिय द्वारा

प्राप्त ज्ञान के अनुसार अन्य इन्द्रियों द्वारा उनका रसास्वादन करता है। यदि इन्द्रियों को चेतन आत्मा माना जाये, तब फिर सब इन्द्रियों की स्वतंत्र सत्ता माननी होगी, ऐसी स्थिति में एक इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान उसी इन्द्रिय को होगा। अन्य तक वह ज्ञान पहुँचेगा ही नहीं, फिर विकार उत्पन्न होने की स्थिति ही क्यों आयेगी? अत: स्पष्ट है कि सभी इन्द्रियाँ आत्मा की अधीनस्थ हैं और आत्मा की प्रेरणा द्वारा ही अपने विषयों को ग्रहण करती हैं, अत: इन्द्रियों और आत्मा का पार्थक्य सिद्ध है॥१२॥

सूत्रकार के इस कथन पर इन्द्रियात्मवादी ने पुन: शंका की। वादी की आशंका को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

(२१४) न स्मृते: स्मर्त्तव्यविषयत्वात्॥ १३॥

सूत्रार्थ— स्मृते: = स्मृति का, स्मर्त्तव्यविषयत्वात् = पहले अनुभव किये गये पदार्थ का स्मरण करने योग्य विषय होने से, न = उपर्युक्त कथन (इन्द्रियान्तर विकार हेतु) अमान्य है।

व्याख्या— स्मर्त्तव्य उसे कहते हैं, जिसकी याद की जाय और याद करना स्मृति का विषय है। स्मरण रखने योग्य जितने भी विषय हैं, वे समस्त विषय स्मृति के अन्तर्गत हैं। इन्द्रिय द्वारा किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करने पर वही इन्द्रिय उस विषय का स्मरण रखे, ऐसा किसी प्रमाण द्वारा प्रमाणित नहीं हो सकता। यह कार्य स्मृति का है। किसी रस के स्मरण से मुँह में पानी भर आता है, तो उस रस का स्मरण स्मृति के द्वारा होता है। वस्तुत: स्मृति एक धर्म है और रस उसका विषय है। किसी निमित्त का आश्रय पाकर वह (स्मृति) उभर आती है। जिस वस्तु को पहले कभी देखा या चखा गया है, कोई संस्कार अथवा अवसर आने पर उसी के रूप अथवा रस की स्मृति आयेगी। बिना देखे या किसी प्रकार बिना अनुभव किये गये पदार्थ की स्मृति सम्भव नहीं है और स्मरण करना स्मृति का धर्म है न कि आत्मा का, अत: इन्द्रियान्तर विकार के आधार पर किसी आत्मतत्त्व की कल्पना करना व्यर्थ है॥१३॥

अब सूत्रकार आचार्य इस आपत्ति का समाधान अगले सूत्र में दे रहे हैं—

(२१५) तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेध:॥ १४॥

सूत्रार्थ— तदात्मगुणसद्भावात् = उस (रस आदि स्मृति) के आत्मा का गुण होने के कारण, अप्रतिषेध: = आत्मा के अस्तित्व का प्रतिषेध करना अनुचित है।

व्याख्या— स्मृति आत्मा का ही गुण है, किसी इन्द्रिय का नहीं। कारण यह है कि अनेक ऐसे आप्त प्रमाण हैं, जिनसे आत्मा के द्वारा ही स्मृति सिद्ध होती है। जैसे- अहं स्मरामि (मैं स्मरण करता हूँ) या विविधविषयक-स्मृतिमानहम् (मुझे अनेक विषयों का स्मरण है) आदि। यदि इन्द्रिय को स्मृति का माध्यम माना जाये, तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि एक इन्द्रिय के द्वारा अनुभव किये गये विषय की स्मृति दूसरी इन्द्रिय को कैसे हो सकती है? जबकि उपर्युक्त सूत्रों में इसी प्रकार के उदाहरण दिये गये हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपना ही कार्य करती है, स्मरण करना इन्द्रिय का गुण नहीं है। यदि ऐसा माना जाय कि इन्द्रिय ही स्मरण करती है, तो मृत शरीर में स्थित इन्द्रियों द्वारा स्मृति अभिव्यक्त क्यों नहीं होती। जबकि वहाँ इन्द्रियाँ और स्मृति के विषय दोनों विद्यमान रहते हैं। वस्तुत: स्मृति आत्मा को ही होती है और मृत शरीर में आत्मा ही नहीं होती। अत: सिद्ध है कि इन्द्रियों से भिन्न आत्मा का अस्तित्व है॥ १४॥

अब सूत्रकार आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में एक अन्य तर्क प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२१६) अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य॥१५॥

सूत्रार्थ— च = और, स्मृतिविषयस्य = स्मृति विषयों की, अपरिसंख्यानात् = परिगणना न करने से [वादी ने उक्त कथन (तेरहवें सूत्र में वर्णित) कर दिया था]।

व्याख्या— स्मृति के सन्दर्भ में पूर्व में (तेरहवें सूत्र में) इन्द्रियात्मवादी ने जो विचार व्यक्त किया

था, वह स्मृति-विषयों तथा स्मृति की परिस्थितियों की गणना न करने के कारण किया था। यदि स्मृति की परिस्थितियों-विषयों की गणना की जाती, तब वैसा कहना सम्भव नहीं था। स्मृति का विषय और स्थिति बड़ी गूढ़ है। जैसे- मैं इस अर्थ को जानता हूँ, मैने इस अर्थ को जाना। मेरे द्वारा इस अर्थ के विषय में ज्ञान हुआ है। यह अर्थ मेरे द्वारा जाना गया है। ये चारों वाक्य समानार्थी हैं। इनमें ज्ञान ही स्मृति का मूल है। इनमें से किसी में ज्ञाता-किसी में ज्ञान और किसी में ज्ञेय (अर्थ) प्रधान है; परन्तु इन सबका तात्पर्यार्थ एक ही है कि विषय को जानने वाला कोई एक (आत्मा) ही है। यह ज्ञान (स्मृति) न तो ज्ञाता के बिना रह सकता है तथा न इसका सम्बन्ध बहुत ज्ञाताओं से है। वस्तुत: ज्ञाता (आत्मा) ही समस्त ज्ञानों (स्मृतियों) का आश्रय है।

यदि त्रिकाल ज्ञान के सन्दर्भ में देखें, तो भी ज्ञान का प्रतिसन्धान ज्ञाता के अभाव में नहीं हो सकता। जैसे- मैंने इस विषय को जाना, मैं इस विषय को जानता हूँ तथा मैं इस विषय को जानूँगा। इनमें भूत, वर्तमान और भविष्यत्काल तीनों में जिस विषय को जानने की बात कही गई है, उसका प्रतिसन्धान ज्ञाता ही है और वह ज्ञाता एक (आत्मा) ही है। चूँकि आत्मा ही सभी कालों में विद्यमान रह सकता है, इन्द्रियाँ तो नश्वर होने के कारण एक जीवन समाप्त होने पर विनष्ट हो जाती हैं और आत्मा शाश्वत है, अत: वही त्रिकाल के ज्ञान और स्मृतियों को संगृहीत रख सकता है, अत: सिद्ध है कि आत्मा का अस्तित्व है। यदि कोई यह कहे कि यह संस्कारों का विस्तार (फैलाव) ही है, तो यह भी सम्भव नहीं है, कारण यह है कि एक तो संस्कार आविर्भूत होकर विलीन होते रहते हैं और दूसरे कोई भी संस्कार त्रिकाल के ज्ञान को अपने में धारण नहीं कर सकता। यदि ज्ञाता (आत्मा) न हो, तो संस्कार मात्र से मैं और मेरा का ज्ञान होना असम्भव है। अस्तु, स्पष्ट है कि स्मृति के विषय असंख्य हैं, जो आत्मा के आश्रित हैं, जिनका कारण इन्द्रियजन्य स्मृति ज्ञान नहीं हो सकता॥ १५॥

अब तक शरीर और इन्द्रियाँ आत्मा नहीं हैं, इसकी सिद्धि हुई। अब वादी पुन: कहता है कि आत्मा के सम्बन्ध में आचार्य द्वारा जो तर्क दिये गये वे सब मन पर घटित होते हैं, अत: मन को ही आत्मा मान लेना चाहिए। इसी तथ्य को अगले सूत्र में बताया गया है—

(२१७) नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात्॥ १६॥

सूत्रार्थ— न = (देह आदि से अतिरिक्त आत्मा) नहीं है, आत्मप्रतिपत्तिहेतूनाम् = आत्मा को सिद्ध करने वाले हेतुओं के, मनसि सम्भवात् = मन में सम्भव होने से।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में आत्मा को सिद्ध करने के लिए जो तथ्य दिये गये हैं, वे तो 'मन' में घटित होते हैं, अस्तु मन के अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व की आवश्यकता नहीं है अर्थात् मन ही आत्मा है। पृथक् से आत्मा का अस्तित्व नहीं है। आत्मा को सिद्ध करने वाले लक्षण, जैसे-देखने, स्पर्श करने, चखने, सूँघने आदि से होने वाला ज्ञान आत्मा को होना बताया गया है। ये सभी बातें मन पर घटित होती हैं; क्योंकि समस्त विषयों का अनुभव करने वाला मन है। आत्मा के लक्षण में उसे सर्वविषय-ग्राही व एक होना बताया गया है. मन भी सभी विषयों का ग्रहण करने वाला व एक है। मन देहादि संघात में परिगणित है, अत: देहादि संघात को आत्मा मानने का तर्क जो पीछे दिया गया है, उसके अनुसार भी मन ही आत्मा सिद्ध होता है। अलग से आत्मा के अस्तित्व को मानने की आवश्यकता नहीं है॥१६॥

अब अगले सूत्र में सूत्रकार इस आक्षेप का निराकरण करेंगे—

(२१८) ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम्॥ १७॥

सूत्रार्थ— ज्ञातुः = ज्ञाता (आत्मा) के, ज्ञानसाधनोपपत्तेः = ज्ञान साधनों की सिद्धि होने से, संज्ञाभेदमात्रम् = (आत्मा को मन कहना) नाम मात्र का भेद है।

व्याख्या— ज्ञाता अर्थात् आत्मा सभी अर्थों को जानता है; किन्तु ज्ञान साधनों के अभाव में उसे

बाह्याभ्यन्तर अर्थों का ज्ञान नहीं हो पाता। बाह्य अर्थों का ज्ञान चक्षु आदि बाहरी इन्द्रियाँ कराती हैं। नेत्र से व्यक्ति रूप का दर्शन करता है, नासिका से सूँघता है, त्वचा से स्पर्श करता है, रसना से स्वाद लेता है, कानों से सुनता है। इन सभी इन्द्रियों से वह ज्ञाता-आत्मा बाह्य अर्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। इसी प्रकार आन्तरिक अर्थ- मनन, चिन्तन, संकल्प, स्मरण आदि का ग्रहण करने हेतु आत्मा के लिए आन्तर साधन 'मन' है। यदि उसे ही आत्मा की संज्ञा दे दी गई, तो फिर उसके लिए भी किसी आन्तर-करण की आवश्यकता पड़ेगी और तब उसका कोई अन्य नाम रखना पड़ेगा। इस प्रकार मन अथवा किसी और साधन में केवल नाम का ही अन्तर होगा, क्योंकि आत्मा के लिए कोई आन्तर-सहायक आवश्यक है। मन सभी विषयों को ग्रहण करता है। वही समस्त इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान आत्मा तक पहुँचाता है। यद्यपि सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं; किन्तु इन्द्रियों और आत्मा के बीच में मन स्थित रहता है; इसी कारण एक समय में एक ही इन्द्रिय द्वारा एकत्र ज्ञान आत्मा तक पहुँच पाता है, जिसमें मन सहयोग नहीं देता, वह ज्ञान एकत्र करके भी वह इन्द्रिय आत्मा तक नहीं पहुँचा पाती। जैसे किसी वस्तु को देखते हुए भी यदि उसमें मन नहीं लगा है, तो वह अनदेखी सी लगती है। अतः स्पष्ट है कि मन आत्मा से भिन्न है और आत्मा का अलग से अस्तित्व सिद्ध है॥

इसकी पुष्टि हेतु आचार्य एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं कि यदि कोई यह शंका करे कि बाह्य इन्द्रियों की स्थिति स्पष्ट है; परन्तु चिंतन, मनन आदि करने के साधन की क्या आवश्यकता है—

(२१९) नियमश्च निरनुमानः॥ १८॥

सूत्रार्थ— च = और, नियमः = नियम, निरनुमानः = अनुमान युक्तिविहीन है (जो रूप आदि ग्रहण के साधन को माना जाय, स्मरण-मनन आदि का न माना जाय)।

व्याख्या— कोई यह कहे कि रूप, रस आदि विषयों को ग्रहण करने के साधन रूप में चक्षु, रसना आदि का अस्तित्व तो है, किन्तु सुख-दुःख अनुभव करने वाले एवं मनन, चिन्तन, संकल्प आदि करने के लिए मन का अस्तित्व नहीं है अथवा आवश्यक नहीं है। बाह्य करण आवश्यक हैं और अन्तःकरण आवश्यक नहीं, तो यह नियम बताना युक्ति-संगत नहीं है। जब शब्द, रस आदि के लिए श्रोत्र, रसना आदि का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, तो सुख-दुःखादि अनुभव तथा मनन-चिन्तन के लिए किसी न किसी करण (साधन) के अस्तित्व का अनुमान न होना युक्तिरहित है। यदि ये कहा जाय कि किसी अन्य इन्द्रिय के द्वारा वह कार्य हो सकता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय का कार्य नहीं कर सकती। नेत्र से रस का ग्रहण नहीं हो सकता। जब प्रत्येक इन्द्रिय का अपना कार्य निर्धारित है, तब मननादि के लिए अन्तःकरण (आन्तरिक साधन) 'मन' निर्धारित मानना चाहिए। अतः स्पष्ट है कि मन को आत्मा कहना उचित नहीं। उसका पृथक अस्तित्व है, जिसके द्वारा सभी विषयों का ज्ञान आत्मा तक पहुँचता है। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त विषय 'मन' के माध्यम से ही आत्मा तक पहुँचते हैं॥ १८॥

अब तक यह सिद्ध हो चुका है कि आत्मा शरीर से पृथक् है, किन्तु वह नित्य है अथवा अनित्य यह संशय अभी बना हुआ है, अस्तु अब आचार्य अगले सूत्र में आत्मा के नित्य होने के सन्दर्भ में तर्क प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२२०) पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः॥ १९॥

सूत्रार्थ— पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् = पूर्व जन्म के अभ्यास की स्मृति होने के कारण, जातस्य = उत्पन्न हुए शिशु में, हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः = हर्ष, भय, शोक आदि प्रकट होने से (आत्मा नित्य है)।

व्याख्या— नवजात शिशु में भी हर्ष, शोक, भय आदि के चिह्न प्रकट होते देखे जाते हैं; किन्तु इस जन्म में तो उसने अभी ऐसे अवसर देखे ही नहीं, जिनसे प्रसन्नता अथवा दुःख उत्पन्न हो और बिना पूर्व अनुभव किये अथवा स्मृति में हुए नवजात शिशु में ये चिह्न प्रकट नहीं हो सकते हैं, तब यह कैसे हुआ?

निश्चित ही पूर्व जन्म के संस्कारोंवश ऐसा हुआ होगा। उसने पूर्व जन्म में हर्ष, शोक, भय आदि के प्रसङ्गों का सामना किया होगा, तभी इस जन्म में उस पर इनका प्रभाव पड़ा। उदाहरणार्थ उत्पन्न होते ही शिशु रुदन करता है और शीघ्र माँ का स्तनपान करने के लिए ललचाता व चेष्टा करता है, इससे समझा जा सकता है कि पूर्व जन्म में उत्पन्न होते ही उसने माँ का स्तनपान करके संतुष्टि का अनुभव किया होगा, उस पूर्व स्मृति अथवा संस्कारवश वह इस जन्म में भी वैसा ही प्रयत्न करता है। इसी प्रकार अन्य जन्मों में भी अनेक शरीर धारण किये होंगे, उनके संस्कार भी जाग्रत् होते रहते हैं, इससे भी सिद्ध है कि आत्मा अनादि और नित्य है। यदि कोई यह कहे कि आत्मा इस शरीर के साथ ही उत्पन्न हुई है, तो यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि यदि शरीर के साथ ही उसका प्रादुर्भाव हुआ होता, तो हर्ष-शोक, भयादि का अनुभव उसे कैसे हो सकता था? यदि कोई यह कहे कि आत्मा शरीर की उत्पत्ति से पूर्व ही हो गया, तो उसका उपादान कारण न होने से यह तथ्य भी पुष्ट नहीं होता। अस्तु, सिद्ध है कि आत्मा अनादि है और नित्य है। उसके किसी भी तरह अनित्य होने की सिद्धि नहीं होती ॥१९॥

नवजात शिशु के पूर्वजन्म के अभ्यास को स्मृति के सन्दर्भ में जिज्ञासु ने आशंका की। जिज्ञासु की आशंका को सूत्रकार ने अगले सूत्र में सूत्रित किया है—

(२२१) पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत्तद्विकारः ॥ २० ॥

सूत्रार्थ— पद्मादिषु = कमल आदि पुष्पों में, प्रबोधसम्मीलनविकारवत् = खिलने-बन्द हो जाने आदि के विकार तुल्य, तद्विकारः = नवजात शिशु में हर्ष, भय, शोक आदि विकार होने सम्भव हैं।

व्याख्या— जिस प्रकार कमल इत्यादि पुष्पों में प्रबोध (खुलना), सम्मीलन (बन्द होना) आदि विकार स्वभावतः देखे जाते हैं, ठीक उसी प्रकार नवजात शिशु में हर्ष, भय, शोक जैसे विकार स्वाभाविकतया ही प्रादुर्भूत होते हैं। पूर्व सूत्र में इन विकारों को जो पूर्व जन्म के संस्कार स्मृति आदि कहा गया, वह उपयुक्त नहीं है। यदि हर्ष और भय के कारण आत्मा को नित्य माना जा सकता है, तो खुलने और बन्द होने के कारण कमल आदि को नित्य क्यों नहीं माना जा सकता? यदि ऐसा सम्भव नहीं है, तो हर्ष, शोक, भय आदि विकारों के कारण (जो स्वाभाविक रूप से उदित होते रहते हैं) आत्मा को नित्य क्यों माना जाये? अर्थात् आत्मा का नित्यत्व सिद्ध नहीं होता ॥२०॥

अब सूत्रकार जिज्ञासु की इस शंका का समाधान अगले सूत्र में कर रहे हैं—

(२२२) नोष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम् ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ— न = उक्त कथन उपयुक्त नहीं है, उष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् = गर्मी, सर्दी, वर्षा काल आदि के निमित्तक होने के कारण, पञ्चात्मकविकाराणाम् = पृथिवी, जल आदि पञ्चभौतिक विकारों के।

व्याख्या— विगत सूत्र में जिज्ञासु ने, जो कमल पुष्प से आत्मा की तुलना करके आत्मा के नित्यत्व को मिथ्या ठहराया है, वह उपयुक्त नहीं है, कारण यह है कि कमल पुष्प आदि पञ्चभूतों (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) के विकार रूप हैं और शीत, वर्षा, गर्मी आदि ऋतुएँ ही इन विकारों की कारणरूपा हैं। कमल आदि पुष्पों में प्रबोध और सम्मीलन (खुलना और बन्द होना) ऋतु-प्रभाव से ही होता है। इसी प्रकार आत्मा को जो हर्ष, भय शोक आदि होते हैं, वे भी पूर्व जन्म के अभ्यास-संस्कार वश ही उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार कमल आदि पुष्पों का खिलना और बन्द हो जाना, गर्मी, शीत आदि के अभाव में सम्भव नहीं है, उसी प्रकार संस्कार के बिना आत्मा में हर्ष, शोकादि का होना भी सम्भव नहीं है। यदि पूर्व जन्म के संस्कार न हों, तो सद्योजात शिशु को हर्ष, शोकादि विकार कैसे हो सकते थे? इस प्रकार आत्मा का नित्यत्व सिद्ध है ॥२१॥

इसी तथ्य की पुष्टि हेतु आचार्य एक अन्य तर्क अगले सूत्र में दे रहे हैं—

(२२३) प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात्॥ २२॥

सूत्रार्थ— प्रेत्य = पुनर्जन्म लेकर (पूर्व शरीर-त्याग कर नयी देह ग्रहण करने वाले नवजात शिशु को), आहाराभ्यासकृतात् = पूर्व जन्म के आहार-अभ्यास के कारण, स्तन्याभिलाषात् = स्तनपान की अभिलाषा होती है, (इसलिए आत्मा का नित्यत्व सिद्ध होता है)।

व्याख्या— एक शरीर की मृत्यूपरान्त आत्मा जब नव्य शरीर धारण करता है, तब वह क्षुधा पीड़ित होकर रोता, चिल्लाता है एवं माँ का स्तन-पान करने की अभिलाषा करके स्तनपान करने लगता है, जबकि इस जन्म में उसे स्तनपान करने की कोई शिक्षा या प्रेरणा नहीं दी गई होती है। इससे स्पष्ट है कि पूर्वजन्म में जब उसे भूख लगती होगी, तब वह आहार ग्रहण करता होगा। उसी आहार ग्रहण करने के अभ्यासवश वह नये ज़ीवन में आहार (स्तन-दुग्ध) ग्रहण करने लगता है। अतः आत्मा नित्य है। यदि वह अनित्य होता और पूर्व शरीर के साथ ही नष्ट हो गया होता, तो यह अभ्यास क्योंकर बना रह सकता था॥२२॥

इस सन्दर्भ में जिज्ञासु एक अन्य आशंका कर रहा है, जिसे सूत्रकार अगले सूत्र में सूत्रित कर रहे हैं—

(२२४) अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम्॥ २३॥

सूत्रार्थ— अयसः = लोहे की, अयस्कान्ताभिगमनवत् = अयस्कान्त अर्थात् चुम्बक की ओर प्रवृत्त होने के समान, तदुपसर्पणम् = उस (सद्योजात) शिशु का (स्तन की ओर) उपसर्पण अर्थात् प्रवृत्त होना स्वाभाविक है।

व्याख्या— जब किसी की किसी ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, तब उसके लिए अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार लोहा चुम्बक की ओर स्वतः स्वाभाविक रूप से आकर्षित होता है, उसी प्रकार नवजात शिशु विगत जन्म के अभ्यास से नहीं, वरन् दुग्धपान की स्वाभाविक प्रवृत्तिवश स्तनपान करता है। स्वाभाविक न होने पर यह प्रक्रिया असम्भव है। इस प्रकार आत्मा के नित्यत्व के सन्दर्भ में जो हेतु पूर्व में प्रस्तुत किया गया वह अनुपयुक्त है॥ २३॥

अब सूत्रकार जिज्ञासु की उपर्युक्त शंका का समाधान अगले सूत्र में कर रहे हैं कि शिशु की चेष्टा अयस् तुल्य (लोहे के समान) नहीं है—

(२२५) नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात्॥ २४॥

सूत्रार्थ— न = नहीं है (प्रवृत्ति), अन्यत्र = अन्य किसी विषय में, प्रवृत्त्यभावात् = प्रवृत्ति का अभाव होने से।

व्याख्या— लोहे की प्रवृत्ति चुम्बक की ओर किसी कारण अथवा निमित्त से होती है। इसी कारण केवल लोहा ही चुम्बक की ओर प्रवृत्त होता है, मिट्टी, पत्थर, पीतल, सोना, चाँदी आदि नहीं। इसी प्रकार चुम्बक केवल लोहे की धातु को ही अपनी ओर आकर्षित करता है, अन्य धातुओं या पदार्थों को नहीं। यह आकर्षण सनिमित्तक होने से,नवजात शिशु की स्तनपान की ओर प्रवृत्ति को भी सनिमित्तक अथवा सकारण माना जा सकता है। चूँकि पूर्व जन्मों में उसे क्षुधा लगने पर आहार से तृप्ति मिलती होगी, उसी स्मृति के चलते इस जन्म में भी वह क्षुधा (भूख) लगने पर हाथ-पैर फड़फड़ा कर, रो-चिल्लाकर स्तनपान (दुग्धपान) की ओर प्रवृत्त होता है। पूर्व जन्मों की स्मृति स्वरूप वर्तमान जन्म में शिशु का स्तनपान की ओर प्रवृत्त होना आत्मा के नित्यत्व का साधक है॥२४॥

आत्मा नित्य है, इस परिप्रेक्ष्य में सूत्रकार एक अन्य तर्क अगले सूत्र में प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२२६) वीतरागजन्मादर्शनात्॥ २५॥

सूत्रार्थ— वीतरागजन्म = (विषयों से विरक्त) पुरुष के जन्म का, अदर्शनात् = अदर्शन होने से (न देखे जाने से भी आत्मा का नित्यत्व सिद्ध होता है)।

व्याख्या— आत्मा नित्य है, इसका एक प्रमाण यह भी है कि विषयानुरक्त प्राणी ही जन्म ग्रहण करता है। जो वीतराग है अथवा जिसकी विषयों में अनुरक्ति नहीं है, उसका जन्म नहीं हो सकता। वस्तुत: विषयों से राग (अनुराग) ही जन्म और मरण का कारण है। वर्तमान जन्म में राग का अनुभव तभी सम्भव है, जब आत्मा विगत जन्म के किसी पूर्व शरीर में विषयानुरक्त रहा हो। विगत जन्म के अनुभूत विषय की स्मृति से रागोत्पत्ति होती है और जन्म-मृत्यु का कारण यह राग ही है। जो ज्ञानीजन निरन्तर तत्त्वज्ञान का अभ्यास करते रहकर वासनाओं को नष्ट कर डालते हैं, तब रागरूप कारण का विनाश हो जाता है, जिससे जन्म-मृत्यु रूप कार्य भी नहीं होता। जब कारण ही नहीं तो कार्य कैसे हो? ऐसी स्थिति में आत्मा मुक्त हो जाती है और जन्म-मरण नहीं होता। तात्पर्य यह है कि वीतराग की स्थिति में जन्म-मरण का न होना यह सिद्ध करता है कि राग की स्थिति में जन्म आदि होता है। पूर्व राग के कारण जन्म होना आत्मा का नित्यत्व सिद्ध करता है कि जो आत्मा विगत जन्म में किसी शरीर को धारण किये था, नित्य होने के कारण वही अब नव्य शरीर में आकर विषयों का भोग करता है॥२५॥

अब जिज्ञासु इस पर आक्षेप करते हुए कहता है कि विषयों के निरन्तर चिन्तन से ही राग की उत्पत्ति होती है, यह कैसे माना जाय? यह भी तो हो सकता है कि आत्मा के उद्भव के साथ ही राग का उद्भव भी होता हो। जिज्ञासु की इसी भावना को सूत्रकार ने अगले सूत्र में सूत्रित किया है—

(२२७) सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः॥ २६॥

सूत्रार्थ— सगुणद्रव्योत्पत्तिवत् = गुण वाले द्रव्य की उत्पत्ति के समान, तदुत्पत्तिः = रागयुक्त आत्मा की उत्पत्ति मान लेने से (आत्मा की नित्यता और अनादिता सिद्ध नहीं हो सकती)।

व्याख्या— जिस प्रकार सगुण द्रव्य की उत्पत्ति हो सकती है, उसी प्रकार आत्मा की भी उत्पत्ति हो सकती है। यह क्यों नहीं माना जा सकता है। जिस प्रकार घट आदि उत्पत्ति धर्म वाले हैं, किन्तु रूप आदि गुण उनके साथ ही उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उत्पद्यमान आत्मा में भी राग स्वत: उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार आत्मा की उत्पत्ति सराग हुई। अस्तु, पूर्व सूत्र में जो पूर्वजन्म की स्मृति से रागोत्पत्ति की बात कही गई है, वह सिद्ध नहीं होती। उपर्युक्त दृष्टान्त से पूर्वजन्म का होना सिद्ध नहीं होता, अत: आत्मा का नित्य होना भी असिद्ध है॥२६॥

अगले सूत्र में आचार्य इसका समाधान बताते हुए राग आदि का कारण संकल्प बता रहे हैं—

(२२८) न सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम्॥ २७॥

सूत्रार्थ— रागादीनाम् = राग आदि के, संकल्पनिमित्तत्वात् = संकल्प निमित्त युक्त होने से, न = उपर्युक्त मान्यता ठीक नहीं है (अर्थात् सराग आत्मा का उद्भव सम्भव नहीं)।

व्याख्या— ऊपर जो आत्मा के सराग उत्पन्न होने की बात कही गई, वह सर्वथा अनुपयुक्त है। कारण यह है कि राग आदि की उत्पत्ति संकल्प से होती है। उन्हें (रागादि को) सगुण द्रव्य के समान उत्पन्न हुआ नहीं मान सकते। घट आदि में जो रूप आदि गुण रहते हैं, वे घट के साथ रूप के समवाय सम्बन्ध से होते हैं अर्थात् यदि घट का अस्तित्व रहेगा, तो रूप भी रहेगा। घट नष्ट होगा, तो रूप भी नष्ट होगा। एक के अभाव में दूसरा नहीं रह सकता; किन्तु आत्मा में राग की प्रवृत्ति सदा नहीं रहती। विगत के अनुभव के संस्कार या स्मृति से मन में जब किसी संकल्प का उदय होता है, तब राग आदि की उत्पत्ति होती है। यदि यह माना जाये कि आत्मा के साथ राग की उत्पत्ति होती है, तो राग का कारण संकल्प से पृथक् मानना पड़ेगा;

किन्तु संकल्प से पृथक् राग का कोई कारण नहीं होता। इसीलिए द्रव्य के समान राग आदि की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। अस्तु, स्पष्ट है कि सद्योजात बालक में जो स्तन्य-दूध के प्रति राग की प्रतीति होती है, वह पूर्व शरीर के अनुभवजन्य संस्कार के कारण होती है, न कि आत्मा के साथ राग की उत्पत्ति के कारण; क्योंकि आत्मा का जन्म तो होता ही नहीं। अत: पूर्व शरीर से आत्मा का सम्बन्ध होना, आत्मा का नित्यत्व सिद्ध कर देता है ॥२७॥

आत्मा का नित्यत्व सिद्ध हो जाने के पश्चात् अब शरीर की परीक्षा प्रारम्भ होगी। अगले सूत्र में आचार्य शरीर के मुख्य उपादान के सन्दर्भ में बता रहे हैं—

(२२९) पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ— पार्थिवम् = पार्थिव है अर्थात् पृथिवी से बना है (मनुष्य देह), गुणान्तरोपलब्धेः = गुणान्तर की उपलब्धि (गन्ध के अतिरिक्त अन्य गुणों, रूप, रस, शब्द, स्पर्श की उपलब्धि मानव आदि शरीरों में होने) से।

व्याख्या— सभी यह स्वीकार करते हैं कि शरीर भौतिक अर्थात् पंचभूतों से निर्मित है। ऐसे तो इसमें सभी भूत (तत्त्व) पृथिवी, अग्नि, जल, वायु और आकाश विद्यमान हैं, किन्तु इसमें पृथिवी तत्त्व की अधिकता होने से इसे पार्थिव कहते हैं। इसीलिए पृथिवी को इस शरीर का विशेष उपादान कारण माना जाता है। जल, तेज और आकाश आदि मात्र इसके निमित्त कारण हैं, इन्हें उपादान कारण नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि जल आदि तत्त्वों के द्रवत्व आदि गुणों का समावेश शरीर में बहुत कम है, अत: इन्हें प्रमुख उपादान कारण नहीं माना जा सकता। प्रत्यक्षत: तो पृथिवी के गुण गन्ध, काठिन्य आदि ही शरीर में पाये जाते हैं, अत: इसे पार्थिव मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है ॥२८॥

जिज्ञासु की इस शंका का कि क्या पृथिवी तत्त्व प्रधान ही शरीर होते हैं; जल, आकाश आदि तत्त्व भी तो हैं, का समाधान करते हुए आचार्य उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि अगले सूत्र में कर रहे हैं—

(२३०) पार्थिवाप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः ॥ २९ ॥

सूत्रार्थ— तद्गुणोपलब्धेः = उन (पृथिवी आदि के तीनों) गुणों [गन्ध, स्नेह (गीलापन), और उष्ण] के उपलब्ध होने से शरीर, पार्थिवाप्यतैजसम् = पार्थिव, आप्य और तैजस होते हैं, (ऐसा सिद्ध है)।

व्याख्या— सूत्रकार कहते हैं कि शरीर में पृथिवी का गुण गन्ध पाये जाने से उसे पार्थिव कहते हैं, किन्तु उसके अन्य दो तत्त्वों जल और अग्नि (अप् और तेज) के गुण स्नेह (चिकनापन) तथा उष्णता (गर्मी) के पाये जाने से उसे आप्य और तैजस भी कह सकते हैं। इस प्रकार शरीर भौतिक (अर्थात् तीनों भूतों - तत्त्वों की प्रधानता वाला) है ॥२९॥

अगले सूत्र में आचार्य उसे चार तत्त्वों की प्रधानता होने से चातुर्भौतिक होने का तथ्य प्रतिपादित कर रहे हैं—

(२३१) निःश्वासोच्छ्वासोपलब्धेश्चातुर्भौतिकम् ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ— श्वासोच्छ्वासोपलब्धेः = गन्ध, स्नेह, उष्णता के अतिरिक्त श्वास-प्रश्वास के भी उपलब्ध होने से, चातुर्भौतिकम् = (मानव देह का) चातुर्भौतिक होना सिद्ध होता है।

व्याख्या— शरीर में पृथिवी का गुण गन्ध, जल का गुण स्नेह (गीलापन), अग्नि का गुण उष्णता है, इसके अतिरिक्त वायु का गुण स्पर्श अर्थात् श्वास-प्रश्वास भी प्रत्यक्ष देखा जाता है। इससे स्पष्ट है कि शरीर त्रयभौतिक नहीं, चातुर्भौतिक है। भावार्थ यह है कि पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु इन चारों के गुण शरीर में प्रत्यक्षत: देखे जाते हैं, अत: शरीर को चातुर्भौतिक कहना चाहिए ॥ ३० ॥

अब आचार्य शरीर को पंच भौतिक कहने वाले का मत-प्रतिपादित करते हैं—

(२३२) गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकम्॥ ३१॥

सूत्रार्थ— गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः = गन्ध, क्लेद (द्रव) पाक-उष्णता (तेज), व्यूह (भोजन किये गये रस के संचार स्वरूप-चयापचय), तथा अवकाशदान अर्थात् स्थान देना (ये पाँचों गुण शरीर में उपलब्ध होते हैं, अतः), पाञ्चभौतिकम् = शरीर पाञ्चभौतिक है।

व्याख्या— शरीर में मात्र तीन या चार भूतों (तत्त्वों) का समावेश नहीं है, वरन् इसमें पाँचों तत्त्वों के गुण विद्यमान है। इसमें पृथिवी का गुण गन्ध, जल का गुण गीलापन, वायु का गुण श्वास-प्रश्वास (भोजन किये गये रस का संचार-चयापचय), अग्नि का गुण पाक (उष्णता-भोजन पचाना) तथा आकाश का गुण शरीर में रिक्त स्थान, ये सभी विद्यमान हैं। अतः शरीर त्रिभौतिक या चातुर्भौतिक न होकर 'पाञ्चभौतिक' है, यही सिद्ध होता है॥३१॥

उपर्युक्त सभी तत्त्वों के रहते हुए भी पार्थिव क्यों कहते हैं, इस सम्बन्ध में तर्क देते हुए आचार्य श्रुति प्रमाण द्वारा इसकी पुष्टि करते हैं—

(२३३) श्रुतिप्रामाण्याच्च॥ ३२॥

सूत्रार्थ— श्रुतिप्रामाण्यात् = श्रुति प्रमाण से, च = और (भी), इस विषय का होना (शरीर का पार्थिव होना) सिद्ध होता है।

व्याख्या— श्रुति प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है कि भूलोकीय शरीर पार्थिव हैं। **सूर्यं ते चक्षुर्गच्छताम्** वैदिक सन्दर्भ के इस श्रुति वाक्य से भी शरीर का पार्थिव होना ही सिद्ध होता है, जिनका अर्थ है- तेरे चक्षु सूर्य को प्राप्त हों अर्थात् नेत्रों का उपादान कारण सूर्य है। इसी प्रकार '**पृथिवीं ते शरीरम्**' अर्थात् तेरा शरीर पृथिवी में मिल जाये, यह श्रुति वाक्य शरीर का पार्थिव होना सिद्ध करता है। सांख्य मत में यह सिद्धान्त है कि हर कार्य अपने कारण में लय हो जाता है, 'नाशः कारणलयः'। नाश होना अर्थात् कार्य का अपने कारण में लय हो जाना है। श्रुति में वर्णित उत्पत्ति विषयक वाक्यों में भी पृथिवी से शरीर निर्माण की बात उल्लिखित है- '**पृथिवीं ते शरीरं स्पृणोमि**' अर्थात् पृथिवी को तेरा शरीर बनाता हूँ। यजुर्वेद में '**भस्मान्तꣳशरीरम्**' कहा गया है, जिसका तात्पर्य भी शरीर के पार्थिव होने की पुष्टि करता है॥३२॥

शरीर परीक्षा के पश्चात् अब प्रमेय क्रम में इन्द्रियों की परीक्षा की जायेगी। अस्तु, अगले सूत्र में इन्द्रियों के सन्दर्भ में विचार प्रस्तुत किया जायेगा। प्रथमतः चक्षु इन्द्रिय के भौतिक और अभौतिक होने सम्बन्धी विषय प्रस्तुत है—

(२३४) कृष्णसारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चोपलम्भात्संशयः॥ ३३॥

सूत्रार्थ— कृष्णसारे = नेत्र की कृष्णवर्णा पुतली के, सति = होने पर, उपलम्भात् = विषय के उपलब्ध होने से, च = एवं (भी), व्यतिरिच्य = अपने प्रवेश को छोड़कर, उपलम्भात् = विषय उपलब्ध होने से, संशयः = नेत्र आदि इन्द्रियों के भौतिक होने के सम्बन्ध में आशंका होती है।

व्याख्या— संसार के सभी रूप-नेत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। आँख के अन्दर जो काले रंग की पुतली अर्थात् गोलक है, उसी से समस्त वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं। चूँकि वह पुतली भौतिक है, इससे चक्षु इन्द्रिय का भौतिक होना सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त एक पक्ष और है- कि नेत्र की पुतली कुछ दूर के दृश्य को ही ग्रहण कर सकती है। यदि किसी वस्तु को आँख से सटा दिया जाय, तब वह कुछ न देख सकेगी। इसका कारण यह है कि पुतली तो बाहर नहीं निकलती पर वृत्ति बाहर निकलकर दृश्य में तदाकार होकर उस ज्ञान को नेत्र तक पहुँचाती है। वृत्ति पुतली से अलग है। चूँकि कोई भौतिक पदार्थ अप्राप्त और दूर की वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकता। अतः इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ अभौतिक है। अस्तु, दो मत होने से यह आशंका उत्पन्न होती है कि इन्द्रियाँ भौतिक हैं अथवा अभौतिक ?॥३३॥

अगले सूत्र में इन्द्रियों के अभौतिक होने का पक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२३५) महदणुग्रहणात्॥ ३४॥

सूत्रार्थ— महदणु = महत् और अणु (बड़ा और छोटा) दोनों प्रकार के विषयों को, ग्रहणात् = ग्रहण करने से (इन्द्रियों का अभौतिक होना ही सिद्ध होता है)।

व्याख्या— चक्षु के द्वारा छोटे से छोटे और बड़े से बड़े पदार्थ को ग्रहण किया जा सकता है अर्थात् उनके रूप को देखा जा सकता है। भौतिक इन्द्रियों की एक सीमा होती है, वे एक ही प्रकार के विषयों को ग्रहण कर सकती हैं; किन्तु यदि वे अभौतिक हैं, तो उनके लिए यह सीमा बन्धन नहीं रहता। जैसे- चक्षु इन्द्रियों को ही लें, इसके द्वारा छोटी से छोटी वस्तुओं जैसे- सरसों, रामदाना के दाने और बड़े से बड़े वृक्षों, पर्वतों को भी देखा जा सकता है। इन्द्रियों के भौतिक होने की दशा में ऐसा होना सम्भव न था। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ अभौतिक हैं॥३४॥

अभौतिक वादी के इस कथन की विवेचना करते हुए आचार्य कहते हैं कि अणुविषय का ग्रहण करना ही इन्द्रियों को अभौतिक नहीं बना सकता। इसके छोटा-बड़ा ग्रहण करने के अन्य कारण हैं। इसे ही अगले सूत्र में स्पष्ट किया जा रहा है—

(२३६) रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात्तद्ग्रहणम्॥ ३५॥

सूत्रार्थ— रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् = रश्मि और चक्षु के पदार्थ-विषय के साथ विशेष-संयोग से, तद्ग्रहणम् = उस (महत् और अणु-बड़े और छोटे पदार्थ) का ग्रहण होता है।

व्याख्या— नेत्र की पुतली एवं उसकी रश्मियों-इन दोनों का संयोग होने पर अणु एवं महत् (छोटे एवं बड़े) सभी पदार्थ देखे जा सकते हैं। इसके लिए इन्द्रियों का अभौतिक होना आवश्यक नहीं। कारण यह है कि तेज पंचभूतों के अन्तर्गत है और नेत्र में स्थित तेज ही रश्मियों का प्रसारण करता है। अत: वह तैजस हैं। नेत्र से कभी अभौतिक पदार्थ का देखा जाना सम्भव नहीं होता। दूसरे प्रकार से इसे ऐसे समझा जा सकता है- सूर्य अथवा किसी भी प्रकाशवान् पदार्थ की रश्मियों के सहयोग से ही नेत्र अपने विषय का दर्शन कर पाते हैं। उदाहरणार्थ-किसी कमरे में कोई दीपक रखा है, तो उस छोटे से दीपक के प्रकाश से नेत्रों द्वारा सभी छोटी-बड़ी वस्तुएँ देखी जाती हैं; किन्तु कमरे के बाहर जहाँ दीपक का प्रकाश नहीं पहुँचता, वहाँ रखी वस्तुएँ दिखाई नहीं देतीं। नेत्र केवल सामने की वस्तु देख सकते हैं, ऊपर-नीचे, दाएँ-बायें की नहीं। यदि नेत्र अभौतिक होते तो सभी दिशाओं में रखी हुई वस्तुओं को देख पाते। अत: छोटे-बड़े सभी पदार्थों को देख पाने का कारण नेत्र और रश्मियों का विषय के साथ संयोग ही है, न कि इन्द्रियों का अभौतिक होना॥३५॥

इस पर जिज्ञासु जिज्ञासा करता है कि जब नेत्रों में रश्मियाँ प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देतीं, तो उन्हें स्वीकार करना उचित नहीं है, जिज्ञासु की इसी भावना को आचार्य सूत्रकार अगले सूत्र में सूत्रित कर रहे हैं-

(२३७) तदनुपलब्धेरहेतु:॥ ३६॥

सूत्रार्थ— तद्-अनुपलब्धे: = चक्षुओं में रश्मि (ज्योति) की प्रत्यक्ष उपलब्धि न होने से, अहेतु: = उक्त हेतु उपयुक्त नहीं है।

व्याख्या— नेत्र में ज्योति-रश्मि होने की जो बात पूर्व में कही गई, वह अनुपयुक्त है। कारण यह है कि नेत्रस्थ ज्योति कल्पित होती है। प्रदीप (दीपक) की ज्योति प्रत्यक्ष देखी एवं उसकी गर्मी अनुभव की जाती है। नेत्र में तो मात्र देखने की शक्ति होती है, उसी को ज्योति कह दिया जाता है। वस्तुत: बाहर की ज्योति-रश्मि (सूर्य, चन्द्र या दीपक) से नेत्र देखते हैं, उनकी अपनी ज्योति या रश्मि नहीं होती। यदि ज्योति होती, तो बाह्य प्रकाश के बिना ही नेत्र देखने में समर्थ होते। प्रत्यक्षत: तो गोलक और पुतली ये ही दोनों

दिखाई देते हैं,उसमें ज्योति का तो कभी दर्शन नहीं होता। अस्तु, पूर्व में जो नेत्र और रश्मि के संयोग से - अणु-महत् पदार्थों के दर्शन की बात कही गई है, वह अहैतुक है ॥३६॥

सूत्रकार इसका समाधान अगले सूत्र में कर रहे हैं—

(२३८) नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः ॥ ३७॥

सूत्रार्थ— अनुमीयमानस्य = अनुमान से सिद्ध हुए या ज्ञात पदार्थ का, प्रत्यक्षतः = प्रत्यक्ष से, अनुपलब्धिः = उपलब्ध न होना, अभावहेतुः = अभाव का कारण, न = नहीं है।

व्याख्या— यदि कोई वस्तु प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध न होकर केवल अनुमान से सिद्ध है, तो भी उसका अभाव है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। भावार्थ यह है किसी वस्तु को अनुमान से जान लिए जाने पर, प्रत्यक्षतः वह भले ही न दिखाई पड़े, तो भी वह है, ऐसा समझना चाहिए। जैसे- जब चन्द्रमा पूरा दिखाई नहीं देता, उसका कुछ भाग छिपा रहता है, तो भी अनुमान से सिद्ध होने के कारण उसके उस भाग के अस्तित्व को नहीं नकारते, जो छिपा रहता है। इसी तरह पृथिवी के एक कोने (भाग) पर खड़े होने पर दूसरे भाग का दर्शन प्रत्यक्षतः नहीं होता, तो भी उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं अर्थात् पृथिवी गोल है ऐसा मानते हैं। ठीक इसी तरह चक्षुरश्मि प्रत्यक्षतः न दीखने पर भी अनुमान से सिद्ध है। अतः अस्तित्व को (प्रत्यक्ष न होने के कारण) नकारना उचित नहीं है ॥३७॥

अगले सूत्र में आचार्य नेत्र-रश्मि प्रत्यक्ष न होने का कारण बता रहे हैं—

(२३९) द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः ॥ ३८॥

सूत्रार्थ— च = और, द्रव्यगुणधर्मभेदात् = द्रव्य, गुण एवं धर्म के भेद से, उपलब्धिनियमः = उपलब्धि का नियम देखा जाता है (पदार्थ के सम्बन्ध में)।

व्याख्या— द्रव्य (पदार्थ), गुण और धर्म के भेद से प्रत्यक्ष न भी हों, तो भी पहचान लिए जाते हैं। तात्पर्य यह है कि पदार्थ प्रत्यक्ष हों, तो उनकी पहचान अपने गुण और धर्म से हो जाती है, किन्तु कई बार पदार्थ प्रत्यक्ष तो नहीं दीखते, पर उनका गुण देखकर उनकी पहचान हो जाती है। उदाहरणार्थ जल और अग्नि को ही लें। जल के सूक्ष्म परमाणु आकाश में विद्यमान रहते हुए भी नेत्रों से दृष्टिगोचर नहीं होते। जब शीत का स्पर्श होता है, तब उनका अनुभव किया जाता है। उन्हीं के द्वारा सर्दी अथवा शीत होती है। इसी प्रकार अग्नि के कण आकाश में विद्यमान रहते हुए भी दिखाई नहीं देते, किन्तु गर्मी की ऋतु में उष्णता गर्मी के रूप में उनका अनुभव होता है। यही उष्णता गर्मी और लू के रूप में वायु के माध्यम से संचरित होती है। चक्षु रश्मियों के सम्बन्ध में भी यही बात है। उनमें रूप और स्पर्श दोनों गुण अप्रकट रहते हैं, इसी कारण उन्हें प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता (पर उनका अस्तित्व तो है ही) ॥३८॥

अगले सूत्र में आचार्य इसी तथ्य की वास्तविकता को स्पष्ट कर रहे हैं—

(२४०) अनेकद्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥ ३९॥

सूत्रार्थ— अनेकद्रव्यसमवायात् = अनेक द्रव्य (द्रव्य अवयवों) में समवाय सम्बन्ध से, च = और, रूप विशेषात् = रूप विशेष से (रुप के वैशिष्ट्य से), रूपोपलब्धिः = रूप की उपलब्धि होती है।

व्याख्या— अग्नि का गुण रूप है। उसके दो प्रकार है। एक वह है, जो उत्पन्न होने से प्रकट हो जाता है और दूसरा वह, जो उत्पन्न होने पर प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु स्पर्श और अनुभव से प्रकट होता है। अनेक द्रव्यों का जब परस्पर सम्मिलन होता है, तब उनमें रूप का प्राकट्य नहीं होता। नेत्र की रश्मियाँ अप्रकट या अनुद्भूत रूप हैं, इसी कारण उनका प्रत्यक्षीकरण नहीं होता, किन्तु उन्हें अनुभव से जाना जाता है। जहाँ रूप एवं उसके आश्रय बने द्रव्य को प्रत्यक्षतः देखा जाता है, उसे रूपविशेष कहा जाता है; जिसकी

विद्यमानता से रूप का ज्ञान होता है, न होने से नहीं होता। रूप के इसी धर्म को उद्‌भूत कहा जाता है। नेत्र में ज्योति का उद्‌भव या प्राकट्य नहीं होता, जिसके कारण उसका (ज्योति का) प्रत्यक्ष भी नहीं होता। तेज में स्पर्श भी है और अनुभव भी। उदाहरणार्थ सूर्य की किरणों को ही लें, उनका प्रत्यक्ष दर्शन भी होता है और त्वचा पर उनकी उष्णता का अनुभव भी होता है। कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं, जिनका रूप तो प्रत्यक्ष होता है, किन्तु स्पर्श का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। जैसे- प्रदीप की ज्योति नेत्र से तो प्रत्यक्ष होती है, किन्तु मन्द होने से त्वचा को उसकी गर्मी का अनुभव तब तक नहीं होता, जब तक वह बिल्कुल निकट न हो। कुछ पदार्थ ऐसे हैं, जो नेत्र से तो प्रत्यक्ष नहीं होते, किन्तु स्पर्श से उन्हें अनुभव किया जा सकता है। जैसे- गर्म जल। इसमें गर्मी के रूप का प्रत्यक्ष दर्शन तो नहीं होता, किन्तु छूने पर उसकी उष्णता का पता अवश्य चलता है। कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं, जिनमें न रूप उपलब्ध है और न ही स्पर्श। जैसे- नेत्र किरणें, इनका प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें न रूप है, न स्पर्श; किन्तु वे नहीं हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता॥३९॥

अगले सूत्र में आचार्य स्पष्ट कर रहे हैं कि सूर्य रश्मियों और प्रदीप ज्योति के समान नेत्र ज्योति का उद्‌भूत स्वरूप क्यों नहीं होता—

(२४१) कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ॥ ४० ॥

सूत्रार्थ— कर्मकारितः = अपने कर्मों के अनुसार (पूर्वकृत कर्मों के अनुसार), इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों की, व्यूहः = रचना, च = और, पुरुषार्थतन्त्रः = पुरुषार्थ (पुरुष के प्रयोजनों) के अधीन होती है।

व्याख्या— शरीर एवं समस्त इन्द्रियाँ (प्रकृति द्वारा) जीवात्मा के अदृष्ट कर्मफलों के भोग के लिए रची गई हैं और आत्मा के अधीन ही समस्त इन्द्रियाँ हैं। चैतन्य आत्मा सभी सुख-दुःख इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि शरीर एवं समस्त इन्द्रियाँ जीवात्मा के कर्मफल भोग साधन स्वरूपा हैं। शरीर व इन्द्रियाँ स्वतन्त्र नहीं हैं। यदि कर्मों का भोग न हो, तो इन्द्रियों की-शरीर की रचना की आवश्यकता ही नहीं है। जब जीवात्मा के समस्त कर्म (अच्छे या बुरे) क्षय हो जाते हैं, तब आत्मा मुक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसके जन्म-मरण के बन्धन समाप्त हो जाते हैं, तब उसे बार-बार शरीर-इन्द्रियाँ धारण नहीं करनी होतीं। कर्मफल भोग हेतु जब समस्त इन्द्रियों व शरीर की रचना होती है, तो नेत्र-रश्मियों को इनमें सम्मिलित क्यों न माना जाय। स्पष्ट है कि नेत्र-रश्मियों की रचना भी सुख-दुःखादि भोगों की प्राप्ति के लिए हुई है। इनमें जो रूप और स्पर्श अनुद्‌भूत रहता है, उसका विशेष प्रयोजन है। यदि नेत्र-रश्मियों का रूप दिखे एवं उन्हें स्पर्श किया जा सके तो व्यवहार सिद्धि में बाधा उत्पन्न हो जायेगी। जब रूप का उद्‌भव होगा, तो नेत्र गोलक के साथ उसका सतत सम्पर्क रहेगा, जिसके कारण निद्रा आना दूभर हो जायेगा। तैजस स्पर्श गर्म होता है। यदि वह रश्मियों में उद्‌भूत हो जाय और निरन्तर नेत्र गोलक सम्पर्क में रहे, तो उसके जल जाने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार व्यवहार में बहुत विघ्न उपस्थित हो जाते। इसी कारण नेत्र-रश्मियों का रूप और स्पर्श उद्‌भूत नहीं होता॥४०॥

अब जिज्ञासु का प्रश्न यह है कि नेत्र को तैजस मानने का आधार क्या है ? जबकि उस (तेज) का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। सूत्रकार इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि नेत्र प्रकाश के अभाव में कुछ भी देख नहीं सकता अर्थात् प्रकाश नेत्र का सहायक है तथा प्रकाश तेज के धर्म को कहते हैं, इसी कारण नेत्र को तैजस कह सकते हैं। अगले सूत्र में इसी की पुष्टि की जा रही है—

(२४२) अव्यभिचाराच्च प्रतीघातो भौतिकधर्मः ॥ ४१ ॥

सूत्रार्थ— च = तथा, अव्यभिचारात् = व्यभिचार दोष से रहित होने से, प्रतीघातः (प्रतिघातः) = (पदार्थ का) प्रतिषेध अथवा रुकावट हो जाना, भौतिकधर्मः = भौतिक धर्म है।

व्याख्या— किसी पदार्थ अथवा आवरण के सामने आ जाने से उस विषय को ग्रहण करने में इन्द्रिय के समक्ष बाधा उपस्थित हो जाना भौतिक धर्म कहलाता है। पृथिवी आदि जो भौतिक तत्त्व हैं, इनसे निर्मित पदार्थ का, बाधा हो जाने से प्रतिघात हो जाता है। भौतिक पदार्थ में बाधा को पार करने की शक्ति नहीं है। जैसे- कोई घट है, उसके सामने कोई दीवार है, तो दीवार होने से वह उस पार नहीं जा सकता, जब तक उसे किसी दरवाजे, खिड़की या दीवार के ऊपर से न ले जाया जाये।

नेत्र-रश्मियाँ भी दीवार के सामने आने पर रुक जाती हैं, अत: उनका भौतिक होना सिद्ध है। अभौतिक पदार्थ के लिए प्रतिघात (बाधा) कोई समस्या नहीं होती। भौतिक पदार्थ में सदा प्रतिघात और अभौतिक पदार्थ में अप्रतिघात होता है। अत: इसमें (भौतिक पदार्थ के प्रतिघात होने में) कोई व्यभिचार-दोष भी नहीं है। व्यभिचार दोष तब होता, जब अभौतिक पदार्थ में कभी प्रतिघात होता और कभी न होता; किन्तु अभौतिक पदार्थ में सदैव अप्रतिघात ही रहता है। भौतिक पदार्थ में कभी-कभी अप्रतिघात भी हो जाता है, जैस- काँच, अभ्रक पत्र, जल आदि को पार करके भी उसके पार रखी वस्तु को देखा जा सकता है। वस्तुत: काँच आदि पारदर्शी होते हैं। इनके पार रखे दीप के प्रकाश को देखा जाता है अथवा दीपक की रश्मियाँ इनके पार पहुँचकर प्रकाश बिखेरती हैं, तो भी दीपक रश्मियों का भौतिक होना सर्वमान्य हैं, इस उदाहरण से इन्द्रियों-नेत्र रश्मियों को अभौतिक मान लेना उचित नहीं है। इस तरह से तो मिट्टी, धातु आदि के पात्रों में भी तेज-उष्णता पहुँच कर भोज्य पदार्थों को पकाती है। रसोई गृह में सम्पूर्ण पाक प्रक्रिया इसी प्रकार होती है; किन्तु मिट्टी धातु आदि में प्रवेश करने वाली रश्मियों-उष्णता को कोई अभौतिक नहीं कह सकता॥४१॥

अगले सूत्र में आचार्य सूत्रकार नेत्र-रश्मियों के प्रत्यक्ष न होने का कारण सोदाहरण बता रहे हैं—

(२४३) मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धि:॥४२॥

सूत्रार्थ— मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत् = मध्याह्नकाल में उल्का (तारों के) प्रकाश की उपलब्धि न होने के समान, तदनुपलब्धि: = उसकी (नेत्र रश्मियों की) अनुपलब्धि माननी चाहिए।

व्याख्या— अन्तरिक्ष में उल्का (तारे) सदा रहते हैं, परन्तु मध्य दिन अर्थात् दोपहर में सूर्य के प्रकाश की प्रबलता के कारण वे दीखते नहीं, तो भी ऐसा नहीं माना जाता कि उनका अभाव है। इसी प्रकार नेत्र-रश्मि (नेत्र ज्योति) होते हुए भी दिखाई नहीं देती, तो उसके अस्तित्व से कैसे इनकार किया जा सकता है? वास्तविकता यह है कि दिन में सूर्य के तीव्र प्रकाश के कारण तारे दिखाई नहीं पड़ते। इसी प्रकार नेत्र रश्मियों में रूप और स्पर्श अनुद्‌भूत रहते हैं। यही कारण है कि उनका प्रत्यक्षीकरण नहीं हो पाता॥४२॥

जिज्ञासु इस समाधान में यह शङ्का उठा सकता है कि नेत्र-रश्मि के प्रत्यक्ष दिखाई न पड़ते हुए भी उसका अस्तित्व माना जाता है, तो अन्य किसी धातु या पदार्थ में प्रकाश का होना स्वीकार क्यों न कर लिया जाय, जैसे मिट्टी के ढेले या लौह धातु में। दिन में सूर्य के तीव्र प्रकाश में तो वह भी दिखाई न पड़ेगा। इस आशङ्का का समाधान आचार्य सूत्रकार अगले सूत्र में कर रहे हैं—

(२४४) न रात्रावप्यनुपलब्धे:॥४३॥

सूत्रार्थ— न = उचित नहीं है, रात्रौ = रात्रि में, अपि = भी, अनुपलब्धे: = अनुपलब्ध होने से।

व्याख्या— यदि मिट्टी के लोष्ट (ढेले) अथवा लौह पदार्थ में प्रकाश है और वह दिन में सूर्य रश्मियों से अभिभूत होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता, तो रात्रि में जब सूर्य की रश्मियाँ (प्रकाश) नहीं रहतीं, तब उनमें प्रकाश दिखना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता अर्थात् रात्रि में भी उनमें प्रकाश नहीं दीखता। अत: स्पष्ट है कि मिट्टी के ढेले अथवा लौह पदार्थ में प्रकाश नहीं है। अस्तु, यह कथन उचित नहीं है कि मिट्टी के ढेले आदि में भी प्रकाश है; किन्तु दिन में नहीं दीखता। इस उदाहरण से यह सर्वथा सिद्ध है कि जो पदार्थ किसी भी समय में अनुपलब्ध है, तो उसकी उपलब्धि मानना असंगत है॥४३॥

नेत्र-रश्मि के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि नेत्र-रश्मि भी दिन या रात्रि में प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती, तो उसकी इस अनुपलब्धि से क्या उसका सर्वथा अभाव मान लिया जाय? इसी प्रश्न का उत्तर अगले सूत्र में दे रहे हैं—

(२४५) बाह्यप्रकाशानुग्रहाद् विषयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ॥ ४४ ॥

सूत्रार्थ— बाह्यप्रकाशानुग्रहात् = बाह्य (बाहरी) प्रकाश के अनुग्रह (सहकार) से, विषयोपलब्धेः = विषय की उपलब्धि अथवा विषय के प्रत्यक्ष होने से, अनभिव्यक्तितः = अभिव्यक्त न होने से (रूप-स्पर्श आदि की द्रव्य में), अनुपलब्धिः = प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती।

व्याख्या— बाह्य प्रकाश अर्थात् सूर्य, दीपक आदि की सहायता द्वारा ही चक्षु रूप का ग्रहण करने में समर्थ हो पाते हैं। यदि बाहरी प्रकाश न हो, तो नेत्र रूप को ग्रहण नहीं कर पाते। इस रूप दर्शन में भी विषय का ग्रहण तभी सम्भव है, जब पदार्थ का रूप उद्भूत अर्थात् प्रकट हो। अनुद्भूत रूप को नेत्र नहीं देख पाते। वास्तविकता यह है कि बाह्य प्रकाश द्वारा केवल स्थूल पदार्थ ही देखे जा सकते हैं, सूक्ष्म नहीं। चूँकि चक्षु रश्मियों का रूप अनुद्भूत-अप्रकट अर्थात् सूक्ष्म है। इसलिए उन्हें देखा जा सकना सम्भव नहीं है। अतः पूर्व सूत्र में जो नेत्र रश्मि के न होने में (तदनुपलब्धेः) हेतु दिया है, वह असंगत है ॥४४॥

इसी तथ्य की पुष्टि आचार्य सूत्रकार अगले सूत्र में कर रहे हैं—

(२४६) अभिव्यक्तौ चाभिभवात् ॥ ४५ ॥

सूत्रार्थ— अभिव्यक्तौ = अभिव्यक्त होने पर (पदार्थ की, प्रकाश की सहायता से), च = तथा, अभिभवात् = अभिभव होना स्वीकार किये जाने से (उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है)।

व्याख्या— जिन पदार्थों की अभिव्यक्ति होना सम्भव है तथा जिन्हें देखने के लिए बाह्य प्रकाश का होना आवश्यक नहीं होता, उन्हीं पदार्थों का अभिभव (दब जाना) होता है। जैसे-तारागण, दीपक आदि पदार्थ। ये सभी प्रकट-अभिव्यक्त भी हैं और इन्हें देखने के लिए बाहरी प्रकाश का होना आवश्यक भी नहीं है। ये पदार्थ किसी बड़े प्रकाश (सूर्यादि प्रकाश) के होने से अभिभूत हो जाते हैं अर्थात् दिखाई नहीं पड़ते। कुछ पदार्थ उद्भूत रूप वाले तो नहीं होते; किन्तु बाह्य प्रकाश की अपेक्षा रखते हैं, उनका अभिभव नहीं होता। जैसे- घट-पट आदि स्थूल पदार्थ। चूँकि नेत्र-रश्मियाँ दीपक आदि के समान अभिव्यक्त नहीं हैं, अतः इनका प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। कई जन्तु ऐसे भी हैं,जो रात्रिकाल में भ्रमण करते हैं, उनकी आँखों में किरणें दिखाई पड़ती हैं। जैसे-शेर, बिल्ली आदि। इससे अनुमान होता है कि नेत्रों में प्रकाश होता है, अन्तर मात्र इतना है कि तीव्र ज्योति वालों में इसका प्रत्यक्षीकरण हो जाता है और मन्द ज्योति वालों में नहीं होता ॥४५॥

अगले सूत्र में आचार्य इस तथ्य की पुष्टि कर रहे हैं कि नेत्र-रश्मियों का अस्तित्व तो है ही; किन्तु जिन प्राणियों की चक्षुरश्मियाँ उद्भूत रूप वाली होती हैं, उनका प्रत्यक्ष किया जा सकता है—

(२४७) नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ॥ ४६ ॥

सूत्रार्थ— च = तथा, नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनात् = रात्रिकाल में विचरण करने वाले प्राणियों की नेत्र रश्मि को देखे जाने से (नेत्र ज्योति के अस्तित्व की मान्यता सिद्ध होती है)।

व्याख्या— चक्षु-रश्मियों का अस्तित्त्व मात्र अनुमान प्रमाण से ही नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध है। रात्रिकाल में विचरण करने वाले जीवों-शेर, बिलाव, भेड़िया आदि के नेत्रों की रश्मियाँ रात्रि के अन्धकार में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती हैं। इसी प्रकार बैल, गाय आदि पशुओं की नेत्र-ज्योति के भी रात्रि में प्रत्यक्ष दर्शन किये जाते हैं। इन सभी के चक्षु तैजस धर्म वाले हैं। इनकी चक्षु-रश्मि का दर्शन होने का कारण उसका रूप उद्भूत होना है। मनुष्य और अन्य मन्द ज्योति वाले जीवों की नेत्र-रश्मियों का दर्शन प्रत्यक्षतः न होने से उनका अभाव नहीं कहा जा सकता। यदि कोई यह कहे कि मनुष्य और बिलाव, शेर आदि में जातिभेद

प्रत्यक्ष है और इस भेद के कारण चक्षु भेद भी होना संभव है, ऐसी स्थिति में शेर-बिलाव आदि के चक्षु-रश्मि युक्त और मनुष्य के चक्षु-रश्मि रहित हो सकते हैं; किन्तु यह कथन उपयुक्त नहीं है। धर्मी जब समान हो, तो धर्म भेद रहना प्रमाणित नहीं होता। मनुष्य-शेर आदि में भिन्नता का आधार उनके शरीर हैं। चक्षु आदि द्वारा विषयों का दर्शन करना- ग्रहण करना ये सभी समान हैं। ऐसी स्थिति में शेर- बिलाव आदि के नेत्र-रश्मि सम्पन्न हों और मनुष्य के नेत्र-रश्मि रहित, ऐसा भेद होना सम्भव नहीं है। कारण यह है कि कारण भेद सदैव धर्मी के भेद पर आश्रित रहता है। नेत्र रूप धर्मी सभी जगह समान है। अत: उनमें भेद की सिद्धि नहीं होती।

इसके विपरीत एक तथ्य यह भी है कि सभी स्थानों पर नेत्र की समानता को सिद्ध करने वाले आवरण देखे जाते हैं। जैसे- मनुष्य दीवार का आवरण समक्ष आ जाने पर अर्थात् विषय के दीवार द्वारा आवृत होने पर विषयों-पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। मनुष्य के समान ही शेर, बिलाव आदि भी दीवार आदि से आवृत पदार्थ का प्रत्यक्ष (दर्शन) नहीं कर पाते। दोनों ही प्राणी आवरण के कारण-चक्षु रश्मि का पदार्थ से सन्निकर्ष न हो पाने के कारण प्रत्यक्ष करने में समर्थ नहीं होते। अत: यह स्थिति दोनों में नेत्र-रश्मि होना सिद्ध करती है। कारण यह है कि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के अभाव में प्रत्यक्ष ज्ञान होना असम्भव है ॥४६ ॥

अगले सूत्र में जिज्ञासु इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के कारणत्व पर आशङ्का कर रहा है। सूत्रकार उसकी आशङ्का को सूत्रित कर रहे हैं—

(२४८) अप्राप्य ग्रहणं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धे: ॥ ४७ ॥

सूत्रार्थ— अप्राप्य = सन्निकर्ष के बिना प्राप्त हुए ही, ग्रहणम् = ग्रहण (हो जाता है), काचऽभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धे: = काँच, अभ्रक, स्फटिक का व्यवधान होने पर भी।

व्याख्या— इन्द्रियों और अर्थ (विषय) के संयोग (सन्निकर्ष) से प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है, यह नियम सर्वत्र लागू नहीं होता। कारण यह है कि कुछ स्थानों पर ऐसा देखा जाता है कि इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष हुए बिना ही विषय का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। उदाहरणार्थ— काँच, अभ्रक पटल, स्फटिकमणि आवरण स्वरूप होने पर भी, इनके उस पार रखे हुए पदार्थ का ग्रहण नेत्रेन्द्रिय द्वारा किया जाता है। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त पदार्थों का आवरण होने पर भी नेत्रेन्द्रिय द्वारा विषय का ग्रहण होने में कोई व्यवधान नहीं आता। पूर्व सूत्र में जो यह कहा गया कि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष (संयोग) से ही पदार्थ(विषय)का ग्रहण होता है, यह तथ्य सत्य नहीं; क्योंकि यदि ऐसा होता तो काँच(शीशा),अभ्रक पटल आदि आवरण रूप होने के कारण नेत्रेन्द्रिय का पदार्थ के साथ सन्निकर्ष न हो पाने से उसका ग्रहण(दर्शन)नहीं होना चाहिए; किन्तु ऐसा होना प्रत्यक्षत: देखा जाता है। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियाँ अप्राप्त को भी ग्रहण कर सकने में समर्थ हैं, अस्तु वे भौतिक नहीं है; क्योंकि प्राप्त को ग्रहण करना भौतिक धर्म कहलाता है। सिद्ध है कि इन्द्रियाँ अभौतिक हैं,ऐसी स्थिति में जो इन्द्रियों के भौतिक होने का तथ्य विगत सूत्रों में दिया गया, वह अयुक्त है ॥४७

अगले सूत्र में आचार्य उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुए बताते हैं कि इन्द्रियाँ अभौतिक और अप्राप्त को ग्रहण करने वाली नहीं हैं—

(२४९) न कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेध: ॥ ४८ ॥

सूत्रार्थ— कुड्यान्तरितानुपलब्धे: = भीत अर्थात् दीवार के आवरण से युक्त पदार्थ (विषय) की अनुपलब्धि होने से, अप्रतिषेध: = प्रतिषेध उचित नहीं है।

व्याख्या— विगत सूत्र में जिज्ञासु द्वारा आशंका व्यक्त की गई थी कि काँच, अभ्रक पटल आदि से आवृत पदार्थ का नेत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण होने से इन्द्रियाँ अप्राप्त को ग्रहण करने के कारण अभौतिक हैं। जिज्ञासु

की यह आशंका अनुचित है। कारण यह है कि भीत अर्थात् दीवार किसी वस्तु या पदार्थ के आवरण रूप होने पर नेत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि दीवार के उस पार रखी वस्तु को सीधे नहीं देखा जा सकता। यदि इन्द्रियाँ अप्राप्त को ग्रहण करने में समर्थ होतीं, अभौतिक होतीं, तो भीत के उस पार रखी वस्तु को भी देख लेतीं जैसे— काँच आदि के उस पार रखी वस्तु को देख पाती हैं। अतः स्पष्ट है कि इन्द्रियाँ न तो अभौतिक हैं और न ही अप्राप्त को ग्रहण करने में पूर्णतः सक्षम हैं। कुछ अप्राप्त विषयों को ग्रहण करना और कुछ को ग्रहण न करना उनकी सामर्थ्य के सन्दर्भ में परस्पर विरोधाभास प्रस्तुत करता है। अतः वादी का कथन विगत सूत्र में परस्पर विरोधाभास प्रस्तुत करता है। अतः वादी के कथन का विगत सूत्र में जो प्रतिषेध किया गया है, वह अयुक्त है ॥४८॥

अगले सूत्र में आचार्य इसे और स्पष्ट कर रहे हैं कि काँच आदि से आवृत वस्तु किस प्रकार उपलब्ध होती है—

(२५०) अप्रतिघातात्सन्निकर्षोपपत्तिः ॥ ४९ ॥

सूत्रार्थ— अप्रतिघातात् = प्रतिघात अर्थात् बाधा न होने से, सन्निकर्षोपपत्तिः = सन्निकर्ष (संयोग-नेत्ररश्मि का पदार्थ के साथ) होना सिद्ध है।

व्याख्या— नेत्र रश्मि और विषय के मध्य कोई रुकावट अर्थात् बाधा न होने से दोनों का सन्निकर्ष होना सिद्ध है और जब दोनों (इन्द्रिय और अर्थ) का संयोग हो गया, तब विषय के ग्रहण में कोई प्रतिघात नहीं हैं। काँच, अभ्रक पटल आदि पदार्थ पारदर्शी व इतने स्वच्छ होते हैं कि वे नेत्र रश्मि और पदार्थ के सन्निकर्ष में कोई बाधा उत्पन्न नहीं करते। अतः इनके आवरण स्वरूप होने पर भी विषय के साथ (इन्द्रिय के) संयोग में कोई रुकावट नहीं होती। चूँकि इन्द्रिय और विषय के संयोग होने पर ही विषय का ग्रहण होता है और न होने पर नहीं होता। अतः संयोग होने पर विषय का ग्रहण होने से इन्द्रियों का भौतिक होना उपपन्न है ॥४९॥

सूत्रकार आगे बताते हैं कि भौतिक पदार्थ का प्रतिघात होना आवश्यक नहीं है—

(२५१) आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरितेऽपि दाह्येऽविघातात् ॥ ५० ॥

सूत्रार्थ— आदित्यरश्मेः = सूर्य रश्मियों के, स्फटिकान्तरिते = स्फटिक से आवृत पदार्थ में, अपि = भी, दाह्ये = जलाये जाने या पकाए जाने वाले पदार्थ में, अविघातात् = (भौतिक किरणों के) अविघात या रुकावट न होने से (उपर्युक्त सिद्धान्त ठीक है)।

व्याख्या— सूर्य रश्मियाँ काँच, स्फटिक आदि के आवरण को पार करती हैं, इसका प्रत्यक्ष प्रामाण्य यह है कि काँच, स्फटिक आदि आवरण उन (किरणों) से उष्ण (गर्म) हो जाते हैं। इसी प्रकार भगोने, बटलोई आदि किसी भी बर्तन में पानी भरकर चूल्हे पर रखने तथा नीचे से आग जलाने पर अग्नि की उष्णता पात्र के पेंदे को पार करके उसमें भरे पानी को उष्ण कर देती है। पाकशाला में सम्पूर्ण पाक-प्रक्रिया इसी प्रकार सम्पन्न होती है। इसी प्रकार सूर्य की किरणें घट में रखे जल को गर्म कर देती हैं। मिट्टी या धातु का घट-आवरण सूर्य रश्मियों को घट के अन्दर आने से व जल को गर्म करने से रोक नहीं सकता। ठीक इसी प्रकार नेत्र रश्मियों को भी काँच, स्फटिक आदि; पदार्थ तक जाने से रोक नहीं सकते ॥५०॥

जिज्ञासु इस तथ्य को स्वीकार न करके एक नई आशङ्का करता है। सूत्रकार उसके मन्तव्य को अगले सूत्र में सूत्रित कर रहे हैं—

(२५२) नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

सूत्रार्थ— इतरेतर =पृथक्-पृथक्, धर्मप्रसङ्गात् = धर्म का प्रसङ्ग होने से, न = उचित नहीं है।

व्याख्या— इन्द्रियों द्वारा (नेत्रेन्द्रिय द्वारा) काँच, अभ्रक पटल आदि व्यवधानों को पार करके विषय का ग्रहण करना तथा दीवार आदि को पार न करके विषय को ग्रहण न कर पाना ये दोनों ही बातें

परस्पर एक दूसरे की विरोधी हैं। काँच, अभ्रक पटल आदि को पार करके विषय को ग्रहण कर लेना इन्द्रियों का अभौतिक होना सिद्ध करता है, तथा दीवार आदि को पार न करके विषय ग्रहण न कर पाना इन्द्रियों का भौतिक होना सिद्ध करता है। अतः इन्द्रियों को भौतिक माना जाय या अभौतिक यह विवाद का विषय है। फिर अप्राप्यकारी होने से इन्द्रियों को अभौतिक ही क्यों न मान लिया जाय? अथवा इसका कोई उचित कारण बताना चाहिए॥५१॥

अगले सूत्र में सूत्रकार उचित कारण बताकर उक्त शंका का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२५३) आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद्रूपोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः॥५२॥

सूत्रार्थ— आदर्शोदकयोः = आदर्श अर्थात् दर्पण तथा उदक अर्थात् जल में, प्रसादस्वाभाव्यात् = स्वाभाविक नैर्मल्य (स्वच्छता) होने से, रूपोपलब्धिवत् = रूप की (प्रतिबिम्ब स्वरूप) उपलब्धि होने के समान, तदुपलब्धिः = उस (स्फटिक, काँच आदि से आवृत पदार्थ) की उपलब्धि होती है।

व्याख्या— कतिपय पदार्थों की संरचना इस प्रकार की होती है, जिनमें स्वाभाविक रूप से इतनी निर्मलता-पारदर्शिता होती है कि वे इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष (संयोग) में व्यवधान उत्पन्न नहीं करते, जिससे व्यवहित होते हुए भी इन्द्रिय का विषय के साथ संयोग हो जाता है और विषय का ग्रहण हो जाता है। काँच, अभ्रक पटल तथा जल आदि स्वच्छ और पारदर्शी होते हैं। इनके पार यदि कोई वस्तु रखी है, तो चक्षु रश्मियाँ इन्हें पार करके विषय का ग्रहण कर लेती हैं, जबकि दीवार आदि के पार रखी वस्तु को नेत्रेन्द्रिय ग्रहण नहीं कर पाती। इसका कारण दीवार का स्वाभाविक रूप से उतना निर्मल न होना है। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण दर्पण का है। माना कि किसी के समक्ष शीशा रखा है, तो नेत्र रश्मियाँ शीशे के पर भाग से टकराती हैं और तुरन्त वापस हो जाती हैं, तो उन किरणों का उस व्यक्ति के मुख से सन्निकर्ष होता है और शीशे में मुख (मुख के प्रतिबिम्ब-छाया) का ग्रहण हो जाता है। यह उपलब्धि शीशे की संरचना के कारण होती है। यदि दर्पण का आधार द्रव्य अस्वच्छ हो जाता अथवा खुरदरा तथा धूमिल हो जाता, तब उसमें प्रतिबिम्ब बनना सम्भव न होता। सामान्य दीवार आदि में ऐसे प्रतिबिम्ब का ग्रहण हो पाना कदापि सम्भव नहीं है। दर्पण और दीवार की संरचना ही इस रूप ग्रहण में भेद का कारण है कि एक स्थान पर प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है और दूसरे स्थान पर नहीं दीखता। ठीक इसी प्रकार पदार्थों की संरचना के कारण नेत्र रश्मियाँ कुछ पदार्थों को पार कर विषय से संयुक्त होकर उसका ग्रहण कर लेती हैं और कुछ पदार्थों को पार न कर सकने के कारण विषय का ग्रहण नहीं कर पातीं। इसमें व्यवधान करने वाले पदार्थ की संरचना ही मूल कारण है न कि इन्द्रियों का अभौतिक होना। वस्तुतः इन्द्रियाँ भौतिक ही हैं॥५२॥

इसी तथ्य की पुष्टि हेतु सूत्रकार पदार्थ की स्थिति को स्पष्ट कर रहे हैं कि जिस पदार्थ की जैसी संरचना है, उसमें किसी का हस्तक्षेप नहीं कि ऐसा क्यों है और ऐसा क्यों नहीं है—

(२५४) दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः॥५३॥

सूत्रार्थ— दृष्टानुमितानाम् = प्रत्यक्ष और अनुमान से देखे गये (जाने गये) पदार्थों के सन्दर्भ में, नियोग प्रतिषेध = नियोग और प्रतिषेध (ऐसा हो-ऐसा न हो), अनुपपत्तिः = यह व्यवहार उचित नहीं है।

व्याख्या— जो वस्तु या पदार्थ प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण से सिद्ध है, उसके नियोग और प्रतिषेध की बात करना उचित नहीं है। जैसे- काँच के आवरण से युक्त पदार्थ का ग्रहण होता है और दीवार के आवरण से युक्त पदार्थ का ग्रहण नहीं होता, यह तथ्य प्रत्यक्षतः सिद्ध है, अब इसमें कोई यह कहे कि काँच से आवृत वस्तु के ग्रहण करने में चक्षुरश्मियों का काँच से प्रतिघात होना चाहिए अथवा दीवार से आवृत वस्तु को ग्रहण करने में चक्षुरश्मियों को (दीवार से) प्रतिघात नहीं होना चाहिए, यह उक्ति अनुपपन्न है।

अथवा कोई यह कहे कि काँच से ढकी वस्तु दिखाई नहीं देनी चाहिए; क्योंकि दीवार से रुकी वस्तु दिखाई नहीं देती। इसी प्रकार कोई यह कहे कि दीवार से ढकी वस्तु दिखाई देनी चाहिए; क्योंकि काँच से ढकी वस्तु दिखाई पड़ती है, तो ये दोनों ही तर्क असंगत है। कारण यह है कि हर वस्तु की संरचना और सामर्थ्य पृथक्-पृथक् है। अतः सभी पदार्थों में एक समान नियम लागू नहीं हो सकता। चक्षु से रूप की प्राप्ति होती है और नासिका से गन्ध की प्राप्ति होती है,यह प्रत्यक्ष सिद्ध है, अब इसमें कोई कहे कि चक्षु से रूप की उपलब्धि होती है, तो गन्ध की उपलब्धि भी होनी चाहिए। इसी प्रकार नासिका से रूप की उपलब्धि नहीं होती, तो गन्ध की उपलब्धि भी नहीं होनी चाहिए। ये तर्क अर्थहीन हैं।

स्पष्ट है कि दीवार आदि से नेत्र रश्मियों का प्रतिघात और काँच आदि से नेत्र रश्मियों का अप्रतिघात वस्तुतः पदार्थों के स्वभाव या संरचना के कारण होता है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि नेत्र रश्मियाँ नहीं हैं या वे भौतिक नहीं है। न केवल चक्षु वरन् समस्त इन्द्रियाँ भौतिक ही हैं ॥५३॥

इन्द्रियों के भौतिक होने की सिद्धि के पश्चात् अब इस पर विचार किया जायेगा कि इन्द्रिय एक है या अनेक। अस्तु, जिज्ञासु की आशङ्काओं को सूत्रकार अगले सूत्र में सूत्रित कर रहे हैं—

(२५५) स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्च संशयः॥ ५४॥

सूत्रार्थ— स्थानान्यत्वे = स्थान के भिन्न होने अथवा अवयव भेद से, नानात्वात् = वस्तुओं के अनेक होने से, च = तथा, अवयविनानास्थानत्वात् = एक ही अवयवी (वस्तु-पदार्थ) के अनेक स्थान (आश्रय स्थल आधार) होने से, संशयः = इन्द्रियों के सम्बन्ध में शंका होती है (कि वह एक है या अनेक)।

व्याख्या— लोक में प्रायः देखा जाता है कि घट-पट आदि विभिन्न पदार्थ, विभिन्न स्थानों में रखे रहते हैं, इससे स्पष्ट है कि, वे बहुत हैं और एक दूसरे से पृथक् भी हैं। सम्भव है इसी तरह इन्द्रियाँ भी शरीर में विभिन्न स्थलों पर हैं और एक-दूसरे से भिन्न हैं तथा बहुत सी हैं। अथवा यह भी हो सकता है, जैसे— एक अवयवी के विभिन्न अवयव अनेक स्थानों पर रहते हुए वस्तुतः एक ही होते हैं, उसी प्रकार इन्द्रिय एक ही हो और जो विभिन्न इन्द्रियाँ हैं, वे उसके अवयव हों। दोनों प्रकार की सम्भावना के कारण यह संशय होता है कि इन्द्रिय एक है या अनेक॥५४॥

अब अगले सूत्र में सूत्रकार एकपक्षीय समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२५६) त्वगव्यतिरेकात्॥ ५५॥

सूत्रार्थ— अव्यतिरेकात् = व्यतिरेक न होने से, त्वक् = त्वचा (ही एक इन्द्रिय है)।

व्याख्या— त्वक् अर्थात् त्वचा सम्पूर्ण शरीर में संव्याप्त है। कोई भी स्थान ऐसा नहीं, जहाँ त्वचा न हो । तात्पर्य यह है कि शरीर में जहाँ कहीं भी कोई इन्द्रिय है। आँख, कान, रसना, नासिका आदि वहाँ त्वचा अवश्य है। त्वचा जब नेत्र गोलक में रहती है, तब रूप ग्रहण करती है, जब नासिकाग्र में रहती है, तब गन्ध को ग्रहण करती है, जब जिह्वाग्र में होती है, तब रस को ग्रहण करती है। इसी प्रकार त्वचा कर्णशष्कुली में रहकर शब्द का तथा सम्पूर्ण शरीर में रहकर स्पर्श का ग्रहण करती है। जब समस्त इन्द्रियों में त्वचा ही प्रधान है, तो उसे ही प्रधान इन्द्रिय अथवा एकमात्र इन्द्रिय क्यों न मान लिया जाय। पृथक् से अनेक इन्द्रिय मानने की क्या आवश्यकता है ?॥५५॥

अब इस पर आक्षेप किया जा रहा है—

(२५७) नेन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः॥५६॥

सूत्रार्थ— इन्द्रियान्तरार्थ = इन्द्रियों के विषय की, अनुपलब्धेः = उपलब्धि न होने से, न = ऐसा कथन उचित नहीं है।

व्याख्या— यदि यह माना जाय कि त्वचा ही एक इन्द्रिय है, तो यह कहना असंगत है। कारण यह है कि यदि त्वचा ही एक इन्द्रिय होती, तो उससे समस्त इन्द्रिय विषयों का ज्ञान होना चाहिए था; परन्तु ऐसा कहाँ होता है। अन्धे व्यक्ति को रूप का तथा बहरे व्यक्ति को शब्द का ज्ञान कहाँ होता है। इससे विदित होता है कि त्वचा के अतिरिक्त और इन्द्रियाँ भी होती हैं, जिनसे उन-उन विषयों का ज्ञान होता है, जिनसे वे सम्बद्ध हैं। जैसे— नेत्र से रूप का ज्ञान, कर्ण से शब्द का ज्ञान, जीभ से (रसना से) रस का ज्ञान तथा नासिका से गन्ध का ज्ञान होता है। त्वचा से तो मात्र स्पर्श की अनुभूति होती है। समस्त ज्ञान त्वचा के द्वारा सम्भव नहीं है ॥५६॥

अब वादी इस पर आक्षेप करते हुए त्वचा को ही इन्द्रिय मानने के सम्बन्ध में तर्क देता है—

(२५८) त्वगवयवविशेषेण धूमोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥५७॥

सूत्रार्थ— त्वक्-अवयवविशेषेण = त्वचा के अवयवों के वैशिष्ट्य से, धूमोपलब्धिवत् = धूम्र की उपलब्धि के समान, तदुपलब्धिः = उस (रूप आदि) की उपलब्धि होती है।

व्याख्या— नेत्र में स्थित त्वचा को धुएँ (यदि पास में ही है, तो) का तुरन्त ज्ञान होता है अर्थात् कहीं धुआँ है तो शीघ्र ही नेत्र में जलन होती है और मस्तिष्क को वह अनुभूति त्वचा के द्वारा ही होती है। तात्पर्य यह है कि नेत्रस्थित त्वचा का विशेष भाग जिस प्रकार धूम्र की उपलब्धि कराता है, उसी प्रकार त्वचा का कोई विशेष भाग रूप की भी उपलब्धि कराता है और उसी भाग के विकृत हो जाने के कारण अन्धे को रूप की उपलब्धि नहीं होती। ठीक इसी प्रकार त्वचा के अन्य विशेष भागों से रस, गन्ध, शब्द आदि की प्राप्ति होती है। जिह्वा, नासिका, कान ये सब त्वचा के विशेष भाग ही हैं। त्वचा के विशिष्ट भाग (नेत्र स्थित भाग) में जब विकृति आ जाती है, या वह भाग नष्ट हो जाता है, तब न धुएँ का ज्ञान होता है और न रूप का। इसी प्रकार अन्य विशिष्ट भागों (जिह्वा, नासिका, कान) के न रहने से, इनके विषयों का ग्रहण हो सकना सम्भव नहीं है। अतः अलग से अन्य इन्द्रियाँ मानना व्यर्थ है, त्वचा को ही इन्द्रिय मानना तर्क संगत है ॥५७॥

अब इसका खण्डन प्रस्तुत किया जा रहा है—

(२५९) व्याहतत्वादहेतुः ॥५८॥

सूत्रार्थ— व्याहतत्वात् = व्याघात होने के कारण, अहेतुः = उक्त हेतु की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

व्याख्या— त्वचा को ही इन्द्रिय मानने के सन्दर्भ में दिये गये तर्क में व्याघात दोष होने से उपर्युक्त कथन प्रामाणिक नहीं है। पूर्व में वादी द्वारा यह तर्क प्रस्तुत किया गया था कि सम्पूर्ण शरीर में त्वचा होने के कारण त्वचा ही एक इन्द्रिय है, अन्य इन्द्रियों को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। बाद में यह कहा गया कि त्वचा के एक विशेष भाग से धूम्र और दूसरे विशेष भाग से रूप का ग्रहण होता है। अब विशेष भागों से विषय का ग्रहण किया जाना और विशेष भाग न होने से विषय का अग्राह्य होना इन्द्रियों का बहुत्व सिद्ध करता है। वादी के दोनों कथनों में एकत्व न होने से व्याघात दोष है। अतः उसका एक सिद्धान्त अपने ही दूसरे सिद्धान्त से कट जाता है। इन्द्रियों के समस्त स्थानों में त्वचा के व्यापकत्व के कारण जो त्वचा को ही एक इन्द्रिय मानने की बात कही गई है, वह भी अनुपयुक्त है; क्योंकि यदि पूरे शरीर में फैले होना ही त्वचा के इन्द्रिय होने का साधक है, तब पृथ्वी, जल, आकाशादि पंच भूतों को ही इन्द्रिय मान लेने में क्या हर्ज है, क्योंकि ये भी तो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हैं तथा ये सभी इन्द्रियों के आश्रय स्थल भी हैं ॥५८॥

त्वचा के एक ही इन्द्रिय होने के विरुद्ध एक अन्य तर्क सूत्रकार प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२६०) न युगपदर्थानुपलब्धेः ॥५९॥

सूत्रार्थ— युगपत् = एक ही समय में, अर्थ- अनुपलब्धेः = समस्त विषयों की उपलब्धि न होने से भी, न = उक्त (त्वचा ही एक इन्द्रिय है, यह) कथन उचित नहीं है।

व्याख्या— यदि त्वचा को ही एक इन्द्रिय माना जाता है, तो त्वचा के द्वारा एक ही समय में विभिन्न विषयों का ज्ञान होना चाहिए था; क्योंकि त्वचा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है; किन्तु ऐसा होता कहाँ दीखता है ? इससे स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ भी पृथक्-पृथक् हैं। यदि त्वचा को ही एक इन्द्रिय माना जाये, तो फिर कोई अन्धा या बहरा नहीं रह सकता; क्योंकि तब त्वचा सभी विषयों को ग्रहण करेगी और नेत्र-श्रोत्र के बिना ही रूप और शब्द का ग्रहण होने लगेगा; किन्तु देखा यह जाता है कि त्वचा के सम्पूर्ण शरीर में विद्यमान रहने पर भी चक्षु के बिना रूप का और कर्ण (श्रोत्र) के बिना शब्द का ग्रहण (ज्ञान) नहीं होता। इससे सिद्ध है कि शरीर में स्थित समस्त इन्द्रियाँ स्व-स्व विषय पृथक्-पृथक् ग्रहण करती हैं। अस्तु, त्वचा ही एक मात्र इन्द्रिय नहीं है ॥५९॥

अब इसी विषय की पुष्टि में आचार्य एक अन्य तर्क दे रहे हैं—

(२६१) विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका॥ ६०॥

सूत्रार्थ— विप्रतिषेधात् = विप्रतिषेध (दो बराबर की शक्तियों का परस्पर विरोध) होने से, च = और (भी), त्वक् = त्वचा ही, एका = एक इन्द्रिय, न = नहीं हो सकती।

व्याख्या— विप्रतिषेध (अर्थात् दो बराबर की शक्तियों का परस्पर विरोध) होने के कारण भी त्वचा को ही एक मात्र इन्द्रिय नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि यदि त्वचा ही एक मात्र इन्द्रिय होती, तो उसके द्वारा दूरस्थ वस्तु का स्पर्श (क्योंकि स्पर्श त्वचा का मूल गुण है) और रूप का ग्रहण दोनों होना चाहिए था, अथवा संयुक्त (दृष्टि से संयुक्त) वस्तु के स्पर्श के समान उसके स्वरूप का ज्ञान भी त्वचा को होना चाहिए था; किन्तु ऐसा नहीं होता। वस्तुतः लोक में यह देखा जाता है कि रूप का ज्ञान दृष्टि से तथा स्पर्श का ज्ञान संयोग से अर्थात् किसी पदार्थ का स्पर्श करने से होता है। इन दोनों सिद्धान्तों (रूप का ज्ञान दृष्टि से और स्पर्श का ज्ञान छूने से होना) में परस्पर विरोध होने से यही स्वीकार किया जाना चाहिए कि रूप के ग्रहण की तथा स्पर्श के ग्रहण की इन्द्रियाँ अलग-अलग ही हैं। अस्तु, त्वचा को ही एक इन्द्रिय मानना असंगत है ॥६०॥

विगत कुछ सूत्रों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि इन्द्रियाँ अनेक हैं (त्वचा ही मात्र इन्द्रिय नहीं है)। अब उनकी संख्या के सन्दर्भ में आचार्य सूत्रांकित कर रहे हैं—

(२६२) इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्॥ ६१॥

सूत्रार्थ— इन्द्रियार्थ = इन्द्रियों के विषय, पंचत्वात् = पाँच होने से (पाँच इन्द्रियाँ होना सिद्ध है।)

व्याख्या— इस सूत्र में जो 'अर्थ' पद है, उसका अभिप्राय प्रयोजन के लिए है। यहाँ इसका प्रयोग इन्द्रियों के प्रयोजन के सन्दर्भ में किया गया है कि इन्द्रियों का प्रयोजन क्या है ? इन्द्रियों का प्रयोजन विषय की जानकारी करने में साहाय्य करना है। विषय प्रायः पाँच हैं, रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श। इन विषयों को ज्ञान क्रमशः नेत्र, जिह्वा, नासिका, श्रोत्र और त्वचा नामक इन्द्रियाँ कराती हैं। इन्हें ही उपर्युक्त विषयों का ग्राहक भी कहते हैं। अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त विषयों में से प्रत्येक को कोई एक ही इन्द्रिय ग्रहण कर सकती हैं। रूप का ग्रहण केवल नेत्र इन्द्रिय ही कर सकती है, अन्य इन्द्रिय नहीं। रस का ग्रहण केवल जिह्वा, गन्ध का ग्रहण केवल नासिका, शब्द का ग्रहण मात्र कर्ण (कान) तथा स्पर्श का ग्रहण केवल त्वचा ही कर सकती है। अन्य इन्द्रियाँ इनका ग्रहण नहीं कर सकतीं। त्वचा भी स्पर्श के अतिरिक्त अन्य किसी विषय को ग्रहण नहीं कर सकती। इससे सिद्ध है कि पाँच विषय हैं, जिनका ज्ञान (ग्रहण) उनसे सम्बद्ध पाँचों इन्द्रियों द्वारा ही होता है। त्वचा भी उन्हीं में से एक इन्द्रिय है, न कि सर्व विषय ग्राहक-सर्व समर्थ इन्द्रिय ॥६१॥

अब वादी पुनः आशङ्का करता है कि यदि विषयों के कारण इन्द्रियों की संख्या पाँच है, विषय तो और भी बहुत से हैं, तो उनके ग्राहक होने के कारण इन्द्रियों की संख्या भी अधिक होनी चाहिए। वादी की इसी आशंका को आचार्य सूत्रित कर रहे हैं—

(२६३) न तदर्थबहुत्वात्॥ ६२॥

सूत्रार्थ— न = इन्द्रियों का पाँच होना उचित नहीं है, तदर्थबहुत्वात् = उनके (इन्द्रियों के) अर्थ (विषय) अनेक होने से।

व्याख्या— विषय पाँच हैं, इस आधार पर इन्द्रियों का पाँच होना सिद्ध करना असंगत है; क्योंकि विषयों के भी अवान्तर बहुत से प्रकार हैं। जैसे— त्वचा का विषय स्पर्श है, तो स्पर्श भी शीत, उष्ण, कठोर, मृदु भेद से अनेक प्रकार का होता है। इसी प्रकार रूप के भी अनेक भेद हैं, जैसे— कृष्ण, श्वेत, पीत, हरित, नील आदि वर्ण; इसी प्रकार गन्ध के भी अनेक भेद हैं, जैसे— दुर्गन्ध, सुगन्ध आदि; रस के भी अनेक भेद हैं जैसे— मृदु, लवण, कटु, तिक्त, कषाय आदि; इसी प्रकार शब्द में भी ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक शब्द आदि भेद हैं। इस प्रकार इन प्रमुख पाँच विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) के अनेक भेद-प्रभेद हैं; तो इन्द्रियाँ पाँच ही कैसे हो सकती हैं। विषयों के अनुसार इन्द्रियों को भी बड़ी संख्या में होना चाहिए॥६२॥

आचार्य सूत्रकार वादी की आशंका का अगले सूत्र में समाधान कर रहे हैं—

(२६४) गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद्गन्धादीनामप्रतिषेधः॥ ६३॥

सूत्रार्थ— गन्धत्वाद्यव्यतिरेकात् = गन्धत्व आदि से अव्यतिरेक (अभेद) होने के कारण, गन्धादीनाम् = समस्त प्रकार के गन्ध आदि का, अप्रतिषेधः = प्रतिषेध (निषेध) किया जाना उचित प्रतीत नहीं होता।

व्याख्या— गन्ध आदि से उनके गन्धत्व आदि का अभेद होने से उपर्युक्त सूत्र में जो प्रतिषेध किया गया है, वह संगत नहीं है। तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रकार की गन्ध हो, चाहे दुर्गन्ध हो या सुगन्ध हो, इन सभी में गन्धत्व तो है ही और गन्ध का ग्रहण नासिका द्वारा होता है, किसी और इन्द्रिय द्वारा गन्ध का ग्रहण नहीं हो सकता। अतः जो (पहले) प्रतिषेध किया गया था कि एक नासिका द्वारा ही विभिन्न गन्धों का ग्रहण नहीं हो सकता, अन्य और भी इन्द्रियाँ विभिन्न गन्धों के ग्रहण हेतु होनी चाहिए, यह उचित नहीं है।

सूत्र में प्रयुक्त आदि शब्द अन्य विषयों शब्द, स्पर्श, रूप और रस के सन्दर्भ में भी इसी प्रकार का संकेत करता है, अर्थात् शब्द चाहे ध्वन्यात्मक हो या वर्णात्मक उसमें शब्दत्व तो होगा ही और वह श्रोत्र द्वारा ही ग्रहण होता है। स्पर्श शीत हो या उष्ण, पर उसमें स्पर्शत्व तो होगा ही और वह त्वचा के द्वारा ही ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार रूप चाहे काला हो या गोरा, हरा हो या पीला, रक्त हो या नीलवर्ण पर रूपत्व तो इन सभी में रहेगा और वह चक्षु द्वारा ही ग्रहण होता है, किसी अन्य इन्द्रिय द्वारा नहीं। रस चाहे कटु हो, तिक्त हो, कषाय हो या मृदु हो सभी में रसत्व है और वह रसना द्वारा ग्रहण किया जाता है, किसी अन्य इन्द्रिय द्वारा नहीं। इस प्रकार जो अनेक विषयों की बात कह कर अनेकों इन्द्रियाँ होने की बात वादी कह रहा है, वह उचित नहीं, क्योंकि इन पाँच विषयों में ही सभी विषय समाहित हो जाते हैं, अतः इन्द्रियाँ पाँच ही हैं॥६३॥

इस समाधान में वादी पुनः आशङ्का कर रहा है—

(२६५) विषयत्वाव्यतिरेकादेकत्वम्॥ ६४॥

सूत्रार्थ— विषयत्वाव्यतिरेकात् = विषयत्व के अव्यतिरेक (अभेद) होने के कारण, एकत्वम् = इन्द्रिय का एक होना सिद्ध होता है।

व्याख्या— विषय और विषयत्व में अव्यतिरेक अर्थात् अभेद है। जो भी विषय है, उसका विषयत्व तो होगा ही। जब एक विषय में उसके अन्य उपभेदों को सम्मिलित कर सकते हैं, तो सभी विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध को एक ही विषय क्यों नहीं मान सकते? कारण यह है कि इन सभी में विषयत्व तो है ही और जब सभी विषयों के लिए उनके ग्रुप (समूह) बनाकर एक-एक इन्द्रिय मानते हैं, तो

विषयत्व के आधार पर एक ही इन्द्रिय क्यों नहीं मान सकते। समस्त विषयों को ग्रहण करने के लिए विषयत्व (जाति) के आधार पर एक ही इन्द्रिय मानना सर्वथा उपयुक्त है॥६४॥

अब सूत्रकार वादी की शंका का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२६६) न बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः॥ ६५॥

सूत्रार्थ— बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः = बुद्धि-लक्षण, अधिष्ठान, गति, आकृति एवं जाति (कारण) इन पाँच के होने से, न = (विषयत्व पर आधारित समस्त विषयों के एकत्व से इन्द्रिय को एक मानना) उचित नहीं है।

व्याख्या— इन्द्रियों के पाँच होने के और भी कई कारण हैं। इनमें **प्रथम कारण बुद्धि-लक्षण** अर्थात् ज्ञान है। पाँच प्रकार का ज्ञान होने के कारण भी इन्द्रियों की संख्या पाँच ही सिद्ध होती है। शब्द का ज्ञान, स्पर्श का ज्ञान, रूप का ज्ञान, रस का ज्ञान और गन्ध का ज्ञान। ये सभी ज्ञान पृथक्-पृथक् हैं, अतः इन पाँच विषयों का ज्ञान कराने वाली इन्द्रियाँ भी पाँच हैं। **दूसरा कारण अधिष्ठान** अर्थात् इन्द्रियों का स्थान है। इन्द्रियों के स्थान भी पाँच हैं। स्पर्श का अधिष्ठान त्वचा है, जो सम्पूर्ण शरीर में विद्यमान है और जिसके अग्रभाग से स्पर्शज्ञान प्राप्त किया जाता है। रूप का अधिष्ठान नेत्र गोलक में स्थित पुतली के कृष्ण तारा का अग्रभाग है, जिसके द्वारा रश्मियाँ बाहर निकल कर ग्राह्य वस्तु के रूप का ग्रहण करती हैं। गन्ध का अधिष्ठान नासिकाग्र है, जिससे वस्तु की गन्ध-सुगन्ध का ग्रहण होता है, रस का अधिष्ठान रसना के अग्रभाग में है और शब्द का अधिष्ठान श्रोत्र अर्थात् कर्ण शष्कुली (कर्णछिद्र) में स्थित आकाश है। इसके माध्यम से वह शब्द को ग्रहण करता है। इस प्रकार इन्द्रियों के स्थानों (अधिष्ठानों) के पाँच होने से भी इन्द्रियों के पाँच होने की पुष्टि होती है। **तीसरा कारण 'गति'** है। गति का अभिप्राय विषय ग्रहण के प्रकार से है। विभिन्न इन्द्रियों के विषय ग्रहण का प्रकार भी पृथक्-पृथक् है, इससे भी इन्द्रियों के अनेक होने की पुष्टि होती है। जैसे— नेत्र-रश्मि नेत्र से बाहर निकल कर विषय (रूप) का ग्रहण करती है, त्वक् और रसनेन्द्रिय से विषय द्रव्य का सान्निध्य (स्पर्श) होने पर विषय का ग्रहण होता है आदि। इस प्रकार सभी इन्द्रियों के द्वारा विषय ग्रहण करने की अलग-अलग प्रक्रिया से स्पष्ट होता है कि इन्द्रिय एक नहीं बल्कि वे पाँच हैं। **अगला कारण 'आकृति'** है। सभी इन्द्रियों की आकृति भिन्न-भिन्न है और वह पाँच प्रकार की है, अतः इससे भी स्पष्ट है कि इन्द्रियाँ पाँच ही हैं। 'जाति' भी इन्द्रियों के एकाधिक होने का महत्त्वपूर्ण कारण है। जाति से तात्पर्य कारण से है— अर्थात् जिस कारण से कोई कार्य उत्पन्न हो, तो वह उसकी जाति होती है--जायतेऽस्मादिति जातिः । प्रत्येक इन्द्रिय के कारण का कोई न कोई 'भूत' है। चक्षु का कारण 'तेज' नामक भूत है, रसना का कारणभूत 'जल', श्रोत्र का कारणभूत 'आकाश', त्वचा का कारणभूत 'वायु' तथा नासिका का कारणभूत 'पृथिवी' है। इस प्रकार इन्द्रियों के पाँच होने के कारणों-बुद्धि- लक्षण, अधिष्ठान,गति, आकृति एवं जाति से सिद्ध है कि इन्द्रिय एक नहीं, वरन् पाँच हैं। ऐसी स्थिति में भी इन्द्रिय के एक होने की बात कहना तर्कसंगत नहीं है॥६५॥

अब वादी के यह आशङ्का करने पर कि इन्द्रियों के कारणभूत ये पाँच महाभूत ही क्यों हैं, अन्य कोई अव्यक्त तत्त्व क्यों नहीं, आचार्य अगले सूत्र में समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२६७) भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम्॥ ६६॥

सूत्रार्थ— भूतगुणविशेषोपलब्धेः = पंचभूतों के गुण विशेषों की उपलब्धि होने से, तादात्म्यम् = इन्द्रियाँ उन भूतों की कार्यरूपा हैं, यह सिद्ध होता है।

व्याख्या— इन्द्रियों के कारण पंचमहाभूत हैं, अन्य कोई अव्यक्त तत्त्व क्यों नहीं? इसे स्पष्टतः इस प्रकार समझा जा सकता है कि गन्ध आदि विषयों का ग्रहण नासिका आदि इन्द्रियों द्वारा किया जाता है। गन्ध

ग्रहण करने वाली इन्द्रिय पृथिवी तत्त्व से अभिभूत है। तात्पर्य यह है कि जिस भूत से जो इन्द्रिय उत्पन्न हुई है अथवा जो भूत जिस इन्द्रिय का करण है, उसका गुण उस इन्द्रिय विशेष द्वारा प्रत्यक्षत: अनुभव किया जाता है। जैसे— वायु के द्वारा स्पर्श की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है, जिसकी इन्द्रिय त्वचा है। आकाश के द्वारा शब्द ग्रहण किया जाता है, जिसकी इन्द्रिय श्रोत्र है। यदि आकाश अर्थात् पोला स्थान न हो तो शब्द उत्पन्न हो ही नहीं सकता। तेज से रूप प्रत्यक्ष देखा जाता है, जिसका माध्यम चक्षु स्थित ज्योति है। यदि नेत्र में तेज अर्थात् ज्योति न हो, तो रूप का ग्रहण असम्भव है। जल तत्त्व से रस की अनुभूति होती है, जिसकी इन्द्रिय रसना है। इसी प्रकार पृथ्वी तत्त्व से गन्ध का ग्रहण किया जाता है, जिसकी इन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय अथवा नासिका है। इस प्रकार पंचभूत अपने-अपने गुण विशेष से सम्बन्धित इन्द्रिय से सम्बद्ध रहते हैं। अस्तु, सिद्ध है कि इन्द्रियों के कारण पंचभूत ही हैं। इसे इस तरह भी समझा जा सकता है कि जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस भूत के गुण विशेष की जानकारी हो, उस इन्द्रिय को उसी भूत का कार्य मानना चाहिए। इस गवेषणा से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन्द्रियाँ पाँच हैं और वे पंचभूतों की कार्यरूपा हैं ॥६६॥

इन्द्रियों की सिद्धि के पश्चात् अब पृथिवी आदि पंचभूतों के अर्थ (गुणों) की चर्चा होगी कि प्रत्येक में एक-एक गुण ही है या एकाधिक गुणों का समावेश भी है—

(२६८) गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः अप्तेजोवायूनां पूर्वं पूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः ॥ ६७ ॥

सूत्रार्थ— गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानाम् = गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द में; स्पर्शपर्यन्ताः = स्पर्श तक, पृथिव्याः = पृथिवी के गुण हैं, अप्तेजोवायूनाम् = जल, तेज और वायु के, पूर्वं पूर्वम् = क्रमशः पहले-पहलों को, अपोह्य = छोड़कर (शेष गुण हैं), आकाशस्य उत्तरः = आकाश का सबसे बाद का गुण (स्पर्श पर्यन्त के बाद) शब्द है।

व्याख्या— गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पाँच प्रमुख गुण पाँचों भूतों के माने जाते हैं; किन्तु प्रत्येक भूत में आकाश को छोड़कर एकाधिक गुण भी होते हैं। फिर भी उनमें से एक की प्रधानता होने से उसका एक ही गुण सामान्यतया माना जाता है। जैसे कि उद्देश सूत्र १.१.१४ में वर्णित किया गया है। यहाँ उसका विस्तार कर रहे हैं। गन्ध, रस, रूप और स्पर्श ये चार गुण पृथिवी के हैं। इनमें पहले के एक गुण गन्ध को छोड़कर रस, रूप और स्पर्श ये तीन गुण जल के हैं, इनमें पहले गुण रस को छोड़कर स्पर्श वायु का गुण है तथा सबसे अन्त वाला 'शब्द' आकाश का गुण है। इस प्रकार इसी क्रम से पचभूतों के गुण कहे गये हैं ॥६७

इस प्रसंग पर वादी यह आशङ्का करता है कि गुणों की यह व्यवस्था अनुचित है, क्योंकि जिस भूत की कार्यरूपा जो इन्द्रिय है, वह उसी के गुण को ग्रहण करती है, अन्य भूतों के गुणों को ग्रहण नहीं करती—

(२६९) न सर्वगुणानुपलब्धेः ॥ ६८ ॥

सूत्रार्थ— सर्वगुणानुपलब्धेः = सभी गुणों की उपलब्धि न होने से (एक इन्द्रिय द्वारा), न = उपर्युक्त मान्यता युक्तिसंगत नहीं है।

व्याख्या- पूर्व में बताया गया है कि जो इन्द्रिय जिस भूत की कार्यरूपा है, वह उसी भूत के गुण को ग्रहण करती है, अन्य इन्द्रिय द्वारा उस गुण को ग्रहण नहीं किया जा सकता। यह व्यवस्था दोषपूर्ण प्रतीत होती है। जैसे पृथिवी के गुण गन्ध, स्पर्श, रूप और रस बताये गये, तो पृथिवी की कार्यरूपा इन्द्रिय नासिका है; किन्तु नासिका केवल गन्ध को ग्रहण करती है। वह स्पर्श,रूप और रस को ग्रहण नहीं कर सकती। इसी प्रकार जलतत्त्व की इन्द्रिय रसना है, किन्तु रसना केवल रस को ग्रहण करती है। वह उसके अन्य गुण (जो बताये गये) रूप और स्पर्श ग्रहण नहीं करती। इसी प्रकार तेज की कार्यरूपा इन्द्रिय चक्षु है, वह केवल रूप

को ही ग्रहण करती है, स्पर्श को नहीं। इस प्रकार एक इन्द्रिय एक-एक गुण को ही ग्रहण करती है, न कि अन्य गुणों को भी। अत: एक-एक तत्त्व (भूत) में जो कई-कई गुण बताये गये, वे अनुचित प्रतीत होते हैं॥

गुणों की व्यवस्था फिर किस तरह की होनी चाहिए, इस सन्दर्भ में वादी की भावना को सूत्रकार अगले तीन सूत्रों में सूत्रित कर रहे हैं-

(२७०) एकैकश्येनोत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तराणां तदनुपलब्धिः॥ ६९॥

सूत्रार्थ— एकैकश्येन = एक-एक (गुण) के क्रम से, उत्तरोत्तरगुणसद्‌भावात् = उत्तरोत्तर अर्थात् अगला अगला गुण क्रमशः होने से, उत्तराणाम् = आगे वाले गुणों की, तदनुपलब्धिः = उससे (पूर्व इन्द्रिय द्वारा) उपलब्धि नहीं होती।

व्याख्या— पंच गुणों का क्रम इस प्रकार है- गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द। इन्हीं के आदि कारण भूत भी क्रमशः पृथ्वी,जल, तेज, वायु और आकाश हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रत्येक भूत का क्रमशः एक-एक ही गुण है। पंचभूत और पंचगुण हैं। प्रत्येक भूत का गुण क्रमशः यह है पृथ्वी का गुण गन्ध, जल तत्त्व का गुण रस, तेज (अग्नि) का गुण रूप, वायु का गुण स्पर्श, तथा आकाश तत्त्व (भूत) का गुण शब्द है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय जिस कारणभूत से उत्पन्न हुई है, वह उसी का गुण ग्रहण करती है। अन्य भूत के गुण की उपलब्धि किसी एक इन्द्रिय को नहीं होती। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि यथाक्रम ही इन्द्रियाँ अपने से सम्बन्धित गुण को ग्रहण करती हैं। आगे के गुणों का ग्रहण पहले की इन्द्रिय से नहीं हो सकता। जैसे पृथ्वी तत्त्व का गुण गन्ध है और इस गुण को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय नासिका है, तो नासिका जल तत्त्व के गुण रस का अर्थात् स्वाद का ग्रहण नहीं कर सकती। इसी प्रकार रस तत्त्व ग्रहण करने वाली रसनेन्द्रिय रूप को ग्रहण नहीं कर सकती। अत: एक भूत का एक गुण और उससे सम्बद्ध एक इन्द्रिय का सिद्धान्त ही ठीक है॥६९॥

नोट-सूत्र में 'एकैकश्येन' पद विशेष व्याकरण प्रयोग पर आधारित है, जिसका अर्थ एक-एक के क्रम से है।

अब आशङ्का एक ही रह जाती है कि यदि एक-एक भूत के एक-एक ही गुण हैं, तब पृथ्वी के चार जल के तीन तथा वायु के दो गुण जो बताये गये हैं, उन्हें क्या कहा जाये? पृथ्वी आदि का एक-एक गुण ही है, यह कैसे सिद्ध हो? इसी सन्दर्भ में वादी के सुझाव को आचार्य अगले सूत्र में सूत्रित कर रहे हैं-

(२७१) संसर्गाच्चानेकगुणग्रहणम्॥ ७०॥

सूत्रार्थ— च = और, संसर्गात् = संसर्ग से, अनेकगुणग्रहणम् = अनेक गुणों का ग्रहण होता है।

व्याख्या— पृथ्वी आदि तत्त्वों में जो रस, रूप और स्पर्श आदि गुण बताये गये, वे संसर्ग के कारण हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि संसर्ग अर्थात् सान्निध्य से भी एक का गुण दूसरे में प्रविष्ट हो जाता है। पृथ्वी आदि में अपने तो एक-एक गुण हैं ही, चूँकि अन्य भूत भी साथ में रहते हैं, तो उनके गुण भी पहले वालों में आ जाते हैं। इस प्रकार संसर्ग के कारण एक भूत में अन्य गुण भी समाविष्ट हो जाते हैं, इसी कारण पृथ्वी आदि में एक के अतिरिक्त अन्य गुण भी बताये गये हैं॥७०॥

गुणों की व्यवस्था के सन्दर्भ में जो यह तर्क दिया गया कि संसर्ग के कारण अन्य भूतों के गुण भी आ जाते हैं, तो इसमें दोष यह प्रतीत होता है कि जब सबका पारस्परिक संसर्ग है, तो सभी भूतों में सभी भूतों के गुण होने चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं कहा गया। कहा यह गया है कि पृथ्वी में चार, जल में तीन, अग्नि में दो और वायु व आकाश में एक-एक गुण होते हैं। संसर्ग की उचित व्यवस्था के विषय में वादी पुनः अगला तर्क रख रहा है-

(२७२) विष्टं ह्यपरं परेण॥ ७१॥

सूत्रार्थ— विष्टम् = सम्बद्ध है- मिला हुआ है, हि = क्योंकि, अपरम् = अपर (पिछला), परेण = पर के साथ (पहले के साथ)।

व्याख्या— यह सूत्र संसर्ग की व्यवस्था के सन्दर्भ में है। समस्त भूत यों ही एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध हो जाते हों, ऐसा नहीं होता, वरन् पीछे बना भूत अपने पूर्व बन चुके भूत से ही संसर्ग को प्राप्त हो सकता है। पृथ्वी में जो चार गुण बताये गये हैं, वे इस कारण से हैं कि अन्य भूत जल, तेज और वायु पृथ्वी से पूर्व आविर्भूत हो चुके थे, तो पृथ्वी में एक गुण गन्ध अपना है और रस, जल तत्त्व का, तेज अग्नि तत्त्व का तथा स्पर्श वायु तत्त्व का गुण समाहित हो गया है। इसी प्रकार जब जल तत्त्व का आविर्भाव हुआ, तब तेज और वायु निर्मित हो चुके थे, पृथ्वी का आविर्भाव नहीं हुआ था। अत: जल में रस अपना गुण तथा रूप तेज (अग्नि तत्त्व) का और स्पर्श वायु का गुण संसर्ग से समाहित हो गया है। तेज (अग्नि तत्त्व) से पूर्व वायु तत्त्व की रचना हो चुकी थी, अत: तेज में रूप अपना गुण तथा स्पर्श वायु का गुण होता है। वायु का आविर्भाव अग्नि, जल और पृथ्वी तीनों से पूर्व हो चुका था, अत: उसमें इन तीनों के गुण, रस और गन्ध नहीं होते, केवल अपना गुण स्पर्श होता है। इस प्रकार पृथ्वी में चार, जल में तीन, तेज में दो और वायु में एक गुण है। गुणों के संसर्ग की व्यवस्था इसी प्रकार बनती है ॥७१ ॥

अब सूत्रकार विगत तीनों सूत्रों में प्रतिपादित की गयी वादी की भावना का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२७३) न पार्थिवाप्ययो: प्रत्यक्षत्वात् ॥ ७२ ॥

सूत्रार्थ— पार्थिवाप्ययो: = पार्थिव और जलीय द्रव्यों के, प्रत्यक्षत्वात् = प्रत्यक्ष होने से, न = उक्त मान्यता उचित नहीं है।

व्याख्या— वादी जो एक भूत का एक गुण बता रहा है, वह उचित नहीं है, कारण यह है कि पार्थिव और आप्य द्रव्यों की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती देखी जाती है। वैशेषिक दर्शन ४.१.६ में किसी द्रव्य या पदार्थ के प्रत्यक्षीकरण के लिए तीन-निमित्त बताये गये हैं १. द्रव्य का महत्परिमाण वाला होना, २. अनेक द्रव्यों वाला होना तथा ३. उसका रूप गुण वाला होना। यदि यह माना जाये कि रूप केवल तेज का गुण है, तो पार्थिव पदार्थों एवं जलीय पदार्थों का प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं है। कारण यह है कि पृथ्वी का अपना निजी गुण गन्ध है एवं जल का निजी गुण मात्र रस है। रूप इनमें से किसी का भी गुण नहीं है। यदि ये मानें कि पृथ्वी और जल में तेज का संसर्ग होता है, उससे उनका रूप दिखता है, तो यह भी संभव नहीं; क्योंकि इनमें जो रूप है, वह वस्तुत: इन द्रव्यों का नहीं; वरन् इनमें (पृथ्वी एवं जल में) संसृष्ट तेजो भाग का है। ऐसी स्थिति में पार्थिव एवं जलीय पदार्थों का नेत्रों से प्रत्यक्ष किसी तरह भी सम्भव न होगा; किन्तु इसके ठीक विपरीत इन (पार्थिव एवं जलीय) पदार्थों का नेत्र द्वारा प्रत्यक्ष होना हर व्यक्ति अनुभव करता है। जिस प्रकार तैजस से पदार्थ प्रत्यक्ष है, उसी तरह पार्थिव और जलीय पदार्थ भी प्रत्यक्ष हैं एवं रूप-गुण से सम्पन्न हैं। स्पष्ट है कि पृथ्वी एवं जल तत्त्वों में उपलब्ध गुण उनके निजी हैं, न कि किसी पदार्थ के संसर्ग से उत्पन्न हैं। पार्थिव पदार्थों में गन्ध के अतिरिक्त रस, रूप एवं स्पर्श की भी उपलब्धि होती है तथा जलीय पदार्थों में रस के अतिरिक्त रूप एवं स्पर्श भी पाया जाता है, इसी प्रकार आग्नेय पदार्थ में भी रूप के अतिरिक्त स्पर्श भी है। इससे यह स्पष्ट है कि एक-एक भूत में अनेक गुण हैं, फिर इन अनेक गुणों को संसर्गज कहना उचित नहीं है। यदि ये गुण संसर्गज होते, तो जिस प्रकार वायु के संसर्ग से आग्नेय पदार्थ स्पर्श गुण वाले हो जाते हैं, तो अग्नि के संसर्ग से वायव्य पदार्थ रूप गुण वाले क्यों नहीं होते ? संसर्ग तो दोनों में सम्भव था। पर वैसा होता दीखता नहीं। अत: सिद्ध है कि पार्थिव एवं जलीय पदार्थों में रूप की प्रत्यक्ष उपलब्धि होने के कारण उनमें (एक-एक भूत में) अनेक गुण उनके अपने हैं,न कि किसी भूत के संसर्ग से उत्पन्न होने के कारण हैं॥ ७२ ॥

जब यह सिद्ध हो चुका कि पृथ्वी चार गुणों से सम्पन्न, जल तीन गुणों से युक्त, तेज दो गुणों वाला और वायु एक गुण वाला है, तब इस आशंका का समाधान भी आवश्यक है कि पृथ्वी आदि से सम्बन्धित इन्द्रियाँ अपने सभी गुणों को ग्रहण क्यों नहीं करतीं ? इसी सन्दर्भ में यह सूत्र प्रस्तुत है —

(२७४) पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम् ॥ ७३ ॥

सूत्रार्थ— पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात् = पहले-पहले गुण के उत्कर्ष से अर्थात् उत्कृष्ट होने से, तत्तत्प्रधानम् = उस-उस गुण की प्रधानता होने से (उस गुण का प्रमुखता से ग्रहण होता है)।

व्याख्या— गुण इस क्रम से हैं- गन्ध, रस, रूप एवं स्पर्श। तदनुसार इन्द्रियों का क्रम यह है- घ्राण, रसना, चक्षु एवं त्वक्। पृथ्वी के चार गुण हैं-गन्ध, रस, रूप एवं स्पर्श। इनमें गुण गन्ध का उत्कर्ष है अर्थात् पृथ्वी में स्थित इन चारों गुणों में गन्ध उत्कृष्ट है, इसलिए घ्राणेन्द्रिय द्वारा गन्ध का ही ग्रहण होता है, रूप, स्पर्श एवं रस का नहीं। उत्कर्ष का तात्पर्य विषय को अभिव्यक्त करने की क्षमता से है। तात्पर्य यह है कि घ्राणेन्द्रिय का निर्माण जिन उपादानों से हुआ है, उनमें गन्ध गुण की प्रधानता रहती है। अतः घ्राणेन्द्रिय गन्ध को ही ग्रहण करती है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि रस, रूप एवं स्पर्श का अस्तित्व वहाँ नहीं है। बाह्य पार्थिव द्रव्य 'घी' के उदाहरण से इसे और सरलता से समझा जा सकता है। घृत में गन्ध, रस, रूप एवं स्पर्श चारों गुण हैं, किन्तु उसमें केसर का मिश्रण कर देने पर घ्राणेन्द्रिय केवल उसकी (केसर की) गन्ध को ग्रहण करती है, रस, रूप एवं स्पर्श का नहीं। इसी प्रकार जल में शर्करा मिश्रित कर देने पर रसनेन्द्रिय केवल उस शर्करा के रस की अभिव्यञ्जक होती है। इसी प्रकार तैजस पदार्थों के विषय में समझा जा सकता है।

जिस प्रकार पृथ्वी के उत्कृष्ट गुण गन्ध को घ्राणेन्द्रिय ग्रहण करती है, उसी प्रकार अन्य भूतों के भी प्रथम-प्रथम उत्कृष्ट गुण को तत्सम्बन्धित इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं। जल के रस, रूप और स्पर्श में से प्रथम उत्कृष्ट गुण रस को ही रसनेन्द्रिय ग्रहण करती है। इसी प्रकार तेज के गुण रूप और स्पर्श में से उत्कृष्ट गुण रूप को चक्षु इन्द्रिय ग्रहण करती है। इससे स्पष्ट हो गया है कि एक इन्द्रिय अनेक गुणों को ग्रहण नहीं कर सकती ॥७३ ॥

अब वादी आशंका करता है कि कि जब अनेक गुण हैं, तब यह व्यवस्था किस पर आधारित है कि एक इन्द्रिय पार्थिव है और अन्य इन्द्रियाँ आप्य, तैजस आदि। सभी इन्द्रियों का आविर्भाव एक ही भूत से क्यों न मान लें? इसी का समाधान आचार्य अगले सूत्र में कर रहे हैं—

(२७५) तद्व्यवस्थानं तु भूयस्त्वात् ॥ ७४ ॥

सूत्रार्थ— तद्व्यवस्थानम् = उसकी (इन्द्रियों की) व्यवस्था, तु = तो, भूयस्त्वात् = गुण की बहुलता (बहुतायत) से होती है।

व्याख्या— इस सूत्र में 'भूयस्त्व' का अभिप्राय गुण के उत्कर्ष से अथवा बहुलता से है। पृथ्वी, जल, तेज आदि गुणों में जिस-जिस गुण की बहुलता होती है, उसी-उसी गुण को इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं। जो कार्य किसी विशेष पदार्थ से संभव होता है, वह ठीक उसी तरह सम्पन्न होना किसी अन्य पदार्थ के द्वारा सम्भव नहीं हो सकता। जगत् में विष, ओषधि, रत्न आदि अनेक पदार्थ हैं; किन्तु जहाँ जिसकी आवश्यकता है, वहाँ वही पदार्थ उपयुक्त होगा। इन्द्रियाँ भी इसी सिद्धान्त के अनुसार रची गई हैं। पृथ्वी के चार गुण गन्ध, रस, रूप और स्पर्श हैं, तो इनमें गन्ध गुण की बहुलता होने से घ्राणेन्द्रिय में भी गन्ध का उत्कर्ष है अर्थात् वह गन्धोपादान द्रव्यों की बहुलता से निर्मित है। अतः वह केवल गन्ध को ही ग्रहण करती है, अन्य गुणों को नहीं। इसी प्रकार जल का प्रधान गुण रस है, तो रसनेन्द्रिय रस उपादान द्रव्यों से निर्मित होने से रस को ही ग्रहण करती है, रूप और स्पर्श को नहीं। तेज का प्रधान गुण रूप है और स्पर्श गौण, तो तेज से सम्बन्धित इन्द्रिय में रूपोपादान द्रव्यों की बहुलता है, इसलिए चक्षु इन्द्रिय केवल रूप को ग्रहण करती है; क्योंकि वह इसी के लिए नियत है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में समझा जा सकता है। इस प्रकार प्रत्येक गुण की अभिव्यंजना के लिए इन्द्रियों का सुनियोजित ढंग से निर्माण हुआ है और वे उसी गुण को ग्रहण करती हैं,

जिस भूत के जिस गुण की उनमें उत्कृष्टता है ॥७४॥

वादी पुनः आशंका करता है कि यदि घ्राण आदि इन्द्रियों में उस गुण की प्रधानता है, जिसके लिए वे नियत हैं, तो वे स्वगत गुण गन्ध आदि का ग्रहण क्यों नहीं करतीं? आचार्य अगले सूत्र में इसका निराकरण कर रहे हैं—

(२७६) सगुणानामिन्द्रियभावात्॥ ७५ ॥

सूत्रार्थ— सगुणानाम् = गुण सहित (इन्द्रियों के), इन्द्रियभावात् = इन्द्रियभाव में होने से।

व्याख्या— यदि घ्राण आदि इन्द्रियाँ पार्थिव हैं, तो उनमें पार्थिव आदि गुणों का अस्तित्व होता है, यदि यह सत्य है, तब इन्द्रियाँ स्वगत गुण का ग्रहण क्यों नहीं करतीं? कारण यह है कि जैसे घ्राण इन्द्रिय में पार्थिव प्रधान तत्त्व गन्ध है, तो नासिका में भी तो उस नासिकागत गन्ध का ग्रहण होना चाहिए; किन्तु नासिका तो केवल बाह्य गन्ध का ही ग्रहण करती है। इसी प्रकार जल के प्रधान तत्त्व रस का बाहुल्य जब रसनेन्द्रिय में, तो वह अपने अन्दर का रस अनुभव या ग्रहण क्यों नहीं करती? वह तो मात्र बाह्य रस का ही ग्रहण करती है। इसी प्रकार नेत्र बाह्य रूप को ही ग्रहण करता है। त्वचा बाह्य वस्तु के स्पर्श को तथा श्रोत्र बाह्य शब्द को ही ग्रहण करता है। इसमें तथ्य यह है कि उन-उन इन्द्रियों में उनका कारणभूत प्रधान गुण तो है, पर वह इन्द्रिय गुण ग्राहक के रूप में है, न कि ग्राह्य के रूप में। जैसे घ्राणेन्द्रिय में गन्ध तो है, पर उस गन्ध के सहयोग से वह बाह्य गन्धों को ग्रहण करती है। यदि वह ग्राहक अन्तः गन्ध, ग्राह्यगन्ध बन जाये, तब बाहर की गन्ध का ग्रहण नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार रूप,रस, स्पर्श, शब्द से सम्बंधित इन्द्रियाँ स्वगत गुण का ग्रहण नहीं कर पातीं; क्योंकि वे बाह्य गुण की ग्राहक हैं, स्वगत गुण ग्राह्य नहीं। ग्राहक-ग्राह्य नहीं हो सकता ॥७५॥

अब वादी कहता है कि इन्द्रियाँ बाहरी गुणों को ग्रहण करें और स्वगत गुणों की भी ग्राह्यता हो जाये, तो इसमें हानि क्या है? आचार्य इसी का समाधान करते हैं—

(२७७) तेनैव तस्याग्रहणाच्च॥ ७६ ॥

सूत्रार्थ— च = तथा, तेनैव = उस इन्द्रिय के द्वारा ही, तस्य = उसका, अग्रहणात् = ग्रहण न होने से।

व्याख्या— ऐसा कहीं देखा नहीं जाता कि जो ग्रहण करता हो, वही ग्राह्य वस्तु भी हो। ग्राह्य और ग्राहक सदैव पृथक्-पृथक् ही रहते हैं। कोई इन्द्रिय अपने स्वगत विषय के सहयोग से बाह्य विषय का ग्रहण करती है, यह तो ठीक है, किन्तु वह आन्तरिक विषय (गुण) को ग्रहण नहीं कर सकती, घ्राणेन्द्रिय बाह्य गन्ध को ग्रहण करती है, अन्तः गन्ध नहीं। नेत्रेन्द्रिय बाह्य रूप को ग्रहण करती है, नेत्र के अन्दर द्रव्यों को नहीं, हाथ बाह्य वस्तु को पकड़ते हैं, अंदर की नहीं। इस प्रकार इन्द्रिय 'ग्राहक' है और बाह्य विषय 'ग्राह्य'। ग्राह्य और ग्राहक में अभेद हो यह किसी भी प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं है। अतः इन्द्रियाँ विषयों की ग्राहक हैं। ग्राह्य नहीं, यह सिद्ध है ॥७६॥

वादी पुनः आशंका करता है कि जब श्रोत्रेन्द्रिय आकाश के गुण शब्द को ग्रहण करती है, तो अन्य इन्द्रियाँ स्वगत गुण का ग्रहण क्यों नहीं करतीं? आचार्य वादी की भावना को सूत्रित कर रहे हैं-

(२७८) न शब्दगुणोपलब्धेः॥ ७७॥

सूत्रार्थ— न = उक्त कथन उचित नहीं है, शब्दगुणोपलब्धेः = शब्द गुण की उपलब्धि होने से।

व्याख्या— शब्द को आकाश तत्त्व (भूत) का गुण मानते हैं। कर्ण इन्द्रिय स्वयं आकाश स्वरूप है। वह आकाश गत (स्वगत) शब्द का ग्रहण करता है, तो अन्य इन्द्रियाँ स्वगत विषय का ग्रहण क्यों नहीं कर सकतीं। इसका दूसरा रूप यह भी है कि आकाश का गुण शब्द है, जिसे श्रोत्रेन्द्रिय ग्रहण करती है। पर प्रायः यह देखा जाता है कि श्रोत्रेन्द्रिय बाह्य शब्द को ग्रहण करती है। पर कई बार यह भी होता है कि यदि कर्णरन्ध्र

बन्द कर लें, तो भी शब्द (आवाज) सुनाई पड़ते हैं, फिर अन्य इन्द्रियाँ अन्तः विषय का ग्रहण क्यों नहीं कर पातीं ॥७७॥

आचार्य वादी की शंका का समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२७९) तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात्॥७८॥

सूत्रार्थ— तद् उपलब्धिः = कर्णेन्द्रिय द्वारा शब्द की उपलब्धि हो जाती है, इतरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् = अन्य-अन्य गुणों से विधर्मता या विलक्षणता होने के कारण।

व्याख्या— यह सत्य है कि श्रोत्रेन्द्रिय आकाश रूप है और उसमें आकाशगत शब्द का ग्रहण हो जाता है, किन्तु इसमें कारण यह नहीं है कि कर्णेन्द्रिय की कोई विशेषता है; वरन् पृथ्वी आदि के गुणों और आकाश के गुण शब्द में वैधर्म्यता अर्थात् विलक्षणता ही इसका मुख्य कारण है। घ्राण आदि इन्द्रियों में गन्ध आदि गुण रहते हैं, पर स्वगत होने से ग्रहण नहीं किये जा सकते, यह सिद्ध हो गया है। श्रोत्रेन्द्रिय के अन्तर्गत शब्द सुने जाने का कारण यह है कि शब्द गुण रहित आकाश ही कर्णेन्द्रिय है। उसमें शब्द सदा नहीं रहता। अतः वह उसका स्वगत शब्द का ग्रहण नहीं करता। कान बन्द करने पर जो शब्द सुनाई पड़ता है, वह आकाशीय अन्य देश स्थित शब्द है, न कि कान के अन्दर स्थित आकाश का। आकाश के शब्द गुण वाले होने का अनुमान किया जाता है; क्योंकि चार गुण पृथ्वी आदि चार भूतों के हैं। अब गुणों में शब्द बचा और भूतों में एक भूत आकाश बचा। अतः परिशेष अनुमान से शब्द को आकाश का गुण माना जाता है। अतः यह तो अनुमान प्रमाण से सिद्ध है- कि श्रोत्रेन्द्रिय का कारणरूप आकाश तत्त्व है, पर उसके द्वारा (कर्णेन्द्रिय द्वारा) स्वगत शब्द का ग्रहण नहीं होता, बाह्य देश स्थित आकाश का शब्द जो सदा गूँजता रहता है, वह सुनाई देता है ॥७८॥

॥ इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् समाप्तम्॥

॥ अथ तृतीयाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥

तीसरे अध्याय के प्रथम आह्निक में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय एवं अर्थों का परीक्षण किया गया । उद्देश सूत्र क्रमांक १/१/९ के अनुसार अब बुद्धि का परीक्षण किया जाना है कि वह नित्य है या अनित्य। इसी सन्दर्भ में इस आह्निक का प्रथम सूत्र प्रस्तुत है—

(२८०) कर्माकाशसाधर्म्यात्संशयः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— कर्माकाशसाधर्म्यात् = कर्म एवं आकाश इन दोनों के ही साधर्म्य अर्थात् समानधर्मी होने से, संशयः = (बुद्धि के नित्यत्व अथवा अनित्यत्व के विषय में) संशय होता है।

व्याख्या— इस सूत्र में प्रयुक्त बुद्धि से तात्पर्य वह ज्ञान है, जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा किसी भी विषय के सन्दर्भ में हुआ करता है। विगत आह्निक में आत्मा, शरीर, इन्द्रियों एवं उनके अर्थों का परीक्षण हो चुका है। अब 'बुद्धि' का परीक्षण किया जा रहा है कि वह नित्य है अथवा अनित्य; क्योंकि कर्म और आकाश में इसकी समानधर्मिता होने से यह संदेह होता है कि बुद्धि नित्य और अनित्य में से क्या है ? सन्देह का कारण यह है कि कर्म एवं आकाश दोनों स्पर्श रहित हैं तथा बुद्धि (ज्ञान) भी स्पर्श रहित है; किन्तु कर्म और आकाश में कर्म अनित्य और आकाश नित्य है, तब यह कैसे निश्चय हो कि बुद्धि आकाश के समान नित्य है अथवा कर्म के समान अनित्य ॥ १ ॥

अब प्रथमतः बुद्धि के अनित्यत्व के सम्बन्ध में आचार्य सांख्यवादियों की ओर से सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२८१) विषयप्रत्यभिज्ञानात् ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— विषयप्रत्यभिज्ञानात् = विषय के प्रत्यभिज्ञान से (सिद्ध होता है कि बुद्धि नित्य है)।

व्याख्या— प्रत्यभिज्ञान का अभिप्राय उस ज्ञान से है, जो किसी वस्तु को दुबारा देखने पर होता है। तात्पर्य यह है कि पहले कोई वस्तु कभी देखी गई है, कालान्तर में उसे पुनः देखकर उसकी स्मृति हो आये और कहा जाये कि यह वही वस्तु है, जिसे मैंने पहले देखा था, तो यह प्रत्यभिज्ञान होने से बुद्धि की नित्यता सिद्ध होती है। नहीं तो बुद्धि अनित्य होने पर वह वस्तु पुनः स्मरण कैसे हो सकती थी; क्योंकि ज्ञान आदि उत्पन्न होकर नष्ट हो गया होता; तो पुनः उसका ज्ञान या स्मरण होना सम्भव ही न होता। अतः बुद्धि नित्य है ॥२ ॥

अब अगले सूत्र में बुद्धि की नित्यता के सम्बन्ध में वास्तविकता वर्णित कर रहे हैं—

(२८२) साध्यसमत्वादहेतुः ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— साध्यसमत्वात् = साध्य के सम होने से, अहेतुः = उपर्युक्त हेतु उचित नहीं है।

व्याख्या— बुद्धि की नित्यता हेतु प्रत्यभिज्ञान को बुद्धि का धर्म मानकर जो हेतु दिया गया है, वह अयुक्त है। कारण यह है कि जिस तरह यह साध्य है कि बुद्धि नित्य है या अनित्य उसी प्रकार 'प्रत्यभिज्ञा' भी साध्य है कि वह नित्य है अथवा अनित्य। इस प्रकार बुद्धि का तथाकथित धर्म 'प्रत्यभिज्ञा' भी जब साध्य है अर्थात् अनिर्णीत है कि वह चेतन है या अचेतन, तो यह हेतु उचित कैसे माना जा सकता है ?

तात्पर्य यह है कि प्रत्यभिज्ञा बुद्धि का धर्म है या नहीं, पहले यह निश्चित किया जाये। वस्तुतः प्रत्यभिज्ञा चेतन आत्मा (पुरुष) का धर्म है अर्थात् किसी वस्तु का ज्ञान या स्मरण स्पष्ट बुद्धि द्वारा आत्मा को होता है। बुद्धि के द्वारा ज्ञान (प्रत्यभिज्ञान) होता है, तो बुद्धि 'करण' हुई और करण जड़ (अचेतन) होता है। प्रत्यभिज्ञा चेतन है, तो वह बुद्धि (जो अचेतन है) का धर्म कैसे हो सकती है। अतः जब पूर्व में देखी हुई किसी वस्तु का स्मरण होता है, तो वह ज्ञान बुद्धि द्वारा आत्मा को होता है, न कि स्वयं बुद्धि को। अतः बुद्धि

के नित्यत्व के सम्बन्ध में जो उपर्युक्त हेतु दिया गया था, वह युक्तिसंगत नहीं है॥ ३॥

अब सूत्रकार अपने मत को और पुष्ट करने हेतु अगला तर्क दे रहे हैं—

(२८३) न युगपदग्रहणात्॥ ४॥

सूत्रार्थ— युगपत् = एक ही साथ, अग्रहणात् = (अनेक विषयों के) ग्रहण न होने के कारण, न = (बुद्धि को स्थिर और विषय ज्ञान को चल मानने वालों की भी) मान्यता उचित नहीं है।

व्याख्या- यदि कोई यह माने कि बुद्धि नित्य (अवस्थित) है और वह सामने आने वाले विषयों के साथ तदाकार होती हुई ज्ञान रूप में भासित होती है, तो यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि बुद्धि और बुद्धिवृत्ति (विषय ज्ञान) अर्थात् वृत्तिमान् (बुद्धि) और वृत्ति (विषय ज्ञान) अभिन्न नहीं हो सकते और यदि ऐसा होना मान भी लें, तो एक साथ अनेक विषय ज्ञानों का प्राप्त करना बुद्धि अर्थात् वृत्ति के लिए सम्भव नहीं है। फिर बुद्धि साधन है (ज्ञान प्राप्त करने का) और वृत्ति अर्थात् विषय ज्ञान साध्य है। साधन और साध्य अलग-अलग ही होते हैं, अभिन्न कभी नहीं होते ॥४॥

अब सूत्रकार वृत्ति एवं वृत्तिमान् में एकत्व न होने का एक और तर्क दे रहे हैं—

(२८४) अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः॥ ५॥

सूत्रार्थ— अप्रत्यभिज्ञाने = प्रत्यभिज्ञान के न होने पर, च = और, विनाशप्रसङ्गः = वृत्तिमान् के विनष्ट होने का प्रसङ्ग भी उपस्थित हो सकता है।

व्याख्या— यदि प्रत्यभिज्ञान और बुद्धि अर्थात् वृत्ति और वृत्तिमान् में अभेद मानते हैं, तो एक समस्या यह खड़ी हो जायेगी कि प्रत्यभिज्ञान के विनष्ट होने पर बुद्धि भी नष्ट हो जायेगी, क्योंकि कई ज्ञान युगपत् (एक साथ) न होने से नष्ट होते रहते हैं अर्थात् वे अनित्य हैं, और वृत्तिमान् अर्थात् बुद्धि को वादी ने नित्य माना है, तो यह कैसे सम्भव है; जब वृत्ति नष्ट होगी, तो वृत्तिमान् (बुद्धि) का भी नष्ट होना सुनिश्चित है। यदि बुद्धि नित्य है, तो वृत्ति (विषय ज्ञान) और बुद्धि (वृत्तिमान्) में अभेद नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं॥ ५॥

अब सूत्रकार आगे बता रहे हैं कि अनेक विषयों का ज्ञान एक साथ क्यों नहीं हो सकता—

(२८५) क्रमवृत्तित्वादयुगपद् ग्रहणम्॥ ६॥

सूत्रार्थ— क्रमवृत्तित्वात् = क्रमवृत्ति से होने के कारण (मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध), अयुगपत् ग्रहणम् = विभिन्न विषयों का एक साथ ग्रहण नहीं होता।

व्याख्या— लोक में नित्य देखा जाता है कि विभिन्न इन्द्रियाँ अपने विषय का ग्रहण एक साथ नहीं कर पातीं। एक समय में एक ही इन्द्रिय अपने विषय का ग्रहण करती है। इसका कारण यह है कि मन एकदेशीय अर्थात् अणुस्वरूप है और वह एक समय में एक ही इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध हो पाता है। जिस इन्द्रिय के साथ मन सम्बद्ध हो जाता है, वही इन्द्रिय उस समय अपना विषय ग्रहण कर पाती है, अतः अनेक विषयों का युगपत् ग्रहण नहीं होता। इसी स्थिति से वृत्ति (विषयज्ञान) और वृत्तिमान् (बुद्धि) का भेद स्पष्ट होता है। यदि वृत्तिमान् (बुद्धि) नित्य होता, तो वृत्ति (विषयज्ञान) कभी नष्ट न होती और सदा एक ज्ञान ही बना रहता। इससे सिद्ध है कि वृत्ति और वृत्तिमान् पृथक्-पृथक् हैं॥६॥

अब सूत्रकार वृत्ति एवं वृत्तिमान् के भेद को स्पष्ट करने के लिए अन्य तर्क दे रहे हैं—

(२८६) अप्रत्यभिज्ञानं च विषयान्तरव्यासङ्गात्॥ ७॥

सूत्रार्थ— च = तथा, विषयान्तरव्यासङ्गात् = मन के अन्य विषय में व्यासङ्ग अर्थात् आसक्त होने

से, अप्रत्यभिज्ञानम् = प्रत्यभिज्ञान (विषय का ज्ञान) नहीं होता।

व्याख्या— कोई विषय इन्द्रिय द्वारा तब ग्रहण नहीं होता, जब मन किसी अन्य विषय में आसक्त (संसक्त) हो। तात्पर्य यह है कि मन जिस विषय के साथ लगा हुआ होगा, उससे सम्बन्धित इन्द्रिय द्वारा ही उस समय उस विषय का ग्रहण होगा। विषय के साथ मन का लगाव ही विषयों के ज्ञान होने का कारण है। विषय के ज्ञान होने की एक व्यवस्था है कि विषय, इन्द्रिय और मन का जब एक साथ एक समय में सन्निकर्ष होगा, तब उस विषय का ज्ञान हो सकेगा। जिस विषय में मन आसक्त होगा, उसका ज्ञान होगा, जिसमें आसक्त न होगा उस विषय का ज्ञान ज्ञाता (आत्मा) को नहीं होगा। इससे भी सिद्ध है कि विषय ज्ञान (वृत्ति) और विषय साधन (बुद्धि) में भेद है। वे दोनों एक नहीं हो सकते। इस प्रकार वृत्ति और वृत्तिमान् में अभेद मानना उचित नहीं है ॥७॥

अब आचार्य अगले सूत्र में यह बता रहे हैं कि इन्द्रियों के साथ मन का क्रमशः संयोग तभी हो सकता है, जब मन अणु-परिमाण वाला माना जाये, यदि मन को विभु अर्थात् विराट् मानेंगे, तब यह संयोग सम्भव नहीं है—

(२८७) न गत्यभावात् ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ— गत्यभावात् = विभु (विराट्) पदार्थ में गति का अभाव होने से, न = मन का क्रम पूर्वक इन्द्रियों के साथ संयोग सम्भव नहीं है।

व्याख्या— यदि मन को विभु (विराट्) माना जाता है, तो उसका क्रमशः इन्द्रियों के साथ संयोग नहीं हो सकता। कारण यह है कि विभु या विराट् में गति नहीं हो सकती और यदि गति न होगी, तब उसका क्रमेण इन्द्रियों के साथ संयोग कैसे सम्भव होगा? और यदि यह सम्भव न होगा, तो अनेक विषय युगपत् (एक साथ) ग्रहण होंगे, जब कि ऐसा होता नहीं कि अनेक विषय एक साथ ग्रहण होते हों। अतः यह सुनिश्चित है कि मन अणु-परिमाण वाला है ॥८॥

अगले सूत्र में वादी वृत्ति और वृत्तिमान् के अभेद हेतु तर्क दे रहा है—

(२८८) स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्तदन्यत्वाभिमानः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ— स्फटिकान्यत्वाभिमानवत् = स्फटिक में अन्यत्व के अभिमान अर्थात् प्रतीति के समान, तद् अन्यत्वाभिमानः = उस (वृत्ति) के अन्य (अलग) होने का अभिमान अर्थात् भ्रमात्मक ज्ञान हो जाता है (जबकि वृत्ति और वृत्तिमान् एक ही है)।

व्याख्या— जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिक मणि शुक्ल होती है, किन्तु उसके समक्ष लाल, हरे, पीले, गुलाबी, बैंगनी रंग के पुष्प या उपाधियाँ आ जाने से वह स्फटिक भी रक्तवर्णा, पीतवर्णा, हरितवर्णा आदि प्रतीत होती है, पर वस्तुतः वह वैसी होती नहीं। ठीक इसी प्रकार विभिन्न वृत्तियों के संयोग से वृत्तिमान् अर्थात् बुद्धि भी उसी प्रकार भासने लगती है, पर वस्तुतः तो वह एक ही है अर्थात् विषय ज्ञान और विषय ज्ञान की साधिका बुद्धि अर्थात् वृत्ति और वृत्तिमान् एक ही हैं, उनमें कोई भेद नहीं ॥९॥

अब इस पर आक्षेप किया जा रहा है—

(२८९) न हेत्वभावात् ॥१०॥

सूत्रार्थ— हेत्वभावात् = हेतु का अभाव होने से, न = उपर्युक्त हेतु उचित नहीं है।

व्याख्या— वृत्ति और वृत्तिमान् के एक होने में, जो स्फटिक का दृष्टान्त देकर हेतु प्रस्तुत किया गया है, वह अयुक्त है। कारण यह है कि स्फटिक के अन्दर-रक्त, पीत, हरित आदि वर्णों की जो प्रतीति होती है, वह भ्रान्तिमूलक है, न कि वास्तविक; क्योंकि जब यह विदित हो जाता है कि स्फटिक में दिखने वाले रंग वस्तुतः उस रंग के पुष्पों अथवा उपाधियों के हैं, तब कोई उन रंगों को स्फटिक का रंग नहीं मानता; किन्तु

इन्द्रियों के द्वारा होने वाला विषय ज्ञान भ्रान्तिमूलक नहीं बल्कि वास्तविक है, सभी जगह एक जैसा उपलब्ध होता है। अतः भ्रम की कहीं कोई गुंजाइश नहीं है और दूसरी बात यह है कि स्फटिक मणि साकार है, अतएव उसमें प्रतिबिम्ब पड़ सकते हैं, किन्तु निराकार होने के कारण बुद्धि में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकते। अस्तु, वृत्ति और वृत्तिमान् अर्थात् विषयज्ञान और बुद्धि में अभेद प्रमाणित करने के लिए जो स्फटिक का उदाहरण देकर हेतु प्रस्तुत किया गया है, वह अयुक्त है॥१०॥

अब वादी इसका खण्डन करता है, आचार्य ने उसकी भावना को सूत्रांकित किया है —

(२९०) स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद्व्यक्तीनामहेतुः ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ— स्फटिके अपि = स्फटिक में भी, अपरापरोत्पत्तेः = अपर-अपर अर्थात् अन्य-अन्य (नवीन) उत्पत्ति से, क्षणिकत्वात् व्यक्तीनाम् = व्यक्तियों अर्थात् व्यक्त पदार्थ के क्षणिक होने से, अहेतुः = (स्फटिक के सन्दर्भ में अनेकत्व को गौण मानने का) हेतु युक्तियुक्त नहीं है।

व्याख्या— स्फटिक में जो उपाधि भेद से विभिन्न रंगों की भ्रान्तिमूलक धारणा बताई गई, वह उचित नहीं है। कारण यह है कि व्यक्ति अर्थात् किसी भी व्यक्त पदार्थ में जो क्षण-क्षण परिवर्तन होता है, उसके कारण उसमें नवीनता या भिन्नता प्रतीत होती है। स्फटिक भी उससे भिन्न नहीं है अर्थात् वह भी एक व्यक्ति (व्यक्त पदार्थ) है और उसमें भी हर क्षण परिवर्तन होता है, उसी के कारण उसके विभिन्न रंग दिखते हैं। इसे शरीर की उपचय और अपचय प्रक्रिया को देखकर समझा जा सकता है। शरीर द्वारा भोजन किया जाता है, वह पचकर रक्त बनता है, जिससे नस-नाड़ियों में शक्ति आती है। शरीर में वृद्धि होती है, इस प्रकार प्रतिक्षण होने वाली इस प्रक्रिया से कालान्तर में शरीर में परिवर्तन देखा जाता है, इसी प्रकार शरीर ह्रास प्रक्रिया को भी समझा जा सकता है। स्फटिक में भी यही बात है। उसमें हर क्षण होने वाला परिवर्तन गौण नहीं है। अस्तु, उसे गौण मानकर वृत्तियों के भेद को गौण निरूपित करना भी असंगत है॥११॥

अब आचार्य यथार्थ विचार प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२९१) नियमहेत्वभावाद्यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ— नियमहेत्वभावात् = नियम (पदार्थ में क्षणिकत्व है, इस नियम) में हेतु का अभाव होने से, यथादर्शनम् अभ्यनुज्ञा = जैसा देखा जाता है, पदार्थ वैसा ही स्वीकार करना उचित है।

व्याख्या— हर एक व्यक्ति (अर्थात् व्यक्त पदार्थ) क्षणिक हैं, ऐसा नियम बताना हेतुरहित है। अतः उचित यही है कि जो पदार्थ जिस प्रकार का दिखाई दे, उसे उसी रूप में स्वीकृत करना चाहिए। जितने भी व्यक्त पदार्थ हैं, सभी में शरीर की तरह उपचय-अपचय की प्रक्रिया नहीं देखी जाती। अथवा शरीर में उपचय-अपचय की प्रक्रिया के समान अन्य सभी पदार्थों में प्रतिक्षण परिवर्तन प्रत्यक्षतः नहीं देखे जाते। जैसे-कठोर पत्थर में प्रतिक्षण परिवर्तन कहाँ देखा जाता है? तब स्फटिक में प्रतिक्षण परिवर्तन कैसे हो सकता है? अतः उसे स्थायी ही मानना पड़ेगा और उसके रंगों में परिवर्तन को औपाधिक ही मानना होगा। यदि हम हर पदार्थ को क्षणिक मानेंगे, तो यह उक्ति वैसी ही होगी, जैसे- नीम की पत्ती की कटुता का रसास्वादन करके कोई-आम, केला आदि सभी को वैसे ही 'कटु' बताये। अस्तु, समस्त पदार्थों के घटने-बढ़ने के नियम में समत्व बताना उचित नहीं है; क्योंकि लोक में ऐसा देखा नहीं जाता॥१२॥

वादी की शंका समाधान हेतु आचार्य इसी सन्दर्भ में एक तर्क और दे रहे हैं—

(२९२) नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ— उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः = उत्पत्ति एवं विनाश के कारणों के उपलब्ध होने से (विविध पदार्थों की), न = (उक्त तर्क उचित) नहीं है।

व्याख्या— जगत् में देखा जाता है कि विभिन्न पदार्थों के उत्पन्न होने और विनष्ट होने के कारण विविध प्रकार के होते हैं; किन्तु पदार्थ के अवयवों के उपचय अर्थात् संकलित (एकत्र) होने से वस्तु के उत्पन्न होने और उसके अवयवों के अपचय अर्थात् क्षीण होने अथवा बिखर जाने से वस्तु का विनाश होना, यह प्रायः सभी पदार्थों में एक समान है। इस उपचय और अपचय प्रक्रिया के तीव्र और मन्द होने में पदार्थ भेद से अन्तर हो सकता है, किन्तु उत्पत्ति और विनाश का क्रम प्रायः सभी पदार्थों में समान रूप से चलता है। जैसे-घट, पट, गृह आदि क्रमशः मृत्तिका कणों, धागों और इष्टिकाओं (ईंटों) से निर्मित होते हैं। इन सभी के उपचय (संकलन) से उक्त पदार्थों का निर्माण होता है अथवा उक्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार इन्हीं अवयवों के अपचय अर्थात् टूट जाने-बिखर जाने से इनका (उक्त पदार्थों का) विनाश होता है, तो स्फटिक आदि में भी यह उत्पत्ति और विनाश का क्रम चलता है; किन्तु शरीर गत भोजन की तरह अतिशीघ्र पचकर रस-रक्त बनने की तरह इनमें (स्फटिक आदि में) परिवर्तन होते नहीं देखे जाते। अतः स्पष्ट है कि उसमें जो विभिन्न रंग दिखाई देते हैं, वे द्रव्य आदि उपाधियों के होते हैं, न कि उत्पत्ति- विनाशान्तर्गत चलने वाली उपचय और अपचय की प्रक्रिया के कारण। अस्तु, स्फटिक का उदाहरण देकर वृत्ति और वृत्तिमान् में अभेद बताना अयुक्त है॥१३॥

अब वादी स्फटिक में अन्य-अन्य व्यक्तियों (व्यक्त स्वरूपों) की उत्पत्ति और विनाश के तथ्य को एक अन्य उदाहरण द्वारा अगले सूत्र में स्पष्ट कर रहा है—

(२९३) क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिवच्च तदुत्पत्तिः ॥ १४॥

सूत्रार्थ— क्षीरविनाशे = दूध के विनष्ट होने पर, कारणानुपलब्धिवत् = कारण प्राप्त न होने की तरह, च = और, दध्युत्पत्तिवत् = दधि (दही) की उत्पत्ति की तरह, तद् उत्पत्तिः = उस (स्फटिक) में पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के उत्पन्न होने की सिद्धि मानना युक्त है।

व्याख्या— लोक में देखा जाता है कि दूध का दही बन जाता है। इस परिवर्तन में दूध का विनष्ट होना तथा दही का उत्पन्न होना प्रत्यक्ष देखा जाता है, किन्तु इस उत्पन्न होने और विनष्ट होने अर्थात् दही उत्पन्न होने और दूध के नष्ट होने का कारण प्रत्यक्षतः नहीं दिखाई पड़ता, फिर भी इस उत्पत्ति और विनाश को माना जाता है। ठीक इसी प्रकार स्फटिक आदि में पृथक्-पृथक् व्यक्तियों (व्यक्त स्वरूपों) की उत्पत्ति एवं विनाश की सिद्धि को भी स्वीकार करना चाहिए। ऐसा मानने पर स्फटिक में विविध प्रतीतियों को मुख्य माना जायेगा। उस स्थिति में भी वृत्तियों (ज्ञान के विषयों) का भी नानात्व प्रमुख होगा और तब वृत्ति और वृत्तिमान् में अभेद मानने में कोई कठिनाई नहीं होगी॥१४॥

अब आचार्य सूत्रकार वादी की उपर्युक्त मान्यता का समाधान अगले सूत्र में कर रहे हैं—

(२९४) लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ— लिङ्गतो (लिङ्गतः) = हेतु से (अनुमान से), ग्रहणात् = ग्रहण अर्थात् उपलब्ध हो जाने से (उत्पत्ति एवं विनष्ट हो जाने के कारणों की), अनुपलब्धिः = अनुपलब्धि, न = नहीं है।

व्याख्या— विगत सूत्र में वादी द्वारा कहा गया था कि दूध के विनाश और दही की उत्पत्ति का कोई कारण उपलब्ध नहीं है। यह कथन आधारहीन है; क्योंकि दूध का विनष्ट होना और दही का उत्पन्न होना प्रत्यक्ष देखा जाता है। यह परिवर्तन ही कारण का अनुमान कराता है। संसार में कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता। अस्तु, दूध का विनष्ट होना तथा दही का उत्पन्न होना रूप कार्य अपने पीछे कोई हेतु (कारण) होने का अनुमान कराते हैं।

स्फटिक के रंग परिवर्तन में किसी के विनाश और उत्पन्न होने रूप कार्य की उपलब्धि नहीं होती अर्थात् पूर्व व्यक्ति के विनाश और पश्चात् व्यक्ति के उद्भव का कोई लक्षण प्राप्त नहीं होता। अत: दूध-दही का उदाहरण देकर स्फटिक से साम्य बताना और वृत्ति-वृत्तिमान् में अभेद द्योतित करना असंगत है॥१५॥

अगले सूत्र में वादी की आशंका को आचार्य सूत्रकार सूत्रित कर रहे हैं—

(२९५) न पयसः परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात्॥ १६॥

सूत्रार्थ— पयस: = दुग्ध के, परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात् = परिणाम में गुण का अन्तर उत्पन्न होने से, न = (दूध-दही के विनाश और उद्भव में कारण की अनुपलब्धि का तर्क) संगत नहीं है।

व्याख्या— विगत सूत्र में दूध और दही के विनाश और उत्पत्ति के कारणों के अनुमान की बात कही गई है; किन्तु दुग्ध के परिणाम में गुण का अन्तर उत्पन्न होने से उसके विनाश और दधि के उद्भव की स्थिति आती ही कहाँ है। दूध के गुणों में परिवर्तन ही दही है। इस परिवर्तन में दुग्ध स्थित तारल्य और माधुर्य दही बनने पर स्थैर्य और आम्ल्य में परिणत-परिवर्तित हो जाता है। द्रव्य और उसके धर्म दोनों ही स्थितियों में विद्यमान रहते हैं। ऐसी स्थिति में न किसी पदार्थ का उद्भव है, न विनाश। इस स्थिति को परिणाम कहते हैं, तब उद्भव और विनाश के कारणों की खोज व्यर्थ है। अस्तु, विगत सूत्र में दिया गया तर्क अग्राह्य है॥१६॥

अब सूत्रकार वादी के उक्त तर्क का प्रतिषेध प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२९६) व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम्॥ १७॥

सूत्रार्थ— व्यूहान्तरात् = रचना विशेष (व्यूह के अन्तर) से, द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनम् = पृथक् द्रव्य की उत्पति के देखे जाने से, पूर्वद्रव्यनिवृत्तेः = पहले के द्रव्य की निवृत्ति का (समापन का), अनुमानम् = अनुमान होता है।

व्याख्या— लोक में यह देखा जाता है कि कुछ कारण द्रव्यों-परमाणुओं से किसी पदार्थ की रचना होती है; किन्तु उन परमाणुओं की व्यूह रचना में- संगठन में कुछ परिवर्तन होने से दूसरे पदार्थ की उत्पत्ति हो जाती है। उदाहरणार्थ— दूध आदि द्रव्य से एक नये पदार्थ का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसे ही दही कहते हैं। पूर्व पदार्थ दूध के अवयव संगठन में परिवर्तन होकर दही उत्पन्न होता है, तब उस संरचना में अवयवों (पूर्व पदार्थ के परमाणुओं) में अन्तर आ जाता है। यह अन्तर यों ही नहीं आ जाता, इसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए; क्योंकि कारण के बिना कार्य नहीं होता। अस्तु, एक पदार्थ का उद्भव दूसरे पदार्थ के विनाश का अनुमान कराता है। जब तक दूध का विनाश नहीं होगा, तब तक दही का उत्पाद सम्भव नहीं है। दही का उत्पन्न होना ही दूध के विनष्ट हो जाने का अनुमानक है।

यही बात मिट्टी के पिण्ड के विनाश और घट की उत्पत्ति के विषय में समझी जा सकती है। एक की स्थिति के विनष्ट होने से पूर्व दूसरे का उद्भव सम्भव नहीं है। अत: उत्पाद-विनाश का कारण न होने का तथ्य बताना उचित नहीं है॥१७॥

अब आचार्य दूध-दही के विनाश और उत्पन्न होने के वादी के अकारण ही मानने के सिद्धान्त में दोष प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२९७) क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः॥ १८॥

सूत्रार्थ— क्वचित् = कहीं, विनाशकारणानुपलब्धे: = विनाश का कारण अनुपलब्ध होने से, च = और, क्वचित् = कहीं, उपलब्धे: = (विनाश कारण की) उपलब्धि होने से, अनेकान्तः = अनैकान्तिक (व्यभिचारी) दोष है।

व्याख्या— वादी ने जो कुछ स्थानों पर विनाश-कारणों की उपलब्धि और कुछ स्थानों पर विनाश कारणों की अनुपलब्धि की बात कही है, वह उपयुक्त नहीं है। उदाहरणार्थ— दूध से दही बनने में दूध के विनष्ट होने और दही के उत्पन्न होने को अकारण बताया है। जबकि कुछ स्थानों जैसे घट आदि के विनाश में (ईंट-पत्थर द्वारा उसके टूट जाने से) कारण की उपलब्धि मानी है। तो इस सिद्धान्त में अनैकान्तिक अर्थात् व्यभिचारी दोष है। इसी से कुछ पदार्थों के विनाश-उत्पाद को सकारणक माना तथा कुछ के विनाश-उत्पाद को अकारणक माना है। ऐसी स्थिति में स्फटिक में रूप-परिवर्तन को अकारणक मानकर उसका उदाहरण देकर वृत्ति और वृत्तिमान् में अभेद बताना तथा बुद्धि (वृत्तिमान्) को नित्य सिद्ध करना असंगत है। इस प्रकार उपर्युक्त तथ्य से सिद्ध है कि बुद्धि अनित्य है॥१८॥

जब यह सिद्ध हो गया कि बुद्धि अनित्य है, तब यह परीक्षण आवश्यक है कि बुद्धि किसका गुण है? आत्मा का, मन का, इन्द्रिय का, या अर्थ का। आचार्य इसी को अगले सूत्र में अंकित कर रहे हैं—

(२९८) नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात्॥ १९॥

सूत्रार्थ— न = बुद्धि गुण नहीं है, इन्द्रियार्थयो: = इन्द्रिय और उसके अर्थ अथवा विषय का, तद्विनाशे = क्योंकि उसके (इन्द्रिय और उसके विषय के) विनष्ट हो जाने पर, अपि = भी, ज्ञानावस्थानात् = ज्ञान की स्थिति बनी रहने से।

व्याख्या— ज्ञान अर्थात् बुद्धि इन्द्रियों और उसके अर्थों का गुण नहीं है; क्योंकि इनके विनष्ट होने पर भी ज्ञान बना रहता है। जैसे- नेत्रेन्द्रिय द्वारा किसी ने किसी भवन को देखा। कालान्तर में वह भवन नष्ट हो जाए या वह द्रष्टा नेत्रहीन हो जाए, तो भी उसे यह स्मरण बना रहता है कि मैंने उस भवन को देखा था या वह भवन इस बनावट या आकार का था, जिसे मैंने पूर्व में देखा था, तो इस उदाहरण में इन्द्रिय (नेत्र) तथा अर्थ (इन्द्रिय का विषय-भवन) विनष्ट हो जाने पर भी उसका ज्ञान बना रहता है। अत: स्पष्ट है कि ज्ञान इन्द्रिय और उसके विषयों का गुण नहीं है॥ १९॥

वादी के यहाँ आशंका करने पर कि ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ का विषय नहीं है, तो मन का विषय तो हो सकता है। सूत्रकार इसी आशंका का समाधान अगले सूत्र में कर रहे हैं—

(२९९) युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनस:॥ २०॥

सूत्रार्थ— युगपत् = एक ही साथ (एक समय में), ज्ञेयानुपलब्धे: = ज्ञेय अर्थात् विभिन्न विषय उपलब्ध न होने से, च = और (भी), न मनस: = (ज्ञान-बुद्धि) मन का (भी) गुण नहीं है।

व्याख्या— युगपत् अर्थात् एक साथ विभिन्न ज्ञानों की प्राप्ति नहीं हो सकती, अत: ज्ञान को मन का गुण भी नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि किसी भी विषय का ज्ञान तत्सम्बंधी इन्द्रिय द्वारा तभी हो पाता है, जब मन उसके साथ संयुक्त हो, अर्थात् मन और इन्द्रिय के संयोग से एक समय में एक विषय का ज्ञान ही हो सकता है। अनेक विषयों का नहीं। तात्पर्य यह है कि मन और इन्द्रिय इन दोनों के संयोग से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। यदि इन दोनों में से कोई एक न हो, तो ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार से दोनों (इन्द्रिय और मन) ज्ञान प्राप्ति के करण (माध्यम) हैं, न कि ज्ञाता। उदाहरणार्थ— हाथ और कलम की सहायता से लेखन कार्य होता है; किन्तु ये दोनों ही लेखन के माध्यम हैं, न कि कर्त्ता। अत: ज्ञान भी मन का गुण नहीं हो सकता। यदि ज्ञान को मन का गुण मान लिया जाये, तो वह अन्त:करण न रहकर ज्ञाता हो जाएगा, जबकि मन अन्त: (आन्तरिक) करण है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ बाह्यकरण हैं। ज्ञान की प्राप्ति में सहायक ये भी हैं। यदि मन (अन्त:करण) को ज्ञाता माना जाएगा, तब इन्द्रियों (बाह्यकरण) को भी ज्ञाता मानना होगा; किन्तु इन दोनों को ही ज्ञाता नहीं कहा जा सकता।

वस्तुत: बुद्धि या ज्ञान मन का नहीं आत्मा का गुण है; क्योंकि वही (आत्मा ही) ज्ञान का अधिष्ठाता देवता है, ज्ञान उसी को होता है अत: ज्ञाता भी वही है ॥२० ॥

अब वादी आक्षेप करता है कि जिस प्रकार ज्ञान को मन का गुण मानने पर दोष है, उसी प्रकार ज्ञान को आत्मा का गुण मानना भी दोषपूर्ण है। सूत्रकार वादी की भावना को सूत्रित कर रहे हैं—

(३००) तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ— तद् आत्मगुणत्वे = उस (ज्ञान) के आत्मगुण होने पर, अपि = भी, तुल्यम् = समान दोष (ज्ञान को मन का गुण मानने जैसा ही ज्ञान को आत्मा का गुण मानने में दोष) है।

व्याख्या— एक साथ कई ज्ञान न होने से बुद्धि अर्थात् ज्ञान को मन का गुण नहीं माना जा सकता, ऐसा विगत सूत्र में कहा गया। वही स्थिति ज्ञान को आत्मा का गुण मानने में भी उत्पन्न होगी। कारण यह है कि आत्मा तो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है और समस्त इन्द्रियों के साथ उसका सहज सन्निकर्ष है। ऐसी स्थिति में उसे हर-क्षण, हर-इन्द्रिय द्वारा विभिन्न विषयों का ज्ञान होना चाहिए; किन्तु ऐसा कहाँ होता है ? एक समय में, एक इन्द्रिय द्वारा, एक ही विषय का ज्ञान होता है। यह स्थिति ज्ञान को मन का गुण मानने में भी होती है। अस्तु, ज्ञान को मन और आत्मा दोनों में से किसी का भी गुण मानने में समान दोष है, तब ज्ञान को मन का ही गुण मानने में क्या हर्ज है। अत: उपर्युक्त समाधान उचित नहीं है ॥२१ ॥

अगले सूत्र में आचार्य इस आक्षेप का परिहार करते हैं—

(३०१) इन्द्रियैर्मनस: सन्निकर्षाभावात्तदनुत्पत्ति: । २२ ॥

सूत्रार्थ— इन्द्रियै: = इन्द्रियों के साथ, मनस: = मन के, सन्निकर्ष- अभावात् = सन्निकर्ष (संयोग) का अभाव होने से, तद्-अनुत्पत्ति: = उस (ज्ञान)की (युगपत्) उत्पत्ति नहीं होती।

व्याख्या— जिस प्रकार गंधादि विषयों की प्राप्ति में घ्राण आदि इन्द्रियों का अर्थ (विषय) के साथ संयोग होना आवश्यक है, उसी प्रकार तत्सम्बन्धी इन्द्रियों के साथ मन का संयोग भी आवश्यक है। चूँकि मन सूक्ष्म अर्थात् अणु परिमाण वाला है, अत: एक साथ अनेक विषयों का एक काल (समय) में आत्मा को ज्ञान नहीं हो सकता। मन एक समय में एक ही इन्द्रिय के साथ संयुक्त हो सकता है, अत: युगपत् विषय-ज्ञान सम्भव नहीं है ॥२२ ॥

वादी के पुन: यह आशंका करने पर कि ज्ञानोत्पत्ति में आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ ये तीन ही निमित्त हैं। ज्ञान मन का गुण भी नहीं है तथा वह (मन) इन्द्रियों के समान ज्ञान का साधन भी नहीं है तथा ज्ञान का विषय तो है ही नहीं। ऐसी स्थिति में मन को ज्ञानोत्पत्ति- निमित्त के क्षेत्र से बाहर कर दिया जाए, तो क्या हर्ज है। आचार्य अगले सूत्र में इसी आशंका का समाधान कर रहे हैं—

(३०२) नोत्पत्तिकारणानपदेशात् ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ— न = उक्त आशंका उचित नहीं है। उत्पत्तिकारण-अनपदेशात् = ज्ञानोत्पत्ति के कारणों में (मात्र आत्मा, इन्द्रिय एवं अर्थ का ही) वर्णन न होने से।

व्याख्या— 'मन को ज्ञानोत्पत्ति के निमित्तों से अलग कर दिया जाए (क्योंकि ज्ञान को मन का गुण नहीं माना गया)'; वादी का यह कहना असंगत है। कारण यह है कि न्याय दर्शन में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं हुआ है, जहाँ ज्ञानोत्पत्ति-निमित्तों में केवल आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ को ही गिना गया हो। न्याय दर्शन के सूत्र क्रमांक १.१.४ तथा १.१.१६ में क्रमश: इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से विषय ज्ञान की उत्पत्ति तथा एक साथ कई ज्ञान न होने का कारण मन को बताया गया है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान के उद्भव में मन निश्चित रूप से साधन है। न्याय सूत्र १.१.४ के वात्स्यायन भाष्य में इन्द्रिय-अर्थ के सन्निकर्ष की तरह मन के इन्द्रियों के

साथ सन्निकर्ष का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। अस्तु, ज्ञानोद्‌भव के साधनों में इन्द्रिय, अर्थ और मन समाविष्ट हैं। आत्मा तो ज्ञाता है ही। अत: न तो मन को ज्ञानोत्पत्ति के साधनों की सीमा से पृथक् किया जा सकता है और न ज्ञान को मन का गुण ही कहा जा सकता है। इसलिए वादी की तद्‌विषयक शंका निर्मूल है॥२३॥

अब वादी पुन: नई आशंका करता है कि यदि ज्ञान आत्मा का गुण है, तो आत्मा तो नित्य है, तब ज्ञान को भी नित्य माना जाना चाहिए। आचार्य वादी की इसी भावना को सूत्रित कर रहे हैं—

(३०३) विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः॥ २४॥

सूत्रार्थ— विनाशकारणानुपलब्धे: = विनाश के कारण उपलब्ध न होने से, च = और, अवस्थाने = ज्ञान का अवस्थित (स्थित) रहना उपलब्ध होने से, तन्नित्यत्वप्रसङ्गः = उसके (ज्ञान के) नित्य होने (ज्ञान को आत्मा का गुण मानने) का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा।

व्याख्या— यदि ज्ञान को आत्मा का गुण माना जाता है, तो उसके विनाश के कारण की उपलब्धि न होने की स्थिति उत्पन्न होगी, जिससे अनेक ज्ञानों के एक साथ बने रहने से पूर्व वर्णित सिद्धान्त टूटेगा। तात्पर्य यह है कि यदि ज्ञान आत्मा का गुण है, तो उसका आश्रय आत्मा नित्य होने से ज्ञान का विनाश नहीं होगा। अन्यथा आश्रय के नष्ट हो जाने से वह उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे घट टूट जाने से उसका रूप भी नष्ट हो जाता है; किन्तु आत्मा तो नष्ट होता नहीं, तब ज्ञान नष्ट कैसे होगा? किसी गुण के नष्ट होने में दो कारण हो सकते हैं। १. गुण का आश्रय नष्ट हो जाना, २. गुण का विरोधी कोई दूसरा गुण उत्पन्न हो जाना। इन दोनों में से एक कारण की चर्चा ऊपर हो चुकी कि ज्ञान का आश्रय आत्मा नष्ट नहीं होता। दूसरा कारण गुण का विरोधी गुण उत्पन्न हो जाना है, अर्थात् किसी गुण के विरोध में कोई गुण उत्पन्न हो जाने से पूर्व गुण नष्ट हो जाता है। जैसे— एक शब्द के बाद दूसरा शब्द उत्पन्न हो जाने से पहले वाला शब्द नष्ट हो जाता है, तो ज्ञान गुण का विरोधी ऐसा कोई गुण नहीं है, जिससे वह विनष्ट हो। ऐसी स्थिति में ज्ञान का सदा बने रहना सम्भव होगा। तब युगपत् ज्ञान उत्पन्न न होने के सिद्धान्त की हानि होगी, जिससे सूत्रकार का कथन शंकास्पद होगा॥२४॥

वादी की उक्त आशंका पर आचार्य अगले सूत्र में समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३०४) अनित्यत्वग्रहाद् बुद्धेर्बुद्‌ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत्॥ २५॥

सूत्रार्थ— अनित्यत्वग्रहात् = बुद्धि का अनित्यत्व ग्रहण होता है, इसलिए; बुद्धे: = बुद्धि का, बुद्ध्यन्तरात् = बुद्धि के अन्तर से अर्थात् अन्य बुद्धि से, शब्दवत् विनाश: = शब्द के समान विनाश हो जाता है।

व्याख्या— बुद्धि या ज्ञान का अनित्यत्व ग्रहण होता है; क्योंकि बुद्धि (ज्ञान) का दूसरी बुद्धि (ज्ञान) से उसी प्रकार विनाश प्राप्त होता है, जिस प्रकार एक शब्द दूसरे शब्द को विनष्ट कर देता है। लोक में देखा जाता है कि शब्द अपने उत्पन्न होने वाले स्थान से चारों ओर तरङ्गित होते हुए शब्द सन्तति के रूप में श्रोत्रेन्द्रिय तक पहुँचता है, किन्तु पहले शब्द के बाद अगला शब्द उत्पन्न होता और पहले वाला शब्द विनष्ट होता जाता है। इस प्रकार उत्पत्ति और विनाश के इस क्रम से शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है।

इसी तरह ज्ञान भी उत्पन्न होते और विनाश को प्राप्त होते जाते हैं। एक ज्ञान उत्पन्न हुआ और दूसरा ज्ञान उत्पन्न होते ही पहले वाला ज्ञान विनष्ट हो गया, यह क्रम अनवरत चलता रहता है। एक ज्ञान के उपरान्त जब अगला ज्ञान होता है, तो वही पहले वाले का विपरीत गुण होता है, जो अपने से पूर्व के ज्ञान के अस्तित्व को विनष्ट करता है। इस प्रकार ज्ञान का अनित्य होना सिद्ध है। फिर शब्द भी तो नित्य आकाश का गुण है और ज्ञान भी नित्य आत्मा का गुण। नित्य का गुण अनित्य होने में कोई बाधा नहीं है॥ २५॥

वादी ने इस विषय पर आपत्ति की कि 'ज्ञान आत्मा का गुण है'। कारण यह है कि यदि ज्ञान आत्मा का गुण है, तो प्रत्येक ज्ञान सदा बना रहना चाहिए और एक साथ कई ज्ञान होने चाहिए। इस पर सूत्रकार ने किसी अन्य आचार्य के हवाले से अगले सूत्र में समाधान प्रस्तुत किया—

(३०५) ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ— ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षात् = ज्ञानसंयुक्त आत्मप्रदेश के सन्निकर्ष (संयोग) से, मनसः = मन के, स्मृत्युत्पत्तेः = स्मृति उत्पत्ति होती है, इस कारण; न युगपदुत्पत्तिः = एक साथ अनेक स्मृतियाँ उत्पन्न नहीं होतीं।

व्याख्या— ज्ञान के विभिन्न संस्कारों से सम्पन्न आत्मा जो विभु होने के कारण सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है, के साथ मन क्रमशः संयुक्त होता है। कारण यह है कि मन अणु है, जो एक साथ सम्पूर्ण आत्म— देश के साथ सन्निकृष्ट नहीं हो सकता। अतः वह विभिन्न आत्म प्रदेशों के साथ क्रमशः संयुक्त होता है, इसी कारण सभी स्मृतियाँ एक साथ नहीं होतीं, वे क्रमशः होती हैं ॥२६॥

सूत्रकार किसी अन्य आचार्य द्वारा प्रस्तुत उक्त समाधान का दोष निरूपित करते हैं—

(३०६) नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ— अन्तःशरीरवृत्तित्वात् = आन्तरिक वृत्तिवाला होने से अर्थात् शरीर के अन्दर रहने से, मनसः = मन के, न = उक्त समाधान युक्त नहीं है।

व्याख्या— विगत सूत्र में मन का सम्बन्ध आत्मा के विशेष प्रदेशों (भागों) से होना तथा उसके माध्यम से स्मृति अथवा ज्ञान का उद्भव होना बताया गया है, किन्तु यह तर्क उचित नहीं है। कारण यह है कि यदि मन और आत्मा के संयोग से स्मृति का उद्भव होता, तो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त आत्मा के साथ मन का निरन्तर सम्पर्क रहने से(क्योंकि मन शरीरान्तर्वर्ती होता है)स्मृति में भी निरन्तरता बनी रहती अर्थात् हर विषय सदा याद बना रहता; किन्तु ऐसा कहाँ देखा जाता है। व्यवहार में तो कुछ स्मृतियाँ ही एक समय में उत्पन्न होती हैं तथा क्रमशः जैसे-जैसे उनका आत्म प्रदेशों से सन्निकर्ष होता है, स्मृतियाँ (ज्ञान) बढ़ती जाती हैं।

दूसरी बात यह है कि आत्मा शरीर और उसके बाहर भी सभी जगह संव्याप्त है और मन शरीर के अन्दर रहने वाला अर्थात् शरीरान्तर्वर्ती है, तो वह बाहर स्थित आत्म प्रदेश के साथ सम्पर्क कैसे कर पाएगा तथा उसमें स्थित स्मृति का उद्भव कैसे होगा? जब स्मृति का उद्भव ही न होगा, तो स्मृतियों के युगपत् (साथ-साथ) न होने की बात कैसे सिद्ध होगी? अस्तु, स्मृतियों (ज्ञानों) के एक साथ उत्पन्न न होने का जो समाधान प्रस्तुत किया गया, वह दोषयुक्त है ॥२७॥

अब वादी आशंका करता है कि मन का शरीरान्तर्वर्तित्व अभी सिद्ध कहाँ हुआ? यदि वह सिद्ध नहीं हुआ, तब तो वह साध्य ही है। अतः यह हेतु भी उचित नहीं है। वादी की इस भावना को अगले सूत्र में सूत्रकार सूत्रित कर रहे हैं—

(३०७) साध्यत्वादहेतुः ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ— साध्यत्वात् = साध्य होने से (मन का शरीरान्तर्वर्ती होना), अहेतुः = कहा गया हेतु उचित नहीं है।

व्याख्या— आचार्य ने जो स्मृतियों (ज्ञानों) के युगपत् न होने के कारण रूप मन का शरीरान्तर्वर्त्तित्व विवेचित किया, वह अभी पूर्ण रूपेण सिद्ध नहीं हुआ और जब वह सिद्ध ही नहीं हुआ, तब उसे हेतु (युगपत् ज्ञान न होने का) कैसे माना जा सकता है? अतः पहले आचार्य मन का सदैव शरीरान्तर्वर्ती होना सिद्ध करें, तब उक्त सिद्धान्त पर विचार किया जा सकता है ॥२८॥

अब सूत्रकार इसका समाधान कर रहे हैं—

(३०८) स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २९ ॥

सूत्रार्थ— स्मरतः = स्मरण करते हुए (मनुष्य) के, शरीरधारणोपपत्तेः = शरीर धारण किये रहने की सिद्धि होने से, अप्रतिषेधः = वादी द्वारा प्रस्तुत (मन का शरान्तर्वर्त्ती होने का) प्रतिषेध उपपन्न नहीं होता।

व्याख्या— किसी विषय का स्मरण करते समय शरीर यथावत् धारित देखा जाता है। इससे स्पष्ट है कि मन शरीर के अन्दर ही निवास करता है। यदि मन शरीर के बाहर जाता होता, तो शरीर की यथा स्थिति नहीं रहती; क्योंकि शरीर की यथास्थिति बने रहने के लिए जो प्रयत्न होता है, उसके लिए मन और आत्मा का सन्निकर्ष आवश्यक है। यदि इन दोनों का संयोग न हो, तो शरीर के इधर-उधर लुढ़क जाने की स्थिति आ जाएगी। आत्मा और मन के सन्निकर्ष से उत्पन्न शरीर धारण प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं, एक प्रयत्न से शरीरांगों में क्रिया उत्पन्न होती है और दूसरे से शरीर यथास्थित बना रहता है। दोनों प्रकार के प्रयत्न शरीर के अन्दर (जीवित अवस्था में) सम्पन्न होते रहने से मन की उपस्थिति वहाँ निस्संदेह है, यह सिद्ध होता है। अस्तु, मन शरीरान्तर्वर्ती है यह सिद्ध है ॥२९॥

वादी उक्त कथन का निषेध करते हुए बताता है कि मन के बाहर रहते हुए भी शरीर धारण सम्भव है—

(३०९) न तदाशुगतित्वान्मनसः ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ— न तद् = उक्त कथन (कि मन शरीर के अन्दर ही रहता है) का निषेध करना अयुक्त नहीं है, आशुगतित्वात् मनसः = मन के आशुगति (तीव्र गति वाला) होने से।

व्याख्या— विगत सूत्र में यह तर्क दिया गया है कि मन शरीरान्तर्वर्ती है; क्योंकि शरीर धारण प्रयत्न आत्मा और मन के सन्निकर्ष से ही सम्भव है; किन्तु यह तर्क दोषपूर्ण है; क्योंकि मन आशुगतिमान् है अर्थात् अत्यन्त तीव्रगति वाला है। अतः वह अन्दर रहकर शरीर धारण प्रयत्न को गति देकर (कुम्हार के चक्र के समान), शीघ्रता से बाहर जा सकता है और वहाँ बाह्य आत्मप्रदेशों से क्रमशः संयुक्त होकर क्रमिक रूप से स्मृतियाँ उत्पन्न कर शीघ्र ही अन्दर आ सकता है। अस्तु बाह्य आत्मप्रदेशों की स्मृतियों को उत्पन्न करने में मन को कोई बाधा नहीं है। अतः आचार्य ने जो, यह कहा कि मन शरीर के अन्दर ही निवास करता है, यह कथन दोषपूर्ण है ॥३०॥

अब सूत्रकार वादी के उपर्युक्त कथन का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३१०) न स्मरणकालानियमात् ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ— स्मरणकाल-अनियमात् = स्मरण काल का कोई नियम (कि स्मरण काल की सीमा कितनी है) न होने से, न = (वादी का उपर्युक्त कथन) युक्त नहीं है।

व्याख्या— सूत्रकार मन के शरीरान्तर्वर्ती होने के पक्ष में तर्क देते हुए कहते हैं कि स्मरण का समय निश्चित नहीं है। कभी वह जल्दी हो जाता है और कभी किसी विषय को स्मरण करने में बहुत विलम्ब हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यदि मन बाह्य आत्म प्रदेश के साथ सम्पर्क करने चला जाता है (स्मृति उत्पन्न करने हेतु), तो कभी-कभी लौटने में देर भी हो सकती है। ऐसी स्थिति में शरीर लुढ़क भी सकता है; क्योंकि मन उस समय देर तक वहाँ उपस्थित नहीं है। अतः स्मरण काल की कोई समय सीमा निर्धारित न होने से ऐसा सम्भव नहीं दीखता।

दूसरी बात यह है कि केवल मन और आत्मा संयुक्त होकर, शरीर के संयोग के बिना, स्मृति के कारण नहीं बन सकते। कारण यह है कि ज्ञान, सुख, दुःख आदि समस्त भोग शरीर के बिना सम्भव नहीं हैं। यदि यह मान लें कि आत्मा और मन के सन्निकृष्ट हो जाने भर से सभी सुख, दुःख भोगों एवं ज्ञान की प्राप्ति

हो जायेगी, तो फिर शरीर की कोई आवश्यकता न रह जायेगी। जबकि माना यही जाता है कि सांसारिक भोगों (कर्मानुसार) के भोग के लिए ही शरीर मिलता है। अस्तु, स्पष्ट है कि सुख-दु:खादि भोगों का भोग आत्मा और मन, शरीर के बिना नहीं भोग सकते; तब फिर मन के बाहर जाने की कल्पना करना निरर्थक है। जैसे- सुख-दु:ख की अनुभूति मन और आत्मा को शरीर के अन्दर ही होती है, वैसे ही स्मृति इनके रहते शरीर के अन्दर ही होती है ॥३१॥

मन के शरीरान्तर्वर्ती होने का तथ्य अगले सूत्र में सूत्रकार और स्पष्ट कर रहे हैं—

(३११) आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेष: ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थ— आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभि: = आत्मप्रेरणा से, यदृच्छा अर्थात् अकस्मात् ही (आकस्मिक रूप से), मन की ज्ञता अर्थात् विशिष्ट रूप से जानने की शक्ति से, च = और, संयोगविशेष: = (शरीर के बाहर आत्म प्रदेशों के साथ) विशिष्ट रूप से संयोग होना, न = नहीं हो सकता।

व्याख्या— मन का शरीरान्तर्वर्ती होना स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि मन के बाहर, आत्मप्रदेश में जाने और संयुक्त होने के तीन कारण हो सकते हैं। प्रथम कारण है-**आत्मप्रेरणा-** आत्म प्रेरणा से तात्पर्य है कि आत्मा मन को स्वत: प्रेरित करे कि मेरे अमुक जगह स्थित प्रदेश (आत्म प्रदेश) में जाओ और उससे संयुक्त होकर वहाँ एकत्रित स्मृति को उद्भूत करो; किन्तु ऐसी स्थिति होना सम्भव नहीं । कारण यह है कि आत्मा में ऐसा संकल्प करते समय कि अमुक स्मर्त्तव्य विषय को उद्भूत करो, स्मरण योग्य विषय का स्वत: (आत्मा को) स्मरण हो रहा होता है। तब वह मन को स्मरण के लिए क्यों प्रेरित करेगा?

द्वितीय कारण- **यदृच्छा** का तात्पर्य आकस्मिक से है अर्थात् अकस्मात्- अकारण- अचानक किसी कार्य का सम्पन्न हो जाना; किन्तु किसी कारण के बिना कार्य नहीं होता। शरीर के बाहर आत्मप्रदेश और मन के संयोग का कोई कारण अवश्य होना चाहिए; किन्तु वैसा कोई कारण न होने पर संयोग होना संभव नहीं। अत: आकस्मिक संयोग भी उपपन्न नहीं है।

तृतीय कारण- '**ज्ञता**' अर्थात् किसी विषय की स्वत: जानकारी होना। मन का ज्ञाता होना। तात्पर्य यह है कि मन स्वयं यह जान ले कि अमुक आत्म प्रदेश में संगृहीत स्मर्तव्य विषय (स्मृतियाँ) हैं, अत: मुझे उस प्रदेश में जाकर उससे संयुक्त होकर स्मृतियों को उभारना और उनका संदेश आत्मा को देना चाहिए; किन्तु यह हेतु भी उपयुक्त नहीं है; क्योंकि ज्ञान मन का विषय नहीं है।

इस प्रकार आत्म-मन: संयोग के तीनों कारण असिद्ध हैं। अत: सिद्ध है कि मन बाहर जाता ही नहीं और वह केवल शरीरान्तर्वर्त्ती है ॥३२॥

अब उपुर्यक्त समाधान पर वादी यह आक्षेप करता है कि मन के शरीर के बाहर आत्म प्रदेश-संयोग में जो आपत्ति है, वही मन के शरीर के अन्दर रहने में भी हो सकती है—

(३१२) व्यासक्तमनस: पादव्यथनेन संयोगविशेषेण समानम् ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ— व्यासक्तमनस: = किसी एक विषय में मन के लगे होने पर, पादव्यथनेन = पैर में (काँटे या कीड़े आदि से) व्यथा (पीड़ा) होने से , संयोगविशेषेण समानम् = (आत्मा और मन का) समान रूप से संयोग विशेष होता है।

व्याख्या- जिस समय मन अन्त: स्थित आत्मप्रदेश से संयुक्त होकर किसी विषय विशेष में तल्लीन होता है, उस समय किसी प्रदेश विशेष में कीट-कण्टकादि पीड़ा से मन तुरन्त वहाँ पहुँचता है, तब भी तो वैसी ही स्थिति बनती है, जैसी मन के शरीर के बाहर जाने पर बनती। उदाहरणार्थ- उस समय, जब कोई व्यक्ति संगीत सुनने या कोई दृश्य देखने में निमग्न होता है, उसी समय यदि उसके पैर में किसी कारणवश

काँटा चुभ जाए अथवा कोई कीड़ा काट ले, तो (संगीत सुनते समय या दृश्य देखते समय) श्रोत्र स्थानीय आत्म प्रदेश से संयुक्त मन या नेत्र स्थानीय आत्म प्रदेश से संयुक्त मन तत्काल अपने स्थान को छोड़कर पद स्थानीय आत्म प्रदेश में संयुक्त हो जाता है।

तात्पर्यार्थ यह है कि जब शरीर के अन्दर ही मन एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में तत्काल जा सकता है, तो शरीर के बाहर जाकर आत्म प्रदेश से संयुक्त होकर मन स्मृति-संग्रह क्यों नहीं कर सकता? दोनों स्थितियाँ तो एक जैसी ही हैं। अब यदि मन के बाहर जाने में दोष है, तो उसके (शरीर के) अन्दर ही एक स्थान को छोड़कर तत्काल दूसरे स्थान में जाने में दोष क्यों नहीं है? अत: मन को शरीर के बाहर जाने वाला मानने में कोई बाधा नहीं है॥३३॥

वादी के यह कहने पर कि मन के शरीर के बाहर जाने का आचार्य द्वारा किया गया निषेध निरर्थक है। फिर भी यदि मन का शरीरान्तर्वर्ती होना मान भी लें, तो मन-आत्मा सतत सन्निकृष्ट रहने पर भी युगपत् स्मृतियाँ क्यों नहीं होतीं, आचार्य स्पष्ट करते हैं—

(३१३) प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगपद्भावादयुगपत्स्मरणम्॥ ३४॥

सूत्रार्थ— प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानाम् = प्रणिधान (एकाग्रता) एवं लिङ्ग (लक्षण) आदि ज्ञानों के, अयुगपद्भावात् = अयुगपत् (एक साथ न) होने से, अयुगपत्स्मरणम् = युगपत् स्मरण नहीं होता।

व्याख्या— स्मृतियों के विभिन्न हेतुओं, जैसे 'आत्मा और मन का संयोग', 'विविध संस्कार' आदि के समान अन्य हेतु 'प्रणिधान' (चित्त की एकाग्रता) तथा लिङ्ग (लक्षण) आदि का ज्ञान भी है। कोई कार्य तब तक पूर्णरूपेण सम्पन्न नहीं हो पाता, जब तक कि उसके समस्त निमित्त विद्यमान न हों। यद्यपि सभी संस्कार आत्मा में एकत्र रहते हैं और आत्मा तथा मन का सन्निकर्ष भी रहता है, तथापि स्मरण योग्य विषय की स्मृति उद्भूत नहीं हो पाती। कारण यह है कि उसके लिए आवश्यक समस्त हेतुओं की वहाँ विद्यमानता नहीं है। उनमें प्रणिधान, लिङ्ग आदि ऐसे हेतु हैं, जिनका एक साथ रहना सम्भव नहीं है। जैसे-जैसे ये हेतु उपस्थित होते जाते हैं, स्मृतियाँ भी क्रमश: उभरती जाती हैं। अस्तु, स्मृतियों के भी एक साथ (युगपत्) न होने का यही कारण है॥३४॥

आचार्य द्वारा सामान्य स्मृतियों के युगपत् न होने का समाधान प्रस्तुत कर दिये जाने पर, अब वादी विशेष स्मृतियों के युगपत् होने सम्बन्धी आशंका कर रहा है। आचार्य उसकी आशंका को सूत्रित कर रहे हैं—

(३१४) प्रातिभवत्तु प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्त्ते यौगपद्यप्रसङ्गः॥ ३५॥

सूत्रार्थ— प्रातिभवत्तु = प्रातिभ (प्रतिभाजन्य) ज्ञान के समान तो, प्रणिधानादि-अनपेक्षे = प्रणिधान (एकाग्रता) आदि हेतुओं की जिसमें अपेक्षा नहीं है, उस; स्मार्त्ते = स्मृति स्वरूप ज्ञान में, यौगपद्यप्रसङ्गः = अनेक ज्ञानों (स्मृतियों) का युगपत् होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो सकता है।

व्याख्या— प्रातिभज्ञान (प्रतिभा से उत्पन्न ज्ञान) की तरह कई स्मृतियाँ प्रणिधान (एकाग्रता) आदि हेतुओं की अपेक्षा के बिना भी होती हैं। तब ऐसी स्मृतियाँ तो युगपत् (साथ-साथ) हो ही सकती हैं। विगत सूत्रों में आचार्य ने यही बताया था कि स्मृतियों का युगपत् न होने का कारण एकाग्रता आदि हेतुओं का पर्याय से होना है अर्थात् प्रणिधान (एकाग्रचित्तत्व) एक समय में एक ही विषय या स्मृति के साथ हो सकता है, अत: स्मृतियाँ पर्याय से (क्रमश:) उभरती हैं; कई बार ऐसा भी देखा जाता है कि कोई व्यक्ति अकस्मात् कहता है कि मेरे अन्त:करण से आवाज आ रही है कि आज मेरा अमुक मित्र आ रहा है और कुछ समय में वह आ भी जाता है, तो उस व्यक्ति को जो अचानक यह ज्ञान हुआ, इसे ही प्रातिभ अर्थात् प्रतिभाजन्य ज्ञान कहेंगे। वस्तुत: बुद्धि की स्फूर्ति ही प्रतिभा है, इससे उत्पन्न ज्ञान प्रातिभज्ञान है। इस ज्ञान में किसी हेतु की

अपेक्षा नहीं है। इसी प्रकार जिन ज्ञानों (स्मृतियों) में किसी हेतु की अपेक्षा नहीं है, उनके तो कई के एक साथ उद्भूत होने की शक्यता तो हो ही सकती है। ऐसी स्थिति में स्मृतियों के युगपत् होने की स्थिति बन सकती है ॥३५॥

अब ज्ञान को पुरुष धर्म तथा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दु:खादि को अन्त:करण का धर्म मानने वाले किसी आचार्य के सिद्धान्त का सूत्रकार निषेध कर रहे हैं—

(३१५) ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्योः ॥ ३६ ॥

सूत्रार्थ— ज्ञस्य = ज्ञाता (आत्मा) के, इच्छाद्वेषनिमित्तत्वात् = इच्छा और द्वेष के कारण रूप होने से, आरम्भनिवृत्तयो: = आरम्भ और निवृत्ति (आत्मा के ही) हैं।

व्याख्या— ज्ञान आत्मा का धर्म है, अत: ज्ञाता आत्मा ही है। वह ज्ञाता आत्मा स्वेच्छा से किसी कार्य को प्रारम्भ करता है अर्थात् अमुक कार्य में उसकी प्रवृत्ति होती है। ठीक इसी प्रकार किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति द्वेष के फलस्वरूप ज्ञाता आत्मा निवृत्त होने- उससे अलग हटने का प्रयत्न करता है। इस प्रवृत्ति और निवृत्ति के कारणरूप 'इच्छा और द्वेष' ही होते हैं।

जिससे सुख प्राप्ति की अपेक्षा होगी, उसकी इच्छा तथा जिससे दु:ख प्राप्ति की सम्भावना होगी, उसके प्रति द्वेष होना स्वाभाविक है। इस प्रकार ज्ञान, इच्छा, द्वेष, सुख-दु:ख तथा इनके लिए किये जाने वाले प्रयत्न इन सभी का आश्रय एक आत्म-ज्ञाता ही है।

कई लोग ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दु:ख इन सभी को अन्त:करण का गुण या धर्म मानते हैं, किन्तु वस्तुत: ये सभी ज्ञाता पुरुष (आत्मा) के धर्म हैं, क्योंकि इनके लिए प्रयत्न अर्थात् आरम्भ और निवृत्ति चैतन्य आत्मा द्वारा ही सम्भव है, न कि अचेतन अन्त:करण के द्वारा। चूँकि कारण और कार्य का समानाधिकरण्य होता है, इसलिए इच्छा, द्वेष आदि सभी आत्मा के कार्य होने से इनका आश्रय भी उसी प्रकार से आत्मा ही है, जिस प्रकार ज्ञान का आश्रय आत्मा है। इच्छादि कार्यों का कारण आत्मा है, अत: आत्मा में ही ये समवेत माने जायेंगे। इस प्रकार निश्चित ही इच्छादि आत्मा-ज्ञाता-पुरुष के ही धर्म हैं, अन्त:करण के नहीं ॥३६॥

उक्त कथन पर वादी जिज्ञासा मूलक आशंका करता है, जिसे आचार्य यहाँ सूत्र में सूत्रित कर रहे हैं—

(३१६) तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थ— इच्छाद्वेषयो: = इच्छा और द्वेष के, तद्-लिङ्गत्वात् = उन आरम्भ (प्रवृत्ति)और निवृत्ति के लक्षण रूप होने से, पार्थिवाद्येषु = पृथिवी आदि भूतों से निर्मित शरीर आदि में, अप्रतिषेध: = प्रतिषेध नहीं होता।

व्याख्या— आरम्भ (प्रवृत्ति) एवं निवृत्ति के लक्षण इच्छा और द्वेष हैं। ये दोनों शरीर के धर्म हैं, अत: पृथिवी आदि भूतों में प्रतिषेध नहीं होता। पृथिवी आदि भूतों से विनिर्मित जितने भी शरीर हैं, उनमें प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का होना पाया जाता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति इच्छा और द्वेष से होती है। इच्छा के अभाव में प्रवृत्ति और द्वेष के अभाव में निवृत्ति का होना सम्भव नहीं है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य नहीं हो सकता। अत:.इच्छा-द्वेष पार्थिव आदि शरीर के लक्षण हैं। इस कारण इनका प्रतिषेध होना असम्भव है ॥३७॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त कथन का खण्डन करते हुए शरीर-चेतनवाद का निराकरण कर रहे हैं—

(३१७) परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ॥ ३८ ॥

सूत्रार्थ— परश्वादिषु = परशु-कुठार आदि में, आरम्भनिवृत्ति दर्शनात् = आरम्भ (प्रवृत्ति) और निवृत्ति के देखे जाने से उक्त कथन उचित प्रतीत नहीं होता।

व्याख्या— परशु-कुठार आदि में भी आरम्भ (प्रवृत्ति) और निवृत्त के दर्शन होते हैं; किन्तु उनमें इच्छा-द्वेष आदि द्वन्द्व नहीं होते। इस कारण उक्त कथन यहाँ पर उचित प्रतीत नहीं होता। कुठार द्वारा काष्ठ काटते समय कुठार का काष्ठ पर तेजी से वार करना तथा फिर वहाँ से निवृत्त होना, परशु-कुठार में प्रवृत्ति और निवृत्ति के अस्तित्व का साक्षात्कर्त्ता हैं; किन्तु वहाँ चैतन्य तत्त्व का नितान्त अभाव बना रहता है। ऐसे ही शरीर में अथवा शरीर के हाथ-पैर आदि अवयवों में प्रवृत्ति-निवृत्ति होने पर चेतन एवं ज्ञान, सुख-दु:ख, प्रयत्न आदि लक्षणों का होना अनिवार्य नहीं हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रवृत्ति-निवृत्ति कुठार आदि में ज्ञान, सुख आदि का व्यभिचारी है। अत: शरीर में प्रवृत्ति-निवृत्ति, ज्ञान-सुख प्रयत्न के साधक नहीं हो सकते, इसी प्रकार देह में ज्ञान, सुख आदि का निषेध हो जाता है॥३८॥

आचार्य अगले सूत्र में वादी की उक्त मान्यता का निराकरण कर रहे हैं—

(३१८) कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतु: ॥ ३९ ॥

सूत्रार्थ— कुम्भादिषु = कलश आदि में भी ज्ञान-सुख आदि की, अनुपलब्धे: = उपलब्धि न होने से, अहेतु: = यह हेतु उचित नहीं है।

व्याख्या— परशु आदि की तरह से घट-कलश आदि में भी ऐसा ही देखा जाता है। अत: यहाँ पर भी उक्त कथन मान्य नहीं हो सकता है। कलशादि के रूप में मिट्टी के अंगों की विशिष्ट रचना देखी जाती है। वादी के उक्त कथनानुसार वहाँ प्रवृत्ति विशेष के रूप में 'आरम्भ' का अस्तित्व है। इस तरह की प्रवृत्ति (आरम्भ) रेत (बालू) के ढेर में नहीं देखी जाती, अत: वहाँ 'निवृत्ति' है। इस प्रकार इन भूत तत्त्वों में प्रवृत्ति-निवृत्ति के रहने पर भी कुम्भ आदि रचना में ज्ञान, सुख, प्रयत्न आदि का अभाव देखा जाता है। अत: यहाँ आरम्भ-निवृत्ति होने पर इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान आदि का सम्बन्ध न देखे जाने से वादी का उपर्युक्त कथन देह में चेतन का साधक नहीं माना जा सकता है॥ ३९॥

अगले सूत्र में आचार्य वादी के उक्त कथन का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३१९) नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ॥ ४० ॥

सूत्रार्थ— तद्-विशेषकौ = उन (इच्छा-द्वेष आदि) का भेद, तु = तो, नियमानियमौ = नियम और अनियम हैं।

व्याख्या— नियम और अनियम के द्वारा इच्छा, द्वेष आदि का भेद सिद्ध होता है, अभिप्राय यह है कि इच्छा, द्वेष सम्बन्ध और असम्बन्ध से ही चेतन एवं अचेतन का भेद जाना जाता है। इससे पुष्ट होता है कि इच्छा, द्वेष से ही देह में आरम्भ और निवृत्ति होती है, अत: यह दोनों आत्मा के विशेष गुण हैं। इच्छा और द्वेष का प्रत्यक्ष सम्बन्ध आत्मा से ही है। आत्मा ही इच्छा और द्वेष के द्वारा शरीर को प्रेरित करता है अर्थात् ज्ञाता की इच्छा एवं द्वेष के कारण ही आरम्भ और निवृत्ति शरीर से होती है, स्वयमेव नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि इच्छा-द्वेष आत्मा के गुण हैं। उनके आश्रय से ही देह में प्रवृत्ति और निवृत्ति प्रकट होती है, अन्यथा नहीं॥४०॥

अगले सूत्र में आचार्य इच्छा, द्वेष आदि के मनोधर्म होने का निषेध कर रहे हैं—

(३२०) यथोक्तहेतुत्वात्पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनस: ॥ ४१ ॥

सूत्रार्थ— यथोक्तहेतुत्वात् = उक्त (सूत्र में कहे हुए) हेतुओं के होने से, पारतन्त्र्यात् = परतन्त्र मन आत्मा के अधीन होने से, च = और, अकृताभ्यागमात् = न किये गये कर्म के फल की प्राप्ति से इच्छा आदि, मनस: = मन के धर्म, न = नहीं हैं।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में जो हेतु कहा गया है, उससे मन-आत्मा के परतन्त्र होने एवं बिना कर्म के ही फल-प्राप्ति होने से भी इच्छा आदि को मन का धर्म नहीं माना जा सकता। यहाँ सूत्र में 'मन' पद से देह, इन्द्रिय एवं मन तीनों के लिए ग्रहण हुआ है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दु:ख एवं ज्ञान ये छ: आत्मा के लिङ्ग (चिह्न) कहे गये हैं तथा अनुमान युक्तियों द्वारा इनको आत्मा का गुण बताया गया है। इसके साथ ही देह, इन्द्रिय एवं मन के चेतन (ज्ञाता) होने का प्रतिषेध किया गया है। उपुर्यक्त सूत्र में कहे गये हेतुओं से चैतन्य-ज्ञान के आत्मा का गुण सिद्ध हो जाने से इसे मन व इन्द्रियों का गुण कहना व्यर्थ है। एक देह में एक अभिमानी चेतन का होना असम्भव नहीं है। आत्मा के चेतन होने पर मन को चेतन कहना अर्थरहित होगा। उक्त हेतुओं से, मन के परतन्त्र होने से और अकृताभ्यागम दोष की आपत्ति से इच्छादि मन के धर्म नहीं कहे जा सकते ॥४१ ॥

अगले सूत्र में पुन: उक्त कथन की पुष्टि की गई है—

(३२१) परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ॥ ४२ ॥

सूत्रार्थ— परिशेषात् = परिशेष आदि से, यथोक्तहेतु: = यथोक्त हेतुओं की, उपपत्ते: = उपपत्ति (सिद्धि) से, च = भी (इच्छा आदि धर्म-गुण आत्मा के सिद्ध होते है)।

व्याख्या— इन्द्रिय, मन एवं शरीर अचेतन हैं, अत: इच्छा आदि अनेक धर्म (गुण) नहीं हो सकते; क्योंकि जो वस्तु या पदार्थ स्वयं ही जड़ हैं, तब उसमें इच्छा आदि की प्रवृत्ति होना असम्भव है। अत: इच्छा आदि आत्मा के गुण-धर्म हैं, यही मानना उचित होगा। जिन हेतुओं के द्वारा आत्मा की सिद्धि की गई है, उन्हीं हेतुओं से आत्मा का नित्य सिद्ध होना भी पुष्ट होता है। नित्य होने से ही आत्मा धर्म के द्वारा स्वर्ग एवं मुक्ति की प्राप्ति कर लेता है और अधर्म के द्वारा नरक एवं दु:ख को प्राप्त करता है। यदि आत्मा अनित्य होता, तो देह के विनष्ट होने से उसका भी विनाश हो जाता। अत: परिशेष अनुमान द्वारा ज्ञान, इच्छा आदि धर्म आत्मा के हैं,यही सिद्ध होता है ॥४२ ॥

अगले सूत्र में आचार्य एक और हेतु सूत्रित कर रहे हैं—

(३२२) स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात् ॥ ४३ ॥

सूत्रार्थ— आत्मन: = आत्मा का, ज्ञस्वाभाव्यात् = ज्ञाता का स्वभाव होने से, स्मरणं तु = स्मरण भी उसी का धर्म (लक्षण) है।

व्याख्या— स्मृति में रखना अर्थात् जानकारी प्राप्त करना ज्ञाता का स्वभाव है। ज्ञाता को ही आत्मा कहा गया है। अत: स्मरण करना भी आत्मा का धर्म है; क्योंकि स्मृति चेतन आत्मा में ही प्रकट हो सकती है, जड़ में प्रकट होना असंभव है। ज्ञाता के ज्ञान स्वरूप चैतन्यमय होने के कारण चाहे ज्ञान अनुभवगम्य हो या स्मृतिपरक, वह ज्ञाता-आत्मा के सिवाय अन्य किसी का धर्म (गुण) नहीं हो सकता। नित्य चैतन्य आत्मा त्रिकाल-सम्बन्धी ज्ञान से जुड़ा रहता है। इस वास्तविकता को प्रत्येक जानने वाला जानता है। अत: बुद्धि का अथवा नित्य आत्मतत्त्व के आश्रय से रहित बुद्धि-सन्तान का धर्म न होकर समस्त ज्ञान नित्य चैतन्य आत्मा का गुण (धर्म) है। यह सिद्ध होता है ॥४३ ॥

अब अगले सूत्र में जिन कारणों से स्मृति उत्पन्न होती है, उन्हें सूत्रित किया गया है—

(३२३) प्रणिधाऽननिबन्धाऽभ्यासलिंगलक्षणसादृश्यपरिग्रहाऽऽश्रयाऽऽश्रत-सम्बन्धाऽऽनन्तर्यवियोगैक कार्यविरोधाऽतिशय प्राप्तिव्यवधानसुख-दु:खेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माऽधर्मनिमित्तेभ्य: ॥ ४४ ॥

सूत्रार्थ— प्रणिधाननिबन्धाऽभ्यास = प्रणिधान, निबन्ध, अभ्यास, लिङ्गलक्षणसादृश्य = लिङ्ग, लक्षण, सादृश्य परिग्रहाऽऽश्रयाऽऽश्रित = परिग्रह, आश्रय, आश्रित, सम्बन्धाऽऽनन्तर्य = सम्बन्ध, आनन्तर्य, वियोगैककार्यविरोधातिशय = वियोग, एक कार्य,विरोध, अतिशय; प्राप्तिव्यवधानसुखदु:ख = प्राप्ति, व्यवधान, सुख, दु:ख; इच्छाद्वेषभयार्थित्व = इच्छा, द्वेष, भय, अर्थित्व, क्रियारागधर्माऽधर्म = क्रिया, राग, धर्म एवं अधर्मपर्यन्त; निमित्तेभ्य: = इन सत्ताईस निमित्तों से स्मृतियाँ प्रकट होती हैं।

व्याख्या— प्रणिधानादि निमित्तों के द्वारा स्मृति का प्रादुर्भाव होता है। ये निमित्त २७ कहे गये हैं, जो क्रमश: विश्लेषित किये जा रहे हैं- १. स्मरण की इच्छा से मन को किसी एक विषय में नियोजित कर देना ही **प्रणिधान** है। २. एक ग्रन्थ में विभिन्न अर्थों के परस्पर सम्बन्ध को **निबन्ध** कहते हैं। ३. किसी भी कार्य को निरन्तर करते रहने से जो संस्कार प्रकट होते हैं, उन्हें ही **अभ्यास** कहते हैं। ४. धूप को देखने मात्र से जो अग्नि का स्मरण होता है, उसे ही **लिङ्ग** कहते हैं। ५. जिसके द्वारा कोई पदार्थ जाना जाये, उसे **लक्षण** कहते हैं। ६. **सादृश्य** अर्थात् समानता। जैसे चित्र को देखकर चित्र में स्थित व्यक्ति का स्मरण हो आना। ७. **परिग्रह**–इसका अर्थ है- स्वीकार करना। यहाँ वस्तु के स्व- स्वामिभाव सम्बन्ध को स्वीकार करने से तात्पर्य है। जैसे— पुत्र के देखने से पिता और शिष्य के देखने से गुरु का स्मरण हो आना। ८. **आश्रय** अर्थात् किसी के अधीन होना। जैसे- ग्राम के नेता से उसके अधीन रहने वाले का स्मरण हो जाता है। अपने अधीन व्यक्ति का आश्रय होता है- ग्राम नेता। ९. **आश्रित**–जो अधीन अथवा सहारे में रहे। आश्रित से उसके आश्रय का स्मरण हो जाता है। १०. **सम्बन्ध**–किसी निश्चित आधार पर लोक व्यवहार में दो वर्गों का एक सम्बन्ध स्थापित होना ही सम्बन्ध है। जैसे गुरु शिष्य का या पिता पुत्र का। ११. **आनन्तर्य**–एक कार्य के पीछे जो दूसरा कर्म किया जाता है, उसे आनन्तर्य कहते हैं। १२. **वियोग** – जिसका वियोग होता है, उसका स्मरण किया जाता है। १३. **एक कार्य**- जैसे बहुत से व्यक्ति एक कार्य के करने वाले हों, तो वे आपस में स्मरण का हेतु होते हैं। १४. **विरोध**– जिनका परस्पर विरोध हो, वे भी एक दूसरे को स्मृति कराते हैं। १५. **अतिशय**–किसी कार्य में किसी व्यक्ति के द्वारा उत्कृष्टता प्राप्त करना 'अतिशय' कहलाता है। १६. **प्राप्ति**–किसी ने किसी से कुछ प्राप्त किया अथवा करना है, वह उसको बारम्बार याद करता है। १७. **व्यवधान**–आवरण को व्यवधान कहते हैं। जैसे भित्ति को देखने से गृह का स्मरण हो आता है। १८. **सुख**–सुखानुभूति से सुख के हेतुओं का एवं विविध आधारों का याद हो जाना। १९. **दु:ख**–ऐसे ही दु:ख का अनुभव करता हुआ व्यक्ति पूर्व में जाने हुए दु:ख के हेतुओं एवं आधारों को याद किया करता है। २०.२१ **इच्छा- द्वेष**—इन दोनों से इष्ट–अनिष्ट का स्मरण होता है। २२. **भय**- इससे भय के हेतु का स्मरण होता है। २३. **अर्थित्व**–इससे दाता का स्मरण होता है। २४. **क्रिया** अर्थात् कार्य। इससे कर्त्ता का स्मरण होता है॥ २५. **राग** – जिसमें जिसका अनुराग होता है, वह उसका स्मरण किया करता है। २६. **धर्म** और २७. **अधर्म**–इन दोनों से सुख–दु:ख एवं इनके अदृष्ट कारणों का स्मरण हो आता है। ये ही २७ निमित्त हैं, जिनसे स्मृतियाँ प्रकट होती हैं॥४४॥

अगले सूत्र में सूत्रकार बुद्धि के अनित्य होने में अन्य हेतु सूत्रित कर रहे हैं—

(३२४) कर्मानवस्थायिग्रहणात्॥ ४५॥

सूत्रार्थ— कर्मानवस्थायिग्रहणात् = कर्म–क्रिया के सदृश अनवस्थायी रूप में ग्रहण होने से (भी बुद्धि का उत्पन्न होना एवं विनष्ट होना प्राप्त होता है।)

व्याख्या— प्रत्येक विषय के लिए बुद्धि निश्चित है। जब तक जिस विषय का संसर्ग बुद्धि के साथ बना रहता है, तब तक उसकी स्मृति भी बनी रहती है। विषय के प्रत्यक्ष होने से बुद्धि की उत्पत्ति एवं विनाश

होने से बुद्धि का विनाश हो जाता है। यह प्रत्यक्ष हैं कि जब तक कोई भी पदार्थ सामने विद्यमान होता है, तभी तक उसका ज्ञान बना रहता है; किन्तु जब वह परोक्ष हो जाता है, तब उसका ज्ञान भी नहीं रहता। अत: अस्थाई क्रिया की ग्राहक होने के कारण बुद्धि का अनित्यत्व सिद्ध होता है॥ ४५॥

अगले सूत्र में पुनः इसी हेतु की पुष्टि की जा रही है—

(३२५) बुद्ध्यवस्थानात् प्रत्यक्षत्वे स्मृत्यभावः ॥४६॥

सूत्रार्थ— बुद्ध्यवस्थानात् = बुद्धि के स्थित रहने से, प्रत्यक्षत्वे = प्रत्यक्ष होने पर, स्मृत्यभावः = स्मृति का अभाव हो जाता है।

व्याख्या— यदि बुद्धि को अवस्थित माना जाये, तो जो देखे गये समस्त पदार्थ हैं, उनका प्रत्यक्ष होना अनिवार्य रहना चाहिए। पदार्थों के निरन्तर प्रत्यक्ष बने रहने पर उसकी स्मृति का अभाव होना चाहिए; क्योंकि जब तक प्रत्यक्ष है, तभी तक स्मृति है और जब प्रत्यक्ष नहीं तो स्मृति कैसी होगी? अर्थात् प्रत्यक्ष के अभाव में स्मृति का होना असंभव है। इस प्रकार से बुद्धि का अनित्यत्व होना सिद्ध होता है॥ ४६॥

उक्त कथन पर वादी आशंका करता है, जिसे आचार्य अगले सूत्र में सूत्रित कर रहे हैं—

(३२६) अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद्विद्युत्सम्पाते रूपाव्यक्तग्रहणवत्॥ ४७॥

सूत्रार्थ— अनवस्थायित्वात् = अनवस्थायी होने से (बुद्धि के), विद्युत्संपाते = बिजली के चमकने पर या गिरने पर, रूपाव्यक्तग्रहणवत् = रूप के अस्पष्ट ग्रहण किये जाने के समान, अव्यक्तग्रहणम् = ज्ञेय (विषय) का अस्पष्ट ग्रहण होना चाहिए।

व्याख्या— बिजली का चमकना या गिरना नितान्त अस्थाई होता है। उसकी चमक में आँखे झपक जाती हैं। यह सर्वमान्य तथ्य है कि उसके प्रकाश में रूप या रूप वाले द्रव्य का स्पष्ट रूप से ग्रहण नहीं होता। यदि बुद्धि को इसी तरह से अस्थाई मानें, तो वह एक-दो क्षण रहने के बाद विनष्ट हो जाती है, तब उस बुद्धि रूपी प्रकाश में घट-पट आदि विषयों का ग्रहण स्पष्ट रूप से नहीं हो सकेगा; किन्तु द्रव्यों का ग्रहण स्पष्ट होता देखा जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि बुद्धि उत्पन्न होकर क्षणभर में विनष्ट होने वाली नहीं है। अतः बुद्धि को अनित्य मानना उचित प्रतीत नहीं होता॥४७॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त आशंका का समाधान सूत्रित कर रहे हैं—

(३२७) हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा॥ ४८॥

सूत्रार्थ— हेतूपादानात् = हेतु के उपादान (कथन) से (जिज्ञासु द्वारा), प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा = प्रतिषेध किये जाने वाले अर्थ को (जिज्ञासु ने) ग्रहण कर लिया।

व्याख्या- उपर्युक्त सूत्र में वादी द्वारा विद्युत् का जो दृष्टान्त दिया गया है,उसके द्वारा तो बुद्धि का अनित्यत्व ही सिद्ध होता है; क्योंकि जिस प्रकार विद्युत् प्रकाश के क्षणिक प्रकट होने मात्र से उसका (विद्युत् का) अव्यक्त रूप (अस्थायित्व) ग्रहण होता है; न कि उन पदार्थों का, जिनके ऊपर विद्युत् गिरती है (विद्युत् का प्रकाश पड़ता है); इसी प्रकार बुद्धि के अनित्य होने से केवल उसका ही स्वरूप अस्पष्ट होगा, न कि बुद्धिगम्य पदार्थों का। अत: वादी के ही हेतु द्वारा बुद्धि का अनित्य होना सिद्ध होता है॥४८॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त सूत्र के कथन की यथार्थता को दृष्टान्त द्वारा पुनः पुष्ट कर रहे हैं—

(३२८) प्रदीपार्चिः सन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत्तद्ग्रहणम्॥ ४९॥

सूत्रार्थ— प्रदीपार्चिः = दीपक की ज्योति के, सन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत् = निरन्तर ज्योतित होने पर उसके अभिव्यक्त ग्रहण के सदृश, तद्ग्रहणम् = उस (बुद्धि) का भी अभिव्यक्त ग्रहण हो जाता है।

व्याख्या— बुद्धि के स्थिर न होने पर भी पदार्थों का भली-भाँति ज्ञान प्राप्त होता है। जिस तरह से दीपक की ज्योति निरन्तर दीप्तिमान् होते हुए भी उसकी प्रत्येक 'लौ' क्रमशः विनष्ट और प्रकट होती रहती है; परन्तु यह क्रम इतने सूक्ष्म अन्तराल से होता है कि प्रकट और विनाश प्रतीत नहीं होता; किन्तु उनसे पदार्थों का वास्तविक ज्ञान होने में कोई भी अवरोध नहीं होता। प्रकट होने से दीपक की ज्योति एवं उन किरणों से जिन पदार्थों का प्रकाश होता है, वे दोनों ही अनित्य हैं अर्थात् दीपक की किरणें स्थिर नहीं रहतीं और न ही वे पदार्थ जिन्हें उन किरणों से ज्ञात करते हैं, स्थिर रहते हैं। हर वस्तु के साथ बुद्धि का सम्बन्ध होने से उन पदार्थों के सदृश बुद्धि वृत्तियाँ भी अनित्य हैं। जिस तरह दीपक की किरणें अस्थिर होने पर भी अच्छी तरह से अर्थ का प्रकाश करती हैं। इसी तरह बुद्धि-वृत्तियाँ अनित्य होने पर भी यथार्थ ज्ञान का कारण होती हैं॥४९॥

बुद्धि के अनित्यत्व का क्रम सम्पन्न हुआ, अब अगले सूत्र में चेतना शरीर का धर्म है अथवा किसी अन्य पदार्थ या द्रव्य का ? सर्वप्रथम इस संदेह का कारण आचार्य बतला रहे हैं—

(३२९) द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः ॥५०॥

सूत्रार्थ— द्रव्ये = द्रव्य में, स्वगुणपरगुणोपलब्धेः = स्वगुण एवं पर (अन्य) गुण की उपलब्धि होने से, संशयः = इस शरीर में चेतना विषयक संदेह होता है।

व्याख्या— द्रव्य में स्वगुण एवं पर (अन्य) गुण दोनों ही प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार जल में द्रव्य स्वगुण एवं उष्णता अग्नि का गुण मिलता है, इसी प्रकार सभी पदार्थों में कुछ गुण अपने स्वयं के होते हैं तथा कुछ अन्य पदार्थों के योग द्वारा आते हैं। अब यहाँ पर संशय यह होता है कि शरीर में जो चैतन्यता (आत्मा) ज्ञात होती है, यह उस चेतना का स्वगुण है अथवा अन्य किसी द्रव्य का है? वह अन्य द्रव्य आत्मा है, तब चेतना को शरीर तथा आत्मा में से किस द्रव्य का गुण स्वीकार किया जाय?॥ ५०॥

उक्त आशंका का आचार्य अगले सूत्र में समाधान कर रहे हैं—

(३३०) यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम्॥५१॥

सूत्रार्थ— यावच्छरीरभावित्वात् = जब तक शरीर का अस्तित्व है, रूपादीनाम् = (तब तक) रूप आदि धर्मों की उपलब्धि होती है।

व्याख्या— प्रायः यह देखा जाता है कि शरीर के अपने गुण रूपादि तब तक शरीर में यथावत् बने रहते हैं, जब तक शरीर का अस्तित्व बना रहता है; परन्तु शरीर के रहते हुए भी चेतना नहीं रहती। मृत शरीर में चेतना (आत्मा) का अभाव रहता है; किन्तु शरीर के जो अपने रूपादि गुण (धर्म) हैं, वे मृत शरीर में विद्यमान रहते हैं। उदाहरणार्थ जल में अपना गुण (धर्म) द्रवत्व बना रहता है, उष्णता (गर्मी) परधर्म (अन्य गुण) नहीं रहता। इस कथन से यह प्रमाणित हो जाता है कि चेतना (आत्मा) शरीर का धर्म नहीं है॥५१॥

उक्त कथन पर वादी आशंका कर रहा है, जिसे सूत्रकार यहाँ सूत्रित कर रहे हैं—

(३३१) न पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः॥५२॥

सूत्रार्थ— पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः = पके हुए से अर्थात् अग्नि संयोग के कारण अन्य गुण की उत्पत्ति होने से, न = (उपर्युक्त कथन) उचित नहीं है।

व्याख्या— पाक अर्थात् अग्नि के संयोग से उद्भूत अन्य गुणों का उद्भव होने से उक्त कथन उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि पकाने से वस्तु का रंग परिवर्तित हो जाता है अथवा जो गुण पकाने के पूर्व होते हैं, उन गुणों में पकाने के बाद अन्तर हो जाता है। ऐसे ही शरीर में भी जैसे-जैसे परिपक्वता आती है, वैसे-वैसे ही चेतना प्रवर्द्धित होती रहती है अर्थात् किसी भी पदार्थ में पूर्व में जो गुण नहीं होते, अग्नि के संयोग से पकने के बाद वे प्रकट हो जाते हैं, वैसे ही शरीर के पक जाने पर अर्थात् प्रौढ़ होने पर उसमें चैतन्यता का प्राकट्य हो जाता है॥५२॥

अगले सूत्र में इसके समाधान हेतु अन्य विचारणीय तथ्य सूत्रकार दे रहे हैं—

(३३२) प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ॥ ५३ ॥

सूत्रार्थ— प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः = विरोधी गुणों की सिद्धि होने पर, पाकजानाम् = पाकज गुणों की समानता से, अप्रतिषेधः = प्रतिषेध असंगत है।

व्याख्या— अग्नि संयोग से पकने के पश्चात् जो भी गुण उत्पन्न होते हैं, वे पूर्व गुणों से पृथक् होते हैं। जो गुण बीज में होता है, वह पके हुए फलों में नहीं होता। अग्नि में पकने से विटामिन्स-मूलतत्त्व समाप्त हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पूर्व गुणों से पाकज (पकने के बाद वाले) गुण नहीं मिलते; परन्तु शरीर तो चेतनता का कोई विरोधी गुण नहीं है और चेतनता भी शरीर का गुण नहीं है; क्योंकि मृत्यु के पश्चात् शरीर तो बना रहता है; लेकिन चेतना निकल जाती है ॥ ५३ ॥

शरीर का गुण (धर्म) चेतना नहीं है, इसकी पुष्टि हेतु सूत्रकार यहाँ एक दूसरा हेतु प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३३३) शरीरव्यापित्वात् ॥ ५४ ॥

सूत्रार्थ— शरीरव्यापित्वात् = शरीर व्यापी होने के कारण भी चेतनता शरीर का धर्म नहीं है, यही युक्त प्रतीत होता है।

व्याख्या— शरीर एवं शरीर के समस्त अंगों में चेतना संव्याप्त रहती है। शरीर का ऐसा कोई अवयव नहीं है, जहाँ चेतना की अनुभूति न होती हो। यदि यह कहा जाये कि शरीर के प्रत्येक अंग में चेतना अलग-अलग है, तो ऐसा स्वीकारने से एक देह में अनेक चेतनों के होने से उसका ज्ञान भी पृथक्-पृथक् होगा; किन्तु ऐसा न होने के कारण चेतना को शरीर का धर्म (गुण) नहीं स्वीकार किया जा सकता है ॥ ५४ ॥

शिष्य जिज्ञासा करता है कि शरीर के किसी अंग में चेतना अविद्यमान नहीं रहती, यह कथन उचित नहीं लगता। अगले सूत्र में शिष्य की इस जिज्ञासा को सूत्रकार ने सूत्रित किया है—

(३३४) केशनखादिष्वनुपलब्धेः ॥ ५५ ॥

सूत्रार्थ— केशनखादिषु = बालों एवं नाखून आदि में, अनुपलब्धेः = चेतना की उपलब्धि नहीं होती है।

व्याख्या— चेतना को सम्पूर्ण देह में संव्याप्त मानना उचित नहीं है; क्योंकि बाल एवं नाखूनों में चेतना नहीं रहती। चेतना को देह में संव्याप्त बतलाने के आधार पर एक देह में शरीर के अंगों के माध्यम से विभिन्न चैतन्य तत्त्वों की कल्पना करके चेतना को शरीर का गुण होने का प्रतिषेध किया गया है; लेकिन शरीर में बाल,नाखून आदि ऐसे अंग हैं, जहाँ चेतना का निवास नहीं होता। ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त 'शरीर व्यापी' हेतु पुष्ट नहीं होता है। वह अपने साध्य[चैतन्य शरीर का गुण-धर्म नहीं है]को सिद्ध करने में सक्षम नहीं है ॥५५ ॥

अगले सूत्र में आचार्य समाधान देते हुए कहते हैं कि केश-नख आदि में चेतना नहीं होती—

(३३५) त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसङ्गः ॥ ५६ ॥

सूत्रार्थ— शरीरस्य = शरीर के, त्वक्पर्यन्तत्वात् = त्वक् पर्यन्त होने से, केशनखादिषु = केश-नख आदि में, अप्रसंगः = (शरीर का अंग होने के) प्रसंग की प्राप्ति नहीं है।

व्याख्या— जहाँ शरीर के लक्षण बतलाए गये हैं, वहीं चेष्टा एवं इन्द्रियों के आश्रय कि रूप में भी शरीर को स्वीकारा गया है। अतः त्वक् पर्यन्त अर्थात् त्वचा तक ही शरीर में चेतना का निवास माना गया है, बाल एवं नाखून आदि शरीर में रहते हुए भी उस चैतन्यता से बाहर हैं; क्योंकि इनमें न तो चेष्टा होती है और न ही ये दोनों कोई इन्द्रिय हैं तथा न ही किसी इन्द्रिय के अधिष्ठान हैं। इस कारण केश एवं नख आदि शरीर नहीं कहे जा सकते। इन्हें देह के अन्तर्गत मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि इनमें आघात होने पर पीड़ा की

भी अनुभूति नहीं होती ॥५६ ॥

इस सन्दर्भ में अगले सूत्र में आचार्य एक और हेतु प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३३६) शरीरगुणवैधर्म्यात् ॥ ५७ ॥

सूत्रार्थ— शरीरगुण = शारीरिक गुणों (रूपादि) के साथ (चेतना में), वैधर्म्यात् = विपरीत धर्म होने से भी (चेतना शरीर-गुण नहीं), यही मानना उचित है।

व्याख्या— देह के दो प्रकार के गुण (धर्म) कहे गये हैं। प्रथम वह जो दृष्टिगोचर नहीं होता; जैसे- गुरुत्व-चेतना आदि। द्वितीय गुण वे हैं, जो बाह्येन्द्रियों से दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे- रूप, स्पर्शादि। चेतना गुण इन दोनों भेदों से विलक्षण है। वह न तो अप्रत्यक्ष है; क्योंकि उसका आभ्यन्तर इन्द्रिय मन से प्रत्यक्ष होता है और न ही रूपादि के सदृश बाह्येन्द्रिय से चेतना का प्रत्यक्ष होता है। इसका कारण यह है कि चेतना मात्र आभ्यन्तर इन्द्रिय का विषय है। अत: यह देह का गुण न होकर किसी अन्य द्रव्य का धर्म (लक्षण)। वह द्रव्य ही आत्मा है। उक्त दोनों तरह के गुण परस्पर विपरीत धर्म वाले हैं, अत: चेतना शरीर का गुण नहीं माना जा सकता है ॥ ५७ ॥

शरीर-गुणों में विपरीत धर्म वाला है, इस तथ्य के सन्दर्भ में शिष्य की जिज्ञासा को आचार्य अगले सूत्र में सूत्रित कर रहे हैं—

(३३७) न रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात् ॥ ५८ ॥

सूत्रार्थ— रूपादीनाम् = रूपादि गुणों का, इतरेतर = परस्पर एक दूसरे से, वैधर्म्यात् = विपरीत धर्म (लक्षण) होने से (भी शारीरिक गुण चेतना को), न = नहीं माना जा सकता।

व्याख्या— यह कहना कि मानव-देह में पायी जाने वाली चेतना देह के रूप-स्पर्शादि गुणों से पृथक् है। अत: उसे शारीरिक गुण नहीं माना जा सकता। यह कथन यहाँ उचित नहीं प्रतीत होता। शरीर का वर्ण, सौन्दर्य, कद आदि भी आपस में भिन्न रहते हैं, फिर भी उनको एक ही देह के गुण के रूप में स्वीकारा जाता है। ऐसी स्थिति में यदि चेतना को भी भिन्न मानते हुए अन्य गुणों के सदृश शरीर का गुण मान लिया जाये, तो इसमें क्या आपत्ति है ? अत: चेतना को शरीर का गुण न मानने में शारीरिक गुणों के विपरीत धर्म (लक्षण) वाला हेतु ऐकान्तिक (अव्यभिचारी) नहीं है ॥५८ ॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३३८) ऐन्द्रियकत्वाद्रूपादीनामप्रतिषेधः ॥ ५९ ॥

सूत्रार्थ— ऐन्द्रियकत्वात् = इन्द्रियों के द्वारा ग्रहणीय होने से, रूपादीनाम् = रूप आदि का (शरीर के गुण होने का), अप्रतिषेधः = प्रतिषेध नहीं हो सकता।

व्याख्या— शरीर के समस्त गुण इन्द्रियों के द्वारा ग्रहणीय होते हैं। इन्द्रियग्राह्य होना उनका एक धर्म है, जो सभी गुणों में मिलता है। एक ही देह में रहने एवं इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने से सभी गुण सजातीय कहलाते हैं। अत: वही देह का गुण है। चेतना शरीर का गुण नहीं है। चेतनता- बुद्धि तथा किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण नहीं होती। अत: वह शरीर का गुण कभी भी नहीं हो सकती; लेकिन वह अतीन्द्रिय आत्मा का गुण अवश्य है। यहाँ 'शरीरगुणवैधर्म्य' हेतु के आधार पर चेतना का शरीर- गुण न होना सिद्ध होता है ॥५९ ॥

बुद्धि की परीक्षा के पश्चात् अब अगले सूत्र से मन की परीक्षा की जा रही है। यहाँ जिज्ञासा होती है कि प्रत्येक देह में एक आत्मा के साथ एक मन रहता है अथवा अनेक ? आचार्य यहाँ इस प्रश्न का उत्तर दे हैं—

(३३९) ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः ॥ ६० ॥

सूत्रार्थ— ज्ञानयौगपद्यात् = ज्ञानों के एक काल में अर्थात् एक साथ न होने से, एकम् = एक (ही), मन: = मन (एक शरीर में) रहता है।

व्याख्या— एक काल में अनेक ज्ञानों की उपलब्धि न होने से यही सिद्ध होता है कि मन एक ही है। यदि मन अनेक होते, तो एक साथ अनेक ज्ञान प्रकट हो जाते; किन्तु ऐसा न होने से मन का एक ही होना पुष्ट होता है।

एक देह में मन एक ही है; किन्तु चक्षु आदि इन्द्रियाँ अनेक हैं। ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विभिन्न विषयों का बोध कराने में साधन होती हैं। इस प्रकार से हर प्रत्यक्ष ज्ञान में बाह्य इन्द्रिय के सदृश एक आभ्यन्तर इन्द्रिय 'मन' भी साधन होता है।

एक समय में दो इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान न होना ही मन के होने का प्रमाण है, अत: मन एक है। यदि मन अनेक होते, तो एक ही काल में अनेक ज्ञानों का होना सम्भव था; क्योंकि समस्त इन्द्रियों के साथ एक-एक मन का संयोग होकर सभी विषयों का एक साथ ज्ञान होता; किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। अत: एक शरीर में एक ही मन का होना प्रमाणित होता है ॥६०॥

अगले सूत्र में वादी जिज्ञासा करता है कि एक ही काल में अनेक क्रियाओं का होना देखा जाता है। आचार्य इसी जिज्ञासा को यहाँ सूत्रित कर रहे हैं—

(३४०) न युगपदनेकक्रियोपलब्धे: ॥६१॥

सूत्रार्थ— युगपत् = एक काल (समय) में, अनेकक्रियोपलब्धे: = अनेक क्रियाओं की उपलब्धि होने से, न = उक्त कथन उचित प्रतीत नहीं होता।

व्याख्या— वादी का यह कथन कि एक काल में अनेक ज्ञान न होने से मन एक है, उचित नहीं लगता; क्योंकि एक समय में न केवल अनेक ज्ञान ही नहीं; वरन् अनेक क्रियायें भी सम्पन्न होती हुई देखी जाती हैं। एक व्यक्ति रास्ते में चलता हुआ समाचार पत्र पढ़ता हुआ, लोगों से बातचीत करता हुआ और लोगों की बात को भी श्रवण करता हुआ चलता है। तिराहा या चौराहा आने पर 'किधर जाना है', इस बात को भी सोचता रहता है। इस प्रकार से और भी अनेक विचार एवं कार्य एक साथ करता रहता है। अत: यह कहना कि एक साथ या एक काल में अनेक ज्ञान और कार्य नहीं हो सकते, यह ठीक नहीं, अत: मन अनेक है। मन एक है, यह कहना उचित नहीं है ॥६१॥

अगले सूत्र में आचार्य वादी की उक्त जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं—

(३४१) अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसञ्चारात् ॥६२॥

सूत्रार्थ— अलातचक्र = आतिशबाजी की चर्खी के, दर्शनवत् = दीखने के सदृश, आशुसंचारात् = द्रुतवेग से चलने जैसी, तद्-उपलब्धि: = उन विषयों की प्राप्ति होती है।

व्याख्या— जिस प्रकार से बहुत तीव्र गति से चलने वाला अलातचक्र (आतिशबाजी की चर्खी) यद्यपि क्रम से चलता है; फिर भी तीव्र गति होने से उसका क्रम ज्ञात नहीं हो पाता और वह एक साथ ही घूमता हुआ-सा दृष्टिगोचर होता है। उसी प्रकार से तीव्रगति से गमन करने वाला मन भी एक विचार को त्याग कर दूसरे विचार में, और एक कार्य को छोड़कर दूसरे कार्य में संलग्न हो जाता है; फिर भी उसकी तीव्र गति होने से वह क्रम दृष्टिगोचर नहीं होता; साथ ही वे काम एक साथ होते हुए मालूम होते हैं। अत: समस्त कार्य क्रम-पूर्वक सम्पन्न होने के कारण एक साथ नहीं हो सकते। यही मानना उचित होगा। एक साथ किसी भी कार्य के सम्पन्न होने की प्रतीति मात्र भ्रम ही है।

अगले सूत्र में आचार्य उक्त हेतु के आधार पर मन का अणु होना सिद्ध कर रहे हैं—

(३४२) यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु॥ ६३॥

सूत्रार्थ— यथोक्तहेतुत्वात् = जैसा ऊपर कहा गया हेतु है, उसके सम्पन्न होने से; च = भी, अणु = (मन का अणु-परिमाण होना सिद्ध होता) है।

व्याख्या— एक काल में अनेक ज्ञान न होने से भी सिद्ध होता है कि मन विभु नहीं अणु है। उपर्युक्त सूत्रान्तर्गत हेतु से मन का अणु होना पुष्ट होता है;क्योंकि यदि मन व्यापक(विभु)होता,तो उसका सभी इन्द्रियों के साथ एक ही समय में सम्बन्ध होता,जिससे समस्त विषयों का एक ही साथ ज्ञान होना चाहिए। ऐसा न होने के कारण जहाँ मन का एक होना सिद्ध होता है, वहाँ उसका अणु होना भी पुष्ट होता है॥ ६३॥

अब यहाँ संशय यह होता है कि एक देह में रहने वाले मन के संस्कार उसी शरीर से सम्बन्ध रखते हैं या उसका किसी दूसरे देह से भी सम्बन्ध है ? अथवा इस प्रश्न को दूसरे शब्दों में इस तरह भी कहा जा सकता है कि मन के साथ शरीर का उद्भव जीवों के पूर्व में किये हुए कर्माधान से या फिर स्वतन्त्र पञ्चभूतों से होता है ?

इसी का समाधान अगले सूत्र में आचार्य दे रहे हैं—

(३४३) पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः॥ ६४॥

सूत्रार्थ— पूर्वकृत = पूर्व जन्म में किये गये कर्मों के, फलानुबन्धात् = फलों के अनुबन्ध से, तदुत्पत्तिः =उस (शरीर) की उत्पत्ति होती है।

व्याख्या— पूर्व जन्म में मन, वाणी, अन्तःकरण एवं शरीर से जो कर्म किये जाते हैं तथा उससे धर्माधर्म रूप (अदृष्ट) संस्कार एवं उनका फल सुख-दुःख का भोग प्रकट हुआ है, वही इस शरीर के उत्पन्न होने का निमित्त कारण है; क्योंकि शरीर की उत्पत्ति होते ही भोग का आरम्भ हो जाता है, जो बिना निमित्त के नहीं हो सकता। अतः कार्यरूप शरीर और उसके भोग से पूर्वकृत कर्मों का अनुमान होता है; क्योंकि बिना कारण के कोई भी कार्य नहीं हो सकता॥६४॥

उक्त कथन पर वादी आक्षेप करता है, जिसे आचार्य अगले सूत्र में सूत्रित कर रहे हैं—

(३४४) भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवत्तदुपादानम्॥ ६५॥

सूत्रार्थ— भूतेभ्यः = भूतों से (कर्मों की अपेक्षा के अभाव में), मूर्ति = मूर्तियों-पृथिवी आदि से, उपादानवत् = उत्पन्न होने अर्थात् आत्मलाभ के सदृश, तद् उपादानम् = उस (शरीर) का उपादान (प्राकट्य) होता है।

व्याख्या— जिस प्रकार कर्म निरपेक्ष भूतों से पृथिवी आदि भौतिक लोक तथा पृथिवी में मिट्टी, पत्थर, धातु अथवा इन पदार्थों के मूर्त्त द्रव्य कर्म-निरपेक्ष स्वतन्त्र भूतों से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार कर्म निरपेक्ष भूतों से शरीर का प्राकट्य होता है, जो पुरुष (आत्मा) के प्रयोजन को सिद्ध करने वाला है। इस मान्यता में स्वतन्त्र भूतों के अतिरिक्त किसी आत्मा आदि चैतन्यतत्त्व को स्वीकारने की आवश्यकता नही होती, सब कुछ स्वतन्त्र भूत ही करते हैं॥ ६५॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त कथन का समाधान दे रहे हैं—

(३४५) न साध्यसमत्वात्॥ ६६॥

सूत्रार्थ— साध्यसमत्वात् = साध्य के समान होने से, न = उक्त कथन युक्ति संगत नहीं है।

व्याख्या— प्रमाण द्वारा सिद्ध कोई हेतु या कथन किसी दूसरे अन्य साध्य अर्थ (विषय) को सिद्ध करने में पूर्णरूपेण समर्थ होता है। जो विषय (अर्थ) अभी सिद्ध न होकर स्वयं साध्य है, वह दूसरे अन्य अर्थ को किसी भी तरह सिद्ध नहीं कर सकता। उपर्युक्त सूत्र में आया 'मूर्त्युपादान' पद अभी स्वयं साध्य है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि पृथिवी आदि लोक-लोकान्तर एवं पृथिवी में विभिन्न वस्तुओं की सर्जना किसी

चैतन्य सत्ता की प्रेरणा के बिना एवं कर्मों की आवश्यकता के बिना सम्पन्न हो जाती है, ऐसा किसी भी प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं होता। अत: उक्त सूत्र में आये इस पद के आधार पर किसी भी तरह का निर्णय नहीं लिया जा सकता, कि यह कथन साध्य के समान है ॥६६ ॥

अगले सूत्र में आचार्य वादी के उक्त कथन पर पुन: आक्षेप कर रहे हैं—

(३४६) नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रो: ॥ ६७ ॥

सूत्रार्थ— मातापित्रो: = माता-पिता के (द्वारा पुत्र शरीर की रचना में), निमित्तत्वात् = निमित्त के होने के कारण, उत्पत्ति = शरीर का उद्भव होना, न = (कर्म निमित्त) नहीं माना जा सकता।

व्याख्या— प्राय: यह सभी जानते हैं कि माता-पिता के संयोग से ही शरीर का उद्भव होता है, तो फिर इस दृष्ट एवं प्रसिद्ध कारण को छोड़कर अदृष्ट कर्म को निमित्त कारण मानना उचित नहीं लगता।

पृथिवी अर्थात् धातु, मिट्टी, पत्थर आदि विविध भौतिक पदार्थों की सर्जना निर्बीज होती है; किन्तु शरीर की सर्जना माता-पिता के संयोग से होती है। अत: शरीर के उद्भव में 'मूर्त्त्युपादान' पद (सूत्र ६५) दृष्टान्त साम्य नहीं है। इसका भाव यह हुआ कि पृथिवी आदि का उद्भव जैसे- मात्र भूतों से होना सम्भव है, वैसे शरीर का उद्भव सम्भव नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार देह के उद्भव में माता-पिता का संयोग निमित्त है, वैसा पृथिवी आदि के उद्भव में नहीं है। अन्यथा पृथिवी आदि के समान देह शुक्र-शोणित के बिना उत्पन्न हो जाना चाहिए। अत: पृथिवी आदि एवं शरीर के उद्भव में समानता न होने से यह दृष्टान्त उचित प्रतीत नहीं होता ॥६७ ॥

अगले सूत्र में आचार्य वादी के एक दूसरे हेतु (कथन) को प्रतिपादित कर रहे हैं—

(३४७) तथाऽऽहारस्य ॥ ६८ ॥

सूत्रार्थ— तथा = उसी प्रकार, आहारस्य = आहार के माता- पिता द्वारा ग्रहण किये गये द्वारा होने से भी कर्म निमित्त नहीं हो सकता।

व्याख्या— जिस प्रकार गर्भस्थिति के लिए देह के उद्भव में माता-पिता का संयोग निमित्त है, उसी प्रकार गर्भ स्थित हो जाने के उपरान्त आगे देह की सर्जना व विकास में माता द्वारा ग्रहण किया गया आहार भी निमित्त होता है। माता जो भी आहार ग्रहण करती है, उसके पचने पर माँ के शरीर में रस-द्रव्य का उपचय होता है, जिससे गर्भ स्थित कललपिण्ड शरीर रूप में धीरे-धीरे विकसित होता रहता है। इस तरह से उपभोग में लाया हुआ आहार-द्रव्य के परिणाम-भूत रसों से पूर्ण होता हुआ शरीर नौ-दस मास में सर्वथा पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, यही प्रसवकाल है।

अन्न जल आदि आहार की यह स्थिति मिट्टी, पत्थर, धातु आदि की सर्जना (रचना) में असम्भव है। अत: देह की सर्जना में आत्मा के धर्माधर्म को निमित्त मानने में किसी भी तरह का अवरोध नहीं है, यदि कर्म निरपेक्ष भूतों से शरीर का उद्भव हो जाता तो माता-पिता के संयोग के पश्चात् भी कोई दम्पती सन्तान रहित न रहते। इसलिए अनुभव सिद्ध कारणों की उपस्थिति में अदृष्ट में कर्म को कारण मानना किसी भी तरह से उचित नहीं है ॥६८ ॥

अगले सूत्र में आचार्य वादी के उक्त अर्थ का प्रकारान्तर से समाधान कर रहे हैं—

(३४८) प्राप्तौ चानियमात् ॥६९ ॥

सूत्रार्थ— प्राप्तौ = (स्त्री-पुरुष का संयोग) प्राप्त हो जाने में, च = भी, अनियमात् = (सन्तान प्राप्ति का) नियम न होने से उक्त कथन ठीक नहीं है।

व्याख्या— स्त्री-पुरुष का संयोग सर्वदा गर्भाधान का हेतु हो जाता हो, ऐसा प्राय: सम्भव नहीं

होता। ऐसी दशा में मानना पड़ता है कि माता-पिता के पूर्व-कर्म जहाँ सन्तान प्राप्ति के प्रतिकूल नहीं होते, वहाँ संयोग होने पर गर्भाधान एवं सन्तान-प्रसव की आशा बनी रहती है। जहाँ पर प्रतिकूल कर्म होते हैं, वहाँ प्राय: संयोग निष्फल हो जाता है। यह नियम ऐसा नहीं कि संयोग होने पर निश्चय ही शरीर रचना व सन्तान की प्राप्ति हो। यदि कर्म निरपेक्ष मात्र भूत-तत्त्व देह सर्जना में निमित्त हों, तो स्त्री-पुरुष के संयोग के पश्चात् नियमत: देह सर्जना एवं सन्तान की प्राप्ति होनी चाहिए; क्योंकि यहाँ अन्य किसी कारण का अभाव नहीं रहता। कारण सामग्री के होने पर कार्य निश्चय ही होना चाहिए। नियम से सन्तानोत्पत्तिरूप कार्य का पति-पत्नी मिलन होने के बाद भी न होना, वहाँ किसी कारण विशेष के अभाव को व्यक्त करता है। वह कारण आत्मा के द्वारा किये हुए पूर्वकर्म हो सकते हैं। अत: देह की सर्जना में पूर्व कर्मों की कारणता सुनिश्चित है ॥६९ ॥

अगले सूत्र में पुन: उक्त कथन को आचार्य और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

(३४९) शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ॥ ७० ॥

सूत्रार्थ— शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् = शरीर की उत्पत्ति में निमित्त होने के समान, संयोगोत्पत्तिनिमित्तम् = संयोग की उत्पत्ति का निमित्त, कर्म = कर्म होता है।

व्याख्या— जिस प्रकार शरीर की उत्पत्ति का निमित्त कारण कर्म है, उसी प्रकार परमाणुओं के संयोग को प्रकट करने वाला भी कर्म ही है। जैसे व्यक्ति का शरीर पूर्व जन्म के कर्मों के द्वारा निर्मित होता है, वैसे ही सृष्टि के समस्त स्थावर-जङ्गम शरीर कर्मानुसार निर्मित होते हैं।

व्यक्ति (मनुष्य) के शरीर बनने का कारण अन्य तरह का संयोग है तथा पशुओं के लिए अन्य तरह का संयोग निमित्त कारण है। इस अलग-अलग मिलाप का कोई निमित्त कारण है या नहीं, यदि है, तो मात्र कर्म के और क्या होगा? दूसरा यह कि यह मिलाप खुद ही है या इसका कोई कर्त्ता है; यदि खुद ही है, तो जड़ में नियमानुसार खुद ही कार्य का होना असम्भव है। यदि कोई कर्म करने वाला है, तो वही कर्म है।

पञ्चभूत जड़ हैं। उनमें एक ही तरह की शक्ति रहती है, परस्पर दो विपरीत शक्तियाँ नहीं रह सकतीं। यदि संयोग उनके मिलाप से होता है, तो फिर वियोग का कारण क्या है? इसके अलावा यदि पंचभूत ही निमित्त होते, जीवों के कर्म एवं ईश्वर इस सृष्टि के निमित्त कारण न होते, तो सभी देह एक जैसे होने चाहिए थे तथा सभी को एक सा सुख-दु:ख होता; किन्तु ऐसा नहीं है। यह देह एवं कर्मफल की पृथक्ता ही जीव के पूर्वकृत कर्मों एवं ईश्वरीय व्यवस्था को पुष्टता प्रदान करती है ॥७० ॥

अगले सूत्र में आचार्य पुन: उक्त कथन की पुष्टि कर रहे हैं—

(३५०) एतेनानियम: प्रत्युक्त: ॥ ७१ ॥

सूत्रार्थ— एतेन = इस उक्त विवरण से, अनियम: = अनियम का (भी), प्रत्युक्त: = खण्डन होता है।

व्याख्या— इस पूर्वोक्त विवरण से अनियम का खण्डन होता है अर्थात् सृष्टि की संरचना में यह नियम दृष्टिगोचर होता है कि यदि इस सृष्टि की कोई चेतनसत्ता न होती, तो सृष्टि के पदार्थों में किसी भी तरह का नियम न होता और किसी से किसी का उद्भव हो जाता। यदि शरीर की संरचना में पूर्वकृत कर्म निमित्त न होते तो सुख-दु:ख की व्यवस्था अलग-अलग होती। अत: पूर्वकृत कर्म ही देहादि के निमित्त कारण हैं, तो इससे यह पुष्ट होता है कि सृष्टि संरचना में अनियम नहीं होता ॥७१ ॥

अगले सूत्र में पुन: इसी कथन की पुष्टि की गई है—

(३५१) उपपन्नश्च तद्वियोग: कर्मक्षयोपपत्ते: ॥७२ ॥

सूत्रार्थ— कर्मक्षयोपपत्तेः = कर्मों के क्षय की सिद्धि होने से, च = भी, तद्-वियोगः = उस (आत्मा) का शरीर से वियोग, उपपन्नः = उपपन्न (सिद्ध) होता है।

व्याख्या— पूर्व जन्म के कर्मानुसार आत्मा पुनः शरीर प्राप्त करता है। इन्हीं कर्मों को प्रारब्ध-कर्म कहते हैं। कर्म के नष्ट हो जाने के उपरान्त आत्मा शरीर से अलग हो जाता है अर्थात् जब भोगते-भोगते कर्म अशेष हो जाते हैं, समाप्त हो जाते हैं, तब आत्मा शरीर का परित्याग कर देता है। यदि शरीर की उत्पत्ति में आत्मा को निमित्त माना जाएगा, तो पञ्चभूतों के नष्ट होने पर भी देह एवं आत्मा का वियोग कभी नहीं होगा।

आत्मा का देह के साथ यह वियोग तभी तक सम्भव है, जब तक शरीर रचना एवं उसकी प्राप्ति के लिए कर्म को निमित्त माना जाता है; क्योंकि प्रारब्ध कर्मों का क्षय होने से मृत्यु का क्षण आ जाता है। ऐसे ही आत्मज्ञान के पश्चात् जब सञ्चित एवं प्रारब्ध आदि सभी तरह के कर्मों का क्षय हो जाता है तब गतिशील देह के पतन के पश्चात् तुरन्त अन्य शरीर प्राप्ति की सम्भावना नहीं रहती। शरीर पतन के पश्चात् सतत अन्य देह प्राप्ति की सम्भावना न होना ही मोक्ष की स्थिति होती है। मोक्ष के उपरान्त जन्म-मृत्यु का सातत्य क्रम चिरकाल के लिए समाप्त हो जाता है। यदि देह रचना में कर्मों को निमित्त नहीं मानते, तो भूतों के सदा स्थिर रहने से आत्मा का स्थूल देह के साथ वियोग सिद्ध नहीं होगा। ऐसी स्थिति में जन्म-मृत्यु का सातत्यक्रम कभी समाप्त नहीं होगा॥७२॥

उक्त कथन पर वादी आशंका करता है, जिसे आचार्य इस सूत्र में सूत्रित कर रहे हैं—

(३५२) तददृष्टकारितमिति चेत् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे॥ ७३॥

सूत्रार्थ— तद्-अदृष्टकारितम् = उस (जड़-चेतन अर्थात् प्रकृति- पुरुष) के अदर्शन-अज्ञान से (देह उत्पत्ति एवं आत्मा के साथ देह का संयोग कराया जाता है), इति = ऐसा, चेत् = यदि (कहो तो, वह उचित नहीं; क्योंकि), पुनः = फिर से, अपवर्गे = मोक्ष में या मोक्ष मिल जाने पर, तत्प्रसङ्गः = उस (देह) का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा।

व्याख्या— यहाँ सूत्र में 'अदृष्ट' पद का अर्थ 'अज्ञान' (ज्ञान न होना) माना गया है। उस (जड़-चेतन अर्थात् प्रकृति- पुरुष) की अज्ञानता से देह की रचना एवं देह के साथ आत्मा का सम्बन्ध होता है। यदि देह की उत्पत्ति का कारण अदृष्ट-अज्ञान को मान लिया जाय, तो मुक्त जीवों के देह की भी उत्पत्ति स्वीकारनी होगी; क्योंकि कर्म और जीवात्मा का सम्बन्ध तो इच्छा होने पर होता है, राग-द्वेष की समाप्ति पर नहीं होता; किन्तु जब देह की उत्पत्ति का कारण अदृष्ट को स्वीकारा जायेगा, तो मोक्ष एवं बद्ध (जन्म-मृत्यु के चक्कर में आबद्ध) दोनों के लिए देह की उत्पत्ति माननी होगी। इसमें अपवर्ग प्राप्त एवं आबद्ध आत्माओं में किसी भी तरह का अन्तर नहीं होगा॥७३॥

अगले सूत्र में वादी के उक्त कथन का आचार्य समाधान दे रहे हैं—

(३५३) न करणाकरणयोरारम्भदर्शनात्॥ ७४॥

सूत्रार्थ— करणाकरणयोः = करण और अकरण की, आरम्भदर्शनात् = उत्पत्ति देखी जाने से, न = उपर्युक्त कथन उचित नहीं है।

व्याख्या— जन्म-मरण के चक्र में आबद्ध हुआ आत्मा कर्म करता रहता है; लेकिन मोक्ष को प्राप्त हुआ आत्मा कर्म नहीं करता। इस प्रकार से जब करना और न करना इन दोनों का आरम्भ-(उत्पत्ति) देखा जाता है, तब तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने पर- कर्म का परित्याग कर देने पर मोक्ष को प्राप्त हुआ प्राणी (आत्मा) जन्म-मरण के बन्धन में नहीं बँध सकता। वह जन्म-मृत्यु से परे परम-तत्त्व में विलीन होता है। अतः उक्त

कथन (मान्यता) यहाँ पर उचित नहीं है ॥७४॥

अगले सूत्र में आचार्य कहते हैं कि मन भी शरीर की उत्पत्ति का निमित्त कारण नहीं है—

(३५४) मनः कर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः ॥ ७५ ॥

सूत्रार्थ— मन: कर्मनिमित्तत्वात् = मन में रहने वाले अदृष्ट (कर्म) के निमित्त होने से, च = भी, कभी, संयोगानुच्छेद: = शरीर एवं मन के संयोग का क्रम उच्छेद नहीं होता (नहीं टूटता)।

व्याख्या— यदि अदृष्ट (कर्म) को मन का निमित्त कारण माना जाए, तो संयोग का उच्छेदन (समापन) कभी नहीं होगा अर्थात् देह और आत्मा के संयोग का क्रम कभी नहीं टूटेगा; क्योंकि मन किसी दूसरे कारण से तो देह में गया नहीं, वरन् वह अपने गुण अदृष्ट-अज्ञानता के कारण से गया है। जब तक मन रहेगा, तभी तक वह भी निश्चित ही रहेगा; क्योंकि गुण गुणी के अभाव में कभी नहीं रह सकता है; किन्तु मन का इन्द्रियों के साथ संयोग-जिसे दु:ख-सुख का निमित्त कहा जाता है, वह हमेशा नहीं रह सकता। अदृष्ट-अज्ञान जो कि शरीरोत्पत्ति का निमित्तकारण है, वह मन का गुण नहीं है। अत: मन का देह की उत्पत्ति का कारण-निमित्त होना सिद्ध नहीं होता ॥७५॥

अगले सूत्र में आचार्य स्पष्ट करते हैं कि संयोग सदैव क्यों नहीं बना रहता—

(३५५) नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः ॥ ७६ ॥

सूत्रार्थ— च = तथा, प्रायणानुपपत्ते: = मरण के सिद्ध न होने से, नित्यत्वप्रसंग: = नित्यत्व का - संयोग का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में दिये गये कथन के अनुसार जब देह से मन के संयोग (नित्यता) का उच्छेदन नहीं होगा, तब मन के संयोग के सतत बने रहने से मृत्यु का अवसर ही नहीं आएगा। मृत्यु के सिद्ध न होने से वही जीवन आगे सदैव बने रहने के कारण उस देह का नित्यत्व होना प्राप्त होता है। जिन कर्मों को भोगने के लिए जीवात्मा देह धारण करता है, उन्हें भोगने के पश्चात् मृत्यु हो जाती है और दूसरे अन्य कर्मों को भोगने के लिए उसे अन्य दूसरी देह धारण करना (जन्म लेना) पड़ता है। कर्म को निमित्त न मानते हुए यदि केवल भूतों से देह का उद्भव माना जाए या फिर मन के संयोग से देह की उत्पत्ति मानी जाए, ऐसी स्थिति में मृत्यु का होना सम्भव नहीं होगा; क्योंकि भूत या मन जब तक होंगे, तभी तक देह बना रहेगा।

कर्म के अभाव में भूतों से देह की उत्पत्ति मानी जाए, तो कर्म के नष्ट न होने से तो फिर किसके नष्ट होने से देह और आत्मा का वियोगा होगा? अत: इससे शरीर का नित्यत्व होना पुष्ट हो जाएगा ॥७६॥

उक्त कथन पर वादी आशंका करता है कि अणुश्यामता के सदृश मोक्ष में देहोत्पत्ति नहीं होती, अतः आचार्य यहाँ वादी की भावना को सूत्रित कर रहे हैं—

(३५६) अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत्स्यात् ॥ ७७ ॥

सूत्रार्थ— अणुश्यामतानित्यत्ववत् = अणु की श्यामता नित्य होने के समान, एतत् = यह (मोक्ष के पश्चात् पुन: देहोत्पत्ति का अभाव), स्यात् = सम्भव होगा।

व्याख्या— जिस प्रकार से पृथिवी परमाणुओं में श्याम-रूप नित्य कहलाता है; लेकिन वह अग्नि का संयोग प्राप्त करते ही विनष्ट हो जाता है और उन परमाणुओं में रक्त रूप प्रकट हो जाता है तथा नित्य स्वीकृत भी श्याम-रूप वहाँ पुन: कभी नहीं उत्पन्न हो पाता। उसी प्रकार से अदृष्ट-अज्ञानता के कारण उत्पन्न हुआ शरीर एक बार विनष्ट हो जाने के बाद पुन: उत्पन्न नहीं हो पाता। इस प्रकार से मुक्तावस्था को प्राप्त हुई आत्माओं का पुन: उत्पन्न होना समाप्त हो जाता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त हुई आत्माएँ पुन: जन्म ग्रहण नहीं करतीं ॥७७॥

अगले सूत्र में उक्त कथन का आचार्य समाधान करते हैं—

(३५७) नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्॥ ७८॥

सूत्रार्थ— अकृताभ्यागमप्रसङ्गात् = अप्रमाणित अर्थ के स्वीकार न किये जाने के प्रसङ्ग से, न = उक्त कथन उचित नहीं है।

व्याख्या— परमाणुओं की श्यामता के नित्य होने के पक्ष में कोई प्रमाण न होने के कारण कर्मफल नाश की सिद्धि में उक्त कथन उचित नहीं है। यदि इस कथन को उचित भी मानें, तो बिना कर्म के ही दु:ख-सुख रूप फल को मानना पड़ेगा; किन्तु बिना किये फल भोगना कहाँ का न्याय है? अत: इससे यह सिद्ध होता है कि बिना किये ही भोगों की प्राप्ति का प्रसंग अनुमान प्रमाण का हेतु ही मानना चाहिए।

सूत्र में 'अकृत' पद का भाव यह है कि प्रमाण द्वारा सिद्ध न होना अर्थात् जो पदार्थ किसी भी प्रमाण से पुष्ट नहीं है और उसे मानना पड़े, तो यह वाञ्छनीय नहीं है। अकर्म निमित्तक देहोत्पत्ति के लिए पृथिवी की नित्य श्यामतारूप का दृष्टान्त माना गया है। अभी तक प्रत्यक्ष या अनुमान आदि किसी प्रमाण द्वारा यह पुष्ट नहीं हुआ कि अणुश्यामता नित्य है और अग्नि संयोग से उसका विनाश होकर वह पुन: कभी प्रकट नहीं होती। यद्यपि जो नित्य है, उसका विनाश होना असम्भव है। पदार्थों के जो गुण किन्हीं कारणों से विनष्ट हो जाते हैं और पुन: उत्पन्न होते देखे जाते हैं, उन्हें नित्य कहना सर्वथा अनुचित है। अत: अणु की नित्य श्यामता अपने रूप में अभी संदेहास्पद है। किसी प्रमाण से उसकी नित्यता सिद्ध न होने से उसे साध्य मानना उचित होगा। फलत: दृष्टान्त के उपर्युक्त स्वरूप व स्थिति को मान लेने पर, एक ऐसे अर्थ को मानना पड़ता है, जो अभी किसी भी प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं हो सका। अत: उक्त सूत्र में निर्दिष्ट कथन के आधार पर प्रस्तुत प्रसङ्ग को असङ्गत मानना उचित ही होगा॥ ७८॥

॥ इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम्॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः प्रथममाह्निकम् ॥

इस अध्याय के अन्तर्गत प्रवृत्ति की परीक्षा की गई है। इससे पूर्व तृतीय अध्याय के उत्तरार्द्ध में मन की परीक्षा की गई थी। न्याय के १/१/१७ में प्रवृत्ति का स्वरूप कहा गया है।

मनुष्य जो भी कार्य अपने मन, वाणी एवं शरीर के द्वारा करता है, वे सभी प्रवृत्तियाँ कहलाती हैं। यह शुभ और अशुभ दो प्रकार की होती हैं। इनके भी तीन भेद-शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक कहे गये हैं। 'शुभ'-प्रवृत्ति के मूल में करुणा एवं सहानुभूति की प्रबलता रहती है। इसमें व्यक्ति शरीर से प्रवृत्त हुआ दान, रक्षा एवं सेवा करता है। वाणी से सत्य, हितकारी एवं प्रिय भाषण एवं स्वाध्याय में तत्पर रहता है तथा मन से सभी प्राणियों पर दया, सुखी-सम्पन्नों को देखकर प्रसन्न, आस्तिक भावनाओं के प्रति श्रद्धावान् होता है। यह प्रवृत्ति धर्म की प्राण कही गई है। द्वितीय प्रवृत्ति का नाम 'अशुभ' है। इसकी पृष्ठभूमि में राग-द्वेष की प्रबलता रहती है, तभी असत्य, ईर्ष्या, माया आदि दोष इसके मूल में प्रकट हो जाते हैं। इन दोषों से युक्त व्यक्ति शरीर से हिंसा, चोरी, प्रतिषिद्ध मैथुन आदि का आचरण करता है। वाणी से असत्य एवं अप्रिय वचन, चुगली आदि करता है और मन से परद्रोह, दूसरे की धन-सम्पत्ति हड़पने की चाह एवं नास्तिक भावनाओं में संलग्न हो जाता है। यह पापमयी प्रवृत्ति कहलाती है।

उपर्युक्त इन सभी प्रवृत्तियों की परीक्षा धर्म-अधर्म की परीक्षा के साथ एवं धर्माधर्म अनुष्ठान के आश्रय शरीर आदि की परीक्षा के रूप में की जा चुकी है। अब यहाँ पर इसी भावना को सूत्रकार स्पष्ट कर रहे हैं—

(३५८) प्रवृत्तिर्यथोक्ता ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति को, यथोक्ता = जिस रूप में कहा गया है (उसे ही प्रवृत्ति की परीक्षा माननी चाहिए)।

व्याख्या— शरीर, मन एवं वाणी के द्वारा किसी भी कार्य का शुभारम्भ करना ही प्रवृत्ति कहलाता है। इस सिद्धान्त को समस्त विद्वज्जन एक मत से स्वीकारते हैं। न्यायशास्त्र के इस अध्याय से पूर्व तीनों अध्यायों के प्रसंगों में जहाँ-जहाँ पर प्रवृत्ति से सम्बन्धित विवरण प्रस्तुत किये गये हैं, वे सभी प्रवृत्ति की परीक्षा के अन्तर्गत ही आते हैं। इसका संकेत इसी सूत्र के प्रसंग में सूत्र के पूर्व किया जा चुका है ॥१॥

प्रवृत्ति के पश्चात् अब दोष की परीक्षा की जा रही है—

(३५९) तथा दोषाः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— तथा = वैसे ही अर्थात् प्रवृत्ति की भाँति, दोषाः = दोषों की भी परीक्षा हो गई।

व्याख्या— जिस प्रकार प्रवृत्ति सर्व सम्मत है, उसी तरह से दोष भी सर्व सम्मत हैं। प्रवृत्ति की भाँति दोषों की भी परीक्षा इसी ग्रन्थ के पूर्व अध्याय में हो चुकी है। दोष पद से राग, द्वेष एवं मोह का ग्रहण होता है। इसका उल्लेख प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक के अठारहवें सूत्र में किया गया है। ये दोष समस्त प्रवृत्तियों के कारण होते हैं। इन्हें संसार का हेतु अर्थात् जन्म-मृत्यु के निरन्तर संसरण का कारण माना जाता है। संसार अनादि है, अतः राग आदि का संसरण अनादिकाल से यथावत् गतिशील है। राग आदि दोष सदैव उत्पाद एवं विनाश से युक्त होते हैं। दोषों के ऐसे स्वरूप की परीक्षा पूर्व अध्यायों में की जा चुकी है। इसके लिए ३/१/२५ सूत्र का अवलोकन करना चाहिए ॥२॥

यहाँ जिज्ञासु आशंका करता है कि दोषों में केवल राग, द्वेष एवं मोह की ही गणना की गई है। मान, ईर्ष्या, असूया, मद एवं मात्सर्य आदि को उपेक्षित कर दिया गया है। दोषों में उक्त की गणना क्यों नहीं की जाती ? इस सूत्र में इसी आशंका का समाधान किया गया है—

(३६०) तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— तत् = उन (दोनों दोषों) की, त्रैराश्यम् = तीन राशियाँ (समुदाय) हैं (उन सभी का),

रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् = राग, द्वेष एवं मोह में अन्तर्भाव हो जाता है।

व्याख्या— उन दोषों के तीन पक्ष होते हैं, (१) राग (२) द्वेष एवं (३) मोह। इनमें से हर एक के अनेक पक्ष (भेद) होने के कारण इन्हें समूह कहते हैं। मद- मात्सर्य, काम- ईर्ष्या आदि सभी प्रवृत्ति-हेतु दोष उक्त तीनों समुदायों के अन्तर्गत गुह्यरूप में पड़े रहते हैं। राग-समुदाय के अन्तर्गत काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, दम्भ, लोभ आदि आ जाते हैं। द्वेष-पक्ष (समुदाय) के अन्तर्गत क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह, अमर्ष, अभिमान आदि आते हैं और मोह पक्ष के अन्तर्गत मिथ्याज्ञान, विचिकित्सा (संशय-सन्देह), प्रमाद, भय, शोकादि आ जाते हैं। इनमें राग से प्रवृत्ति, द्वेष से क्रोध एवं मोह द्वारा मिथ्याज्ञान का प्रादुर्भाव होना कहा गया है। इस तरह से तीन पक्षों (समुदाय) के अन्तर्गत दोषों का समस्त परिवार आ जाता है, अतः उक्त अवतरणिका में दिये गये दोषों का अलग से नाम लेकर गणना नहीं की गई है॥३॥

यहाँ शिष्य शंका करता है कि राग आदि के तीनों समुदायों को ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए; क्योंकि इनका विरोधी धर्म, मात्र एक तत्त्वज्ञान है। उसकी प्रतिद्वन्द्विता में इन सभी को एक मानना या एक इकाई के रूप में इन्हें मानना असमञ्जसपूर्ण है। सूत्र में शिष्य के इसी भाव को सूत्रकार व्यक्त कर रहे हैं—

(३६१) नैकप्रत्यनीकभावात्॥ ४॥

सूत्रार्थ— एकप्रत्यनीकभावात् = एक विरोधी होने के कारण, राग आदि तीनों पक्षों-राशियों का भिन्न होना; न = नहीं माना जा सकता।

व्याख्या— एक मात्र तत्त्वज्ञान द्वारा राग-द्वेष आदि तीनों पक्षों-समुदायों का विनाश हो जाता है। इसलिए इनके तीन भेद नहीं माने जा सकते। यदि ऐसा माना भी जाए, तो इनके प्रतिद्वंद्वी भी तीन होने चाहिए; क्योंकि तत्त्वज्ञान जो कि प्रतिद्वन्द्वी है, वह एक ही है। जैसे— घट और पट ये दोनों परस्पर भिन्न पदार्थ हैं। घट विषयक ज्ञान, घट सम्बन्धी मिथ्या ज्ञान का विनाश कर सकता है; लेकिन पट विषयक मिथ्याज्ञान को नष्ट नहीं कर सकता। इसी प्रकार पट-विषयक ज्ञान, पट (वस्त्र) सम्बन्धी अज्ञान को विनष्ट कर सकता है, घट विषयक अज्ञान को नहीं। यदि राग आदि एक-दूसरे से भिन्न हैं, तो इनका विनष्टकर्त्ता विरोधी तत्त्व एक कैसे हो सकता है, अतएव इन्हें परस्पर पृथक् न मानकर एक ही मानना पड़ेगा; ताकि इनका त्रैराश्य (तीन राशि-समुदाय) समाप्त हो सके॥४॥

अगले सूत्र में उपर्युक्त आशंका का समाधान किया गया है—

(३६२) व्यभिचारादहेतुः॥५॥

सूत्रार्थ— व्यभिचारात् = व्यभिचार दोष अनैकान्तिक होने से, अहेतुः = उक्त हेतु (आशंका) असंगत है।

व्याख्या— उपर्युक्त हेतु दोषयुक्त है। भिन्न-भिन्न तरह की कई वस्तुओं पदार्थों का एक ही तत्त्व अग्नि से नष्ट होना प्रायः देखा जाता है। जैसे वस्त्र, काष्ठ आदि समस्त स्थूल पदार्थ एक-दूसरे से पृथक्-विजातीय हैं; किन्तु इन सबको एक ही तत्त्व अग्नि ,जलाकर नष्ट कर देता है। अतः एकनाश्य होना वस्तुओं के अभेद का हेतु नहीं हो सकता। जो एकनाश्य हैं, वे सभी एक हैं, भिन्न नहीं, यह व्यभिचरित व्याप्ति है। इसलिए 'एकप्रत्यनीक' हेतु अनैकान्तिक है, अतः साध्य का साधक नहीं है।

इसी तरह मिट्टी द्वारा निर्मित कच्चे घट में रूप श्याम है, स्पर्श मधुर है और गंध एक अलग विशिष्ट है। ये सभी रूप, स्पर्श एवं गन्ध एक दूसरे से पूर्ण रूपेण अलग गुण हैं; किन्तु इन सभी का विनाश एक ही अग्नि संयोग द्वारा हो जाता है। इस तरह एक ही अग्नि संयोग से नष्ट होने पर भी रूप आदि गुण आपस में

अलग-अलग हैं। ऐसे ही एक तत्त्वज्ञान से नष्ट होने पर राग, द्वेष एवं मोह की अभिन्नता सिद्ध नहीं होती। अत: 'एकप्रत्यनीक' हेतु अनैकान्तिक होने से अहेतु है। साध्य का साधक नहीं है। राग, द्वेष एवं मोह को विनष्ट करने में एक ही तत्त्व समर्थ है॥५॥

राग द्वेषादि के आपस में अनेक अर्थ होने पर आचार्य अगले सूत्र में मोह के सम्बन्ध में निर्देश कर रहे हैं—

(३६३) तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः॥ ६॥

सूत्रार्थ— तेषाम् = उन (तीनों पक्षों) में से, मोहः = मोह, पापीयान् = अत्यधिक पापी-दुष्ट है; क्योंकि, अमूढस्य = मोहरहित व्यक्ति के, इतरोत्पत्तेः = राग-द्वेष की इतर उत्पत्ति, न = नहीं होती।

व्याख्या— समस्त व्याधियों का मूल मोह है। जिस मनुष्य को मोह नहीं होता, उसे राग-द्वेष भी नहीं होते। मोह, राग-द्वेष का मुखिया है, इसी कारण से यह तीनों में से अति प्रबल है। यद्यपि सत्यासत्य, तत्त्वातत्त्व का ज्ञान न होना ही मोह कहलाता है। मनुष्य जब राग-द्वेषादि द्वन्द्वों को नहीं समझ पाता, तभी इन द्वन्द्वों में फँस जाता है। राग-द्वेष का मुख्य कारण मोह है। ये दोनों मोह के क्षेत्र में प्रस्फुटित होकर पुष्पित-पल्लवित होते रहते हैं।

सत्यासत्य का बोध हो जाने से मिथ्याज्ञान रूपी मोह नष्ट हो जाता है और तब राग-द्वेष के अंकुरित (जाग्रत्) होने का समय नहीं रहता। जब क्षेत्र ही नहीं रहा, तो फिर उत्पादन कैसे होगा? इस प्रकार से एक मात्र विरोधी तत्त्वज्ञान से इन तीनों का समूल विनाश हो जाता है। तत्त्वज्ञान द्वारा तीनों पक्षों के समूल नाश का विवेचन प्रारम्भ में (१/१/२ के अन्तर्गत) विस्तारपूर्वक किया जा चुका है।

वास्तव में तत्त्वज्ञान अपने विरोधी एक मात्र मिथ्याज्ञान को नष्ट कर देता है। उसके नष्ट होने से राग-द्वेष आदि समस्त विकारों का शमन हो जाता है। जब मिथ्याज्ञान कारण न रहा, तो रागादि विकार कैसे ठहरेंगे? अर्थात् तिरोहित हो जाएँगे। इस प्रकार से मोह ही अत्यन्त प्रबल पापिष्ट एवं मनुष्य का शत्रु होना सिद्ध होता है। यही सूत्रकार द्वारा उपर्युक्त चौथे सूत्र में दी गई आपत्ति का समाधान भी है॥६॥

उपर्युक्त समाधान से प्रोत्साहित होकर शिष्य कहता है कि तब तो मोह को दोष-व्याधि (विकार) नहीं माना जाना चाहिए। शिष्य की उक्त जिज्ञासा को इस सूत्र में आचार्य द्वारा सूत्रित किया गया है—

(३६४) निमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तरभावो दोषेभ्यः॥ ७॥

सूत्रार्थ— निमित्तनैमित्तिक भावात् = कारण कार्य भाव होने के कारण (अर्थात् मोह एवं राग-द्वेष में), अर्थान्तरभावः = अर्थ भेद है (मोह), दोषेभ्यः = दोषों से (राग द्वेष से)। अर्थात् अर्थ भेद की दृष्टि से मोह, राग-द्वेषादि दोषों से भिन्न है।

व्याख्या— कार्य और कारण-दोनों अलग-अलग हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि न्याय दर्शन के अन्तर्गत कार्य-कारण का परस्पर अर्थ भेद स्वीकारा जाता है। पूर्व सूत्र में कहा गया है कि मोह के अभाव में राग-द्वेष का प्रादुर्भाव नहीं होता। इससे राग-द्वेष कार्य एवं मोह उनका कारण पुष्ट (सिद्ध) होता है। कार्य-कारण का भेद होने से मोह, राग-द्वेष के स्तर से पृथक् हो जाता है। अत: मोह को दोषों के अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए। राग-द्वेष दोष हैं और मोह उनसे परे है॥७॥

अगले सूत्र में उपर्युक्त आशंका का समाधान आचार्य द्वारा किया गया है—

(३६५) न दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य॥ ८॥

सूत्रार्थ— मोहस्य = मोह के, दोषलक्षणावरोधात् = दोष-लक्षण में अवरोध आ जाने के कारण (उपर्युक्त कथन) न = (उचित) नहीं है।

व्याख्या— न्याय शास्त्र (के १/१/१८) में दोष के लक्षण बताते हुए स्पष्ट किया है कि जो शुभ और अशुभ प्रवृत्ति के हेतु हैं, वही दोष हैं। राग-द्वेष की भाँति मोह भी इस लक्षण की सीमा (परिधि) में आ जाता है। अत: मोह को दोष मानने में किसी भी तरह का अवरोध (आपत्ति) नहीं है, भले ही वह राग-द्वेष का प्रमुख कारण हो। इससे मोह के दोष-स्वरूप में किसी भी तरह की न्यूनता नहीं आने पाती। मोह दोष की प्रवृत्ति होने से स्वयमेव दोष है ॥८ ॥

अगले सूत्र में समान जातीय पदार्थों में कार्य-कारण भाव को प्रामाणिक बताते हुए आचार्य द्वारा उक्त कथन को पुष्ट किया गया है—

(३६६) निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानामप्रतिषेधः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ— च = और, तुल्यजातीयानाम् = समान जाति वाले पदार्थों (द्रव्यों) में, निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेः = कारण और कार्य भाव की सिद्धि से, अप्रतिषेधः = मोह के दोष होने का प्रतिषेध नहीं होता।

व्याख्या— समान जाति वाले द्रव्यों एवं गुणों का आपस में समवायि और असमवायि निमित्त भेद के द्वारा विभिन्न (अनेकों) प्रकार से कार्य-कारण भाव प्रामाणिक सिद्ध होता है। जिस प्रकार जल, पृथिवी की उत्पत्ति का कारण है और जल की उत्पत्ति का कारण तेज है; किन्तु यह कार्य-कारण भाव होते हुए भी पृथिवी, जल एवं तेज के सजातीय होने में किसी भी तरह की बाधा नहीं आती। ठीक उसी प्रकार मोह के राग-द्वेष का कारण होने से भी उसके दोषमय होने में किसी तरह की बाधा उपस्थित नहीं होती है।

पृथिवी और जल, द्रव्य या पदार्थ रूप में समान जाति वाले हैं। यहाँ पर पृथिवी, जल का समवायिकारण है। कारणगत गुण कार्य में गुणों के असमवायिकारण होते हैं। गुण होने से दोनों (कार्य-कारण) की सजातीयता यहाँ सिद्ध होती है। काल द्रव्य है, इसलिए वह सभी कार्य-पदार्थों का निमित्त कारण होता है। ऐसे ही दोष होते हुए भी मोह सजातीय राग-द्वेष का कारण कहा जा सकता है ॥९ ॥

दोषों की परीक्षा के बाद अब अगले सूत्र में 'प्रेत्यभाव' की परीक्षा की जानी है। जन्म-मृत्यु के सिलसिलेवार क्रम को 'प्रेत्यभाव' कहते हैं; किन्तु आत्मा के नित्य होने से ऐसा प्रेत्यभाव अनुपपन्न है। शिष्य की इस जिज्ञासा पर सूत्रकार इस सूत्र में व्यक्त करते हैं कि आत्मा के नित्यत्व की सिद्धि के अवसर पर प्रेत्यभाव के स्वरूप को सिद्ध किया गया है, तदनुसार यह जानना चाहिए—

(३६७) आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥ १० ॥

सूत्रार्थ— आत्मनित्यत्वे = आत्मा के नित्य होने से, प्रेत्यभावसिद्धिः = प्रेत्यभाव की सिद्धि होती है।

व्याख्या— यहाँ 'प्रेत्यभाव' का यह भाव नहीं समझना चाहिए कि नित्य आत्मा स्वरूप से मृत्यु को प्राप्त होता व जन्म ग्रहण करता है; वरन् आत्मा के द्वारा सक्रिय देह का त्याग कर देना ही मृत्यु है और तदनन्तर अन्य देह को प्राप्त करना 'जन्म' है। आत्मा को नित्य मान लेने पर ही इस तरह से देह को त्यागने व प्राप्त करने का अनवरत क्रम सम्भव है। आत्मा की नित्यता से ही उसका पुनर्जन्म धारण करना सिद्ध होता है। यदि आत्मा नित्य न हो, तो पुनर्जन्म होगा ही कैसे? अतः इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा नित्य है, वही पुनर्जन्म धारण करती है। नित्य आत्मा के देह की प्राप्ति एवं परित्याग का नाम प्रेत्यभाव है। आत्मा को अनित्य मानने पर 'कृतहानि एवं अकृतहानि' दोष लगता है। आत्मा से सम्बंधित इस तरह की विवेचना शास्त्र के तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में विस्तारपूर्वक की गई है ॥१० ॥

व्यक्त देहादि का कारण व्यक्त होता है। नित्य आत्मा द्वारा एक देह का त्याग मृत्यु और अन्य देह की प्राप्ति जन्म है। इस प्रसंग में शिष्य आशंका करता है कि देह की उत्पत्ति कैसे होती है? सूत्र में इसी का समाधान किया जा रहा है—

(३६८) व्यक्ताद्व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात्॥ ११ ॥

सूत्रार्थ— व्यक्तात् = व्यक्त कारण से, व्यक्तानाम् = व्यक्त कार्यों का प्रकट होना, प्रत्यक्षप्रामाण्यात् = प्रत्यक्ष रूप से प्रामाणिक है।

व्याख्या— व्यक्त कारण द्वारा व्यक्त कार्यों की उत्पत्ति प्रत्यक्षरूप से देखी जाती है। जैसे मिट्टी से घड़ा, सूत्र (धागों) से वस्त्र का बनना प्रत्यक्षतया देखा जाता है। इससे शरीरादि के कारण परमाणुओं के भी साकार होने का अनुमान होता है। अत: इससे सिद्ध होता है कि सजातीय कारण से सजातीय कार्य का प्राकट्य होता है अर्थात् जो गुण कारण में होंगे, वे उसके कार्य में निश्चित ही आयेंगे।

नित्य सूक्ष्म परमाणुओं द्वारा स्थूल शरीरादि किस प्रकार से प्रकट हो जाते हैं? इसी प्रक्रिया का सूत्र में संकेत दिया गया है और दृश्यजगत् के अनुसार मूल उपादान तत्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है- दृश्य के सदृश मूल-उपादान रूपादि गुण युक्त हैं। वे परमाणु नर-नारी में शुक्र-शोणित रूप प्राप्त कर उनके संयोग द्वारा देह को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार व्यक्त कारण से व्यक्त शरीरादि का प्राकट्य होता है ॥११ ॥

अगले सूत्र में जिज्ञासु शंका करता है कि सर्वत्र व्यक्त मात्र से व्यक्त की उत्पत्ति नहीं होती। व्यक्त घट से अन्य दूसरे घट की उत्पत्ति नहीं होती। उक्त आशंका को आचार्य द्वारा यहाँ सूत्रित किया गया है—

(३६९) न घटाद् घटानिष्पत्तेः ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ— घटात् = घट से, घटानिष्पत्तेः = घट की उत्पत्ति न होने से, न = उक्त कथन उचित नहीं।

व्याख्या— 'सजातीय व्यक्त से सजातीय व्यक्त उत्पन्न होता है।' यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि व्यक्त घट से कोई भी व्यक्त घट उत्पन्न होता दृष्टिगोचर नहीं होता। अत: यह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है कि व्यक्त से व्यक्त उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार पूर्व कथन का निषेध हो जाता है। इसलिए व्यक्त को सर्वत्र कारण बताना युक्ति संगत नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अणु से विभु की उत्पत्ति तो हो सकती है; किन्तु घट की घट से उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती है ॥१२ ॥

इस सूत्र में उक्त आशंका का समाधान किया गया है—

(३७०) व्यक्ताद् घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ— व्यक्तात् = व्यक्त कारण से, घटनिष्पत्तेः = घट की उत्पत्ति का, अप्रतिषेधः = प्रतिषेध असंगत है।

व्याख्या— सूत्रकार कहते हैं कि हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि सर्वत्र प्रत्येक व्यक्त द्रव्य अन्य दूसरे व्यक्त को प्रादुर्भूत करता है। यहाँ हमारा आशय मात्र इतना ही है कि जो व्यक्त द्रव्य आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे अपने ही सजातीय द्रव्य से प्रकट होते हैं। उदाहरणार्थ- मिट्टी भी व्यक्त द्रव्य है और उससे उत्पन्न घट भी व्यक्त है, अत: व्यक्त मिट्टी से व्यक्त घड़े की उत्पत्ति का निषेध युक्ति संगत नहीं है ॥१३ ॥

उक्त समाधान पर पुन: इस सूत्र में आक्षेप किया गया है—

(३७१) अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ— नानुपमृद्य = बीज के नष्ट होने पर ही, प्रादुर्भावात् = अंकुर का प्रादुर्भाव होता है, (इससे), अभावात् = अभाव से, भावोत्पत्तिः = भाव पदार्थ का उत्पन्न होना सिद्ध होता है।

व्याख्या— वादी ने अपना पक्ष रखते हुए कहता है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है। इसमें हेतु यह है कि जब तक बीज गलकर नष्ट नहीं हो जाता, तब तक अंकुरण नहीं होता। नष्ट होना ही अभाव है।

इससे सिद्ध होता है कि अभाव से ही भाव का प्रादुर्भाव होता है। जैसे— बीज को अंकुर का हेतु कहा जाता है; किन्तु बीज जब तक सहज स्थिति में रहता है, अंकुरण नहीं होता। बीज को मिट्टी में मिला देने से जब वह अपना रूप बदल लेता है, तब अंकुर प्रकट हो जाता है। अत: इससे ज्ञात होता है कि अंकुर का हेतु बीज न होकर बीज का अभाव है। यही स्थिति अभाव-असत् से भाव सत् के प्रादुर्भाव को सिद्ध करती है ॥१४॥

भाव की उत्पत्ति अभाव से नहीं होती। इसका समाधान आचार्य इस सूत्र में कर रहे हैं—

(३७२) व्याघातादप्रयोग: ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ— व्याघातात् = व्याघात (विरोध) से, अप्रयोग: = उक्त प्रयोग उचित नहीं है।

व्याख्या— विगत सूत्र में वादी ने अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा है कि अंकुर प्रादुर्भाव बीज के उपमर्द (नष्ट) होने के पश्चात् होता है, किन्तु उसका यह कथन उपयुक्त नहीं है; क्योंकि उसमें व्याघात दोष दृष्टिगोचर होता है। बीज के गलने-नष्ट होने से उसका अभाव नहीं होता। यदि अभाव से प्रादुर्भाव होता तो बीज के विनष्ट होने की आवश्यकता नहीं होती। जिसका प्राकट्य होना है, वह अभी उपस्थित नहीं है, उसके द्वारा बीज का विनष्ट होना कहना सर्वथा आधारहीन है। जो स्वयं नहीं, वह उत्पन्न कैसे करेगा? अत: अभाव से भाव का प्रकट होना उपयुक्त नहीं है ॥१५॥

उपर्युक्त व्याघात-दोष के परिहार के पूर्वपक्षी-भाव को आचार्य इस सूत्र में व्यक्त कर रहे हैं—

(३७३) नातीतानागतयो: कारकशब्दप्रयोगात् ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ— न = नहीं (उक्त दोष, मेरे पक्ष में उचित नहीं है), अतीतानागतयो: = अतीत और अनागत कार्यों के सन्दर्भ में, कारकशब्दप्रयोगात् = कारक शब्दों के प्रयोग होने से।

व्याख्या— अतीत (बीते हुए) और अनागत (होने वाले) पदार्थों के सन्दर्भ में कर्तृत्व आदि के बोधक-कारक शब्दों का प्रयोग प्राय: ही प्रयुक्त होता है। जैसे— भविष्य को लक्ष्य करके यह कहा जाए कि-'पुत्र उत्पन्न होगा'। यहाँ पर अनागत पुत्र में कर्त्ता कारक का प्रयोग किया गया है। अन्य प्रयोग है-'पुत्र की उत्पत्ति से पूर्व उसके जन्म होने की खुशी होती है'। यहाँ पर अनागत पुत्र का कर्म कारक में प्रयोग हुआ है। ऐसे ही अतीत काल से सम्बन्धित प्रयोग देखने को मिलते हैं, जैसे— 'घड़ा विद्यमान था'। या घड़े के टूटने के पश्चात् उसका शोक होता है'। यहाँ अविद्यमान अतीत कालिक घट का कर्त्ता कर्मकारक में प्रयुक्त हुआ है।

इस तरह के प्रयोग प्राय: ही लोक प्रचलन में देखने को मिलते रहते हैं। ऐसे ही इसका आधार काल का अन्तर है। इसी आनन्तर्य-सामर्थ्य के आधार पर उत्पन्न होने वाला अंकुर अपने होने से पूर्व उसको (बीज को) नष्ट करने वाला कहा गया है। इसमें कुछ भी व्याघात दोष नहीं है। इस प्रकार अविद्यमान अनागत अंकुर में कर्त्ता कारक का प्रयोग दोषयुक्त नहीं है ॥१६॥

'बीज के नष्ट होने पर अंकुरण सम्भव नहीं'। उक्त दोष परिहार का इस सूत्र में आचार्य द्वारा समाधान किया गया है—

(३७४) न विनष्टेभ्योऽनिष्पत्ते: ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ— विनष्टेभ्य: = विनष्ट हुए बीजों से, अनिष्पत्ते: = अंकुर की उत्पत्ति न होने से, न = (उक्त दोष परिहार उचित) नहीं है।

व्याख्या— विनष्ट हुए बीजों से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती; वरन् उसकी अवस्था में परिवर्तन होने से बीज का प्रादुर्भाव होता है। इस कारण अभाव से भाव की उत्पत्ति न होना सिद्ध होता है।

यदि अभाव से भाव का उद्भव माना जाता है तथा उसमें बीज के विनाश द्वारा अंकुरण का दृष्टान्त दिया गया, तो फिर ऐसी दशा में अंकुरण के लिए बीज की आवश्यकता ही क्या? बीज का न होना या उसका

दिया गया, तो फिर ऐसी दशा में अंकुरण के लिए बीज की आवश्यकता ही क्या? बीज का न होना या उसका नष्ट हो जाना, इन दोनों ही शर्तों में बीजाभाव एक जैसा है। ऐसी स्थिति में अंकुरण बीज के अभाव में ही हो जाना चाहिए; किन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं है। कोई भी माली नष्ट हुए बीज को बोने के लिए चयनित नहीं करता। विनष्ट हुए पिता आदि के द्वारा पुत्र उत्पन्न होना नहीं सुना जाता है। यदि यह मान भी लिया जाय कि अविद्यमान वस्तु में कारक पदों का गौण प्रयोग हो सकता है; तो भी ऐसा प्रयोग अविद्यमान वस्तु में कार्य जनन शक्ति का आपादक नहीं हो सकता। वह शक्ति तो विद्यमान कारण तत्त्व में ही बनी रहती है। अत: यहाँ पर अभाव द्वारा भाव उत्पत्ति बताना उपयुक्त नहीं है। यह सर्वथा अप्रामाणिक है ॥१७॥

पूर्वपक्षी के कथन में जितना ग्रहणीय है, उसे स्वीकारते हुए सिद्धान्त मत से आचार्य अभाव से भाव की उत्पत्ति को प्रामाणिक नहीं मानते। तदनुसार इस सूत्र में विवेचना प्रस्तुत है—

(३७५) क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ— क्रमनिर्देशात् = निर्दिष्ट क्रम से बीज हेतु का, अप्रतिषेध: = प्रतिषेध नहीं होता।

व्याख्या— बीज के नष्ट होने के अनन्तर ही अंकुर का प्रादुर्भाव होता है। बीज के नष्ट होने और अंकुर के उद्भव का जो सातत्य है उसे ही निर्दिष्ट कर्म कहते हैं। सर्वप्रथम बीज जब गलता है, तभी उससे अंकुर का उद्भव होता है। बीज गलने से नष्ट नहीं वरन् उसकी अवस्था में कुछ परिवर्तन होकर अंकुरण में समर्थ हो जाता है। यदि नष्ट हुए बीज से अंकुर का उद्भव होता है, तो फिर जले या पिसे बीज से भी अंकुरण होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं हो सकता। अत: इससे अभाव से भाव का उद्भव होना सिद्ध नहीं है ॥१८॥

पदार्थों के कार्य-कारण भाव के सन्दर्भ में आचार्य द्वारा एक अन्य विचार इस सूत्र में प्रस्तुत किया जा रहा है—

(३७६) ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ— पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् = पुरुष के कर्मों की निष्फलता देखकर, ईश्वर: = ईश्वर का, कारणम् = कारण होना सिद्ध होता है।

व्याख्या— पुरुष जिस उद्देश्य से कर्म (पुरुषार्थ) करता है, प्राय: उसी कर्म से वह उद्देश्य सिद्ध नहीं होता, इससे किया हुआ वह कर्म निष्फल हो जाता है। व्यक्ति की इच्छा एवं कर्मानुसार फल प्राप्त न होता हुआ देखकर अनुमान होता है कि कर्मों का फल प्रदाता कोई दूसरा ही है। यदि कर्म स्वयमेव फल प्रदाता होता, तो कर्म की समाप्ति पर उसका फल अवश्य प्राप्त होना चाहिए था; किन्तु ऐसा नहीं होता है, अत: कर्मफल प्रदाता एकमात्र ईश्वरीय सत्ता ही है ॥१९॥

शिष्य आशंका करता है कि पुरुष-कर्मों के अभाव में ईश्वर किसका फल देगा? फल किये गये कर्म का मिलता है; ईश्वर को इसमें कारण क्यों माना जाय? आचार्य उक्त आशंका को इस सूत्र में विवेचित कर रहे हैं—

(३७७) न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः ॥ २० ॥

सूत्रार्थ— पुरुषकर्माभावे = पुरुष कर्मों के अभाव में, फलनिष्पत्ते: = फल की निष्पत्ति नहीं होती, न = (इसलिए भी उक्त कथन उचित) नहीं है।

व्याख्या— पुरुष को अपने द्वारा कृत-कर्मों से फलों की प्राप्ति होती है। यदि ईश्वरेच्छा के अधीन फल की प्राप्ति स्वीकारी जाय,तो फिर पुरुष के प्रयासों एवं कर्मों के अभाव में भी फल की प्राप्ति होनी चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता। यदि इसे मान भी लिया जाय, तो कर्माभाव में फल का मिलना शास्त्रानुसार अकृताभ्यागम-दोष हो जाता है। फिर बिना किये का फल देकर अपनी इच्छा से किसी को धनी, किसी को निर्धन, किसी को सुन्दर, किसी को कुरूप बनाने पर पक्षपात करने का दोष भी ईश्वर पर लगेगा। अत: फलों की प्राप्ति में ईश्वर

को अन्तर्गत मानकर कार्य का कारण बताना उचित नहीं है। कर्मफल प्रदाता ईश्वर नहीं; किन्तु कर्म स्वयमेव फल प्राप्त करता है॥२०॥

उक्त आशंका का आचार्य द्वारा अगले सूत्र में समाधान किया जा रहा हैं—

(३७८) तत्कारितत्वादहेतुः॥ २१॥

सूत्रार्थ— तत्-कारितत्वात् = उस (ईश्वर) के द्वारा कारित-सम्पन्न होने से (कर्मफल के), अहेतुः = उक्त हेतु उचित नहीं है।

व्याख्या— पुरुष-कृत कर्मों से जो फल प्राप्त होता है, यद्यपि कर्म उसका निमित्त है; फिर भी जड़ होने से उसमें ज्ञान नहीं होता। ज्ञान-रहित मनुष्य कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। ऐसे ही ईश्वर की प्रेरणा के बिना कर्म का फल नहीं मिलता; क्योंकि कर्म जड़ है तथा वह स्वयं फल की सिद्धि में समर्थ नहीं है। कर्म-कृत पुरुष में इतनी शक्ति नहीं होती कि वह अपने द्वारा कृत कर्मों की पूर्णता के लिए मूलभूल साधनों को सम्पादित कर सके। वर्तमान विश्व के रूप में पृथिवी आदि भूतों की संरचना ही मूलभूत साधन हैं। पुरुष उन्हीं भूतों के माध्यम से अपने द्वारा किये हुए कर्मों के फलों को प्राप्त कर पाता है। विश्व की यह संरचना ईश्वर के अधीन है। अतः पुरुष के कर्मों का फल ईश्वर कारित अर्थात् ईश्वर द्वारा सम्पादित होता है। इसलिए पूर्व सूत्र में वर्णित हेतु उचित नहीं है॥२१॥

'प्रत्येक कार्य अकारण (बिना कारण के) सम्पन्न हो जाता है।' ऐसे अकारणवाद का विवेचन आचार्य द्वारा इस सूत्र में किया गया है—

(३७९) अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात्॥ २२॥

सूत्रार्थ— अनिमित्ततः = अनिमित्त से, भावोत्पत्तिः = भावकार्य की उत्पत्ति होती है, कण्टकतैक्ष्ण्यादि = काटों में तीक्ष्णता आदि का, दर्शनात् = दर्शन करने अर्थात् देखे जाने से (यही मान्यता उचित है)।

व्याख्या— काँटों में तीक्ष्णता प्रकृतितः (स्वभावतः) होती है। वह स्वनिर्मित नहीं होती। ऐसे ही पदार्थों का प्राकट्य अनिमित्त ही हो जाता है। इसी तरह से देह आदि कार्यों का प्रादुर्भाव बिना निमित्त-कारण के हो जाता है। ऐसा स्वीकारना चाहिए; क्योंकि काँटों का पैनापन, पर्वत में विद्यमान धातुओं की विविधता, पत्थरों की स्निग्धता आदि सभी का कोई कर्म-कारण निमित्त दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः जिस प्रकार से बिना कर्म-कारण (अनिमित्त) आदि के इन पदार्थों की संरचना हो जाती है, उसी प्रकार से देहादि सर्ग संरचना भी अनिमित्त (बिना निमित्त के) से हो जाते हैं॥२२॥

इस सूत्र में वादी उक्त कथन पर आक्षेप करते हुए कहता है कि—

(३८०) अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः॥ २३॥

सूत्रार्थ— अनिमित्तनिमित्तत्वात् = अनिमित्त के निमित्त होने से, अनिमित्ततः = अनिमित्त से, न = (कार्य की उत्पत्ति) नहीं होती।

व्याख्या— वादी कहता है कि अनिमित्त से भाव (कार्य) की उत्पत्ति होती है। जिससे जिसका प्रादुर्भाव होता है, वही उसका निमित्त होता है। अनिमित्त से उद्भव होने के कारण, कार्य का वही निमित्त होगा। अतः कार्य के उद्भव को अनिमित्त नहीं कहा जा सकता। यही उचित है॥२३॥

इस सूत्र में अकारणवादी द्वारा प्रतिपादित-उक्त कथन का निराकरण आचार्य द्वारा किया जा रहा है—

(३८१) निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः॥ २४॥

सूत्रार्थ— निमित्तानिमित्तयोः = निमित्त तथा अनिमित्त के, अर्थान्तरभावात् = परस्पर भिन्न अर्थ होने

से, अप्रतिषेध: =(उक्त अकारणवाद का) प्रतिषेध नहीं होता।

व्याख्या— निमित्त एवं अनिमित्त दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। निमित्त अनिमित्त नहीं हो सकता और अनिमित्त निमित्त नहीं हो सकता। निमित्त किसी कार्य का प्रयोजक है और अनिमित्त उसका अभाव है। भाव और अभाव-ये दोनों कभी एक नहीं हो सकते। अनिमित्त किसी का-निमित्त या स्वयं निमित्त रूप नहीं हो सकता। यदि निमित्ताभाव को कारण माना जाता है, तो यह अभाव कारणवाद-पक्ष की परिधि में आ जाता है, जो कि एक अतिरिक्त वाद है। इसका विस्तार (४/१/१४-१८) में किया जा चुका है। प्रस्तुत पक्ष उससे पृथक् है, जिसका अभिप्राय है-कार्य का उद्‍भव बिना कारण आकस्मिक हो जाता है। अत: पूर्व सूत्र में अनिमित्त को निमित्त बताकर इस वाद का जो निषेध किया गया है, वह युक्ति संगत नहीं है। कोई भी वस्तु या पदार्थ अपना ही खण्डन नहीं कर सकता। जैसे अग्नि अन्य पदार्थों को जला देता है; किन्तु स्वयं को नहीं जला सकता। वायु अन्य को सुखा देता है; परन्तु स्वयं को नहीं सुखा सकता। ऐसे ही कारण का अभाव किसी का कारण नहीं बन सकता। जब वह स्वयं में अभाव है, तो फिर उसके द्वारा भाव की कल्पना करना आकाश कुसुमवत् ही है ॥२४॥

अकारणवाद के पश्चात् अब अगले सूत्र में एक अन्य वाद को आचार्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३८२) सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥२५॥

सूत्रार्थ— उत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् = उत्पत्ति और विनाश धर्मक अर्थात् विनाश धर्म वाला होने के कारण, सर्वम् = सभी कुछ, अनित्यम् = अनित्य है।

व्याख्या— जो पदार्थ विनाश-धर्मक होते हैं, वे सभी अनित्य कहलाते हैं। संसार के समस्त पदार्थ उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाते हैं, अत: वे सभी पदार्थ अनित्य हैं। उत्पत्ति धर्म वाले पदार्थ उत्पन्न होने से पूर्व नहीं रहते। इसी प्रकार से विनाश धर्म वाले पदार्थ का भी कभी क्षय न होता हो, ऐसा नहीं है। अभिप्राय यह हुआ कि उत्पत्ति से पूर्व पदार्थ नहीं रहता। उद्‍भव होने के पश्चात् कुछ समय के अन्तराल में उसका विनाश स्वयं ही हो जाता है। यह पदार्थ का कभी अपने अस्तित्व में रहना और कभी न रहना, पदार्थ की अनित्यता का ही प्रमाण है। सूत्र में 'सर्वं अनित्यं' पद आया है। शरीर आदि भौतिक एवं बुद्धि, सुख-दु:ख आदि अभौतिक पदार्थ यहाँ 'सर्व' पद के द्वारा ग्रहणीय हैं। समस्त संसार का विभाजन इन्हीं दो भागों में हुआ है। भौतिक-अभौतिक ये दोनों प्रकार के पदार्थ उत्पत्ति एवं विनाश धर्म वाले दृष्टिगोचर होते हैं। इसीलिए इन सभी पदार्थों की अनित्यता सिद्ध होती है ॥२५॥

इस सूत्र में ऊपर कहे गए 'सर्वानित्यत्ववाद' का निराकरण किया गया है—

(३८३) नानित्यतानित्यत्वात् ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ— अनित्यतानित्यत्वात् = अनित्यता के नित्य होने से, न = [उपर्युक्त कथन (वाद) उचित] नहीं है।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में कहा गया है समस्त पदार्थ अनित्य हैं। इस वाद से यह स्पष्ट होता है कि सभी पदार्थों में विद्यमान अनित्यता सतत बनी रहती है। अनित्यता के सदैव बने रहने से तो अनित्यता का नित्य होना सिद्ध होता है। इस प्रकार से अनित्यता के नित्य होने से यह वाद (कथन) असंगत हो गया कि समस्त पदार्थ अनित्य हैं। यदि अनित्यता को अनित्य स्वीकारा जाता है, तो अनित्य होने से उसके न रहने पर भी सभी कुछ नित्य मान लेना चाहिए। इस स्थिति में 'सर्वानित्यत्ववाद' को उचित नहीं कहा जाना चाहिए ॥२६॥

इस सूत्र में सर्वानित्यत्ववादी द्वारा की गई उक्त आपत्ति के समाधान को आचार्य द्वारा सूत्रित किया गया है—

(३८४) तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत्॥ २७॥

सूत्रार्थ— अग्नेः = अग्नि के, दाह्यम् =ज्वलनशील पदार्थ को, विनाश्य = विनष्ट कर (जलाकर), अनुविनाशवत् = स्वयं विनष्ट हो जाने के सदृश, तद्-अनित्यत्वम् = उस (अनित्यता) का भी अनित्य होना सिद्ध है।

व्याख्या— प्रायः यह देखा जाता है कि अग्नि अपने ज्वलनशील पदार्थ-ईंधन आदि को जिस तरह से जलाकर नष्ट कर स्वयं भी बुझ (नष्ट हो) जाती है। उसी तरह अनित्यता सभी पदार्थों को विनष्टकर अर्थात् अनित्य बनाकर बाद में स्वयं भी नष्ट (समाप्त) हो जाती है। इस प्रकार से सबकी नित्यता के साथ स्वयं अनित्यता भी सतत अनित्य बनी रहती है॥२७॥

इस सूक्त में उक्त वाद के समाधान का (प्रत्याख्यान) निराकरण आचार्य द्वारा किया गया है-

(३८५) नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धि व्यवस्थानात्॥ २८॥

सूत्रार्थ— यथोपलब्धि = उपलब्धि के अनुसार, व्यवस्थानात् = व्यवस्था होने से, नित्यस्य = नित्य का, अप्रत्याख्यानम् = प्रत्याख्यान (निराकरण अर्थात् खण्डन) नहीं किया जा सकता।

व्याख्या— सर्वानित्यत्ववाद किसी भी पदार्थ के नित्य होने का निराकरण (खण्डन) करता है; किन्तु नित्य वस्तुओं का निराकरण (खण्डन) सर्वथा अनुचित, अप्रमाणिक है। क्योंकि परीक्षा करने से ज्ञात होता है कि जो पदार्थ जैसा उपलब्ध होता है, तदनुसार उसकी व्यवस्था होनी चाहिए। जो पदार्थ प्रमाणानुसार उत्पत्ति-विनाश धर्मक उपलब्ध होता है, उसे अनित्य मानना चाहिए। इसके विपरीत प्रमाण से जो इस प्रकार (अनित्य) नहीं जाना जाता वह नित्य कहलाता है। उसे नित्य मानना चाहिए। अनित्य एवं नित्य के भेद से दो प्रकार के पदार्थ मिलते हैं। इनमें से शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि पदार्थ अनित्य हैं और पृथिवी आदि भूत, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन आदि पदार्थ किसी प्रमाण से उत्पत्ति-विनाश धर्मक नहीं माने जाते। अतः ये सभी पदार्थ नित्य हैं। इनका निराकरण (खण्डन) नहीं हो सकता। इन सभी पदार्थों को जब तक कोई प्रमाण प्राप्त न हो, तब तक अनित्य नहीं मानना चाहिए॥२८॥

अगले सूत्र में आचार्य एक अन्य वाद का उपक्रम बतला रहे हैं—

(३८६) सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात्॥ २९॥

सूत्रार्थ— पञ्चभूतनित्यत्वात् = पाँच भूतों के नित्य होने के कारण, सर्वम् = सभी कुछ, नित्यम् = नित्य है।

व्याख्या— यह संसार पञ्चभूतों के द्वारा निर्मित है। भूतों के अतिरिक्त यहाँ कुछ भी नहीं है। सभी पञ्च भूत नित्य हैं, इनका अनित्य (नष्ट) होना किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। ये भूत सबके कारण हैं, अतः कारण के नित्य होने से उनके समस्त कार्यों का नित्य होना सिद्ध होता है॥२९॥

अब सूत्रकार द्वारा उक्त वाद का अगले सूत्र में निराकरण किया जा रहा है—

(३८७) नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः॥ ३०॥

सूत्रार्थ— उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः = (पदार्थों की) उत्पत्ति और विनाश के कारणों की प्राप्ति से, न = [उक्तवाद (कथन) उचित नहीं है]।

व्याख्या— प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा प्रायः ही देखा जाता है कि घट, पट आदि अनेकों पदार्थों के निर्माण एवं विनाश के कारण प्राप्त होते हैं। इससे उन पदार्थों का अनित्यत्व सिद्ध होता है। पदार्थों की यह अवस्था नित्य मानने का विरोध करती है। जिन पदार्थों के निर्माण एवं विनाश के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से

प्राप्त होते हैं, वे सभी प्रत्यक्षरूप से अनित्य हैं। इस तरह से समस्त पदार्थों को नित्य मानना उचित नहीं है ॥३०॥

अगले सूत्र में वादी द्वारा उक्त कथन पर किये गये आक्षेप को आचार्य ने सूत्रित किया है—

(३८८) तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ— तद्-लक्षणावरोधात् = उस (भूत-लक्षण) के अवरोध से, अप्रतिषेधः = प्रतिषेध उचित नहीं है।

व्याख्या— जिन वस्तुओं-पदार्थों में निर्माण एवं विनाश के लक्षण अर्थात् भूत लक्षण विद्यमान होते हैं, वे सब भूत मात्र होते हैं। चूँकि उन सबमें पृथिवी आदि भूतों के परिमाणु विद्यमान हैं, अतः वे सब नित्य हैं; क्योंकि परमाणु नित्य हैं। समस्त पदार्थ परमाणुओं के द्वारा विनिर्मित होते हैं, अतः उन पदार्थों के नित्य होने का निषेध नहीं किया जा सकता ॥३१॥

अगले सूत्र में उक्त नित्यत्ववाद का निराकरण आचार्य द्वारा किया गया है—

(३८९) नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थ— उत्पत्तिकारणोपलब्धेः = उत्पत्ति एवं उसके कारणों की उपलब्धि से, न = (उक्तवाद की सिद्धि) नहीं होती।

व्याख्या— उत्पत्ति एवं विनाश के कारण यथार्थ नहीं औपाधिक हैं। हर वस्तु या पदार्थ उत्पन्न होने से पूर्व भी अपना अस्तित्व बनाये रखता है तथा विनाश के पश्चात् भी अपने अस्तित्व को नष्ट नहीं होने देता। अन्तरिक्ष में सतत विद्यमान रहता है। घट के टूटने के बाद भी उसके अपभ्रंश आदि स्थित रहते ही हैं। तथा उसका कारण द्रव्य मिट्टी तो सतत ही उपस्थित रहती है। इस कारण कोई भी पदार्थ या वस्तु अनित्य सिद्ध नहीं होती ॥३२॥

उक्त वाद पर आचार्य इस सूत्र में अपना मत व्यक्त कर रहे हैं —

(३९०) न व्यवस्थानुपपत्तेः ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ— व्यवस्थानुपपत्तेः = व्यवस्था की उपपत्ति न होने से, न = (उक्त वाद उचित) नहीं है।

व्याख्या— सभी पदार्थों को नित्य मान लेने से उत्पत्ति एवं विनाश की व्यवस्था ही न रहेगी। यदि पदार्थ पूर्व से विद्यमान है तो फिर उसका उद्भव कैसे माना जायेगा? यदि विनष्ट होने के बाद भी विद्यमान है, तो फिर विनष्ट होना किस तरह कहलायेगा? इस प्रकार अविद्यमान के रूप की प्राप्ति को उत्पत्ति एवं स्वरूप की हानि को विनष्ट होना स्वीकारना ही उचित है। अतः समस्त नाशवान् पदार्थों को नित्य कहना युक्ति संगत नहीं लगता ॥३३॥

अगले सूत्र में उक्त वाद पर आचार्य एक अन्य वाद का प्रतिपादन कर रहे हैं—

(३९१) सर्वं पृथग्भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थ— भावलक्षणपृथक्त्वात् = भाव लक्षणों के पृथक्-पृथक् होने से, सर्वम् = समस्त पदार्थ, पृथक् = भिन्न-भिन्न हैं, अर्थात् विभिन्न हैं।

व्याख्या— सूत्र में आया हुआ 'भाव' पद प्रत्येक उस पदार्थ-तत्त्व का साक्षात् (बोध) कराने वाला है, जो अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। सूत्र में प्रयुक्त 'लक्षण' पद उसके स्वरूप एवं उसके 'वाचक' पद का साक्षात् कराता है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ पृथक्-पृथक् एवं अनेक हैं, किसी भी पदार्थ या वस्तु की एक सत्ता नहीं है। सभी पदार्थों के भाव एवं लक्षण अलग-अलग हैं। भावों से युक्त घट, पट आदि शब्द जिन घट-पट आदि अर्थों का निर्देशन करते हैं, वे सभी विभिन्न अवयवों के समूह हैं,जैसे 'घट' पदार्थ गन्ध, रस, रूप,

स्पर्श एवं पात्र की तली या नीचे का भाग, पार्श्व भाग, ग्रीवा आदि विभिन्न अवयवों के रूप में उपस्थित रहता है। यह उदाहरण मात्र है, व्यवहार में आने वाले हर पदार्थ या वस्तु के सन्दर्भ में भी यही स्थिति समझनी चाहिए। इसलिए जाति, आकृति एवं व्यक्ति भी कोई एक पदार्थ नहीं है, सभी पदार्थ अलग-अलग एवं अनेक हैं। यही वास्तविक स्थिति है। इस प्रकार सूत्र का तात्पर्य यह हुआ कि मात्र गुणों या अवयवों से कोई गुणी या अवयवी नहीं होता, वरन् गुणों या अवयवों का समूह होता है ॥३४॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्तवाद का खण्डन कर रहे हैं—

(३९२) नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ॥ ३५ ॥

सूत्रार्थ— अनेकलक्षणैः = अनेक लक्षण अर्थात् अनेक अवयव एवं अन्य साधनों से, एक भावनिष्पतेः = एक भाव (पदार्थ) की उत्पत्ति होती है अतः, न = उक्त कथन (वाद) उचित नहीं है।

व्याख्या— यहाँ सूत्र में 'अनेक लक्षण' नामक पद का अर्थ 'अनेकविध लक्षण' माना गया है। ऐसा मध्यम पदलोपी समास के आधार पर किया गया है। विभिन्न अवयवों एवं अनेक पदवाची साधनरूपी अर्थों के द्वारा एक पदार्थ का उद्भव हो जाता है। घट, पट, ग्रीवा आदि अवयवों एवं गन्ध, रूप, रस आदि पदवाची साधन रुपी अर्थों के द्वारा एक पदार्थ का उद्भव हो जाता है। घट, पट, ग्रीवा आदि अवयवों एवं गन्ध रुप, रस, स्पर्श आदि पदवाची अनेकों गन्धादि साधनों के द्वारा एक घट रूपी अर्थ की प्राप्ति होती है। यह घट रूपी अर्थ गन्धादि गुणों के अलावा एक द्रव्य है। जिस प्रकार द्रव्य और गुण परस्पर पृथक्-पृथक् हैं, उसी प्रकार अवयव एवं अवयवी भी पृथक् होते हैं। गुण द्रव्य पर आश्रित रहता है और अवयवी अवयवों पर। आश्रय एवं आश्रित का भेद प्रामाणिक है। अतः गुण-गुणी और अवयव-अवयवी की आपस में विभक्त स्थिति सर्वथा न्यायोचित है। इस कारण से अवयवी को अवयव रूप नहीं कहा जा सकता। अनेकों अवयव मिलकर ही एक अवयवी का निर्माण करते हैं। एक घट आदि पदार्थ अलग-अलग न होकर मात्र एक इकाई है, यही वास्तविकता है ॥३५॥

इस सूत्र में आचार्य लक्षण की व्यवस्था द्वारा उक्तवाद (कथन) का प्रतिषेध प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३९३) लक्षणव्यवस्थानादेवाप्रतिषेधः ॥ ३६ ॥

सूत्रार्थ— लक्षणव्यवस्थानात् = लक्षण की व्यवस्था-सद्भाव से, एव = ही, अप्रतिषेधः = प्रतिषेध नहीं होता। अर्थात् अवयवी के एकत्व का प्रतिषेध नहीं होता।

व्याख्या— एक अवयवी रूप भाव (पदार्थ) नहीं है। इस तरह का प्रतिषेध उपयुक्त नहीं है; क्योंकि व्यावहारिक जगत् में कोई भी शब्द एक अर्थ का साक्षात् कराने में व्यवस्थित है। लक्षणों एवं अवयवों की व्यवस्था (सद्भाव) से अवयवी के एकत्व का प्रतिषेध नहीं होता। जैसे— किसी के यह कहने पर कि 'घट में जल भर दो'- यह सुनकर कोई मिट्टी के परमाणुओं में तो जल नहीं भरता और न ही उनमें जल भरा जा सकता है। अवयवी के द्वारा जो कार्य सिद्ध हो सकता है, वह उसके अवयवों से सम्पन्न नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि अनेक लक्षणों से एक भाव एवं अनेक अवयवों- गुणों से एक अवयवी-गुणी सिद्ध होता है। इस प्रकार अनेक लक्षणों में एक भाव की ही सिद्धि होती है। अतः एकत्व का प्रतिषेध नहीं होता ॥३६॥

इस सूत्र में प्रतिवादी के एक अन्य वाद (कथन) को आचार्य अवसरानुकूल प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३९४) सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थ— भावेषु = भावों में, इतरेतराभावसिद्धेः = अन्योन्यअभाव की सिद्धि होने से, सर्वम् = सब, अभावः = अभाव है।

व्याख्या— सभी कुछ अभाव है; क्योंकि अन्योन्य अभाव की सिद्धि होती है। जैसे घट में पट (वस्त्र) का अभाव है और पट (वस्त्र) में घट का अभाव होता है। ऐसे ही गाय में अश्व का अभाव एवं अश्व में गाय का अभाव रहता है। जब समस्त भावों में एक दूसरे का अभाव सिद्ध हो रहा है, तब सभी का अभाव ही क्यों न स्वीकार कर लिया जाना चाहिए? अर्थात् सभी को 'अभाव' कहने या स्वीकारने में किसी तरह का अवरोध नहीं होना चाहिए॥३७॥

अगले सूत्र में उक्त वाद (कथन) का खण्डन (निराकरण) किया जा रहा है—

(३९५) न स्वभावसिद्धेर्भावानाम्॥ ३८॥

सूत्रार्थ— भावानाम् = भावों की, स्वभावसिद्धेः = स्व भाव अर्थात् अपने अस्तित्व की सिद्धि होने से, न = उक्त कथन उचित नहीं है।

व्याख्या— सभी कुछ अभाव अथवा शून्य नहीं है; क्योंकि अपने स्वभाव (अस्तित्व) से हर एक पदार्थ की उपस्थिति प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा पुष्ट होती है। इस जगत् में जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी अपने-अपने भावों में विद्यमान रहते हैं। जैसे— यदि घट में पट का अभाव है, तो घट का तो भाव है। अश्व, गाय नहीं तो अश्व तो है, तब फिर भाव से अभाव की सिद्धि क्यों होगी? फलतः सभी पदार्थों में अपना-अपना भाव होने से अभाव किसी भी पदार्थ का नहीं हो सकता। यहाँ पर यह कहना कि 'सब अभाव है' उचित नहीं है। इस पर वादी पुनः आक्षेप करता है॥३८॥

अगले सूत्र में वादी द्वारा पुनः किये गये आक्षेप को आचार्य सूत्रित कर रहे हैं—

(३९६) न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात्॥ ३९॥

सूत्रार्थ— स्वभावसिद्धिः = स्व भाव की सिद्धि, आपेक्षिकत्वात् = आपेक्षिक होने से, न = उक्त कथन उचित नहीं (असंगत) है।

व्याख्या— अन्यान्य की अपेक्षा के आधार पर जो पदार्थ— स्वरूप समक्ष आता है, वह आपेक्षिक कहलाता है। पदार्थों में ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ, एवं दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व व्यवहृत होता है। वास्तव में कोई भी पदार्थ स्व रूप से स्थित नहीं होता। तदनुसार भावों की ऊपर कही गई स्व भाव सिद्धि असम्भव है; क्योंकि उसका अस्तित्व आपेक्षिक होता है। जिस प्रकार ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ एवं दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व सिद्ध होता है, उसी प्रकार से घट की अपेक्षा से पट एवं गौ की अपेक्षा से अश्व की सिद्धि होती है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व आपस में भेद-सापेक्ष है। यदि ऐसी स्थिति न हो तो घट को पट भी समझा जा सकता है। किन्तु ऐसा है नहीं। यथार्थ ज्ञान की दशा में घट को घट ही समझा जाता है। इससे निश्चित हो जाता है कि घट की सत्ता व प्रतीति में पट आदि भेद का ज्ञान अपेक्षित होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि कोई भी भाव या पदार्थ पूर्ण स्वतंत्र होकर अपने स्व रूप से स्थित नहीं है; क्योंकि वह अपने सद्भाव को आपेक्षिक शक्ति से प्राप्त करता है। आपेक्षिक शक्ति सापेक्ष पदार्थ को अपने मुकाबले में तुच्छ बना देती है। जब भाव अपने अस्तित्व में अभाव की अपेक्षा करेगा, तो अभाव अपने मुकाबले में भाव को तुच्छ-बनाकर उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेगा। अतः 'भावों की स्व भाव सिद्धि' हेतु-आपेक्षिक होने के कारण भावों के स्वतंत्र श्रेष्ठ भाव को पुष्ट करने में पूर्ण रूपेण समर्थ नहीं हो सकता॥३९॥

अगले सूत्र में आचार्य वादी के कथन (तर्क) का समाधान दे रहे हैं—

(३९७) व्याहतत्वादयुक्तम्॥ ४०॥

सूत्रार्थ— व्याहतत्वात् = व्याहत होने से अर्थात् अन्योन्याश्रय दोष होने से, अयुक्तम् = (सभी की तुच्छता का कथन) उपयुक्त अर्थात् उचित नहीं है।

व्याख्या— ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ एवं दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व है, ऐसा कहने पर अन्योन्याश्रय दोष पूरी तरह से परिलक्षित होता है। अत: समस्त भावों को आपेक्षिक कहना उपयुक्त नहीं है। यदि अश्व गाय की अपेक्षा से है, तो गाय फिर किसकी अपेक्षा से है ? यदि कहें कि घोड़े की, तो इसमें अन्योन्याश्रय दोष आ जायेगा। दोनों ही अपनी-अपनी सिद्धि में एक दूसरे के आश्रित होंगे, जिससे अनवस्था दोष का उद्‌भव होगा। अत: सभी पदार्थ अपनी सिद्धि में अपेक्षा रहित हैं ॥४० ॥

अब आगे सूत्र क्र० ४१ से संख्यावाद की परीक्षा शुरू की जा रही है—

(३९८) सङ्ख्यैकान्तासिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ४१ ॥

सूत्रार्थ— कारणानुपपत्तिः = कारणों की अनुपपत्ति, उपपत्तिभ्याम् = (और) उपपत्ति से (किसी भी पदार्थ की असिद्धि या सिद्धि होने के कारण), संख्यैकान्त = संख्यावाद की, असिद्धिः = सिद्धि नहीं होती।

व्याख्या— यदि कार्य और कारण ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं, तभी भेद की सिद्धि होती है। इससे उनका एकान्त सिद्ध नहीं होता है। यदि अभेद है, तो कारण के न होने से कार्य की सिद्धि न होगी। इस प्रकार दोनों हेतुओं से 'संख्यावाद' सिद्ध नहीं होता। किसी भी पदार्थ का होना या न होना उसके कारणों पर निर्भर करता है। यदि उसके कारण प्रमाणों से उपपन्न हैं, तो वह पदार्थ रूप में स्वीकारा जायेगा और यदि वह प्रमाणों से अनुपपन्न हैं, तो वह अमान्य हो जायेगा। अब परीक्षा करनी चाहिए कि संख्या के आधार पर पदार्थ का एक, दो, तीन आदि होना उचित है या नहीं ? प्रथम मान्यतानुसार पदार्थ एक है। इसकी सिद्धि हेतु प्रमाण का होना जरूरी है। साध्य एवं साधन कभी एक नहीं होते। साध्य- साधन का आपस में भेद आवश्यक है। 'सब एक है', यह साध्य हुआ, इसका साधन अवश्य ही इससे पृथक् होगा। तब 'सब एक है'। यह मान्यता उचित नहीं होगी; क्योंकि उससे अलग उसका 'साधन' उपस्थित रहता है। यदि 'साधन' अतिरिक्त नहीं है, तो उसके अभाव में साध्य सिद्ध नहीं होगा। इससे भी उपर्युक्त मान्यता का असंगत होना बिल्कुल साफ है। इस तरह से यह रस्सी की फाँस दोनों तरफ से इस मान्यता को जकड़ लेती है। उपर्युक्त वादों (प्रतिपादनों) के निराकरण का यह भेद प्रत्येक वाद में स्वीकार्य हो जाता है। 'सब पदार्थ दो हैं', यह साध्य है, इसका साधन इससे अतिरिक्त होगा। तभी 'सब दो पदार्थ हैं,' यह मान्यता असंगत होगी और साधन की संख्या बढ़ जायेगी। यदि उसी के अन्तर्गत है, तो साध्य के अलावा साधन के अभाव में साध्य सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि साधन के अभाव में अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। यही प्रक्रिया तीन, चार आदि संख्याओं के आधार पर पदार्थों, वस्तुओं की मान्यता के संदर्भ में स्वीकार कर लेनी चाहिए ॥४१ ॥

अगले सूत्र में संख्यैकान्तवाद की असिद्धि को वादी द्वारा निराकरण की भावना को आचार्य व्यक्त कर रहे हैं—

(३९९) न कारणावयवभावात् ॥ ४२ ॥

सूत्रार्थ— कारणावयवभावात् = कारण के (स्वीकृतवाद का ही) अवयव होने से, न = उक्त कथन उपयुक्त नहीं है।

व्याख्या— संख्यैकान्तवाद की असिद्धि यहाँ पर उचित नहीं है; क्योंकि साधन (कार्य) स्वीकृतवाद का ही अवयव होता है, उससे अतिरिक्त नहीं। एक अर्थ का कोई अवयव साध्य और कोई साधन (कार्य) हो सकता है। प्रत्येक स्वीकृतवाद में इस प्रकार होना सम्भव है। साध्य अंशी एवं साधन अंश रूप है। अंश-अंशी में भेद न होने से साधन भी साध्य से भिन्न नहीं रहता है। अत: वाद की स्वीकृत संख्या में किसी भी तरह का अन्तर सिद्ध नहीं होता ॥४२ ॥

इस सूत्र में आचार्य वादी की उक्त भावना का निराकरण (खण्डन) कर रहे हैं—

(४००) निरवयवत्वादहेतुः ॥ ४३ ॥

सूत्रार्थ— निरवयवत्वात् = कारण के अवयव-रहित होने से, अहेतुः = उक्त (कारणावयवभावात्) हेतु उचित नहीं है।

व्याख्या— कार्य के अवयव होते हैं; किन्तु कारण सूक्ष्माति-सूक्ष्म होने से अवयव रहित होता है। अतः कारण को अवयव के रूप में स्वीकारना उपयुक्त नहीं है। अकेले एकमात्र तत्त्व के रहने पर उसमें अवयव की कल्पना करना निराधार है। जब 'सर्वं एकम्' अर्थात् सभी कुछ एक है, इस रूप में प्रतिज्ञा की जाती है, तब उससे अलग कुछ भी नहीं बचता। प्रतिज्ञा किया हुआ अर्थ साध्य है, साध्य का अवयव कभी साधन नहीं हो सकता। इसी के साथ यह भी जानना चाहिए कि जहाँ अवयव की कल्पना होगी, वहाँ वस्तु का एकमात्र होना सम्भव नहीं है; क्योंकि हर एक अवयव अपने रूप में एक स्वतंत्र इकाई के रहने से पदार्थ की एकनिष्ठता को विनष्ट कर देता है। अवयव की सम्भावना अनित्य द्रव्य में की जाती है, यह भी स्मरण आवश्यक है। एकमात्र द्रव्य की मान्यता में यदि उसको अनित्य माना जाता है, तो उसका एकत्व स्वयमेव विनष्ट हो जाता है। अन्य दूसरे वादों में भी इस तथ्य को भली-भाँति जान लेना चाहिए। पदार्थों का नित्य-अनित्य होना, उनका मात्र प्रकार-भेद है। इसका यह मतलब नहीं कि पदार्थ केवल दो इकाइयों में पूर्ण हो जाता है। नित्य पदार्थ विभिन्न हैं और अनित्य पदार्थों की संख्या भी अनंत मानी जा सकती है। ऐसी स्थिति में 'पदार्थ दो हैं' कहना उचित नहीं है। पदार्थों के तीन या चार मानने में असंगति का प्रकार पूर्व सूत्र (४/१/४१) में कहा जा चुका है। संख्यैकान्तवाद में एक, दो, तीन, चार आदि संख्याओं के अनुरूप पदार्थों की मान्यता को इस रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है— १. एक ब्रह्मतत्त्व या आत्मतत्त्व अर्थात् उपनिषदों का कथन। २. प्रकृति और पुरुष-दो तत्त्व अर्थात् एकदेशी सांख्य वार्षगण्य एवं उसके अनुयायी सांख्याचार्य। ३. ईश्वर, जीव एवं प्रकृति-तीन तत्त्व। इन तत्त्वों को मानने वाले कपिल, पतञ्जलि आदि सांख्य एवं योग के आचार्य तथा वेद के अनुयायी विद्वान्। ४. पृथिवी, जल, तेज, वायु-ये चार मूल तत्त्व। इन्हें बृहस्पति आदि आचार्य मानते हैं। चार्वाक ने भी प्रचारित किया। ५. उपर्युक्त चार तत्त्वों में आकाश तत्त्व को सम्मिलित कर पाँच भूततत्त्व सभी भौतिकवादी आचार्य मानते हैं। ६. द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय-इन छः पदार्थों को मानने वाले कणाद ऋषि एवं उनके अनुयायी ऋषि। ७. उपर्युक्त छः पदार्थों में 'अभाव' नामक पदार्थ को संयुक्त करके सात पदार्थ होते हैं। इसे वैशेषिक विद्वान् स्वीकारते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पदार्थ चाहे नित्य हों या अनित्य वे अनेक हाते हैं। इस प्रकार से संख्यैकान्त वाद की परीक्षा पूर्ण हुई ॥४३॥

अब अगले सूत्र में प्रेत्य भावान्तर्गत 'संख्यावाद' की परीक्षा के पश्चात् क्रमप्राप्त 'फल' प्रमेय की परीक्षा की गई है। यहाँ पर आचार्य जिज्ञासु शिष्य की भावना को प्रकट कर रहे हैं—

(४०१) सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः ॥ ४४ ॥

सूत्रार्थ— सद्यः = तत्काल, कालान्तरे = काल के अन्तराल में अर्थात् विलम्ब से, च = और, फलनिष्पत्तेः = फल सिद्धि की प्राप्ति में, संशयः = संदेह बना रहता है।

व्याख्या— कर्म करने के उपरान्त फल-प्राप्ति की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है। कभी फल की प्राप्ति शीघ्रता से, तत्काल हो जाती है और कभी काफी समय के अन्तराल में अर्थात् विलम्ब से प्राप्त होती है। अनिश्चितता की दशा में यह भी संभव है कि शायद कभी फल की प्राप्ति न हो। उदाहरणार्थ- व्यक्ति भोजन पकाता है, गाय का दूध दोहन किया जाता है। इसका फल तत्काल मिलता है। कुछ कार्यों का फल देर से मिलता है। जैसे- किसान खेत में बीज बोता है, पेड़ लगाता है। इसका फल कालान्तर में कुछ मास, वर्ष के

उपरान्त मिलता है। इसी प्रकार भौतिक कार्यों से पृथक् आत्मिक लाभ हेतु कुछ धार्मिक कर्म भी होते हैं। जैसे-मोक्ष प्राप्ति हेतु व्यक्ति यज्ञीय कर्म करता है; किन्तु इसका फल मिलेगा अथवा नहीं? यह संशय बना रहता है। अत: यह निश्चित नहीं है कि कर्म-फल की प्राप्ति नियमपूर्वक होती हो, अत: इसमें सन्देहात्मक स्थिति प्राय: बनी रहती है॥४४॥

अगले सूत्र में शिष्य की उक्त जिज्ञासा का समाधान किया जा रहा है—

(४०२) न सद्यः कालान्तरोपभोग्यत्वात्॥ ४५॥

सूत्रार्थ— कालान्तरोपभोग्यत्वात् = कालान्तर में, विलम्ब से भोगने-योग्य होने से; सद्यः = तत्काल (फल), न = नहीं मिलता।

व्याख्या— सभी कर्मों का फल तत्काल नहीं मिलता। बहुत से कर्म ऐसे होते हैं, जिनका फल कालान्तर में अथवा देहान्तर के पश्चात् ही मिलता है। स्वर्गादि की प्राप्ति यज्ञीय कर्मानुष्ठानों के करने के पश्चात् देह छोड़ने पर होती है। अत: यज्ञ आदि क्रियाओं का फल संदेहास्पद नहीं माना जा सकता। वेदों में कुछ ऐसी इष्टियाँ भी हैं, जिनके अनुष्ठान का फल इसी जीवन में मिल जाता है। उनके अन्तर्गत ग्रामकामेष्टि एवं पुत्रकामेष्टि का नाम प्रचलित है। जो मनुष्य भू-सम्पत्ति की एवं पुत्र की कामना करता है, उसे उक्त इष्टियों का अनुष्ठान करने से इसी जीवन में कुछ विलम्ब से अनुकूल फल की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि अधिकांश कर्मों का फल कालान्तर में विलम्ब से प्राप्त होता है। अत: यहाँ पर कर्मफल प्राप्ति में संशय नहीं करना चाहिए॥४५॥

कालान्तर में फल प्राप्ति कैसे संभव है? शिष्य की इस जिज्ञासा को इस सूत्र में आचार्य ने व्यक्त किया है—

(४०३) कालान्तरेणाऽनिष्पत्तिर्हेतुविनाशात्॥ ४६॥

सूत्रार्थ— हेतुविनाशात् = हेतु-कर्म के नष्ट हो जाने से, कालान्तरेण = काल के अन्तराल से अर्थात् विलम्ब से, अनिष्पत्तिः = फल की सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

व्याख्या— क्रिया के विनष्ट हो जाने पर, कारण के अभाव में उसका कार्य प्रकट नहीं हो सकता। ऐसे ही फल-प्राप्ति हेतु जो भी यज्ञीय कर्म किये जाते हैं, उनकी क्रिया यहीं समाप्त हो जाती है। जब वे कर्म स्वत: ही नष्ट (समाप्त) हो जाते हैं, तो फिर वे (कर्मानुष्ठान) कालान्तर या देहान्तर में कैसे फल देंगे? क्योंकि नष्ट हुए कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। अत: कालान्तर या देहान्तर में अभीष्ट फल की प्राप्ति होना उचित प्रतीत नहीं होता। फल प्राप्ति में संदेह बना ही रहता है॥४६॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं—

(४०४) प्राङ्निष्पत्तेर्वृक्षफलवत्तत्स्यात्॥ ४७॥

सूत्रार्थ— वृक्षफलवत् = वृक्ष के फल के सदृश, प्राक् = पूर्व में, निष्पत्तेः = उत्पत्ति से, तत् = वह (कर्मफल), स्यात् = होता है (इस प्रकार जानना चाहिए)।

व्याख्या— मनुष्य वृक्ष से फल पाने की आशा से जल सिंचन करता है, खर-पतवार हटाता है,सुरक्षा करता है; किन्तु ये सभी कार्य फल मिलने के पूर्व ही समाप्त (नष्ट) हो जाते हैं। फिर भी सिंचित जल, उर्वरक आदि का वृक्ष के फल के साथ सम्बन्ध जानना चाहिए। सिंचन आदि अनुष्ठान की समाप्ति के बाद मिट्टी, जल, उर्वरक के परमाणुओं से वृक्ष प्रवर्द्धित होता है। पत्ते, शाखा, पुष्प तदनन्तर फल आदि शनैः-शनैः आते हैं। यह सर्वथा उचित है कि कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता। जल सिंचन व खाद आदि क्रियाओं के समाप्त होने के पश्चात् कुछ अन्तराल में फल मिलता है। यदि जल-उर्वरक आदि पोषक तत्त्व वृक्ष को न दिये जायें, तो न वृक्ष पुष्ट होगा और न ही फल मिलेगा। फल की उत्पत्ति और जल सिंचन आदि

क्रियाओं के परस्पर कार्य-कारण भाव की जानकारी मिलती है। असम्बद्ध कारण कार्य को प्रकट नहीं कर सकता। ऐसी दशा में जल-खाद आदि कारणों का फल प्राप्ति कार्य से सम्बन्ध का बोध होता है। सिंचित जल आदि क्रियायें वृक्ष स्थित भू-भाग में मिलकर जड़ों तक पहुँच कर वहाँ की गर्मी से स्वानुकूल रसों के रूप में बदल जाते हैं। वृक्ष की जड़ें अनुकूल रसों को अपने अन्दर समाहित कर लेती हैं। जड़ों द्वारा वृक्ष में पहुँचे वे द्रव्यभूत रस वृक्ष की श्रेष्ठ पाक क्रिया के द्वारा यथास्थान समाहित होकर पत्ते, शाखा, फूल-फल आदि की उत्पत्ति में सहयोगी होते हैं। इस प्रकार जल-उर्वरक आदि क्रिया के न रहने पर भी सिंचित जल आदि क्रियायें सफल मानी जाती हैं। यहाँ पर हेतु के बिना फल की उत्पत्ति नहीं होती है। सिंचित जल आदि अनुकूल रसादि के रूप में परिवर्तित होते हुए फल प्राप्ति में कारण होते हैं।

इसी प्रकार यज्ञादि द्वारा शुभाशुभ कर्मानुष्ठान से धर्माधर्मरूप संस्कार उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् वे अन्य कारणों से पुष्ट होकर शुभाशुभ फल प्रदान करते हैं। इस प्रकार कर्मों की फल प्राप्ति के विषय में किसी भी तरह की आशंका नहीं करनी चाहिए॥४७॥

उक्त समाधान पर वादी पुनः शंका करता है—

(४०५) नासन्न सन्न सदसत्सदसतोर्वैधर्म्यात्॥ ४८॥

सूत्रार्थ— सद्असतोः = सद् (विद्यमान) एवं असत् (अविद्यमान) के परस्पर, वैधर्म्यात् = विरुद्ध धर्म वाला होने से, न असत् = न असत् है, न-सत् = न सत् है और, न = न ही, सदसत् = सत् असत् ही हैं।

व्याख्या— उत्पत्ति से पहले कर्मों का फल न सत् है और न सदसत् ही;क्योंकि जो फल भविष्य में घटित होगा उसे सत् इसलिए नहीं कहा जा सकता कि वह अभी सत् नहीं है। जब सत् नहीं है,तो उसके लिए जो कार्य किये जायेंगे, उनमें एवं भविष्य में होने वाले फल में कार्य कारण-भाव का सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य को असत् माना जाय, तो इस तरह मानना उचित नहीं; क्योंकि हर कार्य का कारण उत्पत्ति से पहले उपस्थित होता है। यदि सत्-असत् दोनों ही मानें, तब भी उचित नहीं होगा; क्योंकि एक वस्तु में दो विरुद्ध धर्म स्थिर नहीं रह सकते। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उत्पत्ति से पूर्व किसी भी पदार्थ का अनुभव नहीं हो सकता और यदि अभाव होता तो वह उत्पन्न क्यों होता? न भाव ही हो सकता है; क्योंकि यदि उत्पत्ति से पूर्व उसका भाव होता, तो फिर उत्पत्ति की आवश्यकता ही न थी। सदसत् भी नहीं हो सकता; क्योंकि ये दोनों परस्पर विपरीत धर्म वाले हैं। विपरीत धर्म का एक साथ रहना कभी सम्भव नहीं है॥४८॥

अगले सूत्र में उक्त आशंका का समाधान दिया जा रहा है—

(४०६) प्रागुत्पत्तेरुत्पत्ति धर्मकर्मसदित्यद्धोत्पादव्ययदर्शनात्॥ ४९॥

सूत्रार्थ— प्रागुत्पत्तेरुत्पत्ति = उत्पत्ति से पूर्व, धर्मकर्मसदित्यद्धोत्पाद् = उत्पत्ति धर्म वाला; क्योंकि उत्पत्ति का, अव्ययदर्शनात् = विनाश देखे जाने से (यही सिद्ध होता है)।

व्याख्या— उत्पत्ति से पूर्व उत्पत्ति धर्म वाला असत् है। यह सिद्धान्त है; क्योंकि उत्पत्ति और विनाश प्रायः ही देखने को मिलते हैं। उद्‌भव होने वाला हर पदार्थ उत्पत्ति से पहले असत् होता है; क्योंकि उसका प्रकट होना व नष्ट होना प्रत्यक्षतया देखा जाता है। अतः उत्पन्न होने से पूर्व हर पदार्थ को असत् ही मानना चाहिए। यदि पदार्थ सत् होता, तो उद्‌भव एवं विनाश नहीं हो सकता था तथा यह प्रत्यक्ष से भी सिद्ध होता है कि घट पूर्व में नहीं था, कुम्भकार ने निर्माण किया और कालान्तर में वह टूट गया। असत् का ही उद्‌भव एवं विनाश होता है, सत् का नहीं इसीलिए उद्‌भव से पहले प्रत्येक पदार्थ असत् ही है॥४९॥

अगले सूत्र में उक्त कथन की पुष्टि की गई है—

(४०७) बुद्धिसिद्धं तु तदसत् ॥ ५० ॥

सूत्रार्थ— तु = जो, बुद्धिसिद्धम् = बुद्धि से सिद्ध है, तत् = वह (उत्पत्ति से पूर्व) असत् = असत् अर्थात् अविद्यमान कार्य है।

व्याख्या— अमुक उपादान द्वारा अमुक वस्तु का निर्माण होता है, इसे बुद्धि द्वारा ज्ञात किया जाता है। बुद्धि एवं प्रमाण द्वारा कारण का निश्चित होना एवं उसके कार्य का प्रकट होना सिद्ध होता है। अत: प्रत्येक वस्तु कार्यरूप में आने से पूर्व असत् है। प्रत्येक कारण में अपने अनुरूप ही कार्य प्रकट करने की शक्ति होती है। यदि उद्भव से पूर्व भी उसका भाव स्वीकारा जाय, तो पुन: उद्भव का होना नहीं बन सकता; क्योंकि बुनकर यह जानकर कि वस्त्र नहीं है, सूत से वस्त्र निर्मित करता है। यदि निर्मित होने से पूर्व भी वस्त्र विद्यमान हो, तो फिर उसका निर्माण कैसा ? अत: सत् (कारण) से असत् (कार्य) का उद्भव होता है। यही सिद्धान्त उचित है। उद्भव से पहले असत् कार्य के बुद्धिसिद्ध होने का यही अभिप्राय है। कहा भी जा सकता है कि उद्भव के पश्चात् कार्य (असत्) जिस आकार-प्रकार के रूप में प्रकट हुआ है, उससे पूर्व समय में वह अप्रकट रहता है। यही उस (पदार्थ) की अविद्यमानता का लक्षण है।

उक्त तथ्य से यह ज्ञात होता है कि उद्भव से पहले कार्य पूर्ण रूपेण असत् नहीं होता। कारण में अप्रकट रूप से सत् कार्य की सत्ता को निर्माण कर्त्ता अपनी बुद्धि से देखता है तथा निर्माण के बाद उसे प्रकट कर लेता है। ईंट एवं अन्य गृह सामग्री के ढेर में गृह निर्माता को निर्मित किये जाने वाले घर का पूर्ण आकार दिखाई देता है। तदनुसार सामग्री के सन्निवेश से वह उसे प्रकट कर लेता है। कार्य के उद्भव हेतु कारण सामग्री के उपादान (नियम) का यही एक मात्र आधार है। कारण में कार्य अभिव्यक्त नहीं होता। यदि पहले ही अभिव्यक्त (प्रकट रूप में) हो, तब उसका प्रकट रूप (उद्भव) व अभिव्यक्ति आवश्यक नहीं है ॥५० ॥

प्रसङ्गवश आये विषय को पूर्ण करके 'वृक्षफलवत्' (सूत्र सं० ४/१/४७) दृष्टान्त के आधार पर कुछ समय के अन्तराल से फल प्राप्ति के सन्दर्भ में शिष्य द्वारा पुन: की गई आशंका को इस सूत्र में व्यक्त किया गया है—

(४०८) आश्रयव्यतिरेकाद् वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतु: ॥ ५१ ॥

सूत्रार्थ— आश्रयव्यतिरेकात् = आश्रय के भेद से, वृक्षफलोत्पत्तिवत् = वृक्ष के फल की उत्पत्ति के सामान (यज्ञादि कर्मफल कालान्तर में सम्भव हैं), इति=यह, अहेतु: = हेतु नहीं है।

व्याख्या— कर्म करने वाले गतिशील शरीर के विनष्ट होने पर फल किसे मिलेगा ? इस कथन की सिद्धि में वृक्ष का दृष्टान्त उचित नहीं है; क्योंकि खाद पानीआदि का उपयोग वृक्ष की जड़ में किया जाता है तथा फल भी वृक्ष में लगते हैं। दोनों (खाद-पानी एवं फल का उद्भव) का आश्रय एक मात्र वृक्ष है; किन्तु यज्ञादि कर्म एवं उसके फल में यह स्थिति नहीं है। कर्म इस सक्रिय शरीर से किया जाता है और फल-इस सक्रिय शरीर के समाप्त होने के बाद जन्मान्तर अर्थात् अगले जन्म होने पर मिलता है। इसमें कर्म एवं फल के आश्रय में भेद है। अत: उक्त दृष्टान्त यज्ञादि कर्म के समयान्तराल में होने वाले फल का हेतु नहीं कहा जा सकता ॥५१ ॥

अगले सूत्र में उक्त जिज्ञासा का आचार्य ने समाधान दिया है।

(४०९) प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेध: ॥ ५२ ॥

सूत्रार्थ— प्रीते: = प्रीति (सुख) के, आत्माश्रयत्वात् = आत्माश्रित होने से, अप्रतिषेध: = प्रतिषेध (कर्मफल प्राप्ति विषयक) असंगत है।

व्याख्या— धर्म एवं अधर्म का भेद रखने वाला कर्म इच्छा से सम्बन्ध रखने के कारण आत्माश्रित है; क्योंकि इच्छा आत्मा का गुण है। शरीर तो मात्र कर्म का अधिष्ठान है। कर्म एवं फल दोनों ही आत्मासे

सम्बद्ध है, अत: कर्म करने वाले और फल पाने वाले दोनों शरीरों में एक ही आत्मा रहता है। इसलिए यहाँ पर वृक्ष का दृष्टान्त ही सर्वथा उपयुक्त है।

प्रीति (सुख) आत्मा का गुण है। आत्मा प्रत्यक्षरूप से अनुभव करता है, यह सभी को ज्ञात है। यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठाता आत्मा को ही माना गया है। शरीर तो उसके कार्यों का एकमात्र साधन ही है। यज्ञादि के अनुष्ठान से जो धर्माधर्मरूप अदृष्ट प्रकट होता है, उसका आश्रय एक मात्र आत्मा ही है। अत: यज्ञादि का अनुष्ठाता आत्मा, यज्ञादि जनित धर्म का आश्रय होता है और धर्म से जनित सुखाश्रय भी आत्मा ही है। आत्मा ही उस सुख का उपभोग करता है। सभी का आश्रय एक होने से शरीर के अवलम्बन पर आश्रय भेद की कल्पना असंगत होने से उपर्युक्त निषेध उपपन्न नहीं होता। कर्म-कर्त्ता आत्मा समयान्तराल में कर्म जनित सुख रूपी फल को पा लेता है और दूसरा कोई नहीं पाता। अत: उक्त दृष्टान्त पूरी तरह से समीचीन है ॥५२॥

उपर्युक्त कथन पर शिष्य पुन: आशंका करता है कि कर्मफल के रूप में लोक एवं शास्त्र पुत्र, पशु, स्त्री, सम्पत्ति आदि की गणना करता है, सुख की नहीं। उसे फल की संज्ञा नहीं देना चाहिए। इस सूत्र में शिष्य की इसी शंका को सूत्रित किया गया है-

(४१०) न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात् ॥५३॥

सूत्रार्थ— पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादि = पुत्र, पशु, स्त्री, पारिवारिक सम्पदा, हिरण्य एवं अन्नादि का; फलनिर्देषात् = फलों के रूप में निर्देश होने से; न = उक्त कथन (सुख आदि कर्मों का फल) उचित नहीं है।

व्याख्या— लोक व्यवहार से अलग शास्त्र में भी यज्ञ से पुत्र प्राप्ति का फल कहा गया है, यथा- 'पुत्रकामना वाला पुत्रेष्टि यज्ञ करें'। ऐसे ही स्त्री, पशु, हिरण्य, भू-सम्पत्ति की कामना को लक्ष्य करके भी यज्ञादि का विधान बताया गया है। यथा- ग्रामकामोयजेत्। भू-सम्पदा के मिल जाने से पशु, अन्नादि का फल सहज मिलने लगता है। अत: प्रीति-सुख को यज्ञादि कर्म का फल बतलाना उचित नहीं लगता। स्त्री-पुत्रादि भी कर्मों का फल स्वीकार किये गये हैं तथा ये सभी आत्मा से पृथक् हैं। अत: आत्मा फल का आश्रय नहीं हो सकता। इसलिए कर्म एवं फल इन दोनों का आश्रय एक नहीं, वरन् पृथक्-पृथक् हैं। अत: यहाँ पर वृक्षादि का दृष्टान्त भी अनुचित है ॥५३॥

इस सूत्र में शिष्य की उक्त आशंका का समाधान किया गया है—

(४११) तत्सम्बन्धात् फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचार: ॥५४॥

सूत्रार्थ— तत् सम्बन्धात् = उन (पुत्रादि) के सम्बन्ध से, फलनिष्पत्ते: = सुख रूपी फल की सिद्धि से, तेषु = उन (पुत्रादि) में, फलवत् = फल के सदृश, उपचार: = गौण व्यवहार किया जाता है।

व्याख्या— पुत्र, पशु, स्त्री, साधन-सम्पदा आदि समस्त सामग्री से सुख की प्राप्ति मनुष्य को हो जाती है, इसीलिए यहाँ फल ही एक मात्र सुख है। पुत्रादि के सम्बन्ध से सुख की प्राप्ति होने से पुत्रादि में फल का उपचार-व्यवहार स्वीकारना उचित है। इनमें फल का व्यवहार गौण हो जाता है, अत: सुख एवं उसके कारण धर्माधर्म का एक अधिकरण आत्मा ही है। इसमें किसी भी तरह की अनुपपत्ति नहीं है। यह कुछ ऐसा ही गौण व्यवहार है, जैसे- अन्न को प्राण कहा गया है; किन्तु अन्न प्राण नहीं, प्राण का पोषण कर्त्ता है। यहाँ तो इसे व्यवहार रूप में कहा गया है। इसी प्रकार से पुत्र सुख नहीं; बल्कि सुख प्रदान करने वाला है। इसीलिए उसमें फल को व्यवहृत किया गया है। इस प्रकार यहाँ फल की परीक्षा पूर्ण होती है ॥५४॥

फल की परीक्षा के उपरान्त अब 'दु:ख' नामक प्रमेय की परीक्षा शुरू की जा रही है। प्रमेय सूत्र क्र० १/१/९ के अन्तर्गत फल के बाद दु:ख का भी वर्णन है। सूत्रकार कहते हैं कि 'बाधनालक्षणं दु:खम्' (१/१/२१) अर्थात्

बाधना, मीड़ा एवं ताप ही दुःख है। यहाँ आशंका यह होती है कि क्या यह उस सुख का अभाव मात्र है- सुख का निषेध; जिस सुख का समस्त प्राणि-समुदाय प्रत्यक्ष अनुभव करता है? या दुःख का कोई अन्य लक्षण है?

आचार्य कहते हैं कि दुःख का उद्देश्य जगत् की ओर से प्रवृत्ति को हटाकर वैराग्य की भावना को जाग्रत् करना है। जन्म-मृत्यु का सिलसिला ही दुःख की जड़ है। अतः ऋषियों ने दुःख को बाधना, पीड़ा एवं ताप से युक्त कहा है। पातञ्जल योग २/१५ में कहा गया है कि 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' अर्थात् ज्ञानी व्यक्ति के लिए यह सभी कुछ दुःख मात्र ही है। इसी भाव को आचार्य ने 'दुःख' नामक प्रमेयान्तर्गत इस सूत्र में व्यक्त किया है—

(४१२) विविधबाधनायोगाद् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः ॥ ५५ ॥

सूत्रार्थ— विविधबाधनायोगात् = विभिन्न तरह के दुःखों का संयोग होने से, जन्मोत्पत्तिः = जन्म की उत्पत्ति अर्थात् बारम्बार शरीर ग्रहण करना, दुःखमेव = दुःख ही है।

व्याख्या— देह, इन्द्रियाँ एवं उनसे उद्‌भूत ज्ञान ये सभी प्रकट एवं विनष्ट होने वाले हैं। भूत-तत्त्वों के संयोग से स्थूल शरीर का उद्‌भव अर्थात् जन्मोत्पत्ति होती है। देह के साथ आत्मा का संयोग होने से आत्मा में जन्म का व्यवहार हो जाता है। आत्मा स्वरूपतः अजर-अमर, अविनाशी है। देह के साथ संयोग होने पर यह विभिन्न तरह के दुःखों को भोगता है। वे दुःख-उत्कृष्ट, मध्यम एवं अधम-तीन प्रकार के होते हैं। नारकीय आत्माओं को उत्कृष्ट अर्थात् गहरा दुःख भोगना पड़ता है। पशु-पक्षियों को मध्यम एवं मनुष्यों को होने वाले दुःख को अधम कहा गया है। ज्ञानियों एवं वीतरागियों को होने वाला दुःख हीनतर कहा गया है। अतः कोई ऐसा उत्पत्ति स्थल नहीं है, जो विविध दुःखों से युक्त न हो। इस यथार्थता को समझते हुए मनुष्य के विचार में ऐहिक सुख एवं सुख के साधन देह-इन्द्रिय आदि सब दुःख के मूल हैं-इस प्रकार की भावना बन जाती है। यही भावना सभी भौतिक सुख -साधनों के प्रति आकर्षण को नष्ट कर देती है, इससे उनके प्रति मनुष्य की तृष्णा समाप्त हो जाती है और वह समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

सांसारिक भौतिक सुख-सुविधाओं को विष मिश्रित दुग्ध की भाँति जानना चाहिए। जो इस तथ्य को भली-भाँति जान लेता है, वह पुनः उन सुखों को नहीं स्वीकारता और मृत्यु रूपी दुःखों से बच जाता है। जो ऐसा नहीं करता, वह विष मिश्रित दुग्ध का उपयोग करता हुआ मृत्यु-दुःख को प्राप्त होता है। इस प्रकार से जीवात्मा जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसकर आजीवन दुःख भोगता रहता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जन्मोत्पत्ति ही दुःख का मूल कारण है ॥५५॥

वादी उक्त कथन पर आक्षेप करते हुए कहता है कि सांसारिक जीवन पूर्ण रूपेण दुःखमय ही है, ऐसा नहीं है, उसमें सुख भी है। दुःख के बीच सुख भी प्राप्त होता है। इसी तथ्य से युक्त वादी की भावना को अगले सूत्र में आचार्य प्रतिपादित कर रहे हैं—

(४१३) न सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः ॥ ५६ ॥

सूत्रार्थ— सुखस्य = सुख की (दुःख के अन्तर्गत), अन्तरालनिष्पत्तेः = बीच-बीच में प्राप्ति से, न = (उक्त कथन) उचित नहीं है।

व्याख्या— सांसारिक जीवन में मात्र दुःख ही नहीं, वरन् सुख की भी प्राप्ति होती है। दिन-रात की तरह से यदि आज दुःख है, तो कल सुख भी अवश्य होगा। उपर्युक्त सूत्र में विवेचित दुःख से जगत् में सुख के अस्तित्व का निषेध नहीं होता। दुःखों के मध्य में सुख भी मिलता है। इसे हर व्यक्ति अनुभव करता है। दुःख-सुख ये दोनों सापेक्ष्य हैं, दुःख के बाद सुख निश्चित ही होता है। यदि दुःख न हो, तो किसी को भी सुखानुभूति नहीं हो सकती। अतः सबको दुःखमय कहना उचित नहीं है ॥५६॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त विषय को पुष्ट करते हुए और विस्तार से दे रहे हैं—

(४१४) बाधनाऽनिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः ॥५७॥

सूत्रार्थ— बाधनाऽनिवृत्तेः = बाधना-दुःख की निवृत्ति न होने से, वेदयतः = जानते हुए मनुष्य की (सुख-सम्पदा को), पर्येषणदोषात् = पर्येषण अर्थात् सुख प्राप्ति की अभिलाषा में बाधा रूप दोष होने से, अप्रतिषेधः = (सुख के अस्तित्व का) प्रतिषेध नहीं बनता।

व्याख्या— सुख की इच्छा-आकांक्षा वाला मनुष्य पर्येषण दोष के होने से सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता; क्योंकि सभी प्राणधारी मनुष्य किसी न किसी कारण से दुःखी अवश्य ही रहते हैं; जो सुखी हैं, वे कभी न कभी दुःख अवश्य ही भोगते हैं। वह चाहे अविद्या के मद से उस (दुःख) के प्रभाव का अनुभव न करें; किन्तु दुःख होता तो निश्चित ही है। उदाहरण के लिए देखें - जैसे कोई घायल व्यक्ति नशा (शराब आदि) पी कर के नशे की अवस्था में घाव की पीड़ा का अनुभव नहीं करता; किन्तु वह उस दुःख से मुक्त नहीं होता। इसी तरह जगत् के प्रत्येक सुख का परिणाम दुःख ही है। जगत् में मनुष्य को कोई न कोई दुःख निरन्तर बना रहता है। शास्त्रों में वैराग्य की भावना को जगाने के लिए ही सभी पदार्थों के दुःखमय होने का उपदेश दिया जाता है; सुख के सतत अभाव के कारण नहीं। इसलिए 'प्रमेय' सूत्रान्तर्गत दुःख के कथन से सुख का जगत् में पूर्णतया निषेध नहीं मानना चाहिए। सुख-सम्पदा की प्राप्ति एवं दुःखों को दूर करने के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहता है। उस क्षण अनेक तरह के दुःख सिर उठाते रहते हैं। वह दुःखों के अनुभवों का ढेर, समस्त जगत् को दुःखमय कह देने के लिए व्यक्ति को मजबूर कर देता है। इससे सुख के अस्तित्व का पूर्णतया लोप नहीं होता।

मनुष्य जगत् में जन्म लेकर सतत सुख प्राप्ति की ही इच्छा करता है, यह उसकी सहज प्रवृत्ति है। सुख-प्राप्ति हेतु साधनों के संग्रह में जुट जाता है; किन्तु सुख अर्जन की यह तृष्णा सुरसा की तरह मुँह फैलाये निरन्तर बढ़ती चली जाती है। वह चला तो था सुख प्राप्ति हेतु, लेकिन उसके हिस्से में दुःखों का अम्बार पड़ गया। यहाँ तक आने पर मानव की मानसिक व शारीरिक क्षमता प्रायः क्षीण हो जाती है। देहान्तर के आसार दिखने लगते हैं। और तब वह हाथ ही मलता रह जाता है। व्यक्ति की इन सभी परिस्थितियों को सूत्रकार ने 'पर्येषण' नामक दोष के रूप में व्यक्त किया है।

इच्छाएँ-कामनाएँ अनन्त हैं, एक की पूर्ति होने पर दस नयी जन्म ले लेती हैं। शास्त्र कहते हैं कि यदि मनुष्य सागर पर्यन्त भूमि पर प्राप्त समस्त सम्पत्तियों को भी प्राप्त कर ले, तब भी उसकी (अन्य) अतिरिक्त सम्पत्ति प्राप्ति की अभिलाषा, इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती। इस प्रकार फिर धन की प्राप्ति व आकांक्षा में सुख कहाँ? ॥५७॥

अगले सूत्र में आचार्य 'संसार दुःखमय है' इस भावना के उपदेश का कारण स्पष्ट कर रहे हैं—

(४१५) दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च ॥५८॥

सूत्रार्थ— दुःखविकल्पे = दुःख के विकल्प में, सुखाभिमानात् = सुख का अभिमान होने से , च = भी जन्म होना दुःख रूप ही है।

व्याख्या— कोई व्यक्ति यदि यह कहे कि सुख को भी दुःख समझना उचित नहीं है, तो सुख के प्रयास करते रहने पर यदि कोई दुःख प्रकट होगा, तो उसका भी समाधान हो सकता है। यह बुद्धिमानी नहीं है कि दुःख की आशा में सुख का भी परित्याग कर दिया जाये। इसका समाधान यह है कि अधिकांशतः जन-सामान्य अविद्या के कारण ही दुःख को सुख मान लेते हैं; क्योंकि संसार में जितने भी सुख हैं, उन सभी का परिणाम दुःख ही है। जन्म प्राप्ति को भी प्रसन्नता का विषय माना गया है; किन्तु जिसका जन्म होता है, वह

विविध-विध दु:ख-सुखों को भोगकर जीर्ण होकर अन्त में मृत्यु को प्राप्त होता है।

जब दु:ख के अत्यधिक कारण एकत्रित हो जाते हैं, तब उनका उपाय भी अत्यन्त दुरूह हो जाता है। अत: ज्ञानी मनुष्य को सर्वप्रथम सोच-विचार कर लेना चाहिए कि हम किसे सुख मान रहे हैं? यथार्थत: इसका परिणाम हमारे लिए दु:खमय ही है। जब तक व्यक्ति ज्ञान रूपी शस्त्र से ममता रूपी फाँसी को नहीं काट लेता, तब तक उसके अन्तस् में वैराग्य का उद्भव नहीं होता तथा वैराग्य के बिना कोई भी वास्तविक सुख का अधिकारी नहीं हो सकता। यहीं दु:ख की परीक्षा सम्पन्न होती है॥५८॥

अब अगले सूत्र में दु:ख के अनन्तर क्रम प्राप्त 'अपवर्ग' (मोक्ष) की परीक्षा की जा रही है। इसमें सर्वप्रथम मोक्ष का अभाव बतलाते हुए वादी (शिष्य) की आशंका को आचार्य ने सूत्रित किया है-

(४१६) ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभाव: ॥५९॥

सूत्रार्थ— ऋणक्लेशप्रवृत्ति: = ऋण, क्लेश एवं प्रवृत्ति के; अनुबन्धात् = सतत गतिशील रहने के कारण से, अपवर्गाभाव: = अपवर्ग का अभाव रहता है। अर्थात् उपर्युक्त कारणों से अपवर्ग के लिए किसी तरह का कोई अवसर नहीं रहता।

व्याख्या— ऋण, क्लेश एवं प्रवृति की सक्रियता से व्यक्ति सांसारिक चक्र में फँसा रहने के कारण अपवर्ग प्राप्ति का प्रयास नहीं कर पाता। इस कारण अपवर्ग का अभाव ही समझना चाहिए। ऋण, क्लेश और प्रवृत्ति यही तीन कारण हैं, जिनके सतत सक्रिय बने रहने से अपवर्ग की प्राप्ति में अवरोध आ जाता है। इन तीनों की क्रमश: अलग-अलग विवेचना की जा रही है। **१. ऋण**- आर्षग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि जन्म लेने वाला शिशु ऋणी के रूप में उत्पन्न होता है। तैत्तिरीय संहिता- ६/३/१० में कहा गया है कि जन्म लेने वाला जीव (व्यक्ति) तीन ऋणों से दबा रहता है, वे ऋण इस प्रकार हैं- १. ऋषिऋण २. देवऋण एवं ३. पितृऋण। इन तीनों ऋणों को मनुष्य क्रमश: ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन से, यज्ञादि के अनुष्ठान से एवं सन्तानोत्पादन से चुकाता है। इनसे मुक्त होने के लिए किये जाने वाले कर्मों का सम्बन्ध मनुष्य के साथ जीवनपर्यन्त बना रहता है। इन ऋणों के सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण १२/४/१/१ एवं तैत्तिरीय आरण्यक १०/६४ में भी स्पष्ट संकेत मिलता है कि यज्ञादि या दर्श-पूर्णमास आदि अनुष्ठान व्यक्ति के अशक्त हो जाने अथवा मृत्यु हो जाने तक लगे रहते हैं। इनसे मुक्ति तभी मिलती है, जब वह अशक्त हो जाय या फिर मृत्यु को प्राप्त हो जाय। इस स्थिति में मोक्ष के लिए अनुष्ठान का कोई अवसर ही प्राप्त नहीं होता। अत: मोक्ष का अस्तित्व मानना व्यर्थ है। **२. क्लेश**- शास्त्रों में पञ्च क्लेशों का वर्णन मिलता है, जो इस प्रकार हैं— १. अविद्या २. अस्मिता ३. राग ४. द्वेष एवं ५. अभिनिवेश। सम्पूर्ण जीवन जीवात्मा विविध क्लेशों से आबद्ध रहता है। वह (प्राणी) क्लेश से युक्त जन्मता है और क्लेश से ही युक्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है। कभी मुक्त नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में अर्थात् क्लेशों से सतत सम्बन्ध बने रहने के कारण आत्मा को अपवर्ग की प्राप्ति कैसे हो सकती है? अर्थात् क्लेशों के रहते मोक्ष-प्राप्ति असम्भव है। **३. प्रवृत्ति:** - न्याय दर्शन के १/१/१७ के अन्तर्गत प्रवृत्ति का स्वरूप इस प्रकार से कहा गया है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त आत्मा- वाणी, मन और शरीर से विविध कार्यों के अनुष्ठान में संलग्न रहता है, फिर भी मुक्त नहीं हो पाता। प्रवृत्तियों से आबद्ध आत्मा अपवर्ग के लिए कब सोचे व कब समय निकाले? अत: इसी ग्रन्थ के प्रथम अध्याय, प्रथम आह्निक के दूसरे सूत्र में कहा गया है कि तत्त्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान का नाश होकर पुन: अनुक्रम से दोष, प्रवृत्ति, जन्म, दु:ख के विनष्ट हो जाने से अपवर्ग की प्राप्ति होती है। वह सब उपपन्न नहीं है, इसलिए मोक्ष आधाररहित है॥५९॥

सूत्रकार ने उपर्युक्त जिज्ञासा के ऋण सम्बन्धी आधार का अगले तीन सूत्रों द्वारा समाधान किया है। प्रथम सूत्र इस प्रकार है—

(४१७) प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो निन्दाप्रशंसोपपत्तेः ॥ ६० ॥

सूत्रार्थ— प्रधानशब्दानुपपत्तेः = प्रधान (अर्थ-परक) शब्दों-ऋण आदि की उत्पत्ति न होने से, निन्दाप्रशंसोपपत्तेः = निन्दा एवं प्रशंसा की उपपत्ति होने से, गुणशब्देन = गौण (शब्द-परक) शब्द से, अनुवादः = कथन किया गया है।

व्याख्या— 'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते' 'ऋण' और 'जायमान' आदि पद अपने प्रधान अर्थ को व्यक्त न करके गौण अर्थ को प्रकट करते हैं। 'ब्राह्मण' पद अन्य सभी वर्णों का उपलक्षण है। ऋण-पद का अर्थ इस प्रकार से है कि जहाँ देने योग्य धन सम्पदा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को इस भाव से देता है कि यह कुछ समय के बाद वापस मिल जायेगा और दूसरा इस भाव से लेता है कि यह धन मुझे वापस करना है; ऐसी भावना के साथ धन के लेन-देन में 'ऋण' पद का प्रधान अर्थ में प्रयोग है। किन्तु इस प्रसंग में 'ऋण' पद का यह अर्थ प्रयुक्त नहीं है। ब्रह्मचर्य पालन, यज्ञादि अनुष्ठान एवं पुत्र प्राप्ति में अर्थ के आदान-प्रदान का कोई प्रश्न ही नहीं है। अतः उक्त प्रसंग में 'ऋण' पद का प्रयोग गौण ही मानना चाहिए।

आर्ष ग्रन्थों में जहाँ व्यक्ति के ऊपर तीन ऋण कहे गये हैं, वहाँ ऋण शब्द प्रयोग मात्र गौण ही है। इसका भाव यह हुआ कि जैसे देवऋण से उऋण होना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है, ठीक इसी तरह ऋण के सदृश देव, ऋषि एवं पितरों को तृप्त करना भी हर व्यक्ति का नैतिक धर्म है। इन समस्त कर्मों की आवश्यकता और प्रसन्नता व्यक्त करने के लिए सूत्र में यहाँ गौण अर्थ पर ऋण शब्द का कथन किया गया है।

अतः वे लोग जिन्हें पुत्र, वित्त एवं लोक इन तीनों एषणाओं से मुक्ति मिल गई है, वे चाहे किसी आश्रम या मठ में रहते हों। इन तीनों ऋणों के लिए अनुबन्धित नहीं हो सकते। ऐसे लोगों के लिए शास्त्र यह कहता है कि जिस क्षण वैराग्य की तीव्र इच्छा उत्पन्न हो, तत्क्षण ही अपवर्ग (मोक्ष) के लिए प्रयत्नशील हो जाना चाहिए। उस क्षण से एकमात्र आत्म साक्षात्कार की ही इच्छा करनी चाहिए। उसके हो जाने पर वह कृतार्थ हो जाता है। प्राप्तव्य को पा लेता है। उसे फिर कर्म फल भोगने हेतु दूसरा शरीर ग्रहण नहीं करना पड़ता। आत्म साक्षात् होने के बाद ब्रह्म-साक्षात् होना अनिवार्य है। ब्रह्मसाक्षात् से ब्रह्मानन्द का मिलना ही अपवर्ग का स्वरूप है। इस प्रकार मोक्ष के प्रमाणित हो जाने पर, यह कहना युक्त नहीं है कि ऋणों के अनुबन्ध से अपवर्ग (मोक्ष) का अभाव स्वीकारना चाहिए ॥६०॥

अगले सूत्र में पुनः इसी कथन की पुष्टि की गई है—

(४१८) अधिकाराच्च विधानं विद्यान्तरवत् ॥ ६१ ॥

सूत्रार्थ— च = और, विद्यान्तरवत् = अन्यान्य विद्याओं के समान, अधिकारात् = अधिकार से, विधानम् = विधान होता है।

व्याख्या— प्रत्येक आर्षग्रन्थ अपने उन्हीं तथ्यों (विषयों) का प्रतिपादन करता है, जो उसका प्रतिपाद्य तथ्य (विषय) होता है, दूसरे के प्रतिपाद्य में वह अवरोध उत्पन्न नहीं करता। वे ब्राह्मण-ग्रन्थ, जिनमें अधिकांशतः यज्ञीय प्रतिपादन हैं, वे सभी गृहस्थ आश्रम से सम्बन्धित हैं। अतः उनमें मुख्यतया गृहस्थ के धर्मों का उल्लेख होता है; किन्तु वे अन्य आश्रम अथवा उनके धर्मों के आलोचक नहीं होते। ऐसे ही उपनिषद् एवं वेदान्तादि जो अधिकांशतः अपवर्ग धर्मों का विधान करते हैं, वे गृहस्थादि आश्रम या उनके धर्मों के खण्डनकर्त्ता नहीं होते। अतः गृहस्थ के अधिकार में 'ऋण' आदि का विधान होने के कारण मोक्ष (अपवर्ग) के लिए किन्हीं भी आर्षग्रन्थों में कुछ भी बाधा नहीं है ॥६१॥

अगले सूत्र में आगे और भी पुष्टि करते हुए आचार्य ने बतलाया है कि जरामरणवाद अपवर्ग में बाधक नहीं है—

(४१९) **समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः ॥ ६२ ॥**

सूत्रार्थ— आत्मनि = आत्मा में, समारोपणात् = समारोपण अर्थात् आह्वनीय आदि अग्नियों के द्वारा, अप्रतिषेधः = (संन्यास आश्रम का) निषेध युक्त नहीं बनता।

व्याख्या— मुक्ति की कामना वाले मनुष्य को जब भौतिकता की तरफ से तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, तब ऐसी स्थिति में कर्म अनुष्ठान हेतु स्थापित की गई आह्वनीय आदि अग्नियों का उस (मुक्ति की कामना वाले) आत्मा में समारोपण कर लिया जाता है। आत्मा में आह्वनीय आदि अग्नियों के समारोपण करने की भावना का अभिप्राय यह है कि अग्नि में फलोत्पादक समस्त कर्मानुष्ठानों का त्याग एवं मात्र आत्मसाक्षात् कराने वाले सभी अनुष्ठानों को पूर्ण करना है। आत्मा में अग्नियों के समारोपण का नियम संन्यास ग्रहण करने के लिए होता है। जब इस तरह से संन्यास आश्रम का स्वीकारना सिद्ध है, तब ऐसी स्थिति में तो मोक्ष (अपवर्ग) का प्राप्त होना स्वयं ही सिद्ध है; क्योंकि संन्यास ग्रहण अपवर्ग की प्राप्ति हेतु ही किया जाता है। अतः कर्मानुष्ठान के जो 'फलाकांक्षी हैं,' वे कर्मानुष्ठान से प्राप्त होने वाले फलों की ही इच्छा आकांक्षा रखते हैं। संन्यास आश्रम शास्त्र सम्मत है। आर्षग्रन्थों में प्राजापत्य इष्टि का सम्पादन कर उसमें सर्व वेदसहोम (जो संन्यास ग्रहण से पूर्व किया जाता है।) इसमें कर्त्ता अपनी समस्त भौतिक सम्पदा का त्याग कर देता है या उपयुक्त पात्र को दे देता है। हवन के बाद कर्मकाण्ड साधन आह्वनीय आदि अग्नियों का आत्मा में समारोपण कर तीव्र वैराग्य की इच्छा वाले को संन्यास धर्म ग्रहण कर लेना चाहिए। उपर्युक्त प्रमाणों से यह ज्ञात हो जाता है कि जो व्यक्ति तीनों एषणाओं से मुक्त हो जाते हैं; निन्दा, स्तुति, मानापमान एवं हर्ष शोकादि द्वन्द्वों एवं कर्मफल की इच्छा से दूर हट जाते हैं; उन्हीं लोगों के आत्मा में अग्नि स्थापना की भावना का नियम है। उक्त प्रमाणों से यह ज्ञात हो जाता है कि कर्मानुष्ठान विषयक जरा-मरण कथन मात्र फलार्थी लोगों के लिए है। जो फलार्थी नहीं हैं, उनके लिए संन्यास ग्रहण का विधान है; क्योंकि संन्यास अपवर्ग-प्राप्ति के अनुष्ठान हेतु स्वीकार किया जाता है। इस तथ्य से अपवर्ग (मोक्ष) की स्वयमेव सिद्धि हो जाती है ॥६२॥

उपुर्यक्त कथन (तथ्यों) से पुष्ट हो जाता है कि यज्ञादि कर्म मोक्ष प्राप्ति में बाधक नहीं हैं; किन्तु जो लोग अपने जीवन के प्राथमिक काल या गार्हस्थ्य काल में यज्ञादि कर्मानुष्ठान करता है, तदनन्तर वैराग्य हो जाने पर साधना करते हुए आत्मज्ञ हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को बाद में शरीर छोड़ने पर अपवर्ग की प्राप्ति नहीं होनी चाहिए; क्योंकि उसी जीवन में किये गये कर्मों का फल उसे जरूर प्राप्त होना चाहिए। वह फल जन्मान्तर में देह धारण के अभाव में प्राप्त होना असंभव है। अतः वे फल आत्मज्ञ हो जाने पर भी अपवर्ग प्राप्ति में अवरोधक होंगे। ऐसी आशंका होने पर इस सूत्र में सूत्रकार ने उसका समाधान किया है।

(४२०) **पात्रचयान्तानुपपत्तेश्चफलाभावः ॥ ६३ ॥**

सूत्रार्थ— च = और , पात्रचयान्तानुपपत्तेः = अग्निहोत्र कर्म के पात्रों के अग्नि में दाह कर्म में न बन सकने से भी, फलाभावः = फल का अभाव रहता है, अर्थात् फल की प्राप्ति नहीं होती, यही सिद्ध है।

व्याख्या— जरा या मरण पर्यन्त कर्मानुष्ठान के विधान की पूर्णता तब मानी जाती है, जब अनुष्ठाता के शरीर त्याग करने पर उसके मृत शरीर के साथ अन्त्येष्टि के समय चिता में यज्ञ कार्य में प्रयुक्त पात्रों का चयन कर दिया जाता है। जीवन भर किये गये यज्ञादि कर्मानुष्ठान भी जीवन का अंग बन जाते हैं। किसी भी कार्य के फल की प्राप्ति तब सम्भव है, जब उसे अङ्ग सहित पूर्ण किया जाय। संन्यासी के लिए पात्र चयन के सहित अन्त्येष्टि का होना असंभव है; क्योंकि बाहरी आह्वनीयादि अग्नि सम्बन्धी कर्म का वह त्याग कर चुकता है। संन्यासी के अन्त्येष्टि के समय उसके मृत शरीर के साथ पात्र-चयन न हो पाने के कारण जीवन में किये गये यज्ञादि कर्म अङ्गरहित ही रहते हैं। जो सर्वथा अपूर्ण ही रहते हैं। इस प्रकार के कर्मों के फल की कोई सम्भावना न होने से आत्मसाक्षात्कर्त्ता के अपवर्ग में फल अवरोधक (बाधक) नहीं होता है ॥६३॥

सूत्रार्थ— सुषुप्तस्य = प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए व्यक्ति को, स्वप्नादर्शने = स्वप्न न दिखाई देने की स्थिति में, क्लेशाभावात् = क्लेश के अभाव से, अपवर्गः = अपवर्ग (मोक्ष) सिद्ध होता है, अवरोधक नहीं।

व्याख्या— प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए व्यक्ति को राग, द्वेषादि के निवृत्त हो जाने पर किसी भी तरह के सुख-दुःख आदि क्लेशों की अनुभूति नहीं होती। यद्यपि यह अज्ञानता की स्थिति होती है, फिर भी क्लेश के सतत होने वाले प्रवाह का विच्छेदन हो जाना मोक्ष के साथ सुषुप्ति का साम्य है। जिस प्रकार से क्लेश का सातत्य प्रगाढ़ निद्रा के समय विच्छिन्न हो जाता है; किसी भी तरह के 'राग, द्वेष और सुख-दुःख आदि का भान नहीं होता, उसी प्रकार तीनों एषणाओं से दूर ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त के सभी क्लेशों का अनुक्रम समाप्त (नष्ट) हो जाता है। शरीर पतन के पश्चात् क्लेशों के अभाव में वह ब्रह्मज्ञ आत्मा, ब्रह्म के आनन्दमय स्वरूप की अनुभूति करता है। वास्तव में इसे ही अपवर्ग का स्वरूप कहा गया है। इसलिए क्लेशों के रहते हुए भी अपवर्ग की प्राप्ति असंभव नहीं है ॥६४॥

अगले सूत्र में आचार्य कहते हैं- कि क्लेश की भाँति प्रवृत्ति भी मोक्ष प्राप्ति में बाधक नहीं है। शरीर, वाणी एवं मन के द्वारा कर्मों का सम्पादन करना ही प्रवृत्ति कहलाता है। यह क्रम प्रमुख रूप से जीवनपर्यन्त गतिशील रहता है। ऐसी स्थिति में मोक्ष के उपक्रमों का अनुष्ठान न हो पाने से अपवर्ग का मानना बेकार है। सूत्रकार इस तथ्य को यहाँ व्यक्त कर रहे हैं—

(४२२) न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य॥ ६५ ॥

सूत्रार्थ— हीनक्लेशस्य = क्लेश से रहित अर्थात् तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त की , प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति-देहादि द्वारा किये गये कार्य, प्रतिसन्धानाय = जन्मजन्मान्तर से सम्बन्ध के निमित्त, न = समर्थ नहीं होते।

व्याख्या— तत्वज्ञान हो जाने के पश्चात् जो व्यक्ति रागादि समस्त क्लेशों से मुक्त हो गया है, ऐसे जीवन्मुक्त मनुष्य की (शरीर, मन, एवं वाणी द्वारा की गई) क्रिया रूपी प्रवृत्तियाँ उस जीवन्मुक्त मनुष्य का आगे होने वाले जन्म से सम्बन्ध स्थापित करने में सक्षम नहीं होतीं। राग, द्वेष एवं मोह- ये तीनों दोष क्लेश के हेतु कहे गये हैं। ये दोष जिस मनुष्य के नष्ट हो जाते हैं,उसकी प्रवृत्ति बन्धन का हेतु (कारण) नहीं होती। जो कामना रहित प्रवृत्ति है, वह कभी भी बन्धन का कारण नहीं हो सकती।

रागादि क्लेशों का जब आत्म साक्षात् हो जाने से शमन (क्षय) हो जाता है, तब प्रथम जन्म समाप्त होने पर अर्थात् तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त का शरीरपात हो जाने पर क्रियमाण (उस देहादि से कृत कार्य) कर्म एवं सञ्चित कर्म आने वाले जन्म के साथ जीवन्मुक्त का सम्बन्ध मिलने में अपनी शक्ति गँवा देते हैं अर्थात् तत्त्वज्ञान से प्रारब्ध कर्मों के अतिरिक्त शेष समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है। जीवन्मुक्त की दशा में जो क्रियाएँ शरीर आदि से सम्पन्न होती हैं, वे सभी तात्कालिक भोग के अतरिक्त अन्य किसी भी तरह के फल भी प्रकट करने में सर्वथा पुंस्त्वहीन ही रहती हैं। कर्म की नपुंसकता का परिचय इन्हीं क्षणों में प्राप्त होता है। इस प्रकार शरीरादि के साथ तत्त्वज्ञानी का सम्बन्ध न होने से उस व्यक्ति का अपवर्ग ही सिद्ध होता है,बाधक नहीं ॥६५॥

'शिष्य आशंका करता है कि अनादिकाल से निरन्तर चली आ रही स्वभाव प्राप्त क्लेशसन्तति क्लेश की निरन्तरता का उच्छेद उचित नहीं लगता। इसी आशंका को इस सूत्र में आचार्य ने सूत्रित किया है—

(४२३) न क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात्॥ ६६ ॥

सूत्रार्थ— क्लेशन्ततेः = क्लेशसन्तति अर्थात् क्लेश के अनुबन्ध, स्वभाविकत्वात् = स्वाभाविक होने से, न = उपयुक्त उच्छेद नहीं होता।

व्याख्या— क्लेशसन्तति (अनुबंध), दुःखादि प्राणी के स्वाभाविक गुण हैं। ऐसी स्थिति में उनका नाश कैसे हो सकता है ? क्योंकि सहज गुणों का नाश नहीं होता; किन्तु जिनका नाश होता है, वे स्वाभाविक

व्याख्या— क्लेशसन्तति (अनुबंध), दु:खादि प्राणी के स्वाभाविक गुण हैं। ऐसो स्थिति में उनका नाश कैसे हो सकता है ? क्योंकि सहज गुणों का नाश नहीं होता; किन्तु जिनका नाश होता है, वे स्वाभाविक नहीं होते। जीवात्मा के जीवन में सतत गमनशील रहने वाले रागादि क्लेशों का उच्छेदन उचित नहीं लगता; क्योंकि क्लेशों का यह क्रमिक प्रवाह अनादिकाल से गतिशील है। इसका उच्छेदन असम्भव है। जिस प्रकार से आत्मा नित्य है, उसी के साथ क्लेशों का सातत्य अनादि प्रवाह से नित्य है। आत्मा के सदृश क्लेशों का भी उच्छेदन उचित नहीं है। ऐसी दशा में अपवर्ग प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता ॥६६॥

शिष्य की उक्त आशंका का समाधान करते हुए इस सूत्र में आचार्य कहते हैं कि प्रागभाव अनादि भी अनित्य है। ऐसे ही अनादि क्लेश सन्तति भी अनित्य मानी जा सकती है—

(४२४) प्रागुत्पत्तेरभावानित्यत्ववत् स्वाभाविकेऽप्य नित्यत्वम्॥ ६७॥

सूत्रार्थ— प्राग् उत्पत्ते: = उत्पत्ति से पूर्व, (कार्य की) अभावानित्यत्ववत् = अभाव (कार्याभाव) की अनित्यता के सदृश, स्वाभाविके = स्वाभाविक अर्थात् अनादि होने में, अपि = भी (कार्याभाव के), अनित्यत्वम् = (अनादि क्लेश सन्तति का) अनित्य होना सिद्ध होता है।

व्याख्या— किसी कार्य की उत्पत्ति से पूर्व कार्य का अभाव अनित्य होता है अर्थात् प्रत्येक उत्पद्यमान भाव-पदार्थ का उसके उद्‌भव से पूर्व अनादिकाल से निरन्तर चला आ रहा अभाव बना रहता है। इसे ही 'प्रागभाव' कहा जाता है। उस भाव पदार्थ के प्रकट हो जाने पर (अनादि भी) प्रागभाव विनष्ट हो जाता है। इसीलिए उसका अनित्य होना सिद्ध होता है। ऐसी ही क्लेशसन्तति का स्वाभाविक (अनादि) होने पर भी आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाने से विनष्ट हो जाने के कारण अनित्य होना संभव हो सकता है। ऐसी स्थिति में क्लेशों के अभाव से अपवर्ग की प्राप्ति सुनिश्चित हो जाती है ॥६७॥

आचार्य के उक्त समाधान से सन्तुष्ट व उत्साहित होकर एक दूसरे शिष्य ने एक और समाधान बतलाया, जिसे सूत्रकार इस सूत्र में व्यक्त कर रहे हैं-

(४२५) अणुश्यामताऽनित्यत्वद्वा ॥ ६८॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा, अणुश्यामता = अणु-परमाणुओं की (अनादि) श्यामता के, अनित्यत्ववत् = अनित्य होने के समान (क्लेश सन्तति का अनित्यत्वसिद्ध होता है)।

व्याख्या— जिस तरह से अणु-परमाणुओं की स्वाभाविक श्यामता अग्नि के संयोग से विनष्ट हो जाती है, उसी तरह से क्लेश-सन्तति स्वाभाविक होने से अनित्य सिद्ध होती है। गत सूत्र में प्रागभाव के प्रकरण में प्रथम दृष्टि में ही यह न्यूनता प्रकट होती है कि वह अभाव है, क्लेश-सन्तति अभाव नहीं है। अभाव के अनादि होने से भी उसमें अनित्य का होना सम्भव है; किन्तु अनादि क्लेश सन्तति भावरूप होने से उसमें अनित्य होने की आशा नहीं की जा सकती। अनादि भाव पदार्थ आत्मा आदि नित्य होता है। भाव रूप क्लेश-सन्तति के अनादि होने के कारण नित्य बने रहने से अपवर्ग की सिद्धि नहीं हो सकती। अत: यहाँ पर इस प्रसंग में इस तरह के भाव पदार्थ का उल्लेख समीचीन होगा, जो अनादि रहते हुए भी अनित्यता से युक्त हो। इसीलिए प्रमुख भाव से सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में 'अणुश्यामता' दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। अणु-परमाणु की श्यामता भावरूप एवं अनादि है, तब भी अग्निसंयोग से श्यामता के विनष्ट हो जाने से वह अनित्य है। भावरूप क्लेश-सन्तति तत्त्वज्ञान के सम्पर्क से नष्ट हो जाती है। इसतरह से क्लेशों के अभाव में मोक्ष-प्राप्ति की सिद्धि होती है ॥६८॥

इस सूत्र में सूत्रकार उपर्युक्त मूल आशंका का यथार्थ समाधान दे रहे हैं—

(४२६) न संकल्पनिमित्तत्वाच्चरागादीनाम्॥ ६९॥

सूत्रार्थ— च = और, रागादीनाम् = रागादिक्लेशों के, संकल्पनिमित्तत्वात् = संकल्प निमित्त होने से, न = उक्त कथन उचित नहीं है।

व्याख्या— जिज्ञासु द्वारा आशंका प्रकट की गई है कि राग आदि क्लेशों के अनादि होने के कारण उनकी निवृत्ति असंभव है। ऐसी दशा में क्लेशों के सतत बने रहने से मोक्ष (अपवर्ग) की प्राप्ति का अभाव बना रहेगा? उक्त जिज्ञासा का समाधान करते हुए आचार्य प्रवर कहते हैं कि क्लेशों के निवृत्त होने में किसी भी तरह के अवरोध नहीं हैं। क्लेशों का उद्‌भव-संकल्पपूर्वक किये गये कर्मों से होता है। सूत्र में प्रयुक्त 'च' पद से सूत्रकार क्लेशों का एक दूसरा कारण भी व्यक्त करते हुए कहते हैं कि राग, द्वेष, मोह आदि क्लेशों से एक दूसरे का प्रकटीकरण होता है। तत्त्वज्ञान द्वारा वह कर्म-सम्बन्धी मिथ्या संकल्प समाप्त (विनष्ट) हो जाता है। मिथ्या संकल्प के समाप्त होते ही रागादि क्लेशों— का कारण न रहने से— स्वयमेव नष्ट होने के कारण स्वाभाविक रूप से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

रागादि क्लेशों या शरीर आदि के सतत सक्रिय रहने वाले प्रवाह के कथन से किसी अनुत्पत्तिधर्मक पदार्थ को सतत नष्ट होने वाला माना गया हो, सो ऐसा नहीं है। क्लेश एवं देहादि समस्त पदार्थ उत्पन्न होने वाले व विनाशधर्मक हैं, भले ही उनका प्रवाह अनादि है। आत्मज्ञान द्वारा मिथ्या संकल्प या ज्ञान का समापन हो जाता है, रागादि क्लेशों के उद्‌भव का कारण जब मिथ्या संकल्प नहीं होता, तब राग आदि का प्रकट होना संभव नहीं होता। आत्मज्ञान के प्रकट हो जाने पर भी गतिशील जीवन के प्रारब्ध कर्मों का सुख-दु:खमय फल ज्ञानी को निश्चित ही भोगना पड़ता है। शरीरपतन अर्थात् मृत्यु के बाद किसी भी तरह के दु:ख का न होना ही अपवर्ग का स्वरूप कहा गया है। अत: अपवर्ग के अस्तित्व में किसी भी तरह की बाधा (अवरोधक क्षमता) की कल्पना करना आधार-विहीन ही होगा अर्थात् आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होने पर मोक्ष की प्राप्ति निश्चिय ही संभव है॥ ६९॥

॥ इति चतुर्थोऽध्याय: प्रथममाह्निकं समाप्त: ॥

॥ अथ चतुर्थोध्याय: द्वितीयमाह्निकम् ॥

अपवर्ग की परीक्षा के पश्चात् अब इस आह्निक की शुरुआत तत्त्वज्ञान की परीक्षा से हो रही है। प्रथम आह्निक में स्पष्ट किया गया है कि तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने पर मिथ्या संकल्प विनष्ट होकर अपवर्ग की सिद्धि प्राप्त होती है।

जीवात्मा के लिए अपवर्ग ही एक प्राप्तव्य अवस्था है। यह मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र उपाय तत्त्वज्ञान ही है। प्रथम आह्निक में इसकी विस्तारपूर्वक विवेचना की गई है। यहाँ उक्त विस्तार संयुक्त होकर समस्त ज्ञातव्य विषय चार विधाओं में सीमित हो गया है- १. हेय-त्यागने योग्य, संसार है। २. हेय हेतु- प्रवृत्ति और दोष हैं। ३. प्राप्य- उपादेय, मोक्ष है। ४. प्राप्य का हेतु- तत्त्वज्ञान है। इन चारों को -हेय, हेय हेतु, हान, हानोपाय रूप में कहा जाता है। 'हान' का अभिप्राय है- दु:ख का अत्यन्त (समूल) विनाश। इसका एकमात्र साधन तत्त्वज्ञान ही है। इस तरह से जो मनुष्य प्रमेय मात्र का विभाग कर इसी भावना से सतत अभ्यास करते हुए तत्त्वज्ञान के उपायों का अनुष्ठान करता है, उसे समयानुरूप तत्त्वज्ञान की प्राप्ति भी हो जाती है। इसी तथ्य को आचार्य यहाँ सूत्रित कर रहे हैं—

(४२७) दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— दोषनिमित्तानाम् = दोषों के जो कारण हैं, उन (शरीर) आदि के, तत्त्वज्ञानात् = तत्त्वज्ञान से, अहङ्कारनिवृत्तिः = अहङ्कार (देहादि में आत्माभिमान) की निवृत्ति हो जाती है।

व्याख्या— राग आदि दोष देहादि की प्राप्ति के निमित्त कारण हैं। मानवदेह धारण कर जीवात्मा रागादि से प्रेरणा प्राप्त करके कर्म में आरूढ़ होता है। वे कर्म आगे अन्य रागादि को प्रादुर्भूत करते हैं, सक्रिय देह के पतन के बाद देहान्तर की प्राप्ति में निमित्त कारण बनते हैं। इस तरह पूर्व रागादि से यह शरीर, इस देह के द्वारा कर्म में संलग्न होकर अन्य रागादि का उद्भव, पुनः सञ्चित एवं क्रियमाण कर्मों से दूसरे शरीर की प्राप्ति होती रहती है। यह क्रम अनादि काल से निरन्तर गतिशील है। इसका प्रमुख कारण देहादि से सम्बन्धित मिथ्या संकल्प है। देह आदि दु:ख पर्यन्त अनात्म तत्त्वों को आत्मा मान लेना, यह मिथ्याज्ञान देह आदि से सम्बन्धित तत्त्वज्ञान द्वारा निवृत्त हो जाता है।

इसका कारण यह हुआ कि एक विषय का मिथ्याज्ञान और तत्त्वज्ञान आपस में विपरीत होने से एक समयावधि में नहीं रह सकते। जब तक तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक मिथ्या ज्ञान स्थित रहता है। मानव तब देहादि अनात्मतत्त्वों को आत्मा मानता हुआ समस्त व्यवहार करता रहता है।

जब देहादि अनात्मा को अनात्मा तथा देह से भिन्न चेतन आत्मा को आत्मा होने का ज्ञान प्रकट हो जाता है, तब तत्त्वज्ञान देहादि विषयक मिथ्याज्ञान का अन्त कर देता है। मिथ्याज्ञान के न होने पर कारणनाश से कार्यनाश की व्यवस्थानुसार यथाक्रम दोष, प्रवृत्ति, जन्म एवं दु:खों का विनाश हो जाने से आत्मा को मोक्ष की अवस्था मिल जाती है। इसका उल्लेख (१/१/२ एवं ९-२२ के सूत्रों में) किया जा चुका है, उसका यहाँ पर पुन: कथन किया गया है, नया कुछ भी नहीं है। अत: इससे यह प्रकट हो जाता है कि तत्त्वज्ञान की प्राप्ति उन्हीं विषयों के लिए आवश्यक है, जिनका मिथ्या संकल्प इस जगत् का निमित्त कारण है ॥१ ॥

रागादि के कारण क्या हैं, जिनके मिथ्यासंकल्प से दोषों का प्राकट्य होता है ? तत्त्वज्ञान के लिए प्रवृत्ति होने पर किस पदार्थ का ज्ञान पहले और किस पदार्थ का बाद में होना चाहिए ? इसी ज्ञानक्रम को इस सूत्र में आचार्य व्यक्त कर रहे हैं—

(४२८) दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृताः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— दोषनिमित्तम् = राग आदि दोषों के निमित्त, रूपादय: = रूप रस आदि, विषया: = विषय, संकल्पकृता: = संकल्प द्वारा प्रादुर्भूत होते हैं।

व्याख्या— अन्त: एवं बाह्य- दो प्रकार के विषय कहे गये हैं। अहंकार आदि दोषों का उद्भव

अन्तः से होता है और रागादि का प्राकट्य बाह्य विषयों से होता है। सर्वप्रथम बाह्य विषयों का त्याग करना चाहिए, तदनन्तर आंतरिक विषयों का त्याग करना चाहिए।

रूपादि विषय ही संकल्प के द्वारा रागादि दोषों के प्रकट होने का निमित्त होते हैं अर्थात् स्वानुकूल विषयों से राग और प्रतिकूल विषयों से द्वेष उत्पन्न होते हैं। जब तक व्यक्ति इन रूपादि बाह्य विषयों से उपरत नहीं हो जाता, तब तक अहंकारादि दोषों का शमन नहीं हो सकता। अतः शुभ संस्कारों से पूर्व संकल्प को शुद्ध करना चाहिए; क्योंकि बिना संकल्प शुद्धि के बाह्य विषयों से उपराग नहीं होता और बिना बाह्य विषयों से उपराग हुए अहंकारादि आध्यात्मिक रिपुओं का विनाश नहीं हो सकता॥ २॥

अब अगले सूत्र में दोषों का विशेष कारण आचार्य व्यक्त कर रहे हैं—

(४२९) तन्निमित्तं त्ववयव्यभिमानः ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— तन्निमितम् = उन दोनों (बाह्य एवं आन्तरिक) रागादि दोषों का निमित्त, तु = तो, अवयव्यभिमानः = अवयवी में अभिमान (अपनी भोग्य वस्तु में अपने अभिमत होने का ज्ञान होता है)।

व्याख्या— अवयवी में अभिमान अर्थात् अपनी भोग्य वस्तु में अपने अभिमत होने का जो ज्ञान होता है, वही रागादि दोषों का निमित्त है। अतः अभिमान वाले ज्ञान को त्याग देना चाहिए।

संकल्पित रूपादि विषय तो रागादि दोषों के सामान्य कारण (निमित्त) हैं; किन्तु इनका विशिष्ट कारण अवयवी का अभिमान है। यह शरीर मेरा है, यह स्त्री मेरी है, यह मकान मेरा है आदि भौतिक पदार्थों में जो आसक्ति (ममत्व) ज्ञान का होना है, यही अवयवी का अभिमान कहलाता है। जब तक यह अभिमान समाप्त नहीं होता अर्थात् व्यक्ति यह नहीं मानता कि न मैं किसी का हूँ और न मेरा कोई है, ये सभी सम्बन्ध काल्पनिक व क्षणिक हैं, तब तक राग-द्वेष का बन्धन, जिसके अन्तर्गत संसारी जन आबद्ध हैं, वे मुक्त नहीं हो सकते। अतः मोक्ष की आकांक्षा वाले मनुष्य को मात्र बाह्य विषयों से उपरत होकर संतुष्ट न हो जाना चाहिए; बल्कि इस अहंकार रूपी कीट को ही देह से बाहर कर देना चाहिए, जो सम्पूर्ण देह में दोषों के विषय को प्रसरित कर देता है। आध्यात्मिक व्यक्ति को इन विचारों का सर्वात्मना परित्याग कर देना चाहिए॥३॥

अब अवयवी की परीक्षा करते हैं। पूर्व सूत्र के द्वारा शरीरादि अवयवी में आत्माभिमान से रागादि की उत्पत्ति होना कहा गया है। प्रस्तुत प्रसंग से शिष्य अवयवी के विषय में संशय प्रकट कर रहा है। आचार्य यहाँ इस सूत्र में शिष्य की उक्त भावना को सूत्रित कर रहे हैं—

(४३०) विद्याऽविद्याद्वैविध्यात् संशयः ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ— विद्याऽविद्या = विद्या और अविद्या (उपलब्धि-अनुपलब्धि) के, द्वैविध्यात् = दो प्रकार के (भेद) होने से, संशयः =(अवयवी के सन्दर्भ में) संदेह होता है।

व्याख्या— सत्-असत् दो प्रकार का ज्ञान होने के कारण 'विद्या' (उपलब्धि) दो प्रकार की होती है तथा ठीक इसके विपरीत इन (सत्-असत्) दोनों का ज्ञान न होने से अविद्या (अनुपलब्धि) भी दो प्रकार की होती है। इसलिए एक अवयवी के होने से उसके ज्ञान के सत् या असत् का संदेह होता है। यदि यह कहा जाय कि अवयवी का ज्ञान ही नहीं होता, वह तो काल्पनिक है। ऐसी अवस्था में अविद्या के दोनों भेदों में होने से संशय होना स्वभाविक है। ऐसे ही यदि उसका ज्ञान मान भी लिया जाय, तब भी विद्या के ही दो भेद होने से संशय होता है। इस दशा में अवयवी यदि प्राप्त होता है या प्राप्त नहीं होता, दोनों ही स्थितियों में संशय से उसकी मुक्ति नहीं है। संदिग्ध अस्तित्व के आधार पर राग आदि उद्भव के हेतु का प्राकट्य करना अत्यधिक संगत नहीं कहा जा सकता है। अतः अवयवी संदिग्ध है॥४॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त संशय का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(४३१) तदसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ— पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् = उक्त हेतुओं से भली प्रकार से सिद्ध होने के कारण, तद्-असंशयः = उस अवयवी में संशय नहीं होता है।

व्याख्या— अवयवी के अस्तित्व में संशय प्रकट करना पूर्णरूपेण उचित नहीं लगता; क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के परीक्षा के क्रम में द्वितीय अध्याय प्रथम आह्निक के बत्तीस से छत्तीस तक के सूत्रों में अवयवी की सिद्धि के लिए जो हेतु प्रतिपादित किये गये हैं, उनका प्रतिषेध न होने से वे अपने साध्य को सिद्ध करने में पूर्ण समर्थ हैं। अतः यह मानना चाहिए कि कारण-द्रव्य अपने विशेष संयोग आदि द्वारा एक नवीन द्रव्य का उद्‌भव करते हैं, जिसे 'अवयवी' के रूप में जाना जाता है। शरीरादि द्रव्य इसी तरह के अवयवी कहलाते हैं॥५॥

उपर्युक्त हेतुओं को जिस-तिस प्रकार याद करते हुए जिज्ञासु उनकी अपेक्षा से व्यक्त करना चाहता है कि जब अवयवी के अस्तित्व में संदेह नहीं है, तब ऐसा व्यक्त न करके यह कहे कि 'अवयवी के अभाव में संदेह नहीं है।' अवयवी जब है ही नहीं, तो उसमें संदेह कैसा ? इसी भावना को आचार्य ने अगले पाँच सूत्रों द्वारा प्रकट किया है-

(४३२) वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि न संशयः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ— वृत्त्यनुपपत्तेः = वृत्ति-स्थिति की उपपत्ति न होने से, अपि = भी, तर्हि = (उसमें) तो, संशयः = सन्देह, न = नहीं होता।

व्याख्या— यदि अवयवी न होना मान लिया जाय, तब भी उसमें संशय होना (करना) व्यर्थ है; क्योंकि जो वस्तु या पदार्थ है, उसी में संशय होता है और जो नहीं है, तब फिर उसके विषय में संशय कैसा ? फलतः अवयवी के अभाव में असंशय मानना चाहिए, उसके भाव में नहीं॥६॥

अगले सूत्र में वृत्ति की अनुपपत्ति को स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि प्रथम अवयवी में अवयव किस प्रकार नहीं रह सकते—

(४३३) कृत्स्नैकदेशाऽवृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ— कृत्स्नैकदेशाऽवृत्तित्वात् = समूचे अवयवी में या अवयवी के एक देश में वृत्ति न होने से, अवयवानाम् = अवयवों का, अवयवी = अवयवी होना, अभावः = नहीं बनता अर्थात् अवयवी का अभाव समझना चाहिए।

व्याख्या— प्रत्येक अवयव समस्त अवयवों में नहीं रह सकता; क्योंकि उनके कार्यों में पृथक्ता होती है। इस कारण अवयवी का अभाव बना रहता है। जिन अवयवों के द्वारा अवयवी का प्रकट होना कहा जाता है, क्या वह एक-एक अवयव सभी अवयवों में रहता है ? ऐसा होना कदापि संभव नहीं है; क्योंकि अवयव एवं अवयवी के परिमाण में भिन्नता मानी जाती है। ऐसी स्थिति में हर अवयव सभी अवयवों में नहीं रह सकता। यदि यह कहें कि अवयव अवयवी के एकदेश (क्षेत्र) में रहता है, तो यह भी संभव नहीं है; क्योंकि कारण-अवयवों के अतिरिक्त अन्य कोई अवयवी के एकदेश की बात अवयविवादी नहीं स्वीकारता। जब तथाकथित अवयवी में एकदेश की कल्पना नहीं होती, तब उस (एकदेश) में अवयव की वृत्ति कहना असंगत होगा। इस प्रकार हर अवयव न सम्पूर्ण अवयवी में रहता है और न ही उसके एक देश में रह सकता है। इसलिए अवयवी का स्वीकारना व्यर्थ है॥७॥

यदि अवयवी की वृत्ति अवयवों में स्वीकारी जाये, तो वह भी ठीक नहीं होगी। इस सूत्र में उक्त आक्षेप को आचार्य ने सूत्रित किया है—

(४३४) तेषु चावृत्तेरवयव्यभावः ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ— तेषु = उन अवयवों में, च = तथा (अथवा -भी), अवृत्तेः = अवृत्ति होने से अर्थात् (अवयवी के) न रहने से, अवयव्यभावः = अवयवी का अभाव सिद्ध होता है।

व्याख्या— अवयव एवं अवयवी के परिमाण में भेद होने के कारण प्रत्येक अवयव में अवयवी नहीं रह सकता। जब एक-एक अवयव में अवयवी का अभाव है, तो सभी अवयवों में उसका अभाव स्वीकार करना होगा। यदि ऐसा स्वीकार भी कर लिया जाये, तो तथाकथित एक घट अवयवी के स्थान पर उतने अवयवी माने जायेंगे, जितने अवयवों का समुदाय घट है, जो अवयविवादी के लिए मान्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त यदि हर अवयव में एक अवयवी स्थित है, तो फिर अवयव-अवयवी में क्या भेद रह जायेगा ? इससे तो यह मालूम होता है कि अवयव को अवयवी का नाम दे दिया गया है। अवयव पृथक् अवयवी का स्वीकारना निरुद्देश्य है। ऐसा स्वीकारने में एक अन्य दोष यह है कि हर अवयव में एक अवयवी की वृत्ति स्वीकारने से अवयव के समान अवयवी को भी अवयव रहित मानना पड़ेगा; किन्तु अवयविवाद में अवयव को अवयवरहित एवं अवयवी को अवयवयुक्त स्वीकारा जाता है।

यदि अवयव समूह के किसी एकदेश (क्षेत्र) में अवयवी के रहने की भावना की जाती है, तो किन्हीं निश्चित अवयवों में अपने किन्हीं अंशों के साथ ही अवयवी रह सकेगा; क्योंकि अवयव समूह के जिन अवयवों में वह अवयवी नहीं है, उसके लिए अवयवी के अन्य अवयव की भावना करनी होगी, जो अवयव विवाद में मानने योग्य नहीं है। अतः अवयवों के अवयवी में रहने एवं अवयवों में अवयवी के रहने की सम्भावना किसी भी तरह नहीं बनती। इसलिए अवयवी का मानना व्यर्थ है॥ ८॥

अवयवों से अलग भी अवयवी का रहना असम्भव है। अगले सूत्र में आचार्य पुनः इसी की पुष्टि कर रहे हैं—

(४३५) पृथक् चावयवेभ्योऽवृत्तेः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ— अवयवेभ्यः = अवयवों से, पृथक् = अलग— (भिन्न), अवृत्तेः = (अवयवी के) न रहने से, च = भी (अवयवी की सिद्धि नहीं होती)।

व्याख्या— यदि अवयवों से अवयवी को अलग-भिन्न पदार्थ मानें, तो ऐसा भी संभव नहीं है; क्योंकि कोई भी कार्य अपने कारणों को त्यागकर अन्य अधिकरण में नहीं रह सकता। तब ऐसी स्थिति में अवयव भी अपने कारण— अवयवों को त्याग करके उनसे अलग अधिकरण में रहे, यह कभी संभव नहीं है। अतः अवयवी का अभाव मानना ही उचित है। अवयवों से पृथक् कोई भी अवयवी नहीं रह सकता॥९॥

अगले सूत्र में आचार्य पुनः आक्षेप की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि अवयवी को अवयव रूप भी नहीं कहा जा सकता है—

(४३६) न चावयव्यवयवाः ॥ १० ॥

सूत्रार्थ— च = और, अवयव्यवयवाः = अवयवी अवयव रूप, न = नहीं रह सकता।

व्याख्या— यदि यह भी मान लिया जाय कि सभी अवयव ही अवयवी हैं, अवयवों और अवयवी में भेद नहीं है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि तब अवयवों के अस्तित्व में अवयवी की स्वीकारोक्ति व्यर्थ है अर्थात् धागे को वस्त्र और मिट्टी को घट या स्तम्भ को घर कोई भी नहीं मान सकता।

इसके अलावा अवयव के अवयवी रूप होने के कारण अवयवी को अवयवों के सदृश अवयव रहित मानना पड़ेगा। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, जो अवयविवाद में मान्य नहीं है। अवयवों को अवयवी मानने पर दोनों में अभेद मानना पड़ेगा, जो उपर्युक्तवाद में अमान्य है। ऐसी दशा में अवयव-

अवयवी का अभिमत आधाराधेय भाव असम्भव होगा, जो कि दो के भेद में हो सकता है। इस प्रकार से भी अवयवी असिद्ध है ॥१०॥

अगले सूत्र में शिष्य की भावना का विवरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य उपयुक्त समाधान दे रहे हैं—

(४३७) एकस्मिन् भेदाभावाद् भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ— एकस्मिन् = एक में, भेदाभावात् = भेद का अभाव होने से, भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेः = भेद- बोधक शब्दों का प्रयोग उपपन्न (युक्त) न होने से, अप्रश्नः = प्रश्न संगत नहीं है।

व्याख्या— प्रत्येक अवयव पूर्णरूपेण अवयवी रहता है अथवा उस (अवयवी) का कुछ भाग या अंश? यह प्रश्न अयुक्त एवं असंगत है; क्योंकि अवयवों का समुदाय ही अवयवी कहलाता है। अतः उसमें (अवयवी में) एवं अवयवों में कोई भेद नहीं होता। शक्कर का एक कण भी शक्कर ही कहलाता है। जब अवयव एवं अवयवी में कोई भेद है ही नहीं, तो भेद कल्पना करके यह प्रश्न करना कि अवयवी सब देशों (क्षेत्रों) में रहता है, वह एक देश में नहीं बँध सकता, उचित नहीं है ॥ ११ ॥

अब अगले सूत्र में आचार्य दूसरे हेतु का खण्डन कर रहे हैं—

(४३८) अवयवान्तरभावेऽप्यवृत्तेरहेतुः ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ— अवयवान्तरभावे = अवयव के अन्तर में अभाव होने पर, अपि = भी, अवृत्तेः = (अवयवी की) वृत्ति के (विद्यमान) न होने से, अहेतुः = उक्त हेतु उचित नहीं है।

व्याख्या— शिष्य के इस तर्क पर कि हर अवयव या कतिपय अवयवों में अपने एक देश से अवयवी नहीं हो सकता; क्योंकि कारणभूत अवयवों के अलावा अन्य कोई अवयव या एकदेश अवयवी का नहीं होता। सूत्रकार ने इस तर्क का समाधान करते हुए कहा कि अवयवी के कारणभूत अवयवों से अतिरिक्त यदि अन्य कोई अवयव या एकदेश मान भी लिया जाए, तब भी अवयव में एकदेश से अवयवी का रहना असम्भव है। जब अवयवी का उसके एकदेश से अवयव में रहना कहा जाता है, तब अवयव में अवयव का ही रहना हम कहते हैं; क्योंकि वह एकदेश मात्र है, स्वयं अवयवी नहीं। यद्यपि यह एक प्रकार से 'वदतोव्याघात' है। प्रायः कहा तो यह जाता है कि अवयव में अवयव (एकदेश) रह रहा है; किन्तु उस रहने वाले एकदेश को अवयवी नाम दे दिया जाता है। यह प्रत्यक्ष रूप से असत्य है कि जो वाणी से 'एकदेश' कहकर उसे पूर्ण कहा जाता है। अतः शंकालु शिष्य का 'अवयवान्तराभावात्' हेतु उचित नहीं है, जो अवयव में अवयवी के एक देश से रहने के समाधान में प्रयुक्त किया गया है; क्योंकि अवयवी के कारण अतिरिक्त अन्य अवयव मानने पर भी उस एकदेश से पूर्ण अवयवी का अवयव में रहना असंभव है।

एक अवयवी के अन्य अवयवों में न रहने से जो अवयवी का अभाव शिष्य द्वारा कहा गया है, वह उचित नहीं है। असंगत है; क्योंकि अवयव और अवयवी में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध तभी तक रहेगा, जब तक वृत्तियों सहित अवयवी समस्त अवयवों में वर्तमान रूप में अवस्थित हो ॥ १२ ॥

शिष्य आशंका करता है कि वस्तु का ग्रहण अवयवी को न मानने पर सम्भव है। वस्तु-प्रत्यक्ष के लिए अवयवी का मानना आवश्यक नहीं। यहाँ सूत्र में वादी के आक्षेप को आचार्य सूत्रित कर रहे हैं—

(४३९) केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ— केशसमूहे = बालों के समूह में, तैमिरिकोपलब्धिवत् = तैमिरिक (अंधकार) के द्वारा उपलब्धि के सदृश, तदुपलब्धिः = उस (वस्तुमात्र) की उपलब्धि हो जाती है।

व्याख्या— 'तैमिरिक' अर्थात् न्यून-अस्पष्ट दृष्टि वाले व्यक्ति को स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होता, मोटा-मोटा दिखाई पड़ता है। बारीक वस्तुएँ नहीं दिखतीं। लोक भाषा में इसे 'रतौन्धी आना' कहा जाता है। इस रोग

से ग्रसित व्यक्ति रात्रि के समय में अन्धा जैसा हो जाता है। जिस प्रकार 'तैमिरिक' रोग से ग्रस्त व्यक्ति को सिर के बाल अलग-अलग, एक-एक दृष्टिगोचर न होकर बालों का गुच्छक (समूह) दिखाई देता है, जबकि हर बाल उस स्थिति में अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है; उसी प्रकार पृथिवी आदि सम्पूर्ण जगत् परमाणुओं का समूह है। एक केशवत् परमाणु एकाकी अलग नहीं दिखाई देता; किन्तु उनका समूह दृष्टिगोचर होता है। अत: अवयवों का समुदाय भी अवयवी है। उससे पृथक् अन्य कोई अवयवी नहीं रहता॥१३॥

अगले सूत्र में आचार्य शिष्य की उक्त जिज्ञासा का समाधान दे रहे हैं—

(४४०) स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद्विषयग्रहणस्य तथाभावो नाविषये प्रवृत्तिः॥ १४॥

सूत्रार्थ— स्वविषय = अपने-अपने विषय का, अनतिक्रमेण = अतिक्रमण न करने से, इन्द्रियस्य = इन्द्रिय के, पटुमन्दभावात् = तीव्र एवं मन्द होने के कारण, विषयग्रहणस्य = ग्राह्य विषय के ज्ञान का, तथाभावः = तथानुसार (वैसा होना), अविषये = अपने अग्राह्य (अन्य) विषय में, प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति, न = नहीं होती।

व्याख्या— कोई भी इन्द्रिय अपने ग्राह्य विषय का कभी उल्लंघन नहीं कर सकती। ऐसा कभी संभव नहीं है कि जो विषय इन्द्रिय के लिए अग्राह्य है, उसे इन्द्रिय ग्रहण करने लगे। इन्द्रिय यदि विषय को ग्रहण करने में तीव्र है, तो विषय का ग्रहण तीव्र एवं स्पष्ट हो जायेगा और यदि मन्द है, तो विषय का ग्रहण मन्द व स्पष्ट होगा। 'तैमिरिक' (रतौंधी की बीमारी से ग्रस्त) पुरुष की इन्द्रिय मन्द एवं रुग्ण है, उससे हर बाल का अलग ग्रहण नहीं हो पाता; किन्तु जो 'तैमिरिक' नहीं है, वह हर बाल की अलग स्थिति को प्रत्यक्षतया देख लेता है, उसकी इन्द्रिय तीव्र है। यह अवस्था प्रमाणित करती है कि एक बाल अलग अपनी इकाई के रूप में इन्द्रिय ग्राह्य है। यह किसी भी तरह से सम्भव नहीं है कि नेत्र अपने ग्राह्य विषय को (देखने को) त्याग कर अग्राह्य श्रवण आदि का ग्रहण करने लगें। कान दृश्य (देखने) का कार्य कभी नहीं कर सकते। अभिप्राय यह हुआ कि परमाणु अतीन्द्रिय है, उसका नेत्र से दिखाई पड़ना अशक्य है। जब एक परमाणु परिलक्षित नहीं होता, तो उसका समूह कैसे दृष्टिगोचर होगा?॥ १४॥

अगले सूत्र में अवयवी को न मानने पर आचार्य एक अन्य दोष प्रतिपादित करते हैं—

(४४१) अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात्॥ १५॥

सूत्राथ— एवम् = इस प्रकार (वृत्ति विकल्प से अवयवी को न मानने पर), आप्रलयात् = प्रलय पर्यन्त पहुँचने तक, अवयवावयविप्रसङ्गः = अवयव एवं अवयवी का प्रसंग, सिलसिला; च = भी चल पड़ता है।

व्याख्या— यदि अवयव में अवयवी की वृत्ति विद्यमानता को न मानें, तो अवयवी का अभाव हो जायेगा। यह सिलसिला उसके अवयवों एवं उससे भी और आगे उसके अवयवों में उपलब्ध होता हुआ वस्तुमात्र के प्रलय पर्यन्त के लिए सिद्ध हो सकता है। अथवा निरवयव मान लेने पर परमाणुवाद ही समाप्त हो जायेगा। दोनों ही स्थितियों में वस्तु उपलब्धि नहीं हो पायेगी। वस्तु की उपलब्धि न होगी, तो वृत्ति-प्रतिषेध भी न हो सकेगा। अत: अवयवों में अवयवी की वृत्ति का प्रतिषेध न करना चाहिए। उस अवस्था में अवयवी स्वयमेव सिद्ध हो जाता है॥१५॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त आशंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि वस्तुतत्त्व का सर्वथा अभाव हो जाना असंभव है—

(४४२) न प्रलयोऽणुसद्भावात्॥ १६॥

सूत्रार्थ— अणुसद्भावात् = परमाणु की स्थिति में वस्तुतत्त्व के विद्यमान होने से, प्रलय: = विनाश- अभाव, न = नहीं माना जा सकता।

व्याख्या— अवयवी का विभाग कल्पित करके वृत्ति प्रतिषेध द्वारा जो अभाव कहा गया है, वह परमाणुओं के निरवयव होने से असिद्ध हो जायेगा; क्योंकि परमाणु का विभाग न होने से उसका कभी विनाश नहीं हो सकता। पदार्थ का विभाजन करते-करते जब वह ऐसी स्थिति में पहुँच जाये, कि उसका खण्डन ही न हो सके, तब उसे परमाणु कहा जाता है। कारण में विलय होना ही विनाश है, जो कि प्राय: कार्य का होता है। कारणरूप परमाणु है, जो कि विभाजन के योग्य नहीं है। अत: उसका विनाश नहीं होता। जब परमाणु का प्रलय (विनाश) नहीं है, तब किसी भी पदार्थ का अभाव नहीं होता॥१६॥

अगले सूत्र में आचार्य परमाणु का लक्षण बतला रहे हैं—

(४४३) परं वा त्रुटेः॥ १७॥

सूत्रार्थ— परम् = परे है अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म है जो, वा = तथा, त्रुटेः = विनाश से (वह परमाणु है)।

व्याख्या— जो विनष्ट होने से परे है, वही परमाणु है। परमाणु सूक्ष्म एवं विनाश से रहित होता है अथवा किसी भी वस्तु या पदार्थ का खण्डन करते-करते जब ऐसी स्थिति प्रकट हो जाय कि आगे उस वस्तु या पदार्थ का कोई भी खण्ड (विभाजन) न हो सके, वह ही परमाणु कहलाता है। पदार्थ खण्डन के फलस्वरूप पदार्थ के अन्तिम स्तर को निरवयव मानना अति आवश्यक और प्रमाण सम्मत है। उसी को परमाणु के नाम से जाना जाता है।

परमाणुओं के परस्पर संयोग विशेष से द्व्यणुकादि क्रम द्वारा स्थूल द्रव्य का उद्भव होता है। वही अवयवी का स्वरूप है। उसी का इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण होता है। अत: अवयवों से प्रादुर्भूत अवयवों में समवेत अवयवी का प्रत्याख्यान सर्वथा असिद्ध है। अन्यथा सभी तरह के लोक व्यवहार के विनष्ट हो जाने की स्थिति आ सकती है॥१७॥

अगले सूत्र में परमाणु के निरवयव होने पर आक्षेप किया गया है—

(४४४) आकाशव्यतिभेदात् तदनुपपत्तिः॥ १८॥

सूत्रार्थ— आकाशव्यतिभेदात् = आकाश के समावेश से (परमाणु में), तदनुपपत्तिः = उस (परमाणु) का निरवयव होना उपपन्न नहीं है।

व्याख्या— परमाणु को निरवयव नहीं मानना चाहिए; क्योंकि विभु होने से आकाश उस (परमाणु) के बाहर भीतर संव्याप्त रहता है। परमाणु में आकाश का समावेश परमाणु की निरवयवता को समाप्त कर देता है, किसी पदार्थ में किसी का समावेश उस पदार्थ के बाहर-भीतर के रूप में अवयवों की कल्पना के अभाव में असंभव है। अवयवों के सद्भाव में परमाणु को निरवयव कहना आधारहीन है। ऐसी दशा में सावयव होने से वह नित्य नहीं माना जा सकता। सावयव द्रव्य सभी अनित्य होते हैं। अनित्य का विनाश जरूरी होने से परमाणु भी विनष्ट हो जायेगा। तब क्या पदार्थमात्र का पर्यवसान अभाव में स्वीकारने हेतु बाध्य होना पड़ेगा? अत: परमाणु अवयव होने के कारण अनित्य है॥१८॥

अगले सूत्र में वादी पुन: कहता है—

(४४५) आकाशासर्वगतत्वं वा॥ १९॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा, आकाशासर्वगतत्वम् = (समस्त पदार्थों में) आकाश सर्वगत नहीं हो सकता। अर्थात् आकाश का असर्वगत (सभी पदार्थों में व्याप्त न) होना (दोष प्राप्त होता है)।

व्याख्या— यदि परमाणु में आकाश का होना न माना जाये, तो आकाश सर्वत्र व्यापक नहीं रहेगा। इसमें सिद्धान्त-पक्ष दोनों तरफ से फाँस में आबद्ध है। यदि आकाश को सर्वगत माना जाता है, तो परमाणु का नित्य होना नहीं बनता और यदि परमाणु की नित्यता को सुरक्षित रखें, तो आकाश का सर्वगतत्व समाप्त हो जाता है। आकाश सर्वगत रहे एवं परमाणु नित्य रहे, यह तथ्य उपयुक्त दृष्टिगोचर नहीं होता॥१९॥

अगले सूत्र में आचार्य इसका समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(४४६) अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनादकार्ये तदभावः ॥ २० ॥

सूत्रार्थ— अन्तः = अन्दर, च = और, बहिः = बाहर, कार्यद्रव्यस्य = कार्य द्रव्य के, कारणान्तरवचनात् = विभिन्न कारणों से, अकार्ये = अकार्य में, जो (किसी का कार्य नहीं है, ऐसे परमाणु आदि द्रव्य में), तद्-अभावः = उस (अन्दर-बाहर) का अभाव बना रहता है।

व्याख्या— जब कार्य द्रव्य, कारण की अवस्था में न हो, तब उसमें अन्दर-बाहर का व्यवहार सम्भव है; किन्तु कारण रूप परमाणु में वैसा संभव नहीं हो सकता; क्योंकि जिसका विभाजन न हो सके, ऐसे सूक्ष्म कारण का नाम 'परमाणु' है।

जब किसी भी द्रव्य को लक्ष्य करके 'अन्दर' पद का प्रयोग किया जाता है, तब 'बाहर' के अवयवों (कारण) से ढके हुए अन्य अवयवों का उस पद से विवेचन होता है। ऐसे ही 'बाहर' पद के प्रयोग में इस पद से उन अवयवों का कथन होता है, जो अन्य अवयवों को गति देने वाले अवयव हैं। इस प्रकार से 'बहिः' एवं 'अन्तः' पद किसी भी कार्य के भिन्न-भिन्न अवयवों का कथन करते हैं। इन पदों का अन्य कोई भी अर्थ असंभव है। इससे स्पष्ट होता है कि इनका प्रयोग किसी कार्य-द्रव्य को लक्ष्य करके किया जा सकता है; अकार्य-द्रव्य को लक्ष्य करके नहीं। अकार्य-द्रव्य के किन्हीं अवयवों का होना असम्भव है। इसलिए ऐसे द्रव्य के सन्दर्भ में उक्त पदों का प्रयोग युक्ति संगत नहीं है। परमाणु इसी तरह का द्रव्य है। वहाँ पर 'अन्तः' 'बहिः' प्रयोग उपयुक्त नहीं है। किसी भी वस्तु - पदार्थ का न्यूनातिन्यून कण,एक अवयव मात्र 'परमाणु' कहलाता है। अतः उसके अवयव-रहित एवं नित्य होने में किसी तरह का अवरोध प्रकट नहीं होता॥२०॥

अगले सूत्र में आचार्य पुनः इसी की पुष्टि करते हुए आकाश का सर्वगतत्व प्रतिपादित कर रहे हैं—

(४४७) शब्दसंयोगविभवाच्च सर्वगतम् ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ— च = और, शब्द-संयोगविभवात् = शब्द के सर्वत्र होने से एवं संयोग के सभी मूर्त्त द्रव्यों के साथ होने से, सर्वगतम् = आकाश सर्वव्यापी माना जाता है।

व्याख्या— आकाश को सर्वत्र व्यापी इसलिए माना जाता है कि शब्द अपने आघात आदि निमित्तों के विद्यमान होने पर सभी जगह प्रकट होता हुआ अनुभव किया जाता है। शब्द आकाश का गुण है एवं उसके आश्रित रहता है। शब्द का सर्वत्र प्रकट होना एवं तरङ्गित होकर क्षेत्र विशेष में श्रवण किया जाना आकाश के सर्वगत (सर्वत्र संव्याप्त) होने का साधक है; यही आकाश का स्वरूप है।

संसार के समस्त पदार्थों में आकाश स्थित है। यदि आकाश न होता, तो वस्तुओं में छिद्ररूप आकाश नहीं हो सकता था। अतः यह सिद्ध हुआ कि आकाश सर्वत्र व्याप्त होने वाला तत्त्व है।

इसके सर्वगत होने का दूसरा प्रयोजक है-सभी मूर्त्त द्रव्यों के साथ इसका संयोग। एकदेशी द्रव्य मूर्त्त कहा जाता है। जिसमें सक्रियता हो, गति हो, वह द्रव्य मूर्त्त है। कोई ऐसा द्रव्य मूर्त्त प्राप्त नहीं होता, जिसका आकाश के साथ संयोग न हो। प्रत्येक मूर्त्त द्रव्य को अपनी स्थिति के लिए, गति के लिए अवकाश अपेक्षित

होता है। अवकाश देना आकाश-धर्म एवं उसका स्वरूप है। मूर्त्तद्रव्य मात्र का आकाश के साथ संयोग आकाश के सर्वगत होने का प्रयोजक है। यही आकाश का स्वरूप है॥२१॥

अब आकाश के धर्मों (लक्षणों) का प्रतिपादन आचार्य कर रहे हैं-

(४४८) अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्माः॥ २२॥

सूत्रार्थ— अव्यूह = अव्यूह, अविष्टम्भ = अविष्टम्भ (अवरोध-रहित), च = और, विभुत्वानि = विभु होना, आकाश धर्माः = आकाश के धर्म हैं।

व्याख्या— वेगपूर्वक जाते हुए किसी पदार्थ का अन्य किसी पदार्थ से टक्कर खाकर वापस होने का नाम 'व्यूह' है तथा अन्य क्षेत्र में उस गति का रुकना 'विष्टम्भ' कहलाता है। ये दोनों लक्षण (धर्म) सावयव पदार्थों में होते हैं। आकाश निरवयव है, अतः ये दोनों लक्षण आकाश में नहीं हैं, वह तो सर्वगत (विभु) है। निरवयव होने के कारण आकाश से मिलकर न तो कोई पदार्थ वापस हो सकता है और न ही रुक सकता है। व्यूह एवं विष्टम्भक न होने से ही आकाश सर्वगत है। फलतः आकाश के व्यापक होने से परमाणुओं के निरवयव एवं नित्य होने में किसी भी तरह का कोई अवरोध नहीं हो सकता॥२२॥

अगले सूत्र में द्रव्य के मूर्त्त स्वरूप को लक्ष्य कर वादी प्रकारान्तर से पुनः आशंका करता है, जिसे आचार्य सूत्रित कर रहे हैं-

(४४९) मूर्तिमतां च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः॥ २३॥

सूत्रार्थ— मूर्तिमताम् = मूर्त्त द्रव्यों (पदार्थों) के, च = और, संस्थानोपपत्तेः = परिणाम की उत्पत्ति होने से अर्थात् आकृति युक्त होने से, अवयवसद्भावः = अवयवों का सद्भाव (विद्यमान होना) सिद्ध होता है।

व्याख्या— जितने भी परिच्छिन्न एवं स्पर्श वाले द्रव्य (पदार्थ) हैं, उन्हें किसी न किसी आकृति से युक्त अवश्य होना चाहिए। हर मूर्त्त द्रव्य का कोई न कोई आकार अवश्य ही होगा। वह त्रिभुज हो या चतुर्भुज या वर्तुलाकार या पिण्डाकार हो। मूर्त्त का आकार निश्चित ही होगा। सूत्र में वर्णित 'संस्थान' पद का अभिप्राय है-अवयवों के संघटन से बना आकार-विशेष। परमाणु भी मूर्त्त द्रव्य है, उसका आकार भी वर्तुलाकार माना जाता है। इसी से वह 'परिमण्डल' कहलाता है। परमाणु भी परिच्छिन्न और स्पर्शवान् है, अतः वह निरवयव नहीं हो सकता। सावयव होने से परमाणु अनित्य होना चाहिए॥२३॥

इसी सन्दर्भ में आचार्य वादी की अन्य आशंका को सूत्रित कर रहे हैं—

(४५०) संयोगोपपत्तेश्च॥ २४॥

सूत्रार्थ— संयोगोपपत्तेः = संयोग की उपपत्ति होने से, च = भी (परमाणु सावयव एवं अनित्य है) यही सिद्ध होता है।

व्याख्या— संयोग ही परमाणुओं का लक्षण है। जब तीन परमाणु आपस में मिलते हैं, तो एक बीच में होगा और दो इधर-उधर होंगे। इस कारण उनके पर और अपर भाग भी कहलाएँगे। इस प्रकार से उनका संयुक्त होना भी सिद्ध होता है। जब परमाणुओं का संयोग होता है और उसके पर और अपर भाग भी होते हैं, तब वे फिर निरवयव किस प्रकार हो सकते हैं?॥२४॥

इस सूत्र में परमाणुओं की सावयवता एवं अनित्यता को पुष्ट करने वाले उपर्युक्त हेतुओं के सन्दर्भ में आचार्य समाधान कर रहे हैं—

(४५१) अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः॥ २५॥

सूत्रार्थ— अनवस्थाकारित्वात् = अनवस्था दोष के उद्भव होने से, अनवस्थानुपपत्तेः = अनवस्था

की उपपत्ति (सिद्धि) न होने से, च = और, अप्रतिषेधः =प्रतिषेध संगत नहीं होता।

व्याख्या— जो पदार्थ (परमाणु) अवयव से युक्त हैं और जिनमें संयोग होता है, वे आकार से युक्त एवं अनित्य होते हैं। ये दोनों (परमाणु का मूर्तिमान होना और संयोगवान् होना) हेतु अनवस्था दोष से युक्त हैं। अनवस्था होने के कारण उक्त हेतु यहाँ पर अमान्य हैं। जिसकी कोई अवस्था (स्थिति) ही न हो, उसे अनवस्था कहा जाता है। यदि परमाणु को सावयव न माना जाय, तो उसमें अनवस्था दोष आ जायेगा; क्योंकि सावयव होने के कारण वह अलग-अलग विभक्त होता चला जायेगा, उसका विभक्त होना कभी समाप्त नहीं होगा। इस कारण से (अनवस्थादोष होने से) यह हेतु यहाँ पर मानने योग्य नहीं है॥ २५॥

अगले सूत्र में आचार्य शिष्य की भावना को सूत्रित करते हुए कहते हैं कि जब विज्ञानवाद अर्थात् समस्त पदार्थ भावाश्रित हैं अर्थात् बुद्धि में ही स्थित हैं, तब यथार्थतः कुछ भी नहीं है—

(४५२) बुद्ध्या विवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणे-पटसद्भावानुपलब्धिवत् तदनुपलब्धिः॥ २६॥

सूत्रार्थ— बुद्ध्याविवेचनात् = बुद्धि द्वारा विश्लेषण करने से, तु = तो, भावानाम् = भावों-पदार्थों के, याथात्म्यानुपलब्धिः = यथार्थ की उपलब्धि नहीं होती, तन्त्वपकर्षणे = एक-एक तन्तु के खींच लिए जाने के पश्चात्, पटसद्भावानुपलब्धिवत् = पट (वस्त्र) के सद्भाव की अप्राप्ति के सदृश, तद्अनुपलब्धिः = उस (वस्तु मात्र) की (अवयवी के रूप में) अप्राप्ति- अनुपलब्धि जानना चाहिए।

व्याख्या— यदि पट (वस्त्र) में से एक-एक तन्तु (तार) को अलग-अलग कर देने के बाद देखें, तो तन्तुओं के अतिरिक्त वहाँ कुछ भी शेष नहीं बचता। जो प्राप्त होकर 'पट' बुद्धि का विषय कहा जाय। इसका अभिप्राय यह हुआ कि अवयवी रूप में ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं है, जिसे 'वस्त्र' नाम प्रदान किया जाए। प्रत्येक पदार्थ की यही स्थिति है कि वह पदार्थ तो कुछ भी नहीं; किन्तु उसका ज्ञान होता है। अतः प्रत्येक पदार्थ का जो ज्ञान है, वह अवास्तविक ज्ञान है। अथवा यह समझें कि ज्ञान के अतिरिक्त और किसी भी पदार्थ की सत्ता यथार्थरूप में नहीं है; क्योंकि जो कुछ ज्ञात होता है, वह ज्ञान से ही है तथा ज्ञान ही है। अतः विज्ञान भी एक पदार्थ है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

यदि पट आदि बुद्धि को यथार्थ माना जाता है, तो तन्तु को छाँट देने के बाद अवयवी अलग दिखाई देना चाहिए, जो ज्ञान का विषय कहा जा रहा है। यदि दृष्टिगोचर न होने के कारण वस्तुतः उसका अभाव है, तब तो 'पट ज्ञान' को निश्चित ही मिथ्याज्ञान कहना पड़ेगा। इसे स्पष्ट करना आवश्यक होगा; अन्यथा अवयवी के अस्तित्व में संदेह की स्थिति बनी रहेगी॥२६॥

यहाँ इस सूत्र में आचार्य उक्त कथन का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(४५३) व्याहतत्त्वादहेतुः॥ २७॥

सूत्रार्थ— व्याहतत्वात् = व्याघात (विरोधी) होने से (अपने कथन का), अहेतुः = उक्त हेतु (कथन) साध्य का साधक नहीं है अर्थात् अहेतु है।

व्याख्या— बुद्धि द्वारा विश्लेषण किये जाने पर वस्तुभूत भावों की प्राप्ति नहीं हो सकती तथा जहाँ पर भावों की अप्राप्ति है, वहाँ पर यह समझना चाहिए कि बुद्धि द्वारा विवेचन विश्लेषण नहीं हुआ। यहाँ व्याघात दोष होने के कारण उक्त कथन उचित प्रतीत नहीं होता। यहाँ यह कथन स्वतः ही विरोधी है। यदि भाव नहीं है, तो फिर विश्लेषण किसका किया जा रहा है ? 'भाव' को माने बिना विश्लेषण की बात करना आधारहीन हो जाता है। 'भावों का विश्लेषण' एवं 'भाव नहीं' ये दोनों वाक्य आपस में विरोधी हैं। इसके अलावा जो यह हेतु दिया है कि तन्तु से पृथक् पट कोई वस्तु नहीं, यह भी उचित नहीं है; क्योंकि पट (वस्त्र) को तन्तु कोई भी

नहीं कह सकता है और न पट का काम तन्तु दे सकता है। अतः परस्पर विपरीत होने से यहाँ शिष्य का हेतु (कथन) अहेतु है अर्थात् व्याघात दोष के होने से ठीक नहीं है। यदि तन्तु से वस्त्र अलग वस्तु है, तो उनके (तन्तुओं के) बिना उसका (पट का) ज्ञान क्यों नहीं होता?॥२७॥

अगले सूत्र में आचार्य पुनः उक्त कथन की पुष्टि कर रहे हैं—

(४५४) तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम्॥ २८॥

सूत्रार्थ— तद्- आश्रयत्वात् = उन (अवयवों) के आश्रित होने से (अवयवी- भाव के), अपृथग्ग्रहणम् = (अवयवों से) पृथक् रहकर (अवयवी का) ग्रहण नहीं होता। अथवा अवयवों के परस्पर पृथक् हो जाने पर अवयवी का ग्रहण नहीं होता।

व्याख्या— कार्य-द्रव्य अपने कारण-द्रव्यों में आश्रित होने के कारण उसका पृथक् ग्रहण नहीं होता। कार्य निरन्तर कारण में ही आत्मलाभ प्राप्त करते हुए वहीं आश्रित बना रहता है। जिन द्रव्यों में परस्पर सम्बन्ध रहता है, वहाँ उपादेय (कार्य) उपादान (कारण) द्रव्यों को छोड़कर नहीं रहता और न तब उसका ग्रहण होना ही सम्भव है। विशेष संयोग से आपस में एकत्रित हुए अवयवों में ही अवयवी आत्मलाभ करता व गृहीत होता है। ऐसी स्थिति में जब अवयव आपस में विश्लेषित कर दिये जाते हैं, तब अवयवी के प्राप्त होने का सवाल ही नहीं होता। विश्लेषण से अवयवों का आपस में संयोग विशेष न होने पर अवयवी कहाँ रह जाता है? तब वह प्राप्त कैसे होगा? जब विशिष्ट संयोग से अवयव आपस में एकत्रित होते हैं, तभी अवयवी की प्राप्ति होती है, वह कारणों में आश्रित हुआ कारणों में अलग सद्भाव रूप में (अवयवी रूप में) गृहीत होता है। वस्त्र आदि के ज्ञान का वही विषय कहा गया है।

सूत के तन्तु जिनसे वस्त्र (पट) बनता है, वस्त्र का आश्रय है तथा वही उसकी प्राप्ति का कारण भी। आश्रित सतत अपने आश्रय के अधीन रहता है, अतः वस्त्र का सूत के तन्तुओं से पृथक् ग्रहण नहीं होता; वरन् उसके साथ ही उसका भी ग्रहण हो जाता है; परन्तु यह आश्रय-आश्रित का भेद, बुद्धि द्वारा ही ज्ञात होता है, इसलिए वे एक नहीं होते। जिन पदार्थों में आश्रय और आश्रित सम्बन्ध नहीं होता, मात्र ग्रहण उसी का होता है और जो आश्रित होते हैं, उसका पृथक् ग्रहण नहीं होता॥२८॥

अगले सूत्र में पुनः इसी तथ्य की फिर पुष्टि करते हुए आचार्य 'अवयवी रूप में पदार्थों का सद्भाव है', इसी विषय में हेतु प्रस्तुत कर रहे हैं-

(४५५) प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः॥ २९॥

सूत्रार्थ— च = और, प्रमाणतः = प्रमाण द्वारा, अर्थप्रतिपत्तेः = पदार्थ की सिद्धि होने से अर्थ की उपलब्धि होती है।

व्याख्या— जो भी वस्तु जिस तरह की होती है, उसकी उपलब्धि प्रमाण द्वारा होती है। उसका विश्लेषण बुद्धि (ज्ञान) से होता है और जो बात प्रमाण द्वारा पुष्ट हो, उसे मानने से कोई भी मना नहीं कर सकता; क्योंकि प्रमाण अर्थ (पदार्थ) का साक्षात्कर्त्ता है। यह अमुक पदार्थ है, ऐसा है, इतना है आदि पदार्थवाद को प्रमाण द्वारा सिद्ध करता है। ऐसी स्थिति में समस्त भावों को मृषा अथवा अप्रामाणिक कहना उचित नहीं है। अतः मात्र विज्ञानवाद ही उचित नहीं है॥२९॥

अगले सूत्र में आचार्य और भी हेतु दे रहे हैं—

(४५६) प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम्॥ ३०॥

सूत्रार्थ— प्रमाणानुपपत्तिः = प्रमाण की अनुपपत्ति और, उपपत्तिभ्याम् = उपपत्ति से भी (वस्तु का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर सभी के अभाव में पर्यवसान कहना संगत नहीं है)।

व्याख्या— पदार्थों को कल्पित स्वीकारना उचित नहीं है; क्योंकि जिस प्रमाण के द्वारा कल्पित सिद्ध किया जायेगा, तो फिर उसके अस्तित्व को तो स्वीकारना ही पड़ेगा। उसका भाव स्वीकारने के पश्चात् फिर अभाव किस प्रकार सिद्ध होगा? एक वस्तु (पदार्थ) का भी भाव होने से कल्पित होना न रहेगा। यदि प्रमाण के अभाव में ही कल्पित स्वीकारा जाये, तो इसे कोई मनीषी नहीं मानेगा; क्योंकि प्रमाण के अभाव में किसी भी वस्तु (पदार्थ) की उपपत्ति नहीं होती है॥३०॥

उक्त कथन पर शिष्य आशंका कर रहा है, जिसे सूत्रकार यहाँ सूत्र में निरूपित कर रहे हैं—

(४५७) स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः॥ ३१॥

सूत्रार्थ— स्वप्नविषयाभिमानवत् = स्वप्न में पदार्थों के मिथ्याज्ञान के समान, अयम् = यह, प्रमाणप्रमेयाभिमानः = प्रमाण और प्रमेय विषयक मिथ्याज्ञान है।

व्याख्या— जिस प्रकार स्वप्नावस्था में प्रमेय पदार्थों के कल्पित होने पर भी उन (पदार्थों) का मिथ्याज्ञान होता है, उसी प्रकार से प्रमाण-प्रमेय विषयक ज्ञान भी कल्पित होता है। यथार्थतः कुछ भी नहीं होता। जैसे स्वप्न में नदी- सरोवर, नगर-ग्राम आदि दृष्टिगोचर होते हैं; किन्तु उनके विषयों का अस्तित्व नहीं होता; अस्तित्व के न होने पर भी ज्ञान यथावत् बना रहता है। उस स्थिति में उन (विषयों) का अस्तित्व सत्य जैसा प्रतीत होता है। तदनुसार साधारण जगत्-व्यवहार में- यह प्रमाण है, यह प्रमेय है इत्यादि ज्ञान का होना भी अभिमान है। जब प्रमेय का विषय नहीं, तो फिर उसके प्रमाण का प्रश्न ही कहाँ उठता है? अतः प्रमाण की सिद्धि-असिद्धि से वस्तु के सद्भाव को पुष्ट करने का प्रयास यहाँ उचित प्रतीत नहीं होता॥३१॥

अगले सूत्र में उक्त कथन की पुष्टि पर आचार्य एक दृष्टान्त और दे रहे हैं—

(४५८) मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा॥ ३२॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा, मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावत् = माया, गन्धर्वनगर और मृगतृष्णा के समान (ज्ञान मिथ्या है)।

व्याख्या— जिस प्रकार भ्रम के कारण माया, गन्धर्वनगर और मृगतृष्णा का ज्ञान मिथ्या होता है, उसी प्रकार प्रमाण और प्रमेय का ज्ञान भी काल्पनिक और पदार्थ-रहित होता है। मात्र स्वप्नावस्था में ही ऐसा नहीं होता कि विषय न रहता हो; बल्कि जाग्रत् अवस्था में भी अनेकों प्रकरण ऐसे होते हैं, जहाँ विषय का अस्तित्व नहीं होता; किन्तु प्रतीति बनी रहती है। पदार्थ के अभाव में भी उसकी प्रतीति होना ही मायामय होना है, यही अवास्तविकता है। ऐसे ही अन्तरिक्ष में दिखाई पड़ने वाले नगर आदि प्रतीक चिह्नों को 'गन्धर्वनगर' कहा जाता है, यह प्रतीति ही मिथ्याज्ञान है। ग्रीष्मकाल में दूर-दूर तक फैले रेतीले मैदानों में जल का कहीं नामोनिशान नहीं होता, फिर भी हरिणों का प्यासा झुण्ड दूर-दूर तक जल को ढूँढ़ते हुए दौड़ता रहता है। ऐसे प्रतीक दृश्यों को ही 'मृगतृष्णा' कहते हैं। दूर-दूर तक दिखाई पड़ने वाला रेतीला मैदान जल की प्रतीति कराता है, जो कि मिथ्या है।

ऐसे ही जगत् की प्रतीति तथा प्रमाण-प्रमेय आदि का कल्पित ज्ञान भी मिथ्या है। स्वप्न एवं जाग्रत्-दोनों ही अवस्थाएँ परिस्थिति की यथार्थता को स्पष्ट करती हैं। अतः पदार्थ (वस्तु) मात्र का अस्तित्व ही सन्देहास्पद हो जाता है॥३२॥

अगले सूत्र में आचार्य समाधान देते हुए कहते हैं कि वस्तु-पदार्थ की सत्ता वास्तविक है—

(४५९) हेत्वभावादसिद्धिः॥ ३३॥

सूत्रार्थ— हेत्वभावात् = हेतु के अभाव से, असिद्धिः = (वस्तुमात्र के अभाव की) सिद्धि नहीं होती।

व्याख्या— स्वप्नावस्था में विषयों की प्रतीति के सदृश यदि प्रमाण और प्रमेय व्यवहार मिथ्या कहलाता है, तो जाग्रत् अवस्था में विद्यमान विषयों की सत्य प्राप्ति के सदृश प्रमाण-प्रमेय व्यवहार को यथार्थ यथार्थ स्वीकार न किया जाये, इसका कोई कारण नहीं है। जाग्रत् अवस्था में पदार्थ (वस्तु) की प्रत्यक्ष प्राप्ति से पदार्थ मात्र का अभाव स्वीकृत नहीं किया जा सकता। स्वप्नावस्था की परिस्थितियाँ जाग्रत् अवस्था पर आश्रित होती हैं। अत: स्वप्नगत प्रतीति के सदृश जाग्रत् का प्रमाण-प्रमेय व्यवहार मिथ्या है। इस प्रकार से सूत्र क्र० ३१ का कथन सर्वथा संगत नहीं है ॥३३॥

इस सूत्र में स्वप्नाभिमान विषयक वास्तविकता को आचार्य प्रतिपादित कर रहे हैं—

(४६०) स्मृतिसङ्कल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थ— च = और, स्मृतिसङ्कल्पवत् = स्मृति और सङ्कल्प के समान, स्वप्नविषयाभिमान: = स्वप्न में विषय का ज्ञान होता है।

व्याख्या—जिन विशेष कारणों से स्मृति एवं सङ्कल्प प्रादुर्भूत होते हैं, उन्हीं कारणों से स्वप्नाभिमान भी होता है। अर्थात् जिन पदार्थों का पूर्व में ज्ञान हो जाता है, उनके संस्कार मन में स्थित होने से स्वप्न में उनका आभास होता है; किन्तु जो पदार्थ देखा व सुना हुआ न हो, उसका आभास स्वप्न में भी नहीं होता। यदि स्वप्न व जाग्रत् में कुछ भेद न होता, तो स्वप्नाभिमान कहना उचित ही न होता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि स्मृति एवं सङ्कल्प पूर्वज्ञात विषयों को पुष्ट करते हैं, इसी प्रकार स्वप्नाभिमान भी जाग्रत् के अनुभव किये हुए विषयों का स्मारक एवं साधक कहलाता है ॥३४॥

अगले सूत्र में आचार्य कहते हैं कि मिथ्या ज्ञान यथार्थ पर आश्रित रहता है—

(४६१) मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्त्वज्ञानात्स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत्प्रतिबोधे ॥३५ ॥

सूत्रार्थ— प्रतिबोधे = जाग जाने (साक्षात् होने) पर, स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत् = स्वप्न के विषय का अभिमान (वैषयिक ज्ञान) नष्ट हो जाने के समान, तत्त्वज्ञानात् = तत्त्वज्ञान से, मिथ्योपलब्धिविनाश: = मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है।

व्याख्या— जिस प्रकार जागने पर स्वप्न का अभिमान समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के प्रकट होने पर मिथ्याज्ञान समाप्त (नष्ट) हो जाता है। जैसे स्थाणु (खम्भे जैसी अचल वस्तु) को दूर से देखने पर भ्रम होता है कि यह पुरुष है? इसी तरह वस्तु कुछ और हो तथा उसको समझा कुछ और जाये, यही मिथ्याज्ञान कहलाता है। स्थाणु को स्थाणु और पुरुष को पुरुष समझना ही तत्त्वज्ञान कहलाता है। कोई भी वस्तु नष्ट न होकर रूपान्तरित होती है। उस वस्तु का तत्त्वज्ञान होने पर मिथ्याज्ञान समाप्त हो जाता है। जैसे बालू को देखकर सर्वप्रथम जो जल का ज्ञान हुआ था, वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति होने पर बालू नष्ट नहीं होती; किन्तु उसको भ्रम से पानी मान लेने का मिथ्याज्ञान नहीं रहता। वैसे ही जागने पर वस्तु या उसके संस्कार नष्ट नहीं होते; वरन् स्वप्न सम्बन्धी मिथ्याभिमान (मिथ्याज्ञान) समाप्त हो जाता है ॥३५॥

अगले सूत्र में आचार्य मिथ्याज्ञान की सत्ता को सिद्ध कर रहे हैं—

(४६२) बुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् ॥ ३६ ॥

सूत्रार्थ— एवम् = इस प्रकार, निमित्तसद्भावोपलम्भात् = निमित्त कारण और सद्भाव (मिथ्याबुद्धि के) की उपलब्धि होने से, बुद्धे: = बुद्धिज्ञान (मिथ्याज्ञान) की, च = भी (सत्ता सिद्ध होती है)।

व्याख्या— जिस प्रकार से वस्तु के सद्भाव का प्रतिषेध संभव नहीं है, उसी प्रकार मिथ्या बुद्धि-ज्ञान का प्रतिषेध भी असम्भव है; क्योंकि मिथ्याज्ञान के कारण भी उपलब्ध होते हैं तथा यथावसर हर मानव उसे ग्रहण भी करता है। जिन कार्यों के निमित्त उपलब्ध हों, साथ ही वे कार्य संवेद्य हों अर्थात् ग्रहण किये

जाते हों। ऐसे कार्यों का अस्तित्व नकारा नहीं जा सकता। मिथ्याज्ञान भी इसी श्रेणी का कार्य है। अत: इसका सद्भाव (अस्तित्व) सर्वथा प्रामाणिक है ॥३६॥

अगले सूत्र में आचार्य मिथ्याज्ञान के भेद बतला रहे हैं—

(४६३) तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः ॥ ३७॥

सूत्रार्थ— तत्त्वप्रधानभेदात् = तत्त्व और प्रधान के भेद से, च = भी, मिथ्याबुद्धेः = मिथ्याज्ञान (निमित्त) का, द्वैविध्योपपत्तिः = द्विविध सिद्ध होना निश्चित है।

व्याख्या— मिथ्याज्ञान के दो भेद कहे गये हैं, जिन में से प्रथम 'तत्त्व' और द्वितीय 'प्रधान' है। इसमें से स्थाणु 'तत्त्व' है और पुरुष 'प्रधान' है। स्थाणु को पुरुष मान लेने की भाँति ही मिथ्याज्ञान है। तत्त्व और प्रधान-इन दो भेदों के होने से मिथ्याबुद्धि दो प्रकार की है। जिस तरह रस्सी जो एक वस्तु है, तत्त्व है और सर्प, जिसका उसमें ज्ञान होता है, प्रधान कहलाता है। यही कारण है कि रस्सी में सर्प का ज्ञान होता है। वस्तुत: तत्त्वज्ञान के होने पर मिथ्याबुद्धि की निवृत्ति हो जाती है, फिर भी जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता,तब तक तो मिथ्याज्ञान की सत्ता को मानना ही पड़ता है ॥३७॥

अगले सूत्र में आचार्य तत्त्वज्ञान का उद्भव बतला रहे हैं—

(४६४) समाधिविशेषाभ्यासात् ॥ ३८॥

सूत्रार्थ— समाधिविशेषः = समाधिविशेष के, अभ्यासात् = अभ्यास द्वारा तत्त्वज्ञान का उद्भव होता है।

व्याख्या— इन्द्रियों के विषयों से मन को हटाकर परमात्मा के ध्यान में संलग्न करना ही समाधि है। समाधि के अभ्यास द्वारा ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति संभव है। इसकी प्राप्ति में मन की चंचलता ही सबसे बड़ा अवरोध है। जब तक इन्द्रिय-विषयों के साथ मन का संसर्ग रहता है, तब तक वह स्थिर नहीं हो पाता। जब समाधि के अभ्यास द्वारा मन को विषयों से रोक लिया जाता है, तभी तत्त्वज्ञान का उद्भव सम्भव है ॥३८॥

उक्त कथन पर वादी शंका करता है, जिसे आचार्य इस सूत्र में सूत्रित कर रहे हैं—

(४६५) नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ ३९॥

सूत्रार्थ— अर्थविशेषप्राबल्यात् = अर्थविशेष अर्थात् गन्धादि विषयों के प्रबलतम होने के कारण, न = (समाधि) नहीं हो सकती।

व्याख्या— इन्द्रियों के विषय इतने शक्तिशाली हैं कि न चाहते हुए भी व्यक्ति विषयों के चक्रव्यूह में फँस जाते हैं। विषयों का त्याग न होने से समाधि का लगना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। इन्द्रियों के विषय अपनी प्रबलता के कारण इच्छा के विपरीत व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। जब तक इन्द्रियाँ वर्तमान हैं और उनके विषय भी जगत् में उपस्थित हैं, तब तक व्यक्ति का मन विषयों से अलग होना सम्भव है ही नहीं। अलग होना तो दूर यह(मन)उन(विषयों)से तृप्त भी नहीं होता, अत: समाधि लगना ही कठिन है।

अगले सूत्र में उक्त कथन की पुष्टि के लिए वादी द्वारा प्रस्तावित एक और हेतु आचार्य सूत्रित कर रहे हैं—

(४६६) क्षुदादिभिः प्रवर्त्तनाच्च ॥ ४०॥

सूत्रार्थ— क्षुद्-आदिभिः = (योगी को) भूख-प्यास आदि के कारण, प्रवर्त्तनात् = प्रवृत्ति हो जाने से, च = भी (यही मानना उचित है कि समाधि नहीं लग सकती)।

व्याख्या— समाधि अवस्था प्राप्ति के प्रयत्न में क्षुत्पिपासा (भूख-प्यास), रोग, सर्दी-गर्मी आदि तथा अन्य शारीरिक आवश्यकताएँ साधक के चित्त को एकाग्र नहीं होने देती और न चाहते हुए भी वह सांसारिक विषयों की ओर आकृष्ट होता रहता है, जिससे समाधि लाभ होना सम्भव ही नहीं होता। ऐसी स्थिति

में समाधि लगने, उससे तत्त्वज्ञान प्राप्ति और भ्रम निवारण की बात कहना मात्र कल्पना है। अतः ३८ वें सूत्र में दिया गया समाधि सम्बन्धी तर्क असंगत है॥ ४०॥

अगले सूत्र में आचार्य वादी की आशंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि संस्कार समाधि के लाभ में विशेष सहायक होते हैं—

(४६७) पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ ४१ ॥

सूत्रार्थ— पूर्वकृतफलानुबन्धात् = पूर्व जन्म में किये गये कर्मों से प्रकट हुए श्रेष्ठ संस्कारों के अनुबंध से, तदुत्पत्तिः = उस समाधि की प्राप्ति इसी जन्म में ही संभव है।

व्याख्या— समाधि की सिद्धि (प्राप्ति) पूर्व जन्मों के संचित श्रेष्ठ कर्मफल के रूप में होती है। इसकी सफलता श्रेष्ठ संस्कारों व अभ्यास की निरन्तरता से ही संभव है। यदि साधक (योगी) समाधि के लिए बारम्बार प्रयत्न करे, तभी पूर्वजन्म कृत संचित उत्तम संस्कारों-कर्मों की सहायता से समाधि के उच्चतम सोपान तक पहुँच सकता है। यदि इस जन्म में समाधि सिद्ध न होगी, तो अगले जन्म में साधना की निरन्तरता के कारण अवश्य होगी। अभ्यास में अतुलनीय शक्ति होती है। जब लौकिक कर्मों की प्राप्ति हेतु किया हुआ अभ्यास निष्फल नहीं होता, तब पारलौकिक कार्यों में यह निष्प्रभावी कैसे हो सकता है? भूख-प्यास एवं रोग आदि के निवारण एवं देह सम्बन्धी अन्य जरूरी कार्यों को पूर्ण करना समाधि प्राप्ति के लिए सहयोगी स्थितियाँ हैं। मानव योनि-शरीर समाधि प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ साधन है। इसका स्वस्थ रहना समाधि में पूर्ण सहायक है। ऋतुओं का गरम-ठंडा या वर्षा आदि का होना अभ्यासी-दृढ़ निश्चयी साधक के लिए कोई अर्थ नहीं रखता। वह इनसे नहीं प्रभावित होता और लक्ष्य को प्राप्त करके रहता है।॥४१॥

अगले सूत्र में उक्त कथन की पुष्टि में एक और हेतु आचार्य सूत्रित कर रहे हैं—

(४६८) अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥ ४२ ॥

सूत्रार्थ— अरण्यगुहापुलिनादिषु = वन, गुफा एवं नदी के तट आदि एकान्त स्थलों में (जाकर या निवास कर), योगाभ्यासोपदेशः = (शास्त्र) योग के अभ्यास करने का उपदेश करता है।

व्याख्या— नगर, ग्राम एवं जन-समुदाय के स्थलों में सुविधाओं के होते हुए भी समाधिलाभ के अभ्यास हेतु बाधाओं की कुछ अधिक ही सम्भावना बनी रहती है। इसी कारण आचार्य ऋ० ८/६/२८ एवं श्वेता० उ०२/१० का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि नगर-ग्राम आदि स्थलों में वास करते हुए समाधि के अभिलाषी साधक -योगी को अपने समीप के किसी वन, गुफा अथवा नदी तट के पवित्र एकान्त स्थल में निश्चित समय के लिए निवास करके योग-समाधि लाभ हेतु अभ्यास करना चाहिए। यदि ऐसे स्थलों पर अन्य अपेक्षित सहज सुविधाएँ प्राप्त हों, तो उन्हीं क्षेत्रों-स्थलों में वास करते हुए योग का अभ्यास करना चाहिए। ऐसे स्थलों में योग-अभ्यास की अनुकूलता के कारण किसी सीमा तक योग मार्ग के अवरोधों-बाधाओं का शमन होता रहता है। दृढ़ निश्चयी योगी अपनी संकल्प-शक्ति से बाधाओं को पार करते हुए उक्त शास्त्र कथन को नियमित अभ्यास द्वारा संपन्न करते हुए समाधि लाभ प्राप्त कर लेते हैं।॥४२॥

उक्त कथन पर वादी शंका कर रहा है, जिसे आचार्य अगले सूत्र में व्यक्त कर रहे हैं—

(४६९) अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः ॥ ४३ ॥

सूत्रार्थ— अपवर्गे = मोक्ष में, अपि = भी, एवम् = ऐसा ही, प्रसङ्गः = अवसर प्राप्त होना चाहिए।

व्याख्या— यदि योगी- साधक की इच्छा के विपरीत विषय बलात् उसे अपनी ओर खींच सकते हों और उससे प्रेरित बाह्य अर्थ विषयक ज्ञान उसे होते रहें, तो मोक्ष की स्थिति में भी बाह्य विषय अपनी सामर्थ्य से मुक्तात्मा को विषय बोध करा दिया करेंगे। तब उस स्थिति में राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति होकर

उसका मोक्षत्व समाप्त हो जायेगा, तब तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कैसे सम्भव होगी?॥४३॥

अगले सूत्र में उक्त आशंका का समाधान किया जा रहा है—

(४७०) न निष्पन्नावश्यम्भावित्वात्॥ ४४॥

सूत्रार्थ— निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् = कर्मानुसार उत्पन्न शरीर के (बाह्यज्ञान के) अवश्यम्भावी निमित्त होने के कारण, न = ऐसा नहीं होता।

व्याख्या— मुक्तावस्था में स्थूल देह नहीं होता, मात्र सूक्ष्म शरीर ही होता है। अत: बाह्य वैषयिक ज्ञान का ग्रहण न नहीं होता। जब इन्द्रियाँ नहीं हैं, तो विषय ज्ञान ही कहाँ से होगा? कर्मानुसार आत्मा को शरीर की प्राप्ति होती है। यह देह चेष्टा, इन्द्रिय एवं विषयों का आश्रय स्थल माना जाता है। जब आत्मा देही रहता है, तभी आत्मा को बाह्यज्ञान होने की सम्भावना रहती है; क्योंकि ऐसे वैषयिक ज्ञान के होने में देह इन्द्रिय आदि जरूरी कारण होते हैं। देह के रहने पर बाह्य वैषयिक ज्ञान का उद्भव होना अवश्यम्भावी रहता है। शरीर के रहते जब साधक को आत्मज्ञान हो जाता है, तब इन्द्रिय के साथ संकल्पपूर्वक विषयों की समीपता होने पर बाह्य ज्ञान की उत्पत्ति का निरोध नहीं किया जा सकता। मुक्तावस्था में आत्मा के साथ देह-इन्द्रिय आदि का सम्बन्ध नहीं होता। अत: वहाँ पर बाह्यज्ञान की उत्पत्ति का होना आधारहीन है। जब बाह्य ज्ञान ही न होगा, तब समाधि या मोक्ष भंग की स्थिति कैसे आयेगी?॥४४॥

अगले सूत्र में आचार्य निर्देशित करते हैं कि मोक्ष में बाह्य वैषयिक ज्ञान नहीं हो सकते। उक्त कथन की ही यहाँ पुष्टि की जा रही है—

(४७१) तदभावाश्चापवर्गे॥ ४५॥

सूत्रार्थ— अपवर्गे = अपवर्ग में (मोक्ष में), तद्-अभाव: = शरीर- इन्द्रिय आदि का अभाव रहने से, च = भी (निश्चय ही विषय ग्रहण संभव नहीं है)।

व्याख्या— मुक्तावस्था में देह-इन्द्रिय आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध न रहने के कारण भी विषयों का ग्रहण नहीं हो सकता। बाह्य विषयक ज्ञानोत्पत्ति का आदि कारण जो देह आदि का समुदाय है तथा धर्म-अधर्म संस्कारों के न होने से जो देह-उत्पत्ति का कारण है, मोक्ष की दशा में उन सभी का निश्चय ही अभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में कारण के अभाव में कार्य कैसे होगा? इन्द्रियों के अभाव होने से उनके विषयों का ज्ञान किस तरह हो सकता है? इसलिए मोक्ष में मिथ्याज्ञान की आशंका करना यहाँ उचित नहीं है॥४५॥

अगले सूत्र में आचार्य समाधि लाभ (मोक्ष-प्राप्ति) के उपाय बतला रहे हैं।

(४७२) तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः॥ ४६॥

सूत्रार्थ— तद्-अर्थम् = उस मोक्ष (समाधि लाभ) प्राप्ति के लिए, यमनियमाभ्याम् = यम और नियम के आचरण से, योगात् = योग अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध से, च = और, अध्यात्मविध्युपायै: = अध्यात्मशास्त्रों में विवेचित उपायों से, आत्मसंस्कार: = आत्मा का संस्कार अर्थात् समाधिलाभ-मोक्ष प्राप्त करना चाहिए।

व्याख्या— समाधिलाभ (मोक्ष) के स्वरूप को जानने एवं आत्मसाक्षात्कार करने का सुनिश्चित उपाय ही योग-साधनों का आश्रय लेना है; क्योंकि इसके अभाव में आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। मोक्ष प्राप्ति की प्रथम शर्त 'आत्मसंस्कार' है। जब तक आत्मा में राग, द्वेष, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, क्रोध, मोह, लोभ आदि अवगुणों की राशि एकत्रित रहती है, तब तक आत्मा असंस्कृत रहता है। मोक्ष प्राप्ति की योग्यता, चित्त की एकाग्रता आदि का वहाँ अभाव रहता है। अत: सर्वप्रथम राग-द्वेष आदि अवगुणों को दूर कर चित्त की एकाग्रता के लिए उचित क्षेत्र का चयन करना आवश्यक है।

आचार्य ने सूत्र में आत्म-संस्कार हेतु तीन साधनों को सम्पन्न करने का निर्देश दिया है। ये हैं- १. यम-नियम २. योग ३. अध्यात्म शास्त्रनिर्दिष्ट उपाय। इस प्रकार योग शास्त्र आदि वर्णित विधि के अनुसार उपक्रमों का आचरण करता हुआ व्यक्ति आत्मसंस्कार, आत्मज्ञान एवं तत्त्वज्ञान के सर्वोच्च स्तर को पा लेता है। इस स्थिति को प्राप्त करके योगी जीवन्मुक्त हो जाता है। मोक्ष प्राप्ति की स्थिति में आत्मा वैषयिक ज्ञान से अभिभूत नहीं होता। ऐसे ही जीवन्मुक्त अवस्था में बाह्यविषय योगयुक्त आत्मा को अभिभूत नहीं कर पाते ॥४६ ॥

योग के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्ति के और भी अन्य साधन हैं, जिन्हें आचार्य ने इस सूत्र में सूत्रित किया है—

(४७३) ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ॥ ४७ ॥

सूत्रार्थ— ज्ञानग्रहणाभ्यासः = आत्मज्ञान के प्रतिपादक शास्त्र का अध्ययन एवं अभ्यास, च = और, तद्-विद्यैः = उस आत्मतत्त्व एवं अध्यात्मशास्त्र के साक्षात्कृतधर्मा विद्वानों के, सह संवादः = साथ संवाद करना चाहिए।

व्याख्या— योग साधना के अलावा अध्ययन, श्रवण, मनन एवं चिंतन आदि के द्वारा मोक्ष प्राप्ति (आत्मज्ञान प्राप्ति) के लिए निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए। साथ ही जिस विषय में शंका हो या उसकी गुत्थी न सुलझ रही हो, तो उसे विद्वज्जनों से परामर्श लेकर एवं जिज्ञासु भाव से विनम्रतापूर्वक समाधान प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि अभ्यास के बिना ज्ञान की वृद्धि एवं संवादहीनता के अभाव में बुद्धि की परिपक्वता एवं संदेहों का निवारण नहीं किया जा सकता ॥४७ ॥

अगले सूत्र में आचार्य कह रहे हैं कि सम्वाद किस तरह से करना चाहिए—

(४७४) तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोर्थिभिरनसूयुभिरभ्युपेयात् ॥ ४८ ॥

सूत्रार्थ— तम् = उस संवाद को, विशिष्ट = विशेष रूप से श्रेष्ठ (सर्वश्रेष्ठ), श्रेयोर्थिभिः = मोक्षाभिलाषी व्यक्तियों के साथ और, अनसूयुभिः = जो असूया अर्थात् निन्दा-ईर्ष्या से रहित हों ऐसे, शिष्यगुरुसब्रह्मचारि = शिष्य गुरु सहपाठी के साथ, अभ्युपेयात् = सेवा आदि के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

व्याख्या— मोक्षाभिलाषी को आत्मतत्त्वदर्शी विशेषरूप से श्रेष्ठ ज्ञानी, मनीषी से गुरु-शिष्य परम्परानुसार संवाद द्वारा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। जिससे संवाद स्थापित करें, वह (गुरु) अनिंद्य एवं ब्रह्मज्ञानी होना चाहिए।

मोक्षार्थी को सर्वप्रथम तो अपने से अधिक ज्ञानी-विद्वान् गुरु से संवाद करना चाहिए। संवाद शास्त्रार्थ की रीति से नहीं; वरन् जिज्ञासु भाव से विनम्रतापूर्वक करे। संवाद में धृष्टता या हठ कदापि न करे। यदि कुछ सन्देह हो, तो उसे नम्रभाव से विनम्रतापूर्वक शालीन शब्दों में निवेदन करे। गुरु के अलावा अपने ज्ञान की परिपक्वता के लिए अपने सहपाठी एवं योग्यतम् शिष्यों के साथ भी संवाद करना चाहिए। इस तरह संवाद द्वारा आत्म-तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में मोक्षाभिलाषी को निश्चित ही सफलता प्राप्त होती है ॥ ४८ ॥

यदि अपने से अधिक ज्ञानी गुरु-विद्वान् न मिलें, तब किसके साथ संवाद करें ? इसका समाधान आचार्य अगले सूत्र में दे रहे हैं—

(४७५) प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ॥ ४९ ॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा, प्रयोजनार्थम् = प्रयोजन की सिद्धि के लिए, अर्थित्वे = तत्त्वज्ञान की अभिलाषा होने पर, प्रतिपक्षहीनम् = प्रतिपक्ष रहित होकर, अपि = भी, (संवाद का ज्ञान) प्राप्त करना चाहिए।

व्याख्या— योगी-साधक को चाहिए कि वह जिज्ञासु-भाव से अपने उद्देश्य को पूर्ण करने में पूर्ण मनोयोग से संलग्न हो जाय। उसे किसी पक्ष-विपक्ष अथवा मत-मतान्तर में नहीं पड़ना चाहिए। जिस योगी-

साधक को तत्त्व-आत्मज्ञान की उत्कट जिज्ञासा हो; किन्तु उसे पूर्ण तत्त्वज्ञानी स्तर का गुरु न मिल रहा हो, तो उसे अन्य विचारशील पुरुषों से भी प्रतिपक्ष रहित होकर अर्थात् अपना किसी भी तरह का पूर्वाग्रह न रखकर संवाद करना चाहिए। जिज्ञासु साधक को किसी भी तरह का आग्रह नहीं करना चाहिए; क्योंकि आग्रही व्यक्ति को सत्य की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥४९॥

यदि आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु वाद ही उचित है, तो जल्प और वितण्डा का उपयोग किस अवसर पर करना चाहिए? आचार्य सूत्र में इसे ही सूत्रित कर रहे हैं-

(४७६) तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थंजल्पवितण्डेबीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टक - शाखावरणवत्॥ ५०॥

सूत्रार्थ— बीजप्ररोहसंरक्षणार्थम् = बीज बोने के बाद उसमें अंकुरण आ जाने पर उसके संरक्षण के लिए; कण्टकशाखावरणवत् = जिस प्रकार कँटीली शाखाओं की बाड़ लगायी जाती है, वैसे ही; तत्त्वाध्यवसाय-संरक्षणार्थम् = तत्त्वज्ञान को भली प्रकार से संरक्षण देने के लिए, जल्पवितण्डे = जल्प और वितण्डा है।

व्याख्या— जल्प और वितण्डा का लक्षण प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है। यद्यपि जल्प और वितण्डा का प्रयोग अनुचित है, फिर भी बीज एवं उसके अंकुरण की सुरक्षा हेतु कँटीली शाखाओं की बाड़ लगा देते हैं, वैसे ही आवश्यकता पड़ने पर जल्प और वितण्डा का प्रयोग करके भी आत्मतत्त्व के निर्णय की सुरक्षा करना चाहिए। जिस तरह बीज-वपन का उद्देश्य मात्र अन्न और फल से होता है; किन्तु उसकी सुरक्षा हेतु खेत के चारों तरफ कँटीली बाड़ लगानी पड़ती है; जिससे पशु-पक्षी उस अन्न अथवा फल को, जो उसका अभीष्ट है; लेकिन हेतुक और नास्तिक जन अपने कुतर्क हेत्वाज्ञान को जटिल एवं संशय युक्त बना देते हैं। उनके द्वारा उसकी सुरक्षा हेतु कभी-कभी जल्प और वितण्डा की भी जरूरत पड़ती है। अतः उपयुक्त अवसर पर ही इनका प्रयोग करना चाहिए। हमेशा प्रयोग आवश्यक (उचित) नहीं ॥५०॥

जल्प और वितण्डा का अन्य स्थल में भी प्रयोग होता है, जिसे आचार्य अगले सूत्र में व्यक्त कर रहे हैं—

(४७७) ताभ्यां विगृह्य कथनम्॥ ५१॥

सूत्रार्थ— ताभ्याम् = उसके (जल्प और वितण्डा) द्वारा, विगृह्य = विश्लेषण करके (परपक्ष की), कथनम् = कथन की शुरुआत करें।

व्याख्या— जल्प एवं वितण्डा का प्रयोग तत्त्वज्ञान सम्बंधी अपने स्वयं की जानकारी के लिए नहीं, वरन् विशेष क्षणों में इसका प्रयोग विजय प्राप्ति हेतु किया जाता है। ये समस्त उप्रकम तत्त्वज्ञान की सुरक्षा के लिए सम्पन्न किये जाते हैं। इसका प्रयोग अपने व्यक्तिगत लाभ, स्वागत-सत्कार एवं प्रसिद्धि आदि की भावना से नहीं करना चाहिए॥५१॥

॥ इति चतुर्थोऽध्यायस्य द्वितीयाह्निकम् समाप्तम्॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्याय:प्रथमाह्निकम् ॥

विगत चार अध्यायों में प्रमाण, प्रमेय आदि के लक्षण-परीक्षण एवं उद्देश्य का विवेचन किया जा चुका है। पिछले अध्याय में जो साधर्म्य एवं वैधर्म्य भेद द्वारा अनेक जातियों के होने का कथन किया गया है, इस पाँचवें अध्याय में उसी की विस्तृत विवेचना सूत्रकार द्वारा की गई है। जाति के २४ भेदों का उल्लेख करते हुए निम्न प्रथम सूत्र का उल्लेख करते हैं—

(४७८) साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसंगप्रति दृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्यविशेषो- पपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमा: ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— साधर्म्यवैधर्म्य ....कार्यसमा: = १. साधर्म्यसम २. वैधर्म्यसम ३. उत्कर्षसम ४. अपकर्षसम ५. वर्ण्यसम ६. अवर्ण्यसम ७. विकल्पसम ८. साध्यसम ९. प्राप्तिसम १०. अप्राप्तिसम ११. प्रसङ्गसम १२. प्रतिदृष्टान्तसम १३. अनुत्पत्तिसम १४. संशयसम १५. प्रकरणसम १६. अहेतुसम १७. अर्थापत्तिसम १८. अविशेषसम १९. उपपत्तिसम २०. उपलब्धिसम २१. अनुपलब्धिसम २२. नित्यसम २३. अनित्यसम और २४. कार्यसम (ये जाति के २४ भेद हैं)।

व्याख्या— उपर्युक्त २४ प्रकार के जाति भेदों का उल्लेख सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र के माध्यम से किया है। इन जाति भेद प्रयोगों द्वारा किसी पक्ष को स्थापित करने पर उनके हेतुओं का प्रतिषेध करने की बात कही है। इन सभी जाति भेदों की उत्पत्ति साधर्म्य आदि की समानता के भावों से होती है, इसी कारण प्रत्येक के अन्त में 'सम' शब्द संयुक्त है। साधर्म्य हेतु का आधार लेकर जब किसी पक्ष को स्थापित किया जाता है तथा उस पक्ष का प्रतिषेध जब उसी की समानता वाले साधर्म्य हेतु से किया जाता है; तब वह ''साधर्म्यसम'' कहलाता है, ऐसी ही प्रक्रिया वैधर्म्य की होने पर ''वैधर्म्यसम'' होता है ॥१ ॥

साधर्म्य एवं वैधर्म्यसम का लक्षण बताते हुए सूत्रकार ने कहा —

(४७९) साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्ते: साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम् = साधर्म्य एवं वैधर्म्य हेतु द्वारा, उपसंहारे = उपसंहार करने पर, तद्धर्मविपर्यय: = उसके धर्म की विपरीतता की, उपपत्ते: = उपपत्ति (सिद्धि) से, साधर्म्यवैधर्म्यसमौ = साधर्म्यसम तथा वैधर्म्यसम का प्रतिषेध होता है।

व्याख्या— साधर्म्य अथवा वैधर्म्य हेतु से वादी द्वारा प्रस्तुत किये गये पक्ष का उपसंहार कर देने पर, जब प्रतिवादी दोनों हेतुओं का खण्डन साधर्म्य हेतु से करता है, तब उसे साधर्म्यसम दोष कहा जाता है। इसी तरह प्रतिवादी द्वारा वैधर्म्य हेतु से जब दोनों का खण्डन किया जाता है, तब उसे वैधर्म्यसम दोष कहते हैं। साधर्म्यसम को इस तरह समझें— जैसे वादी ने अपनी मान्यता साधर्म्य हेतु से प्रस्तुत करते हुए कहा कि आत्मा क्रियायुक्त है; क्योंकि वह द्रव्य है। अत: द्रव्य होने से आत्मा के अन्दर कर्म की उत्पत्ति करने वाला संयोगादि गुणों का होना पाया जाता है, यथा— मिट्टी का ढेला। ढेला भी एक द्रव्य है तथा किसी कर्म के हेतु से गतिशीलता रूप सक्रियता भी धारण करता है। इसी प्रकार से आत्मा भी लोष्टवत् क्रियाशील है, ऐसा समझना चाहिए।

अब उपर्युक्त पक्ष का प्रतिषेध प्रतिवादी साधर्म्य हेतु से करते हुए अपना मन्तव्य देते हुए कहता है— आत्मा सक्रिय नहीं है; क्योंकि उसका क्षेत्र सीमित नहीं है। अत: व्यापक होने के कारण आत्मा की निष्क्रियता प्रमाणित है। जो द्रव्य व्यापक होगा, वह अवश्य ही निष्क्रिय होगा; क्योंकि आकाश भी व्यापक

द्रव्य है तथा क्रियारहित है। इसी तरह आत्मा भी क्रियारहित है। इन दोनों ही पक्षों में ऐसा कोई हेतु प्रयुक्त नहीं हुआ, जो क्रियायुक्त साधर्म्यता द्वारा आत्मा की सक्रियता अथवा क्रियारहित वैधर्म्यता द्वारा आत्मा की निष्क्रियता को अमान्य कर सके। वादी द्वारा रखे गये साधर्म्य हेतु वाले पक्ष का प्रतिपक्षी द्वारा उसी की समानता वाले साधर्म्य हेतु से खण्डन किये जाने से साधर्म्यसम दोष का प्रयोग हुआ है।

अब वैधर्म्यसम को समझें — जब वादी वैधर्म्य हेतु के सहारे अपनी बात कहता है कि आत्मा व्यापकता युक्त होने के कारण क्रियाशील नहीं है; क्योंकि जो द्रव्य क्रियाशील होते हैं, वे मिट्टी के ढेले की तरह विभु नहीं हुआ करते। आत्मा उससे भिन्न द्रव्य है, वह ढेले की भाँति संकुचित न होकर व्यापक है, इसीलिए वह लोष्टवत् सक्रिय नहीं; अपितु निष्क्रिय है। वादी के इस पक्ष का खण्डन वैधर्म्य हेतु से ही प्रतिवादी ने किया कि कर्मों के हेतु गुण से आत्मा संयुक्त है, अतएव आत्मा का सक्रिय होना ही मान्य है। क्रिया के कारण रूप गुण से हीन न होने से आत्मा आकाशवत् निष्क्रिय न होकर सक्रिय है; क्योंकि जो भी द्रव्य क्रियारहित होते हैं, वे सभी क्रिया के कारण रूप गुणों से भी रहित हुआ करते हैं। इस वाद में भी ऐसा कोई विशिष्ट हेतु दिखाई नहीं देता, जिससे क्रियावान् द्रव्य की वैधर्म्यता से आत्मा की क्रियाहीनता और क्रियारहित द्रव्य की वैधर्म्यता से आत्मा का कर्मयुक्त होना अमान्य किया जा सके। इस तरह साधर्म्यसम एवं वैधर्म्यसम के उदाहरणों से आशय स्पष्ट हो जाता है ॥२॥

गत सूत्र के सार संक्षेप का भाव सूत्रकार ने स्पष्ट किया कि परस्पर किसी एक धर्म के मिल जाने मात्र से दो द्रव्य एक समान नहीं हो जाया करते। अगले सूत्र में भी यही कथन व्यक्त किया जा रहा है—

(४८०) गोत्वाद्गोसिद्धिवत्तत्सिद्धिः ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— गोत्वात् = गो की विशिष्टता वाले गोत्वहेतु से, गोसिद्धिवत् = गौ की सिद्धि की तरह, तत्सिद्धिः = उस (साध्य) की सिद्धि होती है।

व्याख्या— प्रत्येक द्रव्य अथवा पदार्थों की सिद्धि उन पदार्थों के सामान्य धर्म से हुआ करती है। मात्र एक धर्म के साधर्म्य अथवा वैधर्म्यसम के द्वारा जिस साध्य की सिद्धि की जाती है, उस सिद्धि में अव्यवस्था दोष का होना भी पाया जाता है। यह गौ है, इस कथन की सिद्धि में गौ का गौपन एवं गौ की आकृति ही प्रधान हेतु हैं; क्योंकि सींग व पूँछ तो गौ के अलावा अन्य पशु महिष आदि में भी रहा करती है। गऊपने का गौ के साथ समवाय सम्बन्ध है, गौ में ही गऊपने का होना पाया जाता है। इसी से गौ की सिद्धि होती है। गऊपन, व्याप्तिविशिष्ट होने के साथ सद् हेतु भी है। इस तरह गऊपने में गौ की सिद्धि साधर्म्यसम प्रयोग के अन्तर्गत है ॥३॥

साधर्म्यसम एवं वैधर्म्यसम की व्याख्या करने के अनन्तर अग्रिम सूत्र में सूत्रकार छह जातियों के स्वरूप का विवेचन करते हुए कहते हैं—

(४८१) साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्ष्यावर्ण्यविकल्प-साध्यसमाः ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ— साध्यदृष्टान्तयोः = साध्य तथा दृष्टान्त दोनों पक्षों में, धर्मविकल्पात् = धर्मविकल्प द्वारा, च = तथा, उभयसाध्यत्वात् = दोनों पक्षों के साध्य होने के कारण, उत्कर्षापकर्ष्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः = उत्कर्षसम, अपकर्षसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम और साध्यसम (ये छह दोष हुआ करते हैं)।

व्याख्या— सूत्रकार ने उत्कर्षसम से लेकर साध्यसम तक छह दोषों के स्वरूप का विवेचन करने के लिए दो प्रकार के हेतु बतलाये हैं, जिनमें प्रथम-साध्य और दृष्टान्त के धर्मविकल्प से तथा द्वितीय-दोनों के साध्य होने से है। प्रथम "**साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पात्**" हेतु द्वारा अन्तिम साध्यसम को छोड़ शेष पाँचों का

स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। विद्यमान न रहने वाले धर्म के साथ जहाँ पर तुलनात्मक ढंग से साध्य की अभिव्यक्ति की जाय, उसको उत्कर्षसम कहा जाता है। जैसे— अपना पक्ष रखते हुए वादी ने कहा कि क्रिया के कारण रूप गुण का आश्रयी होने से आत्मा कर्मयुक्त है; क्योंकि जिस द्रव्य में क्रिया के हेतु गुण का रहना हुआ करता है, वह क्रियावान् माना जाता है, जैसे मिट्टी का ढेला।

इस पूर्व पक्ष के प्रतिवाद में प्रतिवादी ने अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा— यदि यह मान भी लें कि आत्मा सक्रिय है तथा वह लोष्ट के समान है, तो लोष्ट में जिस प्रकार स्पर्श का गुण सर्वसुलभ है, वैसे ही आत्मा में भी होना चाहिए; परन्तु आत्मा का स्पर्श नहीं किया जा सकता। इसलिए आत्मा को लोष्टवत् नहीं कह सकते। इस कथन में भी ऐसा कोई विलक्षण हेतु नहीं पाया जाता, जिससे आत्मा की समानता ढेले से हो सके। आत्मा को ढेले की तरह क्रियाशील तो मानें, पर स्पर्शवान् न मानें, ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। प्रतिपक्षी ने अपने कथन में "**उत्कर्षसम**" का प्रयोग किया है। स्पर्श धर्म जो विद्यमान नहीं है, उसे प्रतिपक्षी ने अपने पक्ष में रखा अर्थात् अविद्यमान धर्म के साथ तुलना की।

अपकर्षसम— जब जो धर्म प्रत्यक्ष है, उसका कथन, साध्य से उसे अलग रखकर किया जाता है; तब उसको "अपकर्षसम" कहा जाता है अर्थात् दृष्टान्त में जो धर्म विद्यमान है, उसके अभाव का वर्णन करना अपकर्षसम है। जैसे— उपर्युक्त वाद में पूर्वपक्षी के द्वारा अपना पक्ष रखने पर प्रतिपक्षी ने कहा कि यदि आत्मा एवं ढेला दोनों में समानता है, तो ढेले की तरह ही आत्मा को भी व्यापक नहीं होना चाहिए। इस कथन में भी कोई ऐसा हेतु नहीं, जिससे आत्मा को ढेले की भाँति क्रियाशील तो मानें; परन्तु अव्यापक होना न मानें। इस कथन में प्रयुक्त विभुत्वरूप धर्म दृष्टान्त स्वरूप नहीं, वरन् पक्ष स्वरूप हुआ है। इस तरह से विद्यमान विभुत्व धर्म को आत्मा रूप साध्य से अलग करके उसकी अभिव्यक्ति करना अपकर्षसम कहलाता है। जिसके द्वारा साध्य एवं उसके हेतु का कथन किया जाय, वह "**वर्ण्यसम**" तथा जो अवर्णनीय हैं, उसे "**अवर्ण्यसम**" कहा जाता है। बुद्धि के आधार पर ही यह निश्चय किया जाता है कि साध्य वस्तु में कौन-कौन से धर्म वर्णन करने योग्य हैं तथा किन-किन का वर्णन नहीं हो सकता। इसी से इन दोनों के दृष्टान्त प्रस्तुत नहीं किये गये।

साध्य वस्तु को सिद्ध करने वाला जो धर्म है, उदाहरण में उसके विकल्प द्वारा साध्य वस्तु को संदेहयुक्त बनाने वाला प्रयोग "**विकल्पसम**" दोष होता है— जैसे यह कहा जाये कि सक्रियता वाले द्रव्य भारी भी होते हैं (लोहा आदि) तथा हल्के भी होते हैं (वायु आदि)। इसी तरह क्रियायुक्त द्रव्य परिच्छिन्न भी हो सकते हैं (ढेले की तरह) तथा व्यापक भी हो सकते हैं (आत्मा की भाँति), यही "विकल्पसम" है।

साध्यसम दोष वहाँ होता है, जहाँ कोई कहता हो कि यह ढेला सक्रिय है तथा आत्मा की तरह ढेला भी साध्य विषय है, दोनों में समानता है अर्थात् साध्य वस्तु में, दृष्टान्त में, एक धर्म की उपलब्धि से समस्त धर्मों को साध्य मान लेना "साध्यसम" दोष है॥४॥

उपर्युक्त जाति प्रयोगों (आक्षेपों) का समाधान प्रस्तुत करने के भाव से सूत्रकार अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

(४८२) किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः॥५॥

सूत्रार्थ— किंचित्साधर्म्यात् = साध्य को सिद्ध करने में किसी एक के समानधर्मी होने से, उपसंहारसिद्धेः = इच्छित पक्ष का उपसंहार सुनिश्चित होने पर, वैधर्म्यात् = वैधर्म्य (अनिच्छित धर्म) का आश्रय लेकर, अप्रतिषेधः = प्रतिपक्ष का खण्डन करना न्यायसंगत नहीं माना जाता।

व्याख्या— साध्य की सिद्धि उसी स्थिति में होती है, जहाँ यत्किंचित् साधर्म्य की स्थिति भी हुआ करती है। किसी एक धर्म के विरोधी होने से उसका प्रतिषेध नहीं हुआ करता, अपितु सम्बन्धों के साथ धर्म

में संयुक्त होने पर उपमान सिद्ध हो जाता है। जैसे— यह कहा जाय कि नीलगाय, गाय के ही समान है; इसमें गौ एवं नीलगाय की सदृशता जिस धर्म में होती है, उसी धर्म के संयुक्त होने पर उदाहरण का उपयोगी होना प्रमाणित होता है। वैधर्म्य भेद के द्वारा सनातन धर्म के एकाकी भाव का प्रतिषेध नहीं होता। इसका आशय यह है कि गौ एवं नीलगाय का साधर्म्य जितने अंशों में है, विरोधी अंशों की वैधर्म्यता से उसका प्रतिषेध नहीं हुआ करता। जो उदाहरण प्रस्तुत किया जाय, उसके दृष्टान्त के समस्त धर्म आपस में मिले हुए होने चाहिए, ऐसी अनिवार्यता नहीं। हाँ! इतना अवश्य हो कि कोई एक धर्म उससे अवश्य मेल खाता हो। इसलिए उत्कर्षसम आदि द्वारा वैधर्म्यता का सहारा लेकर साध्य का प्रतिषेध करना उचित नहीं होता॥५॥

उपर्युक्त कथन की पुष्टि में सूत्रकार जो सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं, उसके द्वारा वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम एवं साध्यसम जाति प्रयोगों का भी समाधान प्राप्त होता है—

(४८३) साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः॥ ६॥

सूत्रार्थ— साध्य-अतिदेशात् = साध्य अतिदेश के द्वारा, च = और, दृष्टान्तोपपत्तेः = दृष्टान्त की उपपत्ति से भी, (साध्यसम का प्रतिषेध नहीं होता)।

व्याख्या— साध्य की सिद्धि में जो उदाहरण दिया जाता है, उस दृष्टान्त में साध्य का कोई एक धर्म मिलना चाहिए। सारे धर्म मिलें, ऐसी अनिवार्यता नहीं हुआ करती। जिस दृष्टान्त में साध्य के समस्त धर्म एक साथ मिल जायें, तो उस स्थिति में साध्य एवं दृष्टान्त का अन्तर ही समाप्त हो जायेगा और साध्य को सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी, अतः साध्यसम का खण्डन करना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। वर्ण्य, अवर्ण्य तथा साध्यसम जाति प्रयोग में अनेक तरह से दृष्टान्त की अप्रामाणिकता प्रस्तुत की जाती है। गत विवेचनों में जो दृष्टान्त दिया गया है, उसमें आत्मा की क्रियाशीलता सिद्ध करने हेतु क्रियावान् ढेले का उदाहरण दिया है। ढेला सक्रियता युक्त है, इसको सब जानते हैं। अतः उसे मान लेने में कोई अवरोध प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता। जनसामान्य एवं ज्ञानीविशेष की वैचारिक समानता भी है, ढेले को सब उसी एक रूप से समझ रहे हैं; किन्तु सन्देहास्पद अर्थ की प्रामाणिकता हेतु उदाहरण द्वारा अन्य वस्तु के धर्म को, अन्य पर आरोपित किया जाता है। इस तरह से पूर्णतः सुरक्षित द्रव्य की दृष्टान्तरूपता के युक्तियुक्त होने पर, उसके अन्दर संदेहयुक्त साध्य धर्म को अन्य धर्म पर आरोपित करना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता॥६॥

अगले सूत्र में प्राप्तिसम एवं अप्राप्तिसम का समाधान प्रस्तुत करते हुए उनके लक्षणों का उल्लेख करते है—

(४८४) प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्याऽविशिष्टत्वादप्राप्त्याऽसाधकत्वाच्च - प्राप्त्यप्राप्तिसमौ॥ ७॥

सूत्रार्थ— प्राप्य = संयोग को प्राप्त होकर, साध्यम् = साध्य को, अप्राप्य = बिना संयोग को प्राप्त हुए, वा = अथवा, हेतोः = हेतु की, प्राप्त्या = प्राप्ति होने पर, अविशिष्टत्वात् = युगल द्रव्यों में समानता होने से, अप्राप्त्या = सम्बन्ध के बिना, असाधकत्वात् = असाधक होने से, प्राप्त्यप्राप्तिसमौ = प्राप्तिसम एवं अप्राप्तिसम क्रमशः जानना चाहिए।

व्याख्या— पूर्वपक्षी अथवा वादी द्वारा दृढ़तापूर्वक अपना पक्ष रखने पर प्रतिपक्षी जब उसके प्रतिषेध में सही उत्तर प्रस्तुत नहीं कर पाता, तब उसे हार से बचने के लिए जाति प्रयोगों का सहारा लेना पड़ता है और वह हेतु साध्य से मिलकर साध्य की सिद्धि का प्रयत्न करता है अथवा प्राप्ति के बिना ही सिद्धि करता है। ऐसी स्थिति में पारस्परिक संयुक्तता वाले दोनों पदार्थों में से किसी एक की विशिष्टता के बिना यह कैसे माना जायेगा कि कौन सिद्ध होता है और कौन सिद्ध करने वाला है, कौन कार्य अथवा साध्य है तथा कौन साधन, यह जानने की विधि-व्यवस्था का ही अभाव हो जायेगा। दोनों की समानता से अथवा मिल जाने से

साध्य-साधक भाव ही नहीं रहेगा और यदि बिना संयुक्तता के हेतु से साध्य की सिद्धि का प्रयत्न किया जायेगा, तो उससे साध्य सिद्ध न हो सकेगा, कारण यह कि जो पदार्थ दीपक के प्रकाश क्षेत्र में आता है, उसी की सिद्धि दीपक द्वारा हो सकती है और जिस पदार्थ से दीपक की ज्योति का संयोग नहीं होता, उसकी सिद्धि दीपक से नहीं हो सकती। इसी तरह धूम्र-अग्नि जब परस्पर मिले हुए होते हैं, तो उनमें समानता रहती है। इन दोनों में अग्नि साध्य तथा धूम्र हेतु के रूप में सिद्ध है। यहाँ समानता के आधार पर तो अग्नि को हेतु तथा धूम्र को साध्य कहना चाहिए; किन्तु यह तर्क मान्य नहीं हो सकता। अतएव यह कहना न्याय संगत नहीं है कि साध्य में मिलकर हेतु साध्य को सिद्ध करने वाला होता है। यही "प्राप्तिसम" जाति प्रयोग है; क्योंकि यहाँ प्राप्ति से खण्डन हुआ है। अत: प्राप्ति के द्वारा प्रतिषेध होने से प्राप्तिसम एवं अप्राप्ति से प्रतिषेध होने के कारण अप्राप्तिसम दोष की उत्पत्ति होती है॥७॥

इन दोनों का प्रायोगिक समाधान प्रस्तुत करते हुए अगले सूत्र में सूत्रकार ने कहा—

(४८५) घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ— घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् = घट आदि की निर्माण प्रक्रिया रूप उत्पत्ति देखने से, च = तथा, अभिचारात् =अभिचार द्वारा, पीडने = पीड़ित दशा में, अप्रतिषेधः = उपर्युक्त निषेध युक्ति संगत नहीं है।

व्याख्या— हेतु साध्य से संयुक्त होकर साध्य को सिद्ध करता है या संयुक्त हुए बिना ही? यह दोनों ही प्रतिषेध, जिनका उल्लेख गत सूत्र में हुआ है, युक्तियुक्त नहीं कहे जा सकते; क्योंकि साध्य का सिद्ध होना कहीं तो हेतु की प्राप्ति द्वारा और कहीं हेतु की अप्राप्ति से भी देखा जाता है। कुम्हार दण्ड, चाक आदि साधनों की सहायता से, मिट्टी से संयुक्त होकर घड़े का निर्माण करता है। साधनों की सहायता एवं मिट्टी से संयुक्त हुए बिना, घट रूप कार्य का सिद्ध होना सम्भव नहीं, अपितु घट का अभाव ही माना जायेगा। धुआँ एवं अग्नि के पारस्परिक समानता युक्त संयोग में साध्य अग्नि के साथ जब धूम्र की व्याप्ति व्यभिचार रहित होगी, तभी धूम्र को अग्नि-साध्य के हेतु होने की मान्यता दी जा सकती है। "जहाँ धुआँ होगा, वहाँ अग्नि भी होगी" यह व्याप्ति अव्यभिचारी है। इस व्याप्ति द्वारा अप्रत्यक्ष अग्नि की सिद्धि, धूम्र हेतु से हो जाती है। धूम्र अग्नि का व्यभिचारी नहीं होता; परन्तु अग्नि धूम्र का व्यभिचारी है, क्योंकि दहकते अंगार पर जल की बूँद पड़ते ही धुआँ निकलने लगता है। अतएव धूम्र की सिद्धि में अग्नि को हेतु नहीं माना जा सकता। अत: हेतु की प्राप्ति के आधार पर यह प्राप्तिसम निषेध उचित व न्याय संगत नहीं है। दूसरा जहाँ हेतु प्राप्त नहीं है अर्थात् अप्राप्ति से किया जाने वाला प्रतिषेध भी अनुचित ही है; क्योंकि अभिचार (टोना, टोटका, उच्चाटन, वशीकरण) आदि में हेतु की अप्राप्ति से भी साध्य (जिस व्यक्ति पर अभिचार प्रयोग किया जाता है) को प्रभावित होते देखा जाता है, जबकि हेतु (प्रयोक्ता) वहाँ से बहुत दूर है। दूर से ही वह पीड़ा पहुँचा देता है अर्थात् साध्य से हेतु के मिले बिना ही साध्य के विनाशरूप कार्य की सिद्धि हो जाती है। अतएव अप्राप्ति से किया जाने वाला प्रतिषेध भी न तो उचित है और न ही न्यायसंगत॥८॥

अगले सूत्र में सूत्रकार ने प्रसङ्गसम एवं प्रतिदृष्टान्तसम के लक्षणों का विवेचन कर समुचित समाधान प्रस्तुत किया है —

(४८६) दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ॥ ९॥

सूत्रार्थ— दृष्टान्तस्य = दृष्टान्त के, कारणानपदेशात् = कारण की अभिव्यक्ति न किये जाने से, च = तथा, प्रतिदृष्टान्तेन = प्रतिदृष्टान्त से, प्रत्यवस्थानात् = प्रतिषेध करने के कारण,प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ = (क्रमशः)प्रसङ्गसम एवं प्रतिदृष्टान्तसम हुआ करते हैं।

व्याख्या— दृष्टान्त के हेतु अर्थात् कारण का कथन न किये जाने की स्थिति में किये जाने वाला प्रतिषेध प्रसङ्गसम कहलाता है तथा ऐसे ही प्रतिदृष्टान्त के द्वारा प्रतिषेध किये जाने की दशा में प्रतिदृष्टान्तसम दोष कहलाता हैं। पूर्वपक्षी ने कहा कि आत्मा ढेले के समान क्रियाशील है; क्योंकि उसमें क्रिया के हेतु रूप गुण विद्यमान हैं। इस पर प्रतिपक्षी ने कहा कि इसका क्या प्रमाण है ? बिना प्रमाण यह कैसे स्वीकारा जाय कि आत्मा सक्रिय है, जिस तरह ढेला ? इस वाद में पूर्वपक्षी ने जो हेतु दिया उसकी (उस हेतु की) प्रामाणिकता के लिए अन्य हेतु की माँग प्रतिपक्षी द्वारा करने तथा पूर्वपक्षी के पक्ष का प्रतिषेध करने पर "प्रसङ्गसम" दोष उपस्थित होता है।

"प्रतिदृष्टान्तसम दोष" को समझने हेतु पूर्वपक्षी ने उदाहरण सहित अपना पक्ष रखते हुए कहा कि क्रिया हेतु गुणों से सम्पन्न होने से आत्मा भी ढेले की तरह क्रियावान् है। प्रतिपक्षी ने उसका विरोध करने के भाव से प्रतिदृष्टान्त दोष उपस्थित करते हुए कहा कि आकाश की भाँति क्रियाहेतु गुण सम्पन्न होने से आत्मा का क्रियाशील होना नहीं माना जा सकता। पूर्वपक्षी ने प्रतिपक्षी से पूछा- आकाश में क्रिया हेतु गुण का होना क्या है ? प्रतिपक्षी ने बताया आकाश के साथ वायु का मेल ही क्रिया हेतु गुण माना जाता है; क्योंकि क्रिया का कारण वायु संयोग ही है, वायु का वृक्ष के साथ संयोग होते देखा व सुना भी जाता है। इस प्रकार आकाश की निष्क्रियता सिद्ध हो जाती है, अतः आत्मा को भी ऐसे ही क्रियाहीन समझना चाहिए। पूर्वपक्ष में साध्य के न होने की सिद्धि प्रतिदृष्टान्त द्वारा की गई है, अतः यहाँ प्रतिदृष्टान्तसम दोष है ॥९॥

अगले सूत्र प्रसङ्गसम की विवेचना करने के भाव से उसके उत्तर के रूप में प्रकट किया गया है—

(४८७) प्रदीपोपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः ॥ १० ॥

सूत्रार्थ— प्रदीपोपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत् = दीपक को देखने (उपादान) के प्रसङ्ग में, दीपक से भिन्न किसी अन्य दीपक की निवृत्ति के समान ही, तद्विनिवृत्तिः = उसकी (हेतु अथवा दृष्टान्त को सिद्ध करने में किसी अन्य हेतु अथवा दृष्टान्त की) भी निवृत्ति होती है, ऐसा जानना चाहिए।

व्याख्या— जिस तरह अंधकार में स्थित वस्तु को देखने के लिए प्रदीप की आवश्यकता पड़ती है; परन्तु उस प्रज्वलित दीप को देखने के लिए किसी अन्य दीपक को प्रज्वलित नहीं किया जाता, ठीक उसी तरह जिस हेतु अथवा दृष्टान्त द्वारा किसी साध्य की सिद्धि की जाती है, तो उन सिद्ध करने वाले हेतु अथवा दृष्टान्तों की सिद्धि के लिए किसी अन्य हेतु या दृष्टान्त की जरूरत नहीं हुआ करती। अतः हेतु की सिद्धि का क्या हेतु है ? यह पूछना तथा प्रसङ्ग को अनावश्यक आगे ले जाना कदापि प्रामाणिक नहीं हो सकता। किसी भी साध्य को प्रमाणित करने में दृष्टान्त उस स्थिति में दिया जाता है, जब लौकिक तथा परीक्षक दोनों को समान रूप से समझने में कोई झिझक न हो तथा दोनों ही उसे स्वीकार करें। ऐसी स्थिति में "दृष्टान्त को सिद्ध करने के लिए हेतु क्या है ?" यह कहना अनावश्यक एवं अनुपयुक्त ही होगा ॥१०॥

अब अगले सूत्र में सूत्रकार प्रतिदृष्टान्तसम का प्रतिषेध करने वाले उत्तर से अवगत कराते हुए कहते हैं—

(४८८) प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाऽहेतुर्दृष्टान्तः ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ— च = तथा, प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे = प्रतिदृष्टान्त की सिद्धि में हेतु होने पर भी, दृष्टान्तः = दृष्टान्त, अहेतुः = हेतु नहीं है, न = ऐसा नहीं है।

व्याख्या— दृष्टान्त के प्रतिषेध अथवा खण्डन करने की मानसिकता से प्रतिदृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है; परन्तु उससे दृष्टान्त की साध्यता सिद्ध नहीं हुआ करती, अतएव दृष्टान्त का प्रतिषेध प्रतिदृष्टान्त द्वारा कैसे हो सकेगा ? अपने साध्य को सिद्ध करने के लिए जहाँ दृष्टान्त एवं प्रतिदृष्टान्त दोनों ही प्रयुक्त होते हों, तो उसमें कोई ऐसा विशिष्ट हेतु परिलक्षित नहीं होता, जिससे प्रतिदृष्टान्त द्वारा साध्य सिद्ध हो तथा दृष्टान्त द्वारा न

होता हो। अत: यदि प्रतिदृष्टान्त को हेतु मान लेना उचित नहीं प्रतीत होता, तो दृष्टान्त को भी क्योंकर हेतु माना जाय। दृष्टान्त द्वारा साध्य का सिद्ध होना तभी होता है,जब वह व्याप्ति शक्ति से युक्त हो। यदि कहा जाय कि "ढेले की तरह क्रियाहेतुगुण से सम्पन्न होकर आत्मा भी ढेले की ही भाँति क्रियावान् हो सकता है,तो उसी क्रियाहेतुगुण से युक्त होते हुए आकाश क्रियावान् क्यों नहीं हो सकता ? इस तरह व्याप्तिबल से हीन प्रतिदृष्टान्त अपनी असमर्थता के कारण जब व्याप्तिबल सम्पन्न दृष्टान्त का खण्डन नहीं कर पाता, तो ऐसी स्थिति में दृष्टान्त नि:सन्देह अपने साध्य का हेतु होगा। अतएव प्रतिदृष्टान्त से उसका प्रतिषेध नहीं हो सकता"॥११॥

अगले सूत्र में सूत्रकार अनुत्पत्तिसम के लक्षण बतलाते हैं—

(४८९) प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः ॥ १२॥

सूत्रार्थ— प्रागुत्पत्तेः = उत्पन्न होने से पहले, कारणाभावात् = कारण के न पाये जाने से, अनुत्पत्तिसमः = अनुत्पत्तिसम का स्वरूप उपस्थित होता है।

व्याख्या— किसी भी कार्य द्रव्य की उत्पत्ति से पूर्व उसके कारण का अभाव रहने से, प्रतिपक्षी अथवा किसी अन्य व्यक्ति के पक्ष का खण्डन करना ही अनुत्पत्तिसम प्रयोग माना जाता है। आशय यह है कि अनुत्पत्तिसम द्वारा प्रतिषेध किया जाना अनुत्पत्तिसम कहलाता है। जैसे— पूर्वपक्षी ने कहा कि घड़ा अनित्य है; क्योंकि उसकी उत्पत्ति प्रयत्नों के पश्चात् ही हुई है तथा इसी तरह शब्द भी नित्य नहीं हो सकता; क्योंकि शब्द की उत्पत्ति प्रयत्न के अनन्तर हुई है। कुम्हार यदि अपने प्रयास को प्रयत्नपूर्वक कर्म में परिवर्तित न करे, तो घट रूप कार्य का उत्पन्न होना संभव नहीं । इसी तरह ढोलक पर थाप अथवा चोट न दी जाय, तो उक्त प्रयत्नों के अभाव में शब्दों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। मुख से उच्चारण करने पर ही शब्द उत्पन्न होता है। इस पर प्रतिपक्षी प्रतिषेधात्मक भाव से कहता है कि उत्पन्न होने से पूर्व अनुत्पन्न शब्द में प्रयत्नों के अनन्तर होने वाला धर्म शब्द की अनित्यता का हेतु नहीं माना जा सकता। अत: जिस द्रव्य की उत्पत्ति का हेतु ही नहीं है, उसे नित्य ही मानना चाहिए। इस तरह अनुत्पत्ति का उदाहरण देकर उत्पत्ति का प्रतिषेध करना अनुत्पत्तिसम जाति प्रयोग कहलाता है ॥१२॥

अनुत्पत्तिसम का उत्तर कैसे दें ? अगले सूत्र में इसी का समाधान देते हुए सूत्रकार ने कहा—

(४९०) तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ— तथाभावात् = वैसी स्थिति होने से, उत्पन्नस्य = उत्पन्न शब्द के, कारणोपपत्तेः = कारणों की उपपत्ति (सिद्ध) होने से, कारणप्रतिषेधः = कारण का निषेध, न = नहीं होता।

व्याख्या— उत्पन्न होने से पहले शब्द का स्वरूप अथवा प्रभाव नहीं जाना जा सकता। उत्पत्ति के अनन्तर ही वह समझ में आता है, अतएव उच्चारणरूप प्रयत्न द्वारा उत्पन्न किये जाने से पहले शब्द का सर्वथा अभाव था। ऐसी स्थिति में अनुत्पत्ति को हेतु मानकर उत्पत्ति का प्रतिषेध करना उचित नहीं माना जा सकता। प्रयत्न शब्द उत्पन्न करने में निमित्त कारण है, अत: प्रयत्न की आवश्यकता, जो अनित्यता का हेतु है, वह शब्द की उत्पन्नता से संयुक्त है अर्थात् कार्य की ही अनुपलब्धता में उसके हेतु का प्रतिषेध कोई कैसे कर सकता है ? कार्य प्रत्यक्ष हो तभी उसके कारण का सकारात्मक अथवा नकारात्मक विवेचन करना उचित हो सकता है। अतएव शब्द को मान्यता प्रदान करके उसके हेतु का खण्डन करना सर्वथा अनुचित है॥१३॥

अगले सूत्र में सूत्रकार "संशयसम" के लक्षण स्पष्ट करते हुए कहते हैं —

(४९१) सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयसमः ॥ १४॥

सूत्रार्थ— सामान्यदृष्टान्तयोः = सामान्य जाति तथा दृष्टान्त में, ऐन्द्रियकत्वे = इन्द्रियग्राह्यता की, समाने = समानता होने पर, नित्यानित्यसाधर्म्यात् = नित्य एवं अनित्य दोनों की साधर्म्यता से किया जाने

वाला प्रतिषेध, संशयसमः = संशयसम कहलाता है।

व्याख्या— जिसका प्रतिषेध संशय को हेतु मानकर किया जाय, वह ''संशयसम'' जाति प्रयोग कहलाता है। जैसे— पूर्वपक्षी ने कहा कि प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने से घट की तरह शब्द भी अनित्य है। इस पर प्रतिपक्षी ने कहा कि यदि शब्द एवं घट में साधर्म्यता रहने से शब्द घट की भाँति अनित्य है, तो सामान्य गो जाति में तथा घटादि कार्य में इन्द्रिय गोचरतारूप धर्म की समानता मिलती है। जैसे— गो जाति का ग्रहण इन्द्रियों द्वारा होता है, वैसे ही घड़ा भी इन्द्रिय ग्राह्य है। उसकी भी सामान्य जाति नित्य मानी जायेगी, गो आदि के तुल्य। अतएव घटादि के दृष्टान्त द्वारा तथा कार्यत्व की कारणता से शब्द की अनित्यता का कथन संदेहात्मक ही है। संशय की उत्पत्ति नित्य एवं अनित्य की साधर्म्यता से होती है। इसमें संशय के आधार पर प्रतिषेध किया जाता है, यह ''संशयसम'' प्रतिषेध प्रयोग कहलाता है ॥१४॥

अगले सूत्र में संशयसम का उत्तर प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार ने कहा—

(४९२) साधर्म्यात्संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथा वा संशयेऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गो - नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ— साधर्म्यात् = साधर्म्य से, संशये = संशय होने पर, वैधर्म्यात् = वैधर्म्य के ज्ञान से, संशयः = संशय, न = नहीं रह जाता, वा = अथवा, उभयथा = साधर्म्य-वैधर्म्य दोनों तरह से, संशये = संशय होने की स्थिति में, अत्यन्तसंशयप्रसङ्गः = अत्यधिक संशयात्मक प्रसङ्ग उपस्थित होता है, नित्यत्वानभ्युपगमात् = नित्यता की स्वीकारोक्ति न किये जाने के कारण, च = भी, सामान्यस्य = सामान्य का, अप्रतिषेधः = प्रतिषेध (संशय करके) करना उचित नहीं है।

व्याख्या— स्थाणु एवं पुरुष के बीच समानधर्मिता की स्थिति में संशय का होना स्वाभाविक है। अतः साधर्म्य से संशय की उत्पत्ति हो जाया करती है, किन्तु दोनों के विशेष धर्मों की जानकारी प्राप्त कर लेने पर दोनों की यथार्थता प्रकट हो जाने से संशय मिट जाता है। उस स्थिति में समानधर्मिता होते हुए भी संशय नहीं रहता, उसकी निवृत्ति हो जाती है। आशय यह है कि विशेष धर्म के ज्ञान की अनभिज्ञता से ही साधर्म्य द्वारा संशय की उत्पत्ति होती है। वैधर्म्यज्ञान का उदय होते ही, संशय समाप्त हो जाता है। उस स्थिति में भी यदि यह कहकर कि दोनों ही (स्थाणु तथा पुरुष) एक जैसे (समान) हैं, तो फिर संशय की समाप्ति ही न हो सकेगी। कारण यह कि स्थाणु एवं पुरुष में कुछ न कुछ समानता तो बनी ही रहेगी। ऐसे ही शब्द का विशेष धर्म, प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होना माना जाता है। अनित्य घटादि एवं नित्य जाति में संव्याप्त इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने वाला धर्म, समान धर्म कहा जाता है। साधर्म्यता के इस भाव के रहते हुए भी जब शब्द विषयक वैधर्म्यता का ज्ञान (कि प्रयत्न के पश्चात् शब्द प्रकट होता है) प्राप्त हो जाने पर, उसी ज्ञान के सहारे, साधर्म्यता की विद्यमानता में भी शब्द की अनित्यता को नकार कर, उसकी नित्यता स्वीकार्य नहीं की जा सकती; क्योंकि वैधर्म्य ज्ञान का उदय हो जाने से संशय उत्पन्न नहीं हो पाता। अतएव साधर्म्य द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से संशय को उभारकर प्रतिषेध करना अयुक्त है ॥१५॥

अब अगले सूत्र में सूत्रकार प्रकरणसम के लक्षण बतलाते हैं—

(४९३) उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ— उभयसाधर्म्यात् = दोनों तरह (नित्य-अनित्य) के साधर्म्य द्वारा भी, प्रक्रियासिद्धेः = प्रक्रिया (उभयपक्षीय प्रवृत्ति) की सिद्धि हो जाने पर, प्रकरणसमः = प्रकरणसम जाति-प्रयोग माना जाता है।

व्याख्या— नित्य तथा अनित्य दोनों तरह की साधर्म्यता तथा दोनों की वैधर्म्यता स्थापित हो जाने

पर भी दोनों पक्षों की वाद-विवाद रूप क्रिया की विद्यमानता का स्वरूप ही प्रकरणसम है। प्रक्रिया का अभिप्राय दोनों पक्षों को प्रवृत्त करने से है। उसकी उत्पत्ति नित्य एवं अनित्य के समानधर्मी होने से होती है। जैसे वादी ने कहा— घट के समान शब्द भी अनित्य है; क्योंकि शब्द भी घट की भाँति प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता है। इस पर प्रतिवादी बोला— शब्द नित्य है, आकाश की तरह; क्योंकि जैसे आकाश आकार-प्रकार रूपादि से हीन है, वैसे ही शब्द भी स्वरूप रहित है। आशय यह है कि वादी अनित्य घट की साधर्म्यता द्वारा शब्द को अनित्य की मान्यता देता है और प्रतिवादी उसी विषय के नित्य द्रव्य आकाश की साधर्म्यता से शब्द की नित्यता को सिद्ध कर रहा है। अतएव यह प्रकरण अभी समाप्त नहीं हुआ, अत: इस स्थिति में वाद-विवाद की प्रक्रिया बढ़ाते रहने की प्रवृत्ति से परस्पर प्रतिषेध किया जाना "प्रकरणसम" जाति-प्रयोग कहलाता है ॥१६॥

अगले सूत्र में सूत्रकार प्रकरणसम का प्रतिषेध बतलाते हुए समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(४९४) प्रतिपक्षात्प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः ॥ १७॥

सूत्रार्थ— प्रतिपक्षात् = प्रतिपक्षी की ओर से, प्रकरणसिद्धेः = प्रकरण की सिद्धि हो जाने पर, प्रतिपक्षोपपत्तेः = प्रतिपक्षी द्वारा मान्यता दिये जाने से, प्रतिषेधानुपपत्तेः = प्रतिषेध का उपपन्न (सिद्ध) होना नहीं होता।

व्याख्या— प्रतिपक्षी द्वारा किसी दूसरे पक्ष का सहारा लिये जाने से दोनों पक्षों की वाद-विवाद प्रक्रिया का समाधान हो जाने के कारण, जब प्रतिपक्षी ने उसे स्वीकार कर लिया अर्थात् अपनी मान्यता प्रदान कर दी हो, तब उस स्थिति में प्रतिषेध उपपन्न नहीं हुआ करता; क्योंकि स्वीकार एवं प्रतिषेध की उपपत्ति साथ-साथ नहीं हो सकती। दोनों पक्षों में साधर्म्यता रहने से प्रकरण की सिद्धि करने पर एक ही पक्ष लाभान्वित होता है। दोनों की सिद्धि किसी भी तरह से नहीं की जा सकती। यदि दूसरे पक्ष की मान्यता स्वीकार्य है, तो उसका खण्डन करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। स्वीकार व खण्डन दोनों परस्पर विरोधी हैं। प्रकरणसम से सच्चे पक्ष का खण्डन नहीं हो सकता और सच्ची बात सामने आने से प्रकरण की समाप्ति हो जाती है। अत: प्रकरणसम से प्रतिषेध सर्वथा अनुचित है। इस कथन से प्रकरणसम की स्थिति स्पष्ट हो जाती है ॥१७॥

अगले सूत्र में सूत्रकार "अहेतुसम" का लक्षण स्पष्ट करते हुए उसका प्रयोग समझाते हैं—

(४९५) त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः ॥ १८॥

सूत्रार्थ— हेतोः = हेतु की, त्रैकाल्यासिद्धेः = तीनों कालों में सिद्ध न होने के कारण, अहेतुसमः = उसे अहेतुसम कहते हैं।

व्याख्या— साध्य वस्तु को सिद्ध करने वाले हेतु की सिद्धि तीनों कालों में नहीं हो सकती। उसका कारण यह है कि हेतु का होना साध्य से पहले माना जाय अथवा बाद में या दोनों का एक साथ होना माना जाय। यदि यह माना जाय की साध्य से पूर्व हेतु विद्यमान था, तो साध्य के अभाव में वह किसका हेतु था और किसकी सिद्धि के लिए विद्यमान था तथा यह माना जाय कि हेतु साध्य के बाद का है, तो जब हेतु ही नहीं था, तो वह साध्य कैसे हुआ? क्योंकि उसे सिद्ध करने वाला ही नहीं था और यदि दोनों का साथ-साथ रहना माना जाय, तो कौन साध्य है तथा कौन साधन, इसका निर्णायक कौन होगा? इस तरह से हेतु की सिद्धि तीनों कालों में न होने के कारण उसके सहारे किसी पक्ष का खण्डन करना "अहेतुसम" कहलाता है ॥१८॥

अब अगले सूत्र में सूत्रकार अहेतुसम का उत्तर सम्बन्धी समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(४९६) न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ— हेतुतः = हेतु से, साध्यसिद्धेः = साध्य की सिद्धि होने के कारण, त्रैकाल्यासिद्धिः = तीनों कालों में हेतु की असिद्धि, न =मान लेना उपयुक्त नहीं है।

व्याख्या— हेतु के द्वारा ही साध्य की सिद्धि हुआ करती है, अतः यह कहना कि साध्य के पूर्व अथवा पश्चात् या एक साथ हेतु का होना नहीं पाया जाता, सर्वथा असंगत है। कारण के अभाव में कार्य नहीं हो सकता। उत्पन्न होने वाली वस्तु की उत्पत्ति का कोई न कोई हेतु तो होता ही है, सर्वसाधारण में भी इतना ज्ञान होना देखा जाता है। जो यह तर्क दिया गया था कि साध्य के न रहने पर विद्यमान हेतु किसे सिद्ध करेगा? अर्थात् किसका साधक होगा? समाधान यह है कि जो हेतु विद्यमान है, उसके द्वारा उसी की सिद्धि होती है, जो साध्य हुआ करता है अर्थात् जो ज्ञेय विषय है, अथवा जिसकी उत्पत्ति होनी है। अतएव हेतु का साध्य से पूर्व विद्यमान होना तर्कसंगत एवं आवश्यक है ॥१९ ॥

इसी कथन की पुष्टि करते हुए सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—

(४९७) प्रतिषेधानुपपत्तेः प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः ॥ २० ॥

सूत्रार्थ— प्रतिषेधानुपपत्तेः = प्रतिषेध की सिद्धि न होने से, प्रतिषेद्धव्य = प्रतिषेद्धव्य का, अप्रतिषेधः = प्रतिषेध करने की स्थिति नहीं रह जाती।

व्याख्या— पूर्वपक्षी ने कहा— प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने के कारण, घट की भाँति शब्द भी नित्य नहीं है। जातिवादी ने अहेतुसम दोष उपस्थित करते हुए उसका खण्डन कर दिया। गत सूत्र का हवाला देकर उस प्रतिषेध की अनुपपन्नता का कथन किया गया। उस दशा में जातिवादी द्वारा प्रस्तुत प्रतिषेध के असंगत होने के कारण प्रतिषेद्धव्य पूर्वपक्ष का खण्डन नहीं हो पाता। आशय यह है कि यदि तीनों काल में हेतु के सिद्ध न होने से उसका प्रतिषेध किया जाय, तो उस किये गये प्रतिषेध का भी प्रतिषेध उपस्थित किया जा सकता है। यदि हेतु के सिद्ध होने के पूर्व ही उसका प्रतिषेध किया जाय, तो उसकी संगति ही नहीं बैठती; क्योंकि जब हेतु की सिद्धि का अवसर ही नहीं मिला, तो उसका प्रतिषेध कैसा? खण्डन तो उसी का हो सकता है, जो विद्यमान हो। जिसकी सत्ता का ही अभाव हो, उसका निषेध कोई कैसे कर सकता है? यदि सिद्धि के पश्चात् प्रतिषेध करने की बात आती है, तो उसका कोई महत्त्व नहीं; क्योंकि जिसकी सिद्धि का प्रमाण मिल चुका हो, उसके खण्डन की बात करना सर्वथा असंगत होगा। हेतु एवं साध्य तो एक साथ सिद्ध नहीं किये जा सकते; क्योंकि प्रकाश होगा, तो अंधकार नहीं होगा और अंधकार होगा, तो प्रकाश नहीं। अतः अहेतुसम प्रतिषेध संगत नहीं है ॥२० ॥

अब अगले सूत्र में सूत्रकार अर्थापत्तिसम का लक्षण बताते हैं—

(४९८) अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ— अर्थापत्तितः = अर्थापत्ति जाति प्रयोग से, प्रतिपक्षसिद्धेः = प्रतिपक्ष की सिद्धि द्वारा जो प्रतिषेध प्रस्तुत किया जाता है, अर्थापत्तिसमः = उसे अर्थापत्तिसम कहते हैं।

व्याख्या— किसी एक बात की अभिव्यक्ति से दूसरी बात की जानकारी स्वतः हो जाना अर्थापत्तिसम कहलाता है। अर्थापत्ति जहाँ प्रतिपक्ष का साधक बनती है, वहाँ अर्थापत्तिसम दोष की उपस्थिति मानी जाती है। जैसे-एक ने कहा कि उत्पन्न होने के कारण शब्द अनित्य है। इस पर दूसरा बोला-शब्द नित्य है; क्योंकि न तो उसे (शब्द को) देखा जा सकता है और न ही उसका स्पर्श किया जा सकता है। अतएव यदि प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण अनित्य घट की साधर्म्यता से शब्द अनित्य हो सकता है, तो स्पर्शरहित आकाश के अस्पर्शत्व रूप साधर्म्यता से शब्द नित्य क्यों नहीं हो सकता। यही अर्थापत्तिसम प्रयोग है ॥२१ ॥

अब इस अर्थापत्तिसम का उत्तर सम्बन्धी समुचित समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार ने कहा—

(४९९) अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वा-च्चार्थापत्तेः ॥२२॥

सूत्रार्थ— अनुक्तस्य = अनुक्त (जिसकी सिद्धि न की गई हो) की, अर्थापत्तेः = अर्थापत्ति से, च = तथा, अनैकान्तिकत्वात् = अनैकान्तिक होने के कारण, अनुक्तत्वात् = उक्त न किये जाने से, अर्थापत्तेः = अर्थापत्ति के द्वारा, पक्षहानेरुपपत्तिः = पक्ष हानि की उपपत्ति हो जाया करती है।

व्याख्या— अनैकान्तिक होने से तथा अर्थापत्ति के कथन की अभिव्यक्ति न किये जाने के कारण अर्थापत्तिसम जाति प्रयोग का प्रतिषेध हो जाता है अर्थात् अर्थापत्ति दोष नहीं होता। नित्य-अनित्य दोनों पक्षों में साधर्म्यता रखने के कारण ही अर्थापत्ति अनैकान्तिक है, इसलिए भी अर्थापत्तिसम से प्रतिषेध किया जाना असंगत है। किसी ने कहा कि "मनुष्य एक प्राणी है" इस कथन से यह तात्पर्य नहीं निकलता कि मात्र मनुष्य ही प्राणी है, मनुष्य से अलग और कोई प्राणी ही नहीं है। इसी प्रकार प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण शब्द अनित्य है। इस पर अर्थापत्तिसम जाति प्रयोग से यह अर्थ निकालना कि स्पर्श एवं रूप से रहित होने के कारण आकाश की भाँति शब्द नित्य किसी तरह भी युक्तियुक्त नहीं है। इसी से सूत्रकार ने कहा कि अनुक्तता एवं अनैकान्तिकता के कारण अर्थापत्तिसम के प्रतिषेध से पक्षहानि की उपपत्ति होती है। अतएव शब्द के नित्य न होने का खण्डन अर्थापत्तिसम से करना उचित नहीं है॥२२॥

अब अगले सूत्र में सूत्रकार अविशेषसम का लक्षण एवं प्रयोग बतलाते हैं—

(५००) एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात्सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः ॥ २३॥

सूत्रार्थ— एकधर्मोपपत्तेः = एक धर्म के सिद्ध होने से, अविशेषे = अविशेष की अभिव्यक्ति द्वारा, सर्वाविशेषप्रसङ्गात् = सभी पदार्थों में अविशेष समानता पाये जाने से, सद्भावोपपत्तेः = सद्भाव का सिद्ध होना, अविशेषसमः = अविशेषसम कहलाता है।

व्याख्या— एक धर्म की सादृश्यता से दो द्रव्यों की समानता अथवा अविशेषता का कथन करना अर्थात् दोनों को समान मान लेना अविशेषसम जाति प्रयोग कहलाता है। प्रयत्न के उपरान्त उत्पन्न होने वाली साधर्म्यता से शब्द एवं घट दोनों समान धर्मी हैं, अतएव इन दोनों में समानता है। इस पर यह कहा गया है कि शब्द एवं घट में प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से अविशेषता सिद्ध होती है, तो सद्भाव रूप अस्तित्व धर्म का होना सब पदार्थों में अनिवार्य रूप से पाया जाता है। अतः इस आधार पर सभी द्रव्य समानता वाले सिद्ध होते हैं; परन्तु ऐसा होना असम्भव है; क्योंकि किसी एक धर्म की सदृशता से सबको वैसा ही मान लेना युक्तियुक्त नहीं। यही अविशेषसम का लक्षण प्रयोग है॥२३॥

अब अगले सूत्र द्वारा सूत्रकार "अविशेषसम" जाति प्रयोग का उत्तर प्रस्तुत करते हैं—

(५०१) क्वचिद्धर्मानुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥ २४॥

सूत्रार्थ— क्वचित् धर्मानुपपत्तेः = कहीं धर्म की अनुपपत्ति से, च = और, क्वचित् = कहीं, उपपत्तेः = उपपत्ति से, प्रतिषेधाभावः = प्रतिषेध नहीं रहता।

व्याख्या— कुछ स्थानों पर किसी एक धर्म की उपलब्धि होने से तथा किन्हीं जगहों पर उसकी अनुपलब्धता के कारण उपर्युक्त "अविशेषसम" की अनुपयुक्तता ही मानी जाती है। अनैकान्तिकता भी इसका एक कारण है। जैसे कुलाल (कुम्हार) द्वारा प्रयत्न किये जाने के अनन्तर ही घड़े का उत्पन्न होना देखा जाता है, वैसे ही उच्चारण रूप अथवा थाप आदि चोट रूप प्रयत्नों के पश्चात् शब्द की उत्पत्ति होती है। इस स्थान पर तो दोनों में एक धर्म की प्राप्ति हो रही है; किन्तु दूसरी जगह जहाँ आँखों द्वारा दिखाई पड़ना तथा

त्वचा द्वारा स्पर्श किया जाने वाला धर्म घट में तो मिलता है, पर शब्द में उस धर्म की सिद्धि नहीं होती। इस स्थिति में अनैकान्तिकता के कारण अविशेषसम दोष का होना असंगत है ॥२४॥

अब अगले सूत्र में सूत्रकार उपपत्तिसम का लक्षण व प्रयोग प्रस्तुत करते हैं—

(५०२) उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ— उभयकारणोपपत्तेः = दोनों कारणों के उपलब्ध होने से, उपपत्तिसमः = उपपत्तिसम जाति प्रयोग होता है।

व्याख्या— नित्यत्व एवं अनित्यत्व रूप दोनों धर्मों के कारणों की उपलब्धता से पूर्वपक्षी की मान्यताओं पर आधारित पक्ष का खण्डन करना "उपपत्तिसम" दोष है। जैसे- पूर्वपक्षी ने कहा कि शब्द की उत्पत्ति प्रयत्न के अनन्तर होती है, अतएव शब्द अनित्य है। इस पर प्रतिपक्षी ने कहा कि यदि शब्द की अनित्यता का कारण रूप धर्म, प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होना सिद्ध होता है, तो शब्द की नित्यता को सिद्ध करने वाला स्पर्श रहित रूप धर्म भी सिद्ध होता है। इस प्रकार दोनों धर्मों के कारणों की सिद्धि से वादी के पक्ष का खण्डन करना उपपत्तिसम दोष माना जाता है ॥२५॥

अगले सूत्र में सूत्रकार "उपपत्तिसम" जाति प्रयोग का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(५०३) उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ— उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानात् = उपपत्ति (सिद्धि) के कारणों को मान लेने से, अप्रतिषेधः खण्डन करने की स्थिति नहीं रह जाती।

व्याख्या— प्रतिपक्षी द्वारा सिद्धि के कारणों को मान लेने की स्थिति में उस धर्म का खण्डन करना सर्वथा अनुपयुक्त ही होगा। आशय यह है कि प्रतिपक्षी ने जब नित्य एवं अनित्य दोनों धर्मों के कारणों की उपपत्ति मान ली हो, तब फिर उसके द्वारा अनित्यता के कारणों का निषेध कैसे किया जा सकता है? यदि वह यह स्वीकार नहीं करता कि प्रतिषेध्य धर्म का कारण सिद्ध है, तो उसके द्वारा उपपत्तिसम दोष प्रयुक्त ही नहीं किया जा सकता। पूर्व में कहा जा चुका है कि दोनों धर्मों के कारणों के सिद्ध होने पर ही इस जाति का प्रयोग हो सकता है। दोनों धर्मों में से यदि पारस्परिक विरोध के कारण एक का प्रतिषेध स्वीकार कर भी लिया जाय, तो वह विरोध दोनों धर्मों में अविशेष ही है। अतएव एक धर्म की उपपत्ति नहीं मानी जा सकती। इसलिए यहाँ पर उपपत्तिसम दोष उचित नहीं है ॥ २६ ॥

उपलब्धिसम जाति के प्रयोग विधि एवं लक्षणों का उल्लेख सूत्रकार ने अगले सूत्र में प्रस्तुत किया है—

(५०४) निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ— निर्दिष्टकारणाभावे = पूर्व निर्देशित कारण का अभाव होने पर, अपि = भी, उपलम्भात् = कार्य की उपलब्धता से, उपलब्धिसमः = उपलब्धिसम का होना पाया जाता है।

व्याख्या— जिन कारणों का निर्देश पूर्व में ही कर दिया गया है, उनके न रहने की स्थिति में भी कार्य के विद्यमान होने से "उपलब्धिसम" का होना माना जाता है। वादी ने कहा कि प्रयत्न के उपरान्त उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है, प्रयत्न को आत्मा का गुण बताया गया है। इस प्रकार यदि देखा जाय, तो जहाँ आत्मप्रेरणा से युक्त प्रयत्न का अभाव है, वहाँ शब्द उत्पन्न ही नहीं होना चाहिए। यह पूर्व निर्दिष्ट कारण हुआ, जबकि इस पूर्व निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी जहाँ आत्मप्रेरणायुक्त प्रयत्न है ही नहीं, वहाँ शब्द का होना पाया जाता है। वायु के संयोग से जब वृक्ष की शाखा टूटती है, तो उससे जो शब्द उत्पन्न होता है, उस उत्पत्ति में आत्मप्रेरित प्रयत्न नहीं रहता तथा वृक्ष के पत्तों के साथ भी हवा के झोंकों का स्पर्श होने पर जो शब्द होता है, उसमें भी पूर्व निर्दिष्ट कारण नहीं रहता। अतएव प्रयत्न से उत्पन्न होने वाला हेतु, जिसे पूर्वपक्षी ने प्रस्तुत

किया, वह सर्वथा असंगत है। अत: पूर्व में कहे गये नियत कारण के न रहने पर भी साध्य के पाये जाने से "उपलब्धिसम" दोष हुआ करता है॥२७॥

अब अगले सूत्र में सूत्रकार "उपलब्धिसम" दोष का समुचित समाधान प्रस्तुत करते हैं —

(५०५) कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः॥ २८॥

सूत्रार्थ— कारणान्तरात् = दूसरे कारण से, अपि = भी, तद्धर्म = उस धर्म के, उपपत्तेः = उपपन्न होने के कारण, अप्रतिषेधः = प्रतिषेध नहीं माना जाता है।

व्याख्या— शब्द की अनित्यता की सिद्धि के प्रयोजन से पूर्वपक्षी ने "प्रयत्न के अनन्तर उत्पत्ति का" ऐसा हेतु प्रस्तुत किया, जिससे यह सुनिश्चित हो जाये कि शब्द उत्पन्न होता है; पर इस आधार का आश्रय लेकर यह नहीं कहा जा सकता कि उसी कारण से उस तरह के कार्यों की सिद्धि हो जायेगी अथवा अमुक साध्य का हेतु वही एक है। किसी दूसरे हेतु द्वारा भी यदि वह साध्य सिद्ध हो जाता है, तो बिना किसी हिचक के उसे भी कारण मान लिया जाता है। गत सूत्र के विवेचन में कहा जा चुका है कि आत्मप्रेरणा से प्रेरित प्रयत्न के अभाव में भी कई तरह से शब्द की उत्पत्ति होती है। अत: उसे मानने में कोई अवरोध आड़े नहीं आना चाहिए। प्रयत्न से उत्पत्ति का तात्पर्य यह है कि चेतन अथवा जड़ किसी न किसी कारण से ही शब्द उत्पन्न होता है, अतएव उसकी अनित्यता बाधित नहीं होती। इन कारणों से न तो उसकी प्रयत्नजन्यता का प्रतिषेध होता है और न ही अनित्यता का। यदि कोई यह कहे कि शब्द की उत्पत्ति उच्चारण से नहीं होती, अपितु पूर्व में शब्द विद्यमान था तथा उच्चारण से उसका आवरण हट जाता है और वह प्रकट होता है, तो यह मान्यता सर्वथा असंगत है; क्योंकि यदि आवरण होता, तो दृष्टिगोचर तो होता ही; पर दिखाई न देने के कारण यह सुनिश्चित हो जाता है कि शब्द उच्चारण के अनन्तर ही उत्पन्न होता है तथा अनित्य भी है। आवरण का अभाव अनुपलब्धि से प्रमाणित होता है। अत: प्रतिषेध अयुक्त है॥२८॥

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर उसी क्रम में सूत्रकार "अनुपलब्धिसम" के लक्षण का कथन करते हैं—

(५०६) तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः॥ २९॥

सूत्रार्थ— तदनुपलब्धेः = उस आवरण की अनुपलब्धि के, अनुपलम्भात् = उपलब्ध न होने के कारण, अभावसिद्धौ = आवरण की अनुपलब्धता का अभाव सिद्ध हो जाने से, तद्विपरीतोपपत्तेः = आवरण की अनुपलब्धि के विरुद्ध आवरण की उपलब्धता सिद्ध होने के कारण (शब्द अनित्य नहीं है, ऐसा कहना), अनुपलब्धिसमः = अनुलब्धिसम जाति प्रयोग माना जाता है।

व्याख्या— प्रतिपक्षी का आशय यह है कि शब्द की सत्ता प्रयत्न रूप उच्चारण से पूर्व थी; परन्तु उसकी अनुपलब्धता में हेतु वह आवरण है, जिसने शब्द को पूरी तरह ढक रखा है। इस कथन के आधार पर यदि आवरण की अनुपलब्धता द्वारा आवरण के अभाव की अभिव्यक्ति की जाती है, तो आवरण की अनुपलब्धता की स्थिति में उसका भी अभाव स्वीकारना होगा, जिससे आवरण का भाव सिद्ध हो जाएगा, जिसके द्वारा शब्द की अनित्यता में अवरोध खड़ा हो जायेगा और उस स्थिति में शब्द की नित्यता भी प्रमाणित हो जायेगी। ऐसा प्रदूषित प्रयोग अनुपलब्धिसम कहलाता है॥२९॥

अगले सूत्र में सूत्रकार "अनुपलब्धिसम" का उचित समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

(५०७) अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः॥ ३०॥

सूत्रार्थ— अनुपलब्धेः = अनुपलब्धता के, अनुपलम्भात्मकत्वात् = अनुपलम्भात्मकता से युक्त होने के कारण, अहेतुः = उपर्युक्त हेतु अनुपयुक्त हेतु है।

व्याख्या— जो वस्तु विद्यमान रहती है, उसके न रहने पर उस वस्तु का अभाव माना जाता है; परन्तु

जिसकी सत्ता का ही अभाव हो, उसके अभाव की अभिव्यक्ति किसी भी प्रकार युक्तियुक्त नहीं कही जा सकती। घट तभी उपलब्ध होगा, जब कुलाल (कुम्हार) के द्वारा उसका निर्माण कर दिया गया हो; किन्तु जब घट का निर्माण ही नहीं हुआ, तो घट की उपलब्धि कैसे हो सकती है? वादी ने कहा कि प्रयत्न के अनन्तर शब्द उत्पन्न होता है, इसलिए वह अनित्य है। प्रतिवादी ने कहा कि शब्द उच्चारण के पूर्व ही था; पर आवरण के कारण उसका प्राकट्य नहीं हो पाता। अत: यह कथन अनुचित एवं असंगत है कि शब्द अनित्य है। वादी ने अपना तर्क दिया- वह आवरण दिखाई तो देना चाहिए अर्थात् उसकी उपलब्धि तो होनी चाहिए, जबकि आवरण को किसी ने देखा ही नहीं। अत: आवरण की अनुपलब्धता सिद्ध है और दिखाई न भी दे, तो कानों से तो सुनाई पड़ना चाहिए; परन्तु वह सुनाई भी नहीं पड़ता। अत: आवरण की अनुपलब्धि से यह कारण अनुपयुक्त है तथा शब्द की अनित्यता में कोई बाधा नहीं आती॥३०॥

इस कथन की पुष्टि में सूत्रकार पुन: अन्य ढंग से समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(५०८) ज्ञानविकल्पानां च भावाभावसंवेदनादध्यात्मम्॥ ३१॥

सूत्रार्थ— ज्ञानविकल्पानाम् = अनेक तरह के ज्ञान विकल्पों का, भाव: = होने, च = तथा, अभाव: = न होने की, संवेदनात् = अनुभूति से इसका अनुभव, अध्यात्मम् = आत्मा में हुआ करता है, जिसके कारण यह उपर्युक्त हेतु युक्तियुक्त नहीं है।

व्याख्या— अनेक प्रकार के ज्ञान आत्मा के आश्रय में रहा करते हैं, जिनकी अनुभूति मनुष्य को होती है। मन के द्वारा उस ज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव आत्मा को होता रहता है। प्रत्यक्ष एवं अनुमानादि ज्ञान के अनेकों विकल्प समूहों के आत्मा में रहने की प्रतीति मनुष्य को होती रहती है। इसी तरह ज्ञान के विकल्पों का अनुभव तो मनुष्य कर लेता है; परन्तु शब्द के ऊपर आवरण चढ़ा है, जिसके कारण शब्द सुनाई नहीं पड़ता; ऐसी प्रतीति किसी को नहीं होती। कोई यह नहीं कहता कि हमें शब्द पर पड़ा आवरण भी दिखाई दे रहा है तथा आवरण का जो अभाव है, उसके अभाव का अभाव भी दिखाई पड़ रहा है। बुद्धि व विवेक से सम्पन्न समस्त मनुष्य ज्ञान के विकल्पों का अनुभव संवेदना के रूप में करते हैं; परन्तु आवरण एवं उसके अभाव का अभाव किसी ने अनुभव नहीं किया। अत: यही प्रतीति आवरण के रहने की सिद्धि कर देती है। शब्द के आवरण का काल्पनिक पक्ष सर्वथा निर्मूल है, इसलिए आवरण की उपलब्धता का जो हेतु पूर्व में (२९ वें सूत्र में) दिया गया था, वह असिद्ध है॥३१॥

अगले सूत्र में अब सूत्रकार क्रम से चलते हुए अनित्यसम जाति प्रयोग के स्वरूप का उल्लेख करते हैं—

(५०९) साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः॥ ३२॥

सूत्रार्थ— साधर्म्यात् = साधर्म्य से, तुल्यधर्मोपपत्तेः = समान धर्मिता की उपपत्ति के कारण, सर्वानित्यत्वप्रसङ्गात् = सभी के अनित्यत्व प्राप्ति का प्रसङ्ग उपस्थित होने से जो प्रतिषेध किया जाता है, वह; अनित्यसम: = अनित्यसम जाति प्रयोग होता है।

व्याख्या— अनित्यधर्मी घटादि के साथ समानता युक्त धर्म सिद्ध हो जाने पर सभी के अनित्यत्व की उपलब्धता की स्थिति में जो प्रतिषेध प्रयुक्त होता है, उसे "अनित्यसम" जाति कहते हैं। "अनित्य धर्म वाले घट की ही तरह शब्द भी अनित्य है।" वादी के इस कथन पर प्रतिवादी ने प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा कि घट के समस्त पदार्थों की सद्भावरूप साधर्म्यता होने के कारण सभी पदार्थों की अनित्यता स्वीकारी जानी चाहिए। पर ऐसा स्वीकारना असंगत है, कारण यह है कि सभी पदार्थ अनित्य नहीं माने जा सकते। इस मान्यता से कार्य-कारण भाव ही नहीं रहेगा, जिसकी प्रामाणिकता सभी प्रमाणों द्वारा प्रमाणित है। इस तरह अनित्यता का आधार लेकर किया जाने वाला प्रतिषेध अनित्यसम जाति प्रयोग कहलाता है॥३२॥

इस अनित्यसम प्रतिषेध का समाधान देते हुए सूत्रकार ने अगले सूत्र में कहा—

(५१०) साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्याच्च॥ ३३॥

सूत्रार्थ— साधर्म्यात् = साधर्म्य से, असिद्धेः = असिद्धि की उपलब्धि होने पर, प्रतिषेध्यसाधर्म्यात् = प्रतिषेध्य के साथ साधर्म्य के कारण, प्रतिषेधासिद्धिः = प्रतिषेध की असिद्धि हो जाती है, च = और।

व्याख्या— साधर्म्य के कारण यदि स्थापित पक्ष की असिद्धि को स्वीकार कर लिया जाता है, तो प्रतिषेध्य के साथ उसका साधर्म्य होने से प्रतिषेध की भी सिद्धि नहीं रह जाती। शब्द की अनित्यता के पक्षधर वादी के कथन की प्रतिक्रिया में प्रतिवादी ने कहा कि प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने वाले साधर्म्य भर से शब्द को अनित्य सिद्ध करने में पर्याप्त हेतु नहीं है। आशय यह है कि घट की तरह प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने वाले साधर्म्य से घट की भाँति शब्द की अनित्यता सिद्ध नहीं होती, तो उस स्थिति में घट के साधर्म्य के हेतु से सभी पदार्थों की (जिसमें शब्द भी सम्मिलित है) अनित्यता भला कैसे सिद्ध की जा सकती है? इस तरह प्रतिवादी के द्वारा किया गया कथन प्रतिज्ञाहानि के दोष से ग्रसित होने के कारण तर्कसंगत नहीं माना जा सकता॥३३॥

उपर्युक्त प्रयोग विधि को ही सूत्रकार अन्य तरह से समझाते हुए अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

(५११) दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात् तस्य चोभयथा भावान्नाविशेषः॥ ३४॥

सूत्रार्थ— दृष्टान्ते = दृष्टान्त में, साध्य-साधनभावेन = साध्य-साधन भाव से, प्रज्ञातस्य = पूर्व में जिसका ज्ञान हो चुका है, च = तथा, धर्मस्य = नियत धर्म के, हेतुत्वात् = हेतु होने से, च = और, उभयथा = दोनों तरह का, भावात् = होने के कारण, अविशेषः = समानता, न = नहीं रहती।

व्याख्या— अन्य तरह से गत सूत्र का समाधान करते हुए प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने कहा कि दृष्टान्त में साध्य-साधक भाव से पूर्व में ज्ञात हो चुके सुनिश्चित धर्म के साध्य को सिद्ध करने वाला हेतु होने के कारण, उस हेतु भाव के तथा साधर्म्य एवं वैधर्म्य दोनों तरह का होने के कारण पूर्वपक्षी एवं प्रतिपक्षी दोनों के हेतु एक जैसे नहीं हो सकते। आशय यह है कि दृष्टान्त में जो साध्य को सिद्ध करने वाला साधक धर्म विद्यमान होता है, उसे हेतु कहते हैं। वह सबके लिए एक जैसा नहीं हुआ करता। कभी किसी के अनुकूल और कभी प्रतिकूल। किसी के साथ सामान्य तथा किसी के साथ विशेष सम्बन्ध होने के कारण सामान्य के द्वारा साधर्म्य तथा विशेष के द्वारा वैधर्म्य उत्पन्न हो जाता है। ऐसी दशा में किसी एक पक्ष साधर्म्य अथवा वैधर्म्य का आधार लेकर किसी कथन की सिद्धि या प्रतिषेध, दोनों की समानता के कारण उपयुक्त नहीं। अतः एक ही पक्ष साधर्म्य के हेतु से सभी की अनित्यता की सिद्धि का कथन जो प्रतिपक्षी द्वारा किया गया है, उसका कोई औचित्य नहीं है॥३४॥

अगले सूत्र में सूत्रकार नित्यसम जाति का लक्षण बतलाते हैं—

(५१२) नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः॥ ३५॥

सूत्रार्थ— नित्यम् = नित्यता की स्थिति में, अनित्यभावात् = अनित्यता की विद्यमानता के कारण, अनित्ये = शब्द जैसे अनित्य पदार्थों में, नित्यत्वोपपत्तेः = नित्यता सिद्ध करने को लेकर किया जाने वाला प्रतिषेध, नित्यसमः = नित्यसम जाति प्रयोग कहलाता है।

व्याख्या— नित्यत्व में अनित्यत्व एवं अनित्यत्व में नित्यत्व के होने से नित्यसम दोष हुआ करता है। पूर्वपक्षी ने कहा— प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण शब्द अनित्य है। इस पर प्रतिपक्षी ने कहा — जिस अनित्यपने के कारण शब्द उत्पत्ति वाला है, क्या वह अनित्यपना शब्द में सदैव विद्यमान रहता है? या

कभी-कभी ही रहा करता है। यदि यह मान लिया जाय कि शब्द में अनित्यता वाला धर्म सदैव बना रहता है, तो उससे धर्मी की भी नित्यता सिद्ध हो जाती है और यदि यह माना जाय कि सदैव न रहकर कभी-कभी रहता है, तो वैसी स्थिति में उक्त अनित्यता रूप धर्म की ही अनित्यता सिद्ध हो जाती है और फिर यह कहना कि "शब्द अनित्य है" इसका औचित्य ही समाप्त हो जाता है ॥३५॥

अगले सूत्र में सूत्रकार इसका समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(५१३) प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्येऽनित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥ ३६ ॥

सूत्रार्थ— प्रतिषेध्ये = पूर्वपक्षी द्वारा प्रस्तुत पक्ष में, नित्यमनित्यभावात् = सदैव अनित्यत्व के बने रहने के कारण, अनित्ये = अनित्य पदार्थ शब्द आदि में, अनित्यत्वोपपत्तेः = अनित्यता की उपलब्धता (सिद्धि) से, प्रतिषेधाभावः = (शब्द की अनित्यता का) प्रतिषेध नहीं रह जाता।

व्याख्या— पूर्वपक्षी के पक्ष (शब्द की अनित्यता) का प्रतिपक्षी द्वारा "नित्यसम" से प्रतिषेध करने के कारण पूर्वपक्षी के पक्ष को "प्रतिषेध्य" की संज्ञा दी गई है। सूत्र में प्रयुक्त "प्रतिषेध्य" शब्द का यही तात्पर्य है। वादी द्वारा शब्द की अनित्यता का पक्ष स्थापित करने पर प्रतिवादी ने पूछा— शब्द में रहने वाली अनित्यता सदैव रहती है या कभी-कभी? इस तरह प्रतिवादी द्वारा शब्द का अनित्यत्व मान लेना तथा फिर उसके नित्यता का कथन करना युक्तियुक्त नहीं है। कारण यह है कि नित्यता की सिद्धि में अनित्यता को कारण नहीं माना जा सकता। इस आधार पर कारण के न होने से कार्य की सिद्धि भी नहीं की जा सकती। शब्द सदैव विद्यमान नहीं रहता और उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाने से उसकी अनित्यता भी प्रमाणित है। अतएव अनित्यत्व की नित्यता या अनित्यता को लेकर प्रश्न उठाने का औचित्य ही क्या है? यहाँ नित्यसम जाति प्रयोग सम्भव नहीं? अतः शब्द के अनित्यत्व में कोई बाधा नहीं है ॥३६॥

अगले सूत्र में सूत्रकार कार्यसम जाति का लक्षण बतलाते हैं—

(५१४) प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसमः ॥ ३७ ॥

सूत्रार्थ— प्रयत्नकार्यानेकत्वात् = प्रयत्न द्वारा अनेक कार्यों की उपलब्धि होने के कारण, कार्यसमः = कार्यसम दोष होता है।

व्याख्या— कार्यसम जाति प्रयोग वहाँ होता है, जहाँ शब्द की अनित्यता के पक्ष का प्रतिषेध यह कह कर किया जाय कि शब्द ही क्यों, अनेक कार्यों की उत्पत्ति शब्द की तरह ही प्रयत्न के अनन्तर हुआ करती है। प्रतिवादी ने शब्द की अनित्यता स्वीकारी तो; परन्तु यह भी कहा कि प्रयत्न से एक ही नहीं, अनेक कार्य उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ की उत्पत्ति तथा कुछ की अभिव्यक्ति हुआ करती है, तो अभिव्यक्ति से भी तो शब्द की सिद्धि मानी जा सकती है। उत्पत्ति ही क्यों स्वीकारी जाय; अभिव्यक्ति रूप कार्य भी तो प्रयत्न के अनन्तर ही उत्पन्न होना कहा गया है। इस तरह प्रयत्न के पश्चात् अनेक कार्यों के होने की अभिव्यक्ति से कार्यसम दोष होता है ॥३७॥

अब अगले सूत्र में समाधान प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार ने बताया—

(५१५) कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः ॥ ३८ ॥

सूत्रार्थ— कार्यान्यत्वे = शब्द से कार्य के अन्य होने पर, अनुपलब्धिकारणोपपत्तेः = अनुपलब्धता के कारण की सिद्धि होने से, प्रयत्नाहेतुत्वम् = प्रयत्न का हेतुत्व समाप्त हो जाता है।

व्याख्या— प्रयत्न द्वारा उत्पन्न होने से शब्द की सिद्धि कार्य के रूप में हो जाती है। यदि शब्द की उत्पत्ति प्रयत्न के अनन्तर होना स्वीकार न किया जाय, तो घट एवं पट आदि के समान ही शब्द स्थिर व सतत सुनाई पड़ने वाला होना चाहिए। कारण यह है कि शब्द को ढककर रखने वाला कोई आवरण न तो किसी

प्रमाण द्वारा प्रमाणित है और न ही आँखों से दिखाई पड़ता है। जो वस्तु आवरण युक्त होती है, उसका आवरण प्रयत्न हेतु से ही हटाना पड़ता है। घड़ा घर के अन्दर रखा है और दरवाजे पर पड़े परदे के व्यवधान के कारण उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है; परन्तु परदा रूप व्यवधान जब प्रयत्न हेतु से दूर कर दिया जाता है, उसी समय घट की अभिव्यक्ति हो जाती है। शब्द के लिए यह सूत्र लागू नहीं होता; क्योंकि शब्द और शब्द की अभिव्यक्ति के बीच कोई परदा रूप व्यवधान अथवा आवरण नहीं है। अभिव्यक्ति की विद्यमानता में आवरण उपलब्धता का कारण नहीं हुआ करता, अपितु आवरण रूप व्यवधान को दूर करने वाले घटादि रूप का अभिव्यक्त होना होता है; परन्तु जहाँ उत्पन्न होना रूप धर्म उपलब्ध है, वहाँ आवरण की उपलब्धि नहीं हो सकती। प्रयत्न रूप उच्चारणादि से पूर्व न कहीं आवरण था, न कहीं शब्द की सत्ता। इसलिए यह मान लेना उपयुक्त नहीं कि शब्द अभिव्यक्त होता है। कार्यसम जाति प्रयोग इस कथन में अनैकान्तिक होने के कारण तर्क संगत नहीं है ॥३८॥

(५१६) प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः ॥ ३९ ॥

सूत्रार्थ— प्रतिषेधे = प्रतिषेध करने में, अपि = भी, समानः = समान, दोषः = दोष है।

व्याख्या— प्रतिपक्षी ने कहा कि यदि अनैकान्तिक होने के कारण कार्यसम जाति प्रयोग युक्तियुक्त नहीं है, तो उसका प्रतिषेध भी दोषपूर्ण ही होगा अर्थात् उसके प्रतिषेध की सिद्धि भी प्रामाणिक नहीं कही जा सकती। कारण कि कहीं तो उससे किसी की मान्यता स्वीकारी जाती है और कहीं विरोध करना माना जाता है। इसी प्रकार कहीं तो शब्द की उत्पत्ति स्वीकारी जाती है और कहीं अभिव्यक्ति से उसे अनित्य माना जाता है। विशिष्ट हेतु दोनों में नहीं है, इसलिए समान दोष मानना ही उचित है ॥३९॥

इस तरह का कथनोपकथन सर्वत्र ही मिल सकता है अर्थात् यह दोष सर्वत्र अभिव्याप्त है। अगले सूत्र में यही भाव सूत्रकार ने स्पष्ट किया है—

(५१७) सर्वत्रैवम् ॥ ४० ॥

सूत्रार्थ— सर्वत्र = सभी जगह, एवम् = इस तरह का दोष संव्याप्त रहने की सम्भावना है।

व्याख्या— गत विवेचन में जिस अनैकान्तिक दोष की चर्चा की गई है, वाद-विवाद के अन्तर्गत दोनों ही पक्षों में जाति प्रयोग करने पर यह दोष उपस्थित हो सकता है। अतएव यह दोष उपयोगी नहीं माना जा सकता। साधर्म्य आदि २४ भेदों में प्रसक्ति रहने के कारण सभी प्रमाणसिद्ध माने जाते हैं ॥४०॥

कथनोपकथन का व्यावहारिक स्वरूप स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने अगले सूत्र में बताया—

(५१८) प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः ॥ ४१ ॥

सूत्रार्थ— प्रतिषेधविप्रतिषेधे = प्रतिषेध का तदनुरूप विप्रतिषेध होने की स्थिति में, प्रतिषेधदोषवत्-दोषः = प्रतिषेध में होने वाले दोष की तरह विप्रतिषेध में भी दोष का होना पाया जाता है।

व्याख्या— वादी द्वारा अपना पक्ष स्थापित करने पर प्रतिवादी उसका प्रतिषेध अनैकान्तिकता का दोष उपस्थित करके करता है और फिर उसके प्रत्युत्तर में वादी उसका खण्डन करने के लिए प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत किये गये पक्ष के समान ही अनैकान्तिक आदि दोष उपस्थित कर देता है। इससे जो दोष वादी के पक्ष में था, वही प्रतिवादी के पक्ष में भी आ जाता है। छः प्रकार से इस कथनोपकथन का स्वरूप बताया गया है— घट आदि के समान प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न किये जाने से कार्यत्वयुक्त शब्द के अनित्यत्व का कथन 'पहला पक्ष' हुआ। प्रतिवादी द्वारा जाति प्रयोग से प्रतिषेध प्रस्तुत करते हुए कार्य की अनेकता (प्रयत्न से अनेक कार्यों के उत्पन्न होने) का कथन चर्चा का 'दूसरा पक्ष' हुआ। प्रतिवादी एवं वादी दोनों के पक्षों में समान रूप से व्यभिचारी दोष होने का कथन चर्चा का ''तीसरा पक्ष'' हुआ और विप्रतिषेध में भी प्रतिषेध जैसे अनैकान्तिक

दोष की विद्यमानता का कथन करना चर्चा का ''चौथापक्ष'' हुआ ॥४१ ॥

चर्चा का पाँचवाँ पक्ष सूत्रकार अगले सूत्र में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

(५१९) प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥४२ ॥

सूत्रार्थ— प्रतिषेधम् = दूसरे पक्ष का प्रतिषेध, सदोषम् अभ्युपेत्य = दोष से युक्त मानकर, प्रतिषेधविप्रतिषेधे = प्रतिषेध करने के विप्रतिषेध की स्थिति में (जब तीसरे पक्ष की चर्चा में वादी अपनी बात चौथे पक्ष से व्यक्त करता है), समानः = समान (अर्थात् प्रतिपक्ष ने जिसे तीसरे पक्ष में प्रस्तुत किया था, वैसा ही), दोषप्रसङ्गः = दोष का प्रसङ्ग, मतानुज्ञा = मतानुज्ञा है (अन्य के मत की स्वीकारोक्ति है)।

व्याख्या— पूर्वपक्ष की स्थापना करने वाला, पाँचवें पक्ष की चर्चा में अपनी अभिव्यक्ति इस रूप में कर रहा है कि दूसरे पक्ष की चर्चा में, हमारे पक्ष की प्रतिक्रिया में प्रतिपक्षी ने हमारे पक्ष को अनैकान्तिक दोष से युक्त कहा था। चौथे पक्ष की चर्चा में प्रतिवादी ने अपने द्वारा ही किये गये (दूसरे पक्ष) प्रतिषेध को दोष के साथ स्वीकार करके उस दोष को तीसरे पक्ष में भी प्रदूषित कर दिया, दूसरे पक्ष को दोष से युक्त मानकर तीसरे पक्ष अर्थात् प्रतिषेध के प्रतिषेध में भी दोष आरोपित कर देना ''मतानुज्ञा'' है। इस प्रकार पाँचवें पक्ष के कथन का स्वरूप स्पष्ट हुआ ॥४२ ॥

आह्निक का अन्तिम सूत्र प्रस्तुत करके सूत्रकार ने चर्चा का छठवाँ पक्ष स्पष्ट किया—

(५२०) स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्षदोषाभ्युपगमात्समानो दोषः ॥४३ ॥

सूत्रार्थ— स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे = अपने पक्ष से लक्ष्य किये गये दोष के लक्षणों की अपेक्षा से प्रस्तुत हुए पक्ष की प्रामाणिकता का कथन करने वाले, हेतुनिर्देशे = (पाँचवें पक्ष की चर्चा में) कारण के निर्देश में, परपक्षदोषाभ्युपगमात् = दूसरे पक्ष में दोष की स्वीकारोक्ति से, समानः = समान, दोषः = दोष होता है।

व्याख्या— पाँचवें पक्ष की चर्चा में वादी के वक्तव्य पर, अपनी प्रतिक्रिया स्वरूप प्रतिवादी ने कहा कि वादी द्वारा प्रस्तुत दोष वादी के पक्ष में भी उपस्थित किया जा सकता है। प्रथम पक्ष की स्थापना में दूसरे पक्ष से जो अनैकान्तिकता का दोष आरोपित किया गया, उस दोष का निराकरण न करके वादी ने उसी दोष को प्रतिवादी के द्वारा प्रस्तुत किये गये दूसरे पक्ष में आरोपित बताया और वादी ने अपने पक्ष में रहने वाले दोष को प्रतिवादी द्वारा दिखाये जाने पर उसे स्वीकारा, यह भी स्पष्ट है। अतः वैसे ही दोष को समान रूप से लगाने के कारण उत्पन्न चर्चा छठवाँ पक्ष है। दोष का निवारण किये बिना उसके दोष पक्ष में भी दोष का कथन करना ही मतानुज्ञा निग्रह स्थान कहा जाता है। इसे इस तरह समझें— किसी ने किसी पर चोरी का आरोप लगाया, इस पर आरोपी व्यक्ति अपने आरोप का निवारण किये बिना चोरी लगाने वाले को भी चोरी का आरोपी सिद्ध करने लगता है और अपने उस प्रयत्न से अपने प्रतिपक्षी का चोर होना प्रमाणित भी कर देता है, फिर भी वह उससे अपने को चोरी के आरोप से मुक्त नहीं कर सकता। अपने ऊपर लगे आरोप का निवारण तो वह उसी स्थिति में कर सकता है, जब उसके ऊपर लगा चोरी का आरोप साक्ष्यों से निराधार सिद्ध हो ॥४३ ॥

॥ इति पञ्चमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ॥

॥ अथ पञ्चमाध्याये द्वितीयाह्निकम् ॥

विप्रतिपत्ति एवं अप्रतिपत्ति दोनों के विकल्प से निग्रह स्थान की उत्पत्ति होती है, प्रथम अध्याय (१.२.२०) में प्रसङ्ग आ चुका है। निग्रह स्थान का सम्यक् ज्ञान दोनों (पूर्वपक्षी-प्रतिपक्षी) के लिए अति आवश्यक है; क्योंकि वादी व प्रतिवादी निग्रह स्थान के घेरे में आकर निगृहीत (पराजित) हो जाया करते हैं। सूत्रकार इस द्वितीय आह्निक में निग्रह स्थान के लक्षणों के साथ उसके भेदों की विवेचना कर रहे हैं—

(५२१) प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ॥१ ॥

सूत्रार्थ— प्रतिज्ञाहानिः हेत्वाभासाः = १. प्रतिज्ञाहानि २. प्रतिज्ञान्तर ३. प्रतिज्ञाविरोध ४. प्रतिज्ञासंन्यास ५. हेत्वन्तर ६. अर्थान्तर ७. निरर्थक ८. अविज्ञातार्थ ९. अपार्थक १०. अप्राप्तकाल ११. न्यून १२. अधिक १३. पुनरुक्त १४. अननुभाषण १५. अज्ञान १६. अप्रतिभा १७. विक्षेप १८. मतानुज्ञा १९. पर्यनुयोज्योपेक्षण २०. निरनुयोज्यानुयोग २१. अपसिद्धान्त २२. हेत्वाभास, च = भी, निग्रहस्थानानि = निग्रहस्थान होते हैं।

व्याख्या— कुल बाईस (२२) निग्रहस्थान हैं। इनके लक्षण व दृष्टान्त अलग-अलग वर्णित किये गये हैं।

अगले सूत्र में सूत्रकार प्रतिज्ञाहानि की विवेचना आरम्भ करते हैं—

(५२२) प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा = प्रतिपक्षी द्वारा प्रस्तुत किये गये दृष्टान्त के धर्म की स्वीकारोक्ति कर लेने पर स्वदृष्टान्ते = अपने दृष्टान्त में (जो निग्रह स्थान उभरता है), प्रतिज्ञाहानिः = उसे ''प्रतिज्ञाहानि'' कहा जाता है।

व्याख्या— अपने द्वारा रखे गये पक्ष के विरोध में प्रतिपक्षी द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्त अथवा कारणों को मान लेने पर अपने पक्ष में ''प्रतिज्ञाहानि'' निग्रह स्थान का अवसर उपलब्ध हो जाता है। जैसे— पूर्वपक्षी ने प्रतिज्ञा पूर्वक कथन किया कि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने के कारण शब्द अनित्य है; क्योंकि इन्द्रियों का विषय होने वाला घट भी अनित्य है। जिस प्रकार घड़ा आँखों द्वारा देखा जा सकता है, उसी प्रकार शब्द श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा सुना जाता है। इस साधर्म्य के हेतु से शब्द, घट जैसा अनित्य है। पूर्वपक्षी के इस पक्ष के विरोध में प्रतिपक्षी ने अपना पक्ष रखते हुए कहा कि शब्द अनित्य न होकर नित्य है; क्योंकि सामान्य जाति भी इन्द्रिय ग्राह्य है (घटत्व आदि जाति में), इस कारण उसकी भी नित्यता है। अतः शब्द भी नित्य माना जा सकता है।

इस तरह प्रतिपक्षी द्वारा अपने पक्ष का खण्डन किये जाने की स्थिति में पूर्वपक्षी यदि यह कहे कि जिस तरह इन्द्रिय ग्राह्य होने से सामान्य घटत्व आदि जाति का नित्यत्व मान्य हो सकता है, वैसे ही शब्द की भी नित्यता स्वीकारी जानी चाहिए। यहाँ दूसरे के पक्ष को स्वीकार कर अपने पक्ष की सिद्धि न करके पूर्वपक्षी ने अपना पक्ष ही त्याग दिया, जिससे पक्ष हानि होने पर पराजय का अवसर उभर आया। यही प्रतिज्ञा हानि 'निग्रह स्थान' कहलाता है ॥२ ॥

अगले सूत्र में प्रतिज्ञान्तर निग्रह स्थान का लक्षण बतलाते हैं—

(५२३) प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ॥३ ॥

सूत्रार्थ— प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे = प्रतिज्ञात अर्थ का खण्डन होने पर, धर्मविकल्पात् = धर्म के विकल्पों से, तदर्थनिर्देश: = उस प्रतिज्ञा अर्थ के निर्देश रूप कथन, प्रतिज्ञान्तरम् = प्रतिज्ञान्तर नाम वाला निग्रह स्थान कहलाता है।

व्याख्या— जहाँ अपने द्वारा स्थापित की गई प्रतिज्ञा का प्रतिषेध किये जाने पर प्रतिपक्षी द्वारा रखे गये प्रश्न का समुचित उत्तर दिये बिना ही किसी दूसरी प्रतिज्ञा की स्थापना कर दी जाती है, वहाँ प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थान होता है। जैसे— प्रतिज्ञात अर्थ के रूप में वादी ने कहा इन्द्रिय (श्रोत्रेन्द्रिय)का विषय होने के कारण शब्द अनित्य है। प्रतिवादी ने इसका खण्डन करते हुए कहा— शब्द नित्य है; क्योंकि वह भी सामान्य (जाति) की भाँति इन्द्रिय का विषय है। इस प्रतिज्ञात अर्थ का निषेध हो जाने पर वादी ने इन्द्रियग्राह्यता रूप साधर्म्य स्वीकार करके दूसरी प्रतिज्ञा स्थापित करते हुए कहा कि घट एवं शब्द में सर्वगतत्व नहीं है, इसलिए दोनों ही अनित्य हैं। वादी की इस प्रतिज्ञा के कथन से प्रतिज्ञान्तरनिग्रहस्थान की उपलब्धि हुई। इसका कारण यह है कि वादी ने अपनी पूर्व प्रतिज्ञा ''शब्द अनित्य है'' की सिद्धि किये बिना ही दूसरी प्रतिज्ञा कर दी कि शब्द सर्वगत नहीं है। प्रतिज्ञा की सिद्धि प्रतिज्ञा द्वारा नहीं हुआ करती, उसे सिद्ध करने में या तो दृष्टान्त प्रयुक्त होते हैं अथवा हेतु। इस तरह प्रतिज्ञान्तर निग्रह स्थान का लक्षण स्पष्ट किया गया॥३॥

सूत्रकार ने अगले सूत्र में प्रतिज्ञा विरोध का स्वरूप समझाया—

(५२४) प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोध: प्रतिज्ञाविरोध:॥ ४॥

सूत्रार्थ— प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोध: = प्रतिज्ञा एवं हेतु के परस्पर विरोधी होने की स्थिति में, प्रतिज्ञाविरोध: = प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान होता है।

व्याख्या— जिस स्थान में प्रतिज्ञा एवं हेतु आपस में एक दूसरे के विरुद्ध खड़े हों, वहाँ प्रतिज्ञाविरोध निग्रहस्थान होता है। जैसे— वादी ने प्रतिज्ञा की- द्रव्य, गुण आदि से भिन्न है; क्योंकि रूपादि गुणों से अलग प्रकार के कोई भी द्रव्य दृष्टिगोचर नहीं होते। इस कथन में वादी ने जो हेतु प्रस्तुत किया है, वह प्रतिज्ञा विरुद्ध है। यदि रूपादि गुणों से भिन्न द्रव्यों की उपलब्धता प्रमाणित होती, तो उनकी अनुपलब्धता भला क्यों सिद्ध होती? हेतु निर्देश के अनुरूप यदि रूप आदि गुणों से भिन्न किसी प्रकार के द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती, तो वैसी दशा में गुण आदि से भिन्न किसी पदार्थ की उपलब्धि का पक्ष प्रस्तुत करना युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता। इस तरह प्रतिज्ञा एवं हेतु में परस्पर विरोध होने के कारण उपर्युक्त विवेचन में प्रतिज्ञा विरोध निग्रह स्थान का होना पाया गया॥४॥

अब अगले सूत्र में सूत्रकार ने प्रतिज्ञासंन्यास का लक्षण बतलाया—

(५२५) पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यास:॥ ५॥

सूत्रार्थ— पक्षप्रतिषेधे = पक्ष का प्रतिषेध होने की दशा में, प्रतिज्ञातार्थ = प्रतिज्ञात अर्थ का, अपनयनम् = छोड़ देना (त्याग देना), प्रतिज्ञासंन्यास: =प्रतिज्ञासंन्यास निग्रह स्थान है।

व्याख्या— अपने द्वारा स्थापित पक्ष का प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध करने पर वादी का अपने कथन से मुकर (प्रतिज्ञा का त्याग) जाने अर्थात् प्रतिज्ञात अर्थ को छोड़ने की स्थिति में प्रतिज्ञासंन्यास निग्रह स्थान होता है। जैसे— वादी ने कहा शब्द इन्द्रिय ग्राह्य होने के कारण अनित्य है। इस पर प्रतिवादी ने कहा कि सामान्य (जाति) भी तो इन्द्रियग्राह्य है; लेकिन वह नित्य है। इस आधार पर तो शब्द को अनित्य नहीं होना चाहिए।

इस पर वादी हड़बड़ाकर अपनी की गई प्रतिज्ञा को छोड़कर यह कह उठे कि हमने कब कहा कि शब्द अनित्य है। वादी का इस तरह अपने पक्ष का त्याग कर देना मानो अपनी प्रतिज्ञा से संन्यास लेना है। यही प्रतिज्ञा संन्यास है॥५॥

अगले सूत्र में हेत्वन्तर निग्रह स्थान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने बताया—

(५२६) अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम्॥ ६॥

सूत्रार्थ— अविशेषोक्ते = सामान्य रूप से कहे हुए, हेतौ = हेतु का, प्रतिषिद्धे = प्रतिषेध करने की स्थिति में, विशेषम् = विशिष्ट हेतु देकर, इच्छतः = इच्छापूर्वक किये गये कथन को, हेत्वन्तरम् = हेत्वन्तर निग्रहस्थान कहते हैं।

व्याख्या— जहाँ अपने द्वारा स्थापित पक्ष की प्रामाणिकता में प्रयुक्त सामान्य हेतु प्रतिपक्षी द्वारा काट दिया जाता है, उस प्रतिषेध की स्थिति में चाहकर अन्य विशेष हेतु का प्रयोग करके अपने पक्ष की सिद्धि का कथन करना हेत्वन्तर निग्रह स्थान है। जैसे— वादी ने कहा कि परिमाण युक्त होने के कारण घट एक हेतु वाला माना जाता है। इस कथन का प्रतिषेध करते हुए प्रतिवादी ने कहा कि जो पदार्थ एक से अधिक हेतु वाले होते हैं, वे भी परिमाण युक्त हुआ करते हैं; अतएव आपका हेतु उपयुक्त नहीं हो सकता। इस पर वादी ने अपना पक्ष रखते हुए उसमें प्रयुक्त पूर्व हेतु का त्याग कर दूसरा हेतु दिया कि आकार-प्रकार की विशिष्टता होने से घड़ा एक हेतु वाला माना जाता है। इस कथन में पहला हेतु वादी ने परिमाण युक्त होना प्रयुक्त किया, उसका प्रतिषेध होने पर उससे भिन्न अन्य हेतु विशिष्ट आकार-प्रकार का दिया है। अतएव पूर्व हेतु का त्याग करके अन्य हेतु को अपनाना ही हेत्वन्तर निग्रहस्थान है ॥६॥

निग्रह स्थानों के विवेचनात्मक क्रम में सूत्रकार अगले सूत्र में अर्थान्तर का लक्षण बतलाते हैं—

(५२७) प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम्॥ ७॥

सूत्रार्थ— प्रकृतात् = प्रस्तुत प्रतिज्ञात, अर्थात् = अर्थ से,अप्रतिसम्बद्धार्थम् = अलग प्रकार के असम्बद्ध अर्थ के कहने की स्थिति में, अर्थान्तरम् = अर्थान्तर होता है।

व्याख्या— जो प्रसङ्ग उपस्थित है, उससे सम्बन्धित अर्थ का त्याग करके प्रसङ्ग से सम्बन्ध न रखने वाले अर्थ का कथन करने पर जो निग्रह स्थान होता है, उसे अर्थान्तर कहा जाता है। जैसे— किसी ने शब्द की अनित्यता का प्रसङ्ग उठाते हुए कहा कि घट की भाँति प्रयत्न होने के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण शब्द अनित्य है। इसके तुरन्त बाद यह कहने लगा कि शब्द एक गुण है। आकाश द्रव्य में शब्द का रहना प्रमाण सिद्ध है। इस तरह प्रसङ्ग में स्थित मूल साध्य विषय से हटकर उससे सम्बन्ध न रखने वाली बातें करने के कारण यहाँ अर्थान्तर निग्रहस्थान है। एक अन्य दृष्टान्त से भी इसे समझ सकते हैं— किसी ने कहा स्पर्श से हीन होने से शब्द नित्य है। इतना कहकर जो हेतु दिया, उसकी व्याख्या करने लगा कि हेतु एक पद है, जो हिनोति धातु से बना है। इसके चार प्रकार होते हैं। इस प्रकार प्रसङ्ग से अलग हटकर अन्य अप्रासङ्गिक विषय का कथन करना अर्थान्तर निग्रहस्थान कहलाता है ॥७॥

अब निरर्थक निग्रहस्थान का स्वरूप समझाते हैं—

(५२८) वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम्॥ ८॥

सूत्रार्थ— वर्णक्रमनिर्देशवत् = मात्र क्रम पूर्वक वर्णों का कथन कर देना, निरर्थकम् = निरर्थक निग्रहस्थान कहलाता है।

व्याख्या— जिन वर्णों के क्रम प्राप्त कथन का कोई उपयोगी अर्थ प्राप्त न हो सके, उसे निरर्थक कहा गया है। जैसे किसी ने कहा— प, फ, ब, भ, म अनित्य है। त, थ, द, ध, न के होने से च, छ, ज, झ, ञ के समान होने के कारण। इस तरह की अर्थहीन चर्चा निरर्थक निग्रहस्थान कहलाती है। इसमें वर्ण ही साधन, वर्ण ही साध्य एवं वर्ण ही दृष्टान्त हैं। इनकी न तो कोई सार्थकता है और न ही कोई ज्ञातव्यता ॥८॥

अगले सूत्र में अविज्ञातार्थ निग्रह स्थान का स्वरूप बतलाते हुए सूत्रकार ने कहा—

(५२९) परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम्॥ ९॥

सूत्रार्थ— परिषत्प्रतिवादिभ्याम् = परिषत् तथा प्रतिवादी के द्वारा, त्रिरभिहितम् = तीन बार कहे जाने पर, अपि = भी, अविज्ञातम् = अर्थ का ज्ञान नहीं हो पाता (उस स्थिति में), अविज्ञातार्थम् = अविज्ञातार्थ निग्रह स्थान होता है।

व्याख्या— पक्ष स्थापित करने वाला अपने कथन की अभिव्यक्ति इतनी कठिन शब्दावली में करे या इतनी विशिष्टता वाले पद का प्रयोग करे जिनका उपयोग सामान्यतः नहीं हुआ करता या इतनी तीव्रता से उच्चारण करे, जिससे श्रोतागण कुछ समझ ही नहीं सकें अथवा इतनी मन्दगति से उच्चारण करे कि प्रयत्नपूर्वक सुनने के बाद भी नहीं सुन सकें। पूर्वपक्षी के द्वारा तीन बार पक्ष का कथन किये जाने पर भी उपर्युक्त कारणों से प्रतिवादी सहित अन्य समस्त सभासद भी जब कही गई शब्दावली के ज्ञान से अनभिज्ञ रह जाते हैं, तो पूर्वपक्षी का कथन अविज्ञात निग्रह स्थान की परिधि में आ जाता है॥९॥

सूत्रकार ने अपार्थक निग्रह स्थान का स्वरूप बताया—

(५३०) पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम्॥ १०॥

सूत्रार्थ— पौर्वापर्यायोगात् = पूर्वापर सम्बन्ध के अभाव से, अप्रतिसम्बद्धार्थम् = असम्बद्ध अर्थयुक्त होने पर, अपार्थकम् = अपार्थक निग्रहस्थान होता है।

व्याख्या— प्रसङ्ग प्राप्त चर्चा के अन्तर्गत जब ऐसी शब्दावली का उच्चारण किया जाय, जिसका पूर्वापर के साथ किसी तरह का पारस्परिक अर्थ सम्बन्ध मालूम न पड़ता हो; इस प्रकार सम्बन्ध विहीन अर्थ वाले पदों का प्रयोग करने की स्थिति में अपार्थक निग्रहस्थान होता है। तात्पर्य यह है कि जो वाक्य असम्बद्ध अर्थ से युक्त तथा पूर्वापर प्रसङ्ग वाले होते हैं, उनको अपार्थक कहा जाता है। जैसे— छह अनार, दस घोड़े, छह पुये, (षड्पूपाः, षड्दाडिमानि) आदि असम्बद्ध वाक्यों का प्रयोग करना अपार्थक निग्रहस्थान है॥१०॥

क्रमानुसार अब अप्राप्तकाल निग्रहस्थान का स्वरूप समझाते हैं—

(५३१) अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम्॥ ११॥

सूत्रार्थ— अवयवविपर्यासवचनम् = अवयवों के उलटे-सीधे अथवा विपरीत कथन को, अप्राप्तकालम् = अप्राप्तकाल कहते हैं।

व्याख्या— न्याय शास्त्र के पहले अध्याय में वर्णित प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन आदि पाँचों वाक्यों के अवयवों का कथन क्रम के अनुसार न करके उलटा-पुलटा कह देना अप्राप्तकाल निग्रहस्थान माना जाता है। पंचावयवों का अपना एक क्रम सुनिश्चित है। इसका प्रयोग चर्चा आदि में अनिवार्य रूप से किया जाता है; क्योंकि इससे जिस अर्थ की अपेक्षा की जाती है, उस अर्थ की अभिव्यक्ति में सहायता मिलती है। बिगड़े क्रम से इनका प्रयोग करने पर अपेक्षित अर्थ की उपलब्धि असम्भावित हो जाती है। यदि क्रम प्राप्त पहले प्रतिज्ञा फिर हेतु, तत्पश्चात् उदाहरण आदि का कथन न करके पहले निगमन फिर उपनय फिर प्रतिज्ञा का प्रयोग किया जाय, तो अप्राप्तकाल निग्रहस्थान होता है॥११॥

अब न्यून निग्रह स्थान का स्वरूप समझाते हैं —

(५३२) हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्॥ १२॥

सूत्रार्थ— अन्यतमेन = पंचावयवों में से किसी के, हीनम् = न रहने पर, अपि = भी, अवयवेन = अवयव द्वारा की गयी अभिव्यक्ति, न्यूनम् = न्यूननिग्रह स्थान कहलाती है।

व्याख्या— साध्य अर्थ की भली-भाँति प्रामाणिक उपलब्धि के लिए साध्य के कथन में पञ्चावयवों का प्रयोग करना अनिवार्य माना गया है। पाँचों अवयवों के वाक्यों के सही प्रयोग से जो अर्थ प्राप्त होता है, वह अपेक्षा के अनुरूप संशयरहित हुआ करता है। कथन के अन्तर्गत पाँचों अवयवों के वाक्यों में से यदि किसी एक अवयव का कथन न किया जाय, तो उससे साध्य की सिद्धि बाधित बनी रहती है; क्योंकि पाँचों अवयवों से अपेक्षित अर्थ की प्राप्ति होती है। यदि एक भी हीन हो जाये, तो अर्थ की सिद्धि नहीं हो पाती॥१२॥

अगले सूत्र में सूत्रकार अधिक नामक निग्रहस्थान का स्वरूप समझाते हैं—

(५३३) हेतूदाहरणाधिकमधिकम्॥ १३॥

सूत्रार्थ— हेतूदाहरणाधिकम् = हेतु तथा उदाहरण की प्रयोगाधिकता होने पर, अधिकम् = अधिक नाम का निग्रहस्थान होता है।

व्याख्या— चर्चा के अन्तर्गत जब हेतु एवं उदाहरण का प्रयोग बार-बार किया जाने लगता है, तो 'अधिक' निग्रह स्थान का होना पाया जाता है। पूर्वपक्षी के पक्ष का प्रतिषेध करने में प्रतिपक्षी एक हेतु प्रस्तुत करने पर दूसरा हेतु उदाहरण सहित इस भाव से प्रस्तुत करे कि हो सकता है पहले वाला हेतु एवं दृष्टान्त उतना प्रभावी न हो। फिर किसी अन्य हेतु व दृष्टान्त का कथन अपनी बात को और अधिक समर्थता देने हेतु कर दे। इस तरह अनावश्यक रूप से बारम्बार हेतुओं एवं दृष्टान्तों का कथन करना अधिक नामक निग्रहस्थान होता है॥१३॥

इसके अनन्तर अब पुनरुक्त का स्वरूप समझाते हैं—

(५३४) शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्॥ १४॥

सूत्रार्थ— शब्दार्थयोः = शब्द एवं अर्थ का कथन करके, अन्यत्र = दूसरी जगह पर, अनुवादात् =अनुवाद से (अतिरिक्त), पुनः = दोबारा, वचनम् = कहना, पुनरुक्तम् = पुनरुक्त नामक निग्रहस्थान है।

व्याख्या— अनुवाद के अतिरिक्त किसी प्रयोजन से जब किसी शब्दावली एवं उसके अर्थ का कथन दुबारा अथवा उससे अधिक बार किया जाता है, तो वहाँ पुनरुक्त निग्रहस्थान होता है। अनुवाद में जो शब्द अथवा अर्थ बार-बार दुहराये जाते हैं, वह दुहराने वाली प्रक्रिया प्रयोजन विशेष के कारण की जाती है; क्योंकि वहाँ अर्थ विशिष्ट का ज्ञान होना रूप प्रयोजन अभीष्ट रहा करता है। जैसे— अरे आओ-आओ, देखो-देखो, भागो-भागो आदि। इस तरह के कथन में पुनरुक्त दोष नहीं रहता॥१४॥

सूत्रकार ने अगले सूत्र में पुनरुक्त का एक और भी स्वरूप बतलाया है—

(५३५) अनुवादे त्वपुनरुक्तं शब्दाभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः॥ १५॥

सूत्रार्थ— शब्दाभ्यासात् = शब्द के अभ्यास से, अर्थविशेषोपपत्तेः = विशिष्ट अर्थ की उपपत्ति होने से, अनुवादे त्वपुनरुक्तम् = अनुवाद में पुनरुक्त दोष का होना नहीं होता।

व्याख्या— शब्द विशेष अथवा वाक्य विशेष की पुनरभिव्यक्ति जब आवश्यकता पड़ने पर तथा विशेष अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिए की जाती है, तो उस अनुवाद में पुनरुक्त दोष नहीं माना जाता। जैसे- कारण का कथन करके प्रतिज्ञा की पुनरभिव्यक्ति निगमन है और इसका कथन कारण तथा दृष्टान्त द्वारा प्रतिज्ञा को प्रमाणित करने के लिए किया जाता है॥ १५॥

प्रस्तुत सूत्र में अनुवाद एवं पुनरुक्त का अन्तर स्पष्ट कर रहे हैं —

(५३६) अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम्॥ १६॥

सूत्रार्थ— अर्थादापन्नस्य = अर्थ से उपलब्ध हुए भाव का, स्वशब्देन = अपने शब्दों से, पुनर्वचनम् = उसी की पुनरभिव्यक्ति करने पर भी पुनरुक्त दोष होता है।

व्याख्या— जिस अर्थ का ज्ञान अर्थापत्ति द्वारा पहले ही हो गया है, पुन: उसी की अभिव्यक्ति शब्दों द्वारा किये जाने पर पुनरुक्त दोष उपस्थित होता है। जैसे— किसी ने कहा कि उत्पत्ति धर्मी होने से पदार्थ घट आदि अनित्य हैं। इसका भाव अर्थापत्ति से जान लिया कि जो पदार्थ उत्पन्न धर्मी नहीं हैं, वे नित्य होते हैं। अब शब्दों से पुन: उसकी अभिव्यक्ति ही पुनरुक्त दोष है॥१६॥

अगले सूत्र में सूत्रकार ने अननुभाषण निग्रहस्थान का स्वरूप स्पष्ट किया—

(५३७) विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यप्रत्युच्चारणमननुभाषणम्॥ १७॥

सूत्रार्थ— विज्ञातस्य = भली प्रकार ज्ञात अर्थ का, परिषदा = पार्षदों (श्रोता समूह) द्वारा, त्रिरभिहितस्य = तीन बार कहे जाने के बाद, अपि = भी, अप्रत्युच्चारणम् = प्रत्युत्तर में उस कथन की शब्दाभिव्यक्ति न करना, अननुभाषणम् = अननुभाषण नामक निग्रहस्थान कहलाता है।

व्याख्या— जब प्रतिपक्षी द्वारा तीन बार कथन किये जाने के कारण समस्त सभासदों सहित पूर्वपक्षी ने भी भली प्रकार समझ लिया हो। सभी श्रोतागण एवं पूर्वपक्षी अच्छी प्रकार कथन का आशय जान सकें, इसी उद्देश्य से प्रतिपक्षी ने अपनी शब्दावली तीन बार दुहरायी हो; परन्तु पूर्वपक्षी इतना होने के बाद भी (सब कुछ अच्छी तरह जानते हुए भी) प्रतिपक्षी के कथन का उच्चारण न करे, कोई प्रत्युत्तर न दे और चर्चा के अन्तर्गत जब प्रतिषेध का अवसर सामने हो, तब पूर्वपक्षी अथवा प्रतिपक्षी में से कोई भी सब कुछ जानकर भी मौन साध ले; कुछ बोले ही नहीं, तो वहाँ अननुभाषण नामक निग्रहस्थान होता है॥१७॥

अगले सूत्र में अज्ञान निग्रहस्थान का लक्षण स्पष्ट करते हैं—

(५३८) अविज्ञातं चाज्ञानम्॥ १८॥

सूत्रार्थ— अविज्ञातम् = अभिव्यक्त हुए शब्दार्थ का ज्ञान न हो पाने पर, च = भी, अज्ञानम् = अज्ञान निग्रह स्थान का होना माना जाता है।

व्याख्या— अपने पक्ष का मंडन तथा दूसरे के पक्ष का खण्डन तभी हो सकता है, जब चर्चा में प्रयुक्त वाक्यार्थों का भली-भाँति ज्ञान हो। अज्ञानता की स्थिति में पूर्वपक्षी अथवा प्रतिपक्षी दोनों में से कोई भी प्रभावी उत्तर देकर अपने पक्ष की दृढ़ता स्थापित नहीं कर सकता तथा अज्ञान नामक निग्रहस्थान में उलझ जाता है। बार-बार कहे जाने के बाद भी बनी रहने वाली अज्ञानता ही अज्ञान निग्रहस्थान कहलाती है॥१८॥

अगले सूत्र में अप्रतिभा निग्रहस्थान का स्वरूप समझाते हैं—

(५३९) उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा॥ १९॥

सूत्रार्थ— उत्तरस्य = उत्तर का यथावसर, अप्रतिपत्तिः = प्राप्त न हो पाना, अप्रतिभा = अप्रतिभा निग्रह स्थान कहलाता है।

व्याख्या— पूर्वपक्षी द्वारा अपना पक्ष रखने पर, जब प्रतिपक्षी द्वारा प्रतिषेध के अवसर पर उसका उत्तर नहीं दिया जाता अर्थात् उस समय उसे कोई उत्तर नहीं सूझता, तो यह अप्रतिभा निग्रहस्थान कहलाता है। यह स्थिति (वादी हो अथवा प्रतिवादी) दोनों के लिए समान रूप से उपलब्ध हो सकती है॥१९॥

विक्षेप नामक निग्रहस्थान का लक्षण अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं—

(५४०) कार्यव्यासङ्गात्कथाविच्छेदो विक्षेपः॥ २०॥

सूत्रार्थ— कार्यव्यासङ्गात् = किसी कार्य का बहाना लेकर, कथाविच्छेदः = कथा की गति में रुकावट डाल देना, विक्षेपः = विक्षेप निग्रहस्थान माना जाता है।

व्याख्या— चल रही वार्त्ता के मध्य वादी अथवा प्रतिवादी में से कोई भी यदि "मुझे एक अति आवश्यक कार्य से जाना पड़ रहा है, अतः अब वार्त्ता को यहीं विराम दे दिया जाये" ऐसा कहकर अपनी

असमर्थता को छिपाने के लिए चल रही बहस के बीच से उठकर चला जाता है, तो उसके इस प्रकार चले जाने की स्थिति में जो निग्रहस्थान माना जाता है, उसे विक्षेप कहते हैं ॥२० ॥

अब सूत्रकार अगले सूत्र द्वारा मतानुज्ञा का लक्षण बतलाते हैं—

(५४१) स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ— स्वपक्षेदोषाभ्युपगमात् = अपने पक्ष में दोष मानकर उसे दूर किये बिना ही, परपक्षे = प्रतिपक्षी के पक्ष में, दोषप्रसङ्गः = उसी दोष का प्रसङ्ग उपस्थित कर देना, मतानुज्ञा = मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान कहलाता है।

व्याख्या— वादी ने अपना पक्ष रखा, प्रतिवादी ने प्रतिषेध करते हुए उसके पक्ष में दोष उपस्थित कर दिया। इस पर वादी ने प्रतिपक्षी द्वारा लगाये गये दोष का निराकरण किये बिना परपक्ष में भी दोष का प्रसङ्ग छेड़ दिया अर्थात् अपने पक्ष में दोष स्वीकार करने पर भी उसे दूर नहीं किया, अपितु दूसरे के पक्ष में भी वही दोष लगा दिया। इस प्रकार प्रतिपक्षी के कथन को मान लेने पर मतानुज्ञा दोष उपस्थित हुआ ॥२१ ॥

अगले सूत्र में सूत्रकार ने क्रमानुसार 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' का स्वरूप समझाते हैं—

(५४२) निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ— निग्रहस्थानप्राप्तस्य = निग्रह स्थान में पड़ने वाले का, अनिग्रहः = निग्रहस्थान में पड़ गया है, ऐसा न कहना; पर्यनुयोज्योपेक्षणम् = पर्यनुयोज्योपेक्षण निग्रहस्थान कहलाता है।

व्याख्या— वाद के नियमों के अन्तर्गत वक्ता अथवा प्रतिवक्ता दोनों में यदि कोई भी निग्रहस्थान की सीमा में चला जाता है, तो उस स्थिति में विरोधपक्ष के वक्ता को तुरन्त ही इस बात का निर्देश करना चाहिए कि इन्होंने अमुक निग्रहस्थान की सीमा लाँघी है। विरोधी पक्ष का वक्ता यदि उक्त निर्देश नहीं करता, तो वह भी उसी सीमा उल्लंघन का दोषी माना जाता है। फिर वक्ता एवं प्रतिवक्ता दोनों ही उसी पर्यनुयोज्योपेक्षण निग्रहस्थान के प्रयोक्ता की श्रेणी में आ जाते हैं। वक्ता अपनी कमजोरी को क्यों कहे ? तथा प्रतिवक्ता ने भी उसकी कमी का कथन नहीं किया और स्वयं भी उसी दोष से ग्रसित हो गया। पहला वक्ता भी प्रतिवक्ता के दोष को जान गया; यदि अब वह प्रतिवक्ता का दोष प्रकट करे, तो उसे अपने दोष के खुलासा होने का भय हो जाता है, अतएव कोई वक्ता क्यों अपना दोष स्वयं कहे। ऐसी दशा में दोनों दोषी हैं; किन्तु पहले वक्ता के दोष को न कहने वाला दूसरा वक्ता (वादी हो या प्रतिवादी) प्राप्तवाद में निगृहीत माना जाता है ॥२२ ॥

"निरनुयोज्यानुयोग" निग्रहस्थान का स्वरूप सूत्रकार अगले सूत्र से बतलाते हैं—

(५४३) अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ— अनिग्रहस्थाने = अनिगृहीत होने की स्थिति में, निग्रहस्थानाभियोगः = निगृहीत स्थिति का अभियोग लगाना, निरनुयोज्यानुयोगः = निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान कहलाता है।

व्याख्या— चल रही चर्चा के अन्तर्गत विरोधी पक्ष के वक्ता पर जब कोई वक्ता निग्रहस्थान के प्रयोग का आरोप लगा दे, जबकि प्रतिवक्ता सही अर्थों में इस आरोप का दोषी नहीं है; क्योंकि उसने निग्रहस्थान का प्रयोग किया ही नहीं, तब वैसी परिस्थिति में झूठा अभियोग लगाने वाला वक्ता स्वयं ही उक्त निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान से निगृहीत हो जाया करता है ॥२३ ॥

अब "अपसिद्धान्त" का लक्षण अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं—

(५४४) सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ— सिद्धान्तम् = सिद्धान्त को, अभ्युपेत्य = स्वीकार करके, अनियमात् = अनियमितता द्वारा, कथा प्रसङ्गः = कथा का प्रसङ्ग बढ़ाना, अपसिद्धान्तः =अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान है।

व्याख्या— वार्त्ता के समय किसी वक्ता द्वारा जब किसी एक सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के उपरान्त उसी सिद्धान्त का विरोधी वक्तव्य प्रस्तुत किया जाता है, तो वहाँ ''अपसिद्धान्त'' नाम का निग्रहस्थान होना पाया जाता है। जैसे किसी वक्ता ने कहा- सत् पदार्थ सदैव अपने स्वरूप में स्थित रहा करते हैं, इसीलिए वे अविनाशी होते हैं। इसी सिद्धान्त को मान कर अपना पक्ष रखते हुए कहा कि सत् का अभाव एवं असत् का भाव होना नहीं होता। व्यक्त संसार उपादान तत्त्व प्रकृति का विकार है। इस पर किसी अन्य वक्ता ने पूछा कि उसकी पहचान क्या है? इस पर वक्ता ने कहा कि जिसमें अन्वयी धर्मिता का स्थित होना तथा कुछ धर्मों का विलुप्त होकर अन्य धर्मों का उभरना प्राप्त होता है, वह उपादान तत्त्व प्रकृति कहलाती है तथा उभरने वाले धर्म विकार कहे जाते हैं। जिस तरह ठोस एवं गोल मिट्टी का पिण्ड ''प्रकृति'' है, वह स्वरूप विलुप्त होकर गोल एवं पोली शंख जैसी खुले मुँह वाली आकृति घट के रूप में उभर कर सामने आती है, वही विकार कहलाता है।

इस उत्तर से यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि वक्ता ने जो सिद्धान्त पहले स्वीकारा था, अब उससे विपरीत कथन कर रहा है। अब कह रहा है कि जिसका पूर्व में अभाव था, वह वर्तमान में प्रत्यक्ष है तथा जो प्रत्यक्ष है, उसका अभाव हो जायेगा या कारण के अभाव में भी कार्य का होना होता है। वक्ता जब इस प्रकार अपने ही द्वारा स्थापित सिद्धान्त के विपरीत कथन करने लग जाता है, तब वह अपसिद्धान्त निग्रहस्थान में परिगणित हो जाया करता है॥२४॥

अब हेत्वाभास का लक्षण बतलाते हैं—

(५४५) हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ— यथोक्ता: = जैसे बतलाये गये हैं (वैसे ही), हेत्वाभासा: = सभी हेत्वाभास (सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम,साध्यसम एवं कालातीत) निग्रहस्थान ही माने जाते हैं।

व्याख्या— शास्त्र के पहले अध्याय के द्वितीय आह्निक में सूत्र संख्या ४ से ९ तक में पाँचों हेत्वाभासों का विवेचन किया जा चुका है और जिस रूप में इनकी व्याख्या की गई है, उसी रूप में उन्हें निग्रहस्थान की मान्यता भी दी गई है। उनकी निग्रहस्थान की मान्यता के लिए हेत्वाभास लक्षण के अतिरिक्त किन्हीं दूसरे लक्षणों की व्याख्या करना न तो अपेक्षित है और न ही आवश्यक। पूर्व में किये जा चुके व्याख्यान के कारण यहाँ पुन: उनकी विवेचना नहीं की जा रही है॥२५॥

॥ इति पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम्॥
॥ इति न्यायदर्शनं सम्पूर्णम्॥

वैज्ञानिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन की यही विशेषता है कि उसमें यद्यपि मुख्य रूप से प्राकृतिक तत्त्वों— पदार्थों की ही गवेषणा की गई है, एक भी सूत्र में आत्मा के अतिरिक्त ईश्वर या ब्रह्म का उल्लेख नहीं किया गया है; पर ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य धर्म का आचरण करना ही बतलाया गया है, जिससे आत्मा बन्धनों से मुक्त हो सके। वैशेषिक दर्शन का पहला सूत्र इसी तथ्य को स्पष्ट शब्दों में प्रकट करता है- **'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः'** अर्थात् 'अब धर्म की व्याख्या करते हैं'। धर्म का लक्षण या स्वरूप क्या है, इसको दूसरे सूत्र में कह दिया गया कि **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** अर्थात् 'जिससे यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो और मोक्ष की सिद्धि हो सके, वही धर्म है।' इसी प्रकार ग्रन्थ के अन्त में भी कह दिया गया है कि **'दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाऽभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय'** अर्थात् शास्त्रों ने लौकिक और पारलौकिक कल्याण के लिए जिन धर्मकृत्यों का उपदेश दिया है, उनका अनुष्ठान सदैव करते रहना चाहिए, चाहे उनका कोई प्रतिफल जान पड़े या नहीं। धर्म कार्य करते रहना जीवात्मा के लिए सब तरह से कल्याणकारी ही है, चाहे उनका शीघ्र ही कोई प्रत्यक्षफल न भी दिखाई पड़े।

— पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

भूमिका

वैशेषिक दर्शन : आवश्यकता एवं उपयोगिता

भारतीय दर्शन हमारे ऋषियों द्वारा दिया गया एक ऐसा उत्कृष्ट चिन्तन है, जिसकी छत्रछाया में भारतीय सभ्यता एवं मानवीय गरिमा को फलते-फूलते देखा जाता है। भारतीय संस्कृति के अनुयायियों में प्रवाहित होने वाला प्राण-प्रवाह, इस दर्शन समूह की ही देन है। इसी परमोत्कृष्ट विचार पुंज ने भारत के भाल को सतत समुन्नत बनाए रखा है। हमारे ऋषियों ने हमें जो दर्शन रूपी अमूल्य निधि प्रदान की है, उसकी मूलभूत विशेषता यह है कि उसमें जो विषय वस्तु का अंतिम लक्ष्य है, वह परमात्मा की प्राप्ति अथवा मोक्ष है। भौतिकता के रोग से ग्रसित मानव यदि भौतिकता के साधनों का संग्रह करने के साथ-साथ, आध्यात्मिकता को भी प्राप्त करने की लालसा रखते हुए, उसके लिए भी प्रयत्न करता रहता,तो इसके जो सत्परिणाम प्राप्त होते, उससे बौद्धिक सम्पदा सम्पन्न प्रत्येक व्यक्ति न केवल लाभान्वित होता, अपितु वह भी उसका अनुगमन करता। आवश्यकता है दर्शन के सिद्धान्तों को जीवन में स्थान देने की, स्वार्थ एवं परमार्थ में सन्तुलन स्थापित करने की; क्योंकि एक पहिए की गाड़ी कभी भी किसी प्रकार के हित को साधने वाली नहीं हो सकती।

न्याय एवं वैशेषिक दर्शन

यद्यपि न्यायदर्शन से इसकी काफी कुछ समानता है; किन्तु कतिपय सिद्धान्तों में वैचारिक मतभेद भी हैं। न्यायशास्त्र के मानने वाले की तरह ही वैशेषिक शास्त्र के अनुयायी भी संसार के लोक व्यवहार को मान्यता देते हैं। ज्ञातव्य है कि परमतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सूक्ष्म दृष्टि से सांसारिक पदार्थों का ज्ञान होना चाहिए। प्रमाणों के अभाव में यह ज्ञान हो पाना सम्भव नहीं। यहाँ स्मरणीय यह है कि प्रमाण एक तरह के साधन मात्र हैं; किन्तु 'प्रमेयों का ज्ञान' ही मुख्य है। न्यायशास्त्र में प्रमाणों को प्रधानता दी गई है, जबकि वैशेषिक में प्रमेयों को प्रधानता दी गई है। प्रत्यक्ष जगत् को सत्य की मान्यता देने के कारण वैशेषिक दर्शन को वस्तुवाद का समर्थक माना जाता है। संसार के रचयिता ईश्वर के प्रति मान्यता रखते हुए परमाणुवाद को भी वैशेषिक शास्त्र महत्त्व देता है। प्राकृतिक तत्त्वों पर वैशेषिक दर्शन का ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित है और सर्वत्र आत्मा की बात ही बतलायी गई है, न कि परमात्मा या ब्रह्म की। धर्माचरण इस वैशेषिक दर्शन का मुख्य प्रयोजन है। दूसरे सूत्र से धर्म का स्वरूप समझाते हुए बताया है '**यतोभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः**' धर्म वह है, जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान एवं मोक्ष की प्राप्ति हो सके। ग्रन्थ की समाप्ति पर भी '**दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय**' इस सूत्र से इहलौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय हेतु शास्त्रों में वर्णित जिन धार्मिक क्रियाकलापों का उपदेश है, उनकी अनुष्ठान प्रक्रिया, प्रतिफल की कामना किये बिना सतत संचालित करते रहना चाहिए, जिससे आत्मा सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर परम कल्याण को प्राप्त हो सके।

वैशेषिक दर्शन नामकरण एवं तत्सम्बद्ध साहित्य

वैशेषिकशास्त्र की रचना कणाद ऋषि ने की है, यह सर्वविदित है। कणाद ऋषि को कणभुक् अथवा कणभक्ष्य भी कहा जाता है। किसान द्वारा खेतों की फसल काट लिये जाने पर जो अनाज के कण अथवा दाने खेत में रह जाते थे, उन्हीं दानों को बीनकर वे अपनी जीविका चलाते थे। सम्भावना यह भी है कि इनके द्वारा रचित ग्रन्थ का नाम 'विशेष' पदार्थ को मान्यता देने के कारण ही 'वैशेषिक' पड़ा है; क्योंकि यह 'विशेष' पदार्थ अन्य किसी दर्शन में वर्णित नहीं है। कहा जाता है कि वैशेषिक-सूत्र पर आचार्य रावण ने एक भाष्य लिखा था, जो अब प्राप्य नहीं है, केवल ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य की टीका 'रत्नप्रभा' में उसकी चर्चा है। किसी भरद्वाज नामक विद्वान् की एक 'वृत्ति' भी इस दर्शन पर मानी जाती है। छठीं सदी के पूर्व प्रशस्तपाद हुए, जिन्होंने इस दर्शन के कुछ सूत्रों का उल्लेख करते हुए एक 'पदार्थधर्मसंग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा, जो प्रशस्तपाद भाष्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ; परन्तु वह भाष्य न होकर स्वतन्त्र ग्रन्थ ही है।

वैशेषिक का काल निर्धारण

वैशेषिक शास्त्र में उपलब्ध सूत्रों के समय का निर्धारण अभी तक सुनिश्चित नहीं हो पाया है। इस शास्त्र का सबसे पहला उल्लेख बौद्ध साहित्य के अंतर्गत 'मिलिन्दपण्ह' नामक ग्रन्थ से प्राप्त होता है। राजा मिलिन्द के राज्य का समय १५० ई० पू० माना जाता है। डॉ. कुप्पूस्वामी शास्त्री वैशेषिक शास्त्र की संरचना का समय ४०० ई०पू० के लगभग मानते हैं। जर्मन विद्वान् डॉ. जैकोबी के अनुसार वैशेषिक का काल २०० ई०पू० से भी पहले का होना चाहिए। डॉ० उई ने 'वैशेषिक फिलॉसफी' नामक पुस्तक में वैशेषिक की प्राचीनता का कथन किया है। विद्वानों ने न्याय की अपेक्षा वैशेषिक को ही पुरातन बताया है। तर्क-वितर्क से कोई सही स्थिति का ज्ञान न हो पाने के कारण इस शास्त्र का काल निर्धारण संशयात्मक ही है। अत: वैशेषिक रचना के समय का प्रामाणिक कथन करना नितान्त कठिन है।

महर्षि कणाद ने संसार की संरचना परमाणुओं से मानी है। परमाणुओं के पारस्परिक संयोग से अनेक प्रकार के स्वरूप व नाम वाले पदार्थों की रचना होने से सृष्टि की संरचना है। यही परमाणु जब एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं, तब क्रमश: प्रलयकाल उपस्थित हो जाता है। वैशेषिक रचनाकार ने सृष्टि संरचना की जो परिकल्पना की है, उसके लिए ६ पदार्थों को महत्त्वपूर्ण माना है- वे इस प्रकार हैं- १. द्रव्य २. गुण ३. कर्म ४. सामान्य ५. विशेष एवं ६. समवाय। इन्हीं पदार्थों की सिद्धि वैशेषिक दर्शन में मुख्य रूप से की गई है। ये ही उपर्युक्त पदार्थ सांसारिक जगत् में सर्वत्र संव्याप्त हैं। अध्यात्म का पुट भी इनमें समाया हुआ है। द्रव्य के अन्तर्गत पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश), काल, दिशा, मन एवं आत्मा आदि सूक्ष्म तत्त्व आते हैं। इन्हीं द्रव्यों में २४ प्रकार के गुणों की उपलब्धि होती है, जो इस प्रकार हैं- रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह (चिकनापन), शब्द, ज्ञान, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म एवं संस्कार। इन्हीं गुणों द्वारा द्रव्यों में अनेक प्रकार की क्रियाओं की उत्पत्ति हुआ करती है। गुणों की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, द्रव्य के आश्रय में ही गुणों का रहना पाया जाता है। गुण कार्य का असमवायिकारण है।

वैशेषिक दर्शन का प्रतिपाद्य विषय

कर्म एवं ज्ञान मीमांसा- वैशेषिक दर्शन में कर्म का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है- १. उत्क्षेपण, २. अवक्षेपण, ३. आकुंचन, ४. प्रसारण एवं ५. गमन। **उत्क्षेपण** का अर्थ है- ऊपर फेंकना, **अवक्षेपण** का अर्थ है- नीचे गिराना, **आकुंचन** का अर्थ है- सिकुड़ना, **प्रसारण** का अर्थ है- फैलाना, **गमन** का अर्थ है- जाना, भ्रमण, स्पन्दन आदि। कर्म का अस्तित्व भी द्रव्य के आश्रय में ही रहता है। अनेक पदार्थों में जो एक तरह की बुद्धि का होना दृष्टिगत होता है, वह समानता 'सामान्य' अथवा 'जाति' के नाम से जानी जाती है। घटों में रहने वाला घटत्व एवं पट में रहने वाले पटत्व का कथन करके उसका व्यवहार सामान्य अथवा जाति का बोध कराने के लिए किया जाता है। जैसे मनुष्यत्व से सभी मनुष्यों की जाति का बोध हो जाया करता है। सामान्य अथवा जाति का अस्तित्व द्रव्य, गुण तथा कर्म में स्थिर रहता है तथा उसकी नित्यता भी संशयरहित होने से स्वीकार्य है।

'विशेष' वह पदार्थ होता है, जो नित्यत्व गुण वाले द्रव्यों में पारस्परिक भेद उत्पन्न कर दे। विशेष नामक इस स्वतन्त्र पदार्थ को वैशेषिकों द्वारा महत्त्व दिये जाने के कारण ही इस शास्त्र का नाम वैशेषिक शास्त्र रखा गया है। विशेष को 'अन्त्य' भी कहते हैं; क्योंकि वह द्रव्यों के सर्वोच्च अथवा अन्तिम विभाग में रहता है।

समवाय की मान्यता मात्र न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में ही स्वीकारी गई है। गुण एवं गुणी, अवयव एवं अवयवी, क्रिया एवं क्रियावान्, नित्य द्रव्य एवं विशेष तथा जाति एवं व्यक्ति के बीच जो न मिटने वाला स्थायी सम्बन्ध पाया जाता है, वही समवाय कहलाता है। दूसरे शब्दों में - आधार एवं आधेय के रूप में पारस्परिक सम्बन्ध रखने वाले दो अयुतसिद्ध द्रव्यों के बीच का सम्बन्ध ही समवाय कहलाता है। यह समवाय अपने आप में अकेला एवं नित्यत्व से युक्त है। इसका उत्पन्न होना नहीं होता।

अभाव का अर्थ 'न होने' से है, चार प्रकार के अभावों का उल्लेख वैशेषिक दर्शन में किया गया है। १. प्राग् अभाव- कार्योत्पत्ति से पूर्व कारण में उस कार्य का अभाव, २. प्रध्वंसाभाव- कार्य के समाप्त हो जाने पर उसका अभाव, ३. अत्यन्ताभाव- जो अभाव तीनों ही कालों में पूर्णतः पाया जाय एवं ४. अन्योन्याभाव- एक दूसरे में पारस्परिक अभाव जैसे- घट में पट का अभाव तथा पट में घट का अभाव।

द्रव्यों का स्वरूप- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश आदि प्रसिद्ध द्रव्यों सहित कुल नौ द्रव्यों को वैशेषिक शास्त्र ने माना है। **क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्** (१।१।१५) सूत्र से द्रव्य का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। द्रव्य वह है, जिसमें क्रिया एवं गुण हो तथा समवायिकारण वाला हो। द्रव्य एवं गुण के मध्य जो समवाय सम्बन्ध है, वह स्थायी है; क्योंकि गुण सदैव द्रव्याश्रयी रहा करते हैं। मिठास रूपी गुण पाना हो, तो उस मिठास को आश्रय देने वाले द्रव्य- गुड़, चीनी अथवा बूरा आदि के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता; क्योंकि मिठास की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कर्म भी इसी प्रकार किसी प्राणी अथवा पदार्थ के द्वारा ही दृष्टिगत होता है। इंजन का गतिमान होना, पतंग का उड़ना, घोड़े का दौड़ना आदि क्रियाओं की भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता

नहीं है। प्रसिद्ध पंचमहाभूतों के अल्प बाहुल्य सम्मिश्रण से ही स्थूल जगत् एवं उसके समस्त साधन विनिर्मित हुए हैं। प्राकृतिक लीला संदोह एवं सृष्टि संरचना का सारा श्रेय इन्हीं पंचमहाभूतों को ही है। यथावसर मूल प्रकृति के गर्भ से इनका प्राकट्य एवं समापन हुआ करता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश के अतिरिक्त दो द्रव्य- काल एवं देश निराकार होने के साथ प्रकृतिवत् चेतनाविहीन हैं। प्राकृतिक परिस्थिति कैसी भी रहे, ये दोनों द्रव्य सदैव अपनी स्थिति में ही स्थिर रहा करते हैं। बाकी बचे दो द्रव्य-आत्मा एवं मन (चेतना विहीन) पदार्थों के उपभोक्ता एवं चेतनायुक्त हैं। प्रकृति इन्हीं के लिए द्रव्य परिवर्तन प्रक्रिया के अंतर्गत अभिनव पदार्थ रचती रहती है। वैशेषिक दर्शन में जिन प्राकृत द्रव्यों का उल्लेख किया गया है, सभी दर्शनों, धार्मिक सम्प्रदायों सहित वैज्ञानिकों तक को वे सभी मान्य हैं। सब ने उन द्रव्यों के अपने पृथक्-पृथक्, एक-एक गुण को भी स्वीकारा है। शास्त्र में विस्तारपूर्वक इनका विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सबसे सूक्ष्म आकाश है, जिसका गुण शब्द है। शब्द के किसी अन्य द्रव्य में सम्मिलित न होने के कारण वैशेषिक में चार तत्त्वों से अलग आकाश की गिनती नहीं की गई है। इसी से भौतिक जगत् के निर्माण का आधार चार तत्त्वों के ही मिलने एवं अलग होने को माना है। आकाश से स्थूल वायु तत्त्व है, जिसका गुण स्पर्श है। वायु से स्थूल अग्नि है, जिसका गुण रूप बतलाया गया है। अग्नि वायु से भी स्थूल है, इसी कारण वायु का स्पर्श गुण भी अग्नि में पाया जाता है। अग्नि से स्थूल जल है, जो रस गुण वाला है। जल में उसके अपने गुण रस के साथ-साथ वायु का स्पर्श एवं अग्नि का रूप गुण भी पाया जाता है। सर्वाधिक स्थूल पृथिवी है, जिसका अपना गुण गन्ध है। अत्यधिक स्थूल होने के कारण पृथिवी में अपने विशिष्ट गुण गन्ध के अतिरिक्त वायु, अग्नि एवं जल के (स्पर्श, रूप एवं रस) गुण भी समाहित हैं। इस प्रकार पाँचों तत्त्वों के जो अपने पृथक्-पृथक् गुण हैं, उनकी सत्ता पाश्चात्य दर्शन शास्त्रियों एवं विज्ञानियों ने भी स्वीकारी है। यथार्थतः शब्द आकाश का ही गुण है एवं आकाश की ही भाँति व्यापकत्व की सामर्थ्य वाला है। इसकी सिद्धि भी एक ख्यातिप्राप्त पश्चिमी विज्ञानवेत्ता ने प्रत्यक्ष साक्ष्य के आधार पर की है। लगभग ४-५ दशक पूर्व इटली के रहने वाले वैज्ञानिक मारकोनी ने यन्त्रों के माध्यम से प्रयोग करके दिखा दिया कि प्रकाश की भाँति शब्द भी १,८६००० मील प्रति सेकेण्ड की गति से दौड़ता है तथा उसे यदि उपयोगी एवं प्रभावशाली यन्त्रों द्वारा नियन्त्रित किया जा सके, तो विश्व के किसी भी कोने में उसे सुनाने का कार्य किया जा सकता है। रेडियो का प्रचलन इसी प्रयोग के आधार पर सम्पन्न हो सका है। रेडियो स्टेशन से सैकड़ों मील दूर घर बैठे हम सारा प्रसारण सुन लेते हैं।

काल एवं दिशा- काल एवं दिशा का कोई अंत नहीं और न इनका विनाश ही हुआ करता है, इसीलिए काल एवं दिक् को अनन्त एवं अविनाशी कहा जाता है। प्रत्यक्षतः काल अथवा समय में किसी प्रकार का अन्तर नहीं प्रतीत होता। लोकाचार की दृष्टि से ही काल को सेकेण्ड, मिनट, घण्टा, दिवस, महीना, वर्ष आदि के रूप में आबंटित किया गया है। इस काल विभाजन के कारण ही दो घटनाओं के बीच का अंतर स्पष्ट होता है। इससे ही मनुष्य के अनेकों तरह के कार्य समयानुसार सम्पन्न हुआ करते हैं। तीनों कालों (भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान) का विभाग भी इसी दृष्टि के कारण से है। दिशा का विभाग भी इसी तरह मानवीय सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए किया गया है। वैसे दिशा का एक होना ही सिद्ध

है। दशों दिशाओं का व्यवहार कल्पना के आधार पर किया जाता है।

आत्मा एवं मन की स्थिति- आत्मा एवं मन की गणना चेतनायुक्त द्रव्यों में की जाती है। वैशेषिक एवं न्याय दोनों ने ही आत्मा सम्बन्धी मान्यताओं को स्वीकारा है। मन वैशेषिक दर्शन का नवाँ द्रव्य है, इसका प्रत्यक्ष नहीं होता, अनुमान से ही उसकी सिद्धि होती है। दर्शनशास्त्रियों ने मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय बताया है। वैशेषिक की अपनी विशेषता यह है कि आत्मा को भी द्रव्य के रूप में स्वीकार किया है। वैशेषिकों का मत यह है कि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त समस्त ज्ञान आत्मा के ही आश्रय में रहता है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख आदि समस्त गुण आत्मा में ही निवास करते हैं। अहं भाव का प्रादुर्भाव भी आत्मा में हुआ करता है न कि इन्द्रियों में। चेतनाविहीन द्रव्य में उपर्युक्त गुण नहीं हो सकते। आत्मा की एकता को अस्वीकार करके वैशेषिकशास्त्र ने आत्मा की अनेकता का कथन किया है। उसकी मान्यता है कि यदि एक ही आत्मा का अस्तित्व संसार के समस्त शरीरों में होता, तो सभी के जीवन-मरण का समय भी एक ही होता, एक के मूर्ख होने से सभी मूर्ख तथा एक के ज्ञानवान् होने से सभी ज्ञानवान् हुआ करते। या तो सभी सुखी होते या सभी दुःखी होते। अध्यात्मवाद को स्वीकारने वाले अनेकों विज्ञजन आत्मा को द्रव्य न मानकर शुद्ध चैतन्य की मान्यता प्रदान करते हैं, जबकि वैशेषिक इस बात को नहीं मानता। उसका मानना है कि आत्मा नित्य द्रव्य होने के साथ-साथ अनन्त भी है। मुक्त आत्माएँ प्रलयकाल की समाप्ति पर सृष्टि की अभिनव संरचना के समय पुनः जीवन धारण कर लेती हैं। वैशेषिक में इसीलिए आत्मा विषयक मान्यता अत्यधिक स्पष्ट एवं पुष्ट है। नवें अध्याय के प्रथम आह्निक के ११वें सूत्र में '**आत्मन्यात्ममनसोः- संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम्**' जीवात्मा द्वारा मन को संयमित करके योगारूढ़ होने पर आत्मध्यान की स्थिति में आत्मा का स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है। आत्मा को नित्य एवं अनन्त की मान्यता देते हुए वैशेषिक ने उसके दो स्वरूप बतलाये हैं- १. क्षेत्रज्ञ एवं २. सर्वज्ञ। इसी को अन्य लोगों ने जीवात्मा एवं परमात्मा की संज्ञा प्रदान की है। आत्मा एवं परमात्मा की सत्ता को मानने वाले शुभाशुभ कर्म एवं उससे उत्पन्न परिणाम को भी मानते हैं। प्रलय की स्थिति में समस्त तत्त्व परमाणु रूप में होकर जड़ता की स्थिति के कारण जब अपने बलबूते सृष्टि रचना में समर्थ नहीं हो पाते, तब आत्मा ही उन्हें प्रेरणा देकर सृष्टि प्रक्रिया का शुभारम्भ कराता है। वैशेषिकों ने इसी कारण संसार का अधिष्ठाता आत्मतत्त्व को ही स्वीकारा है।

आत्मा की भाँति मन भी चेतन द्रव्य है; परन्तु यह आत्मा की भाँति नित्य न होकर अनित्य है। मन स्वयं ज्ञानवान् न होकर आत्मज्ञान का साधन बनता है। मन का लक्षण स्पष्ट करते हुए तीसरे अध्याय के द्वितीय आह्निक के पहले सूत्र में '**आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षेज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्**' कहा है कि आत्मा के निर्देश पर इन्द्रियों द्वारा विषयों के साथ सम्बन्ध स्थापित किये जाने की स्थिति में एक समय में एक ही ज्ञान का होना और न होना ही मन का लिङ्ग है। आत्मा सर्वव्यापी एवं मन अणुत्वमान अर्थात् मन एक समय में एक से अधिक ज्ञान धारण की क्षमता में असमर्थ है, जबकि आत्मा विभुत्ववान् है।

गुण एवं उनका स्वरूप- 'गुण' वैशेषिक दर्शन का दूसरा पदार्थ माना गया है। गुण द्रव्य के आश्रय में रहते हैं। गुणविहीन द्रव्य निरर्थक एवं द्रव्य से हीन गुण अस्तित्वहीन हो जाता है। द्रव्य एवं गुण सर्वदा साथ रहने वाले हैं, इनमें द्रव्य को मुख्य एवं गुण को गौण कहा गया है। गुण का

लक्षण बतलाते हुए १।१।१६ में '**द्रव्याश्रय्यगुणवान्संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुण लक्षणम्**' अर्थात् जो द्रव्याश्रयी हो तथा जो गुणवान् न हो, संयोग एवं विभाग में जो कारण न हो तथा जिसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रहती, उसे 'गुण' द्रव्य कहा जाता है। गुणों की संख्या का उल्लेख १।१।६ में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, वियोग, दूरी, समीपता, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष एवं प्रयत्न कुल मिलाकर १७ गुणों का ही कथन किया गया है; किन्तु च शब्द से और भी गुण हैं (सात अन्य गुण हैं), ऐसा संकेत किया गया है। अतएव कुल २४ गुणों का कथन वैशेषिक दर्शन में किया गया है। दर्शन के प्रधान भाष्यकर्ता आचार्य प्रशस्तपाद के मतानुसार उपर्युक्त १७ गुणों के अतिरिक्त गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म तथा शब्द को भी गुण मानकर कुल २४ गुणों को मान्यता प्रदान की है। इन गुणों को संक्षेप में इस तरह दर्शाया गया है—

१. रूप- यह अग्नि तत्त्व का गुण है। आँखों द्वारा दिखाई पड़ने वाले अनेक प्रकार के रंग, आकृति आदि रूप के अंतर्गत ही आते हैं। रूप का प्रत्यक्षीकरण पृथ्वी एवं जल में भी होता है।

२. रस- षड्रसों का कथन लोक व्यवहार में किया जाता है। नमकीन, मीठा, खट्टा, चरपरा, कषैला, कड़वा- ये ६ प्रकार के रस होते हैं। मूलतः यह जल तत्त्व का गुण है; किन्तु पृथिवी में भी रहता है।

३. गन्ध- पृथिवी तत्त्व के आश्रय में रहने वाला गंध-सुगंध एवं दुर्गन्ध दो प्रकार का माना जाता है। यह घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है।

४. स्पर्श- मूलतः यह वायु तत्त्व का गुण है; परन्तु पृथ्वी, जल एवं अग्नि में भी उपलब्ध रहता है।

५. संख्या- इसका सम्बन्ध एक अथवा अनेक द्रव्यों के साथ हुआ करता है। किसी भी द्रव्य की गिनती का ज्ञान संख्या द्वारा ही होता है। जो पदार्थ नित्य हैं, उनमें एकत्व संख्या की नित्यता सिद्ध होती है; किन्तु जहाँ पर दो, तीन, चार, पाँच अथवा उससे भी अधिक की संख्या होती है, वहाँ यह नित्यता नहीं रहा करती। द्रव्यों की अल्प-बहुलता से पूर्व की संख्या का लोप हो जाया करता है। हर प्रकार के द्रव्यों में संख्या की अनिवार्यता है।

६. परिमाण- द्रव्य का कम होना, अधिक होना, लघुता एवं गुरुता की स्थिति का आकलन करके जो अभिव्यक्ति की जाती है, उसे ही परिमाण कहा जाता है। यह अपेक्षाकृत कथन भी है; क्योंकि संसार का प्रत्येक द्रव्य अपने बड़े की तुलना में अपेक्षाकृत छोटा होता है। लोक व्यवहार में नित्य-अनित्य समस्त द्रव्यों के लिए ऐसा कथन किया जाता है।

७. पृथक्त्व- भिन्न-भिन्न पदार्थों में उनकी अपनी स्वभावगत विशेषता का ज्ञान ही पृथक्त्व कहलाता है।

८. संयोग- भिन्न-भिन्न दो पदार्थों के पारस्परिक मिलन का नाम संयोग है। यह अनित्य होता है। वैशेषिकों ने अन्यतर कर्मज, उभय कर्मज एवं संयोग तीन प्रकार से इसको मान्यता दी है।

९. विभाग- संयुक्त दो पदार्थों का अलग-अलग हो जाना विभाग कहलाता है। यह संयोग का विरोधी है।

१०. परत्व- सामने की ओर स्थित द्रव्यादि की दूरी का ज्ञान परत्व कहलाता है। इससे आगे की जानकारी होती है।

११. अपरत्व- इससे समीपस्थ वस्तु का ज्ञान होता है। पीछे की जानकारी अपरत्व द्वारा प्राप्त होती है। परत्व एवं अपरत्व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं मन के गुण कहे गये हैं। ये दोनों देश-काल से भी सम्बन्धित हैं। लोक व्यवहार में जो

कथन किया जाता है कि वह गाँव तो दूर है और यह पास में है। अमुक बड़ा है और अमुक छोटा, ऐसा व्यवहार काल सम्बन्ध के कारण ही है। बुद्धि की अपेक्षा से उत्पन्न यह गुण अनित्य माने जाते हैं।

१२. गुरुत्व- यह नित्य एवं अनित्य दोनों प्रकार के पदार्थों में पाया जाता है। गुरुत्व का अर्थ है- भारीपन। भारी वस्तु (पार्थिव) का नीचे की ओर ही गिरना होता है।

१३. द्रवत्व- बहना रूप गुण ही द्रवत्व कहलाता है। यह दो प्रकार का माना जाता है-१. स्वाभाविक २. नैमित्तिक। स्वाभाविक अर्थात् जल का सहज ही बहना। नैमित्तिक अर्थात् आग द्वारा गरमी पाने पर बहने वाला घृत। यह शीतलता पाकर जम जाता है।

१४. स्नेह (चिकनापन)- यह प्रमुखतः जल तत्त्व में उपलब्ध होता है। बिखरकर चूर्ण बन जाने वाली वस्तु जिसके द्वारा पिण्ड के आकार की हो जाती है, वही स्नेह है।

१५. शब्द- कानों द्वारा सुना जाने वाला शब्द आकाश का गुण माना गया है। इसके दो विभाग हैं-पहला- ध्वनि स्वरूप, ढोल, मृदंग, नगाड़ा आदि के बजने की शब्द ध्वनि। दूसरा- वर्ण अथवा अक्षर से उत्पन्न शब्द ध्वनि, वार्तालाप आदि जो लोक व्यवहार में देखा जाता है।

१६. बुद्धि- जीवात्मा में रहने वाला ज्ञान ही बुद्धि है। नवीन अनुभवों एवं पूर्व स्मृति के रूप में यदा-कदा इस ज्ञान का प्राकट्य होता रहता है। बुद्धि प्राकृतिक शक्ति से सम्पन्न होने के कारण जड़ द्रव्य है; किन्तु शरीर में स्थित जीवात्मा का संयोग पाकर चेतनायुक्त प्रतीत होती है। इसका कार्य ज्ञान-अज्ञान दोनों को ग्रहण करना है, निर्णय करना नहीं। निर्णायक जीवात्मा है। बुद्धि से ग्राह्य यथार्थ ज्ञान; प्रत्यक्ष, अनुभव एवं आगम-प्रमाण तीन तरह का होता है तथा यथार्थ से विपरीत जो अयथार्थ ज्ञान होता है, उसके दो विभाग हैं- १. संशय और २. विपर्यय।

१७. सुख- मनोनुकूलता की सिद्धि से सुख प्राप्त होता है। वे सभी गुण जो अपने अनुकूल हों, वही सुख कहलाते हैं। भविष्य की सुन्दर संकल्पना से भी सुख की उत्पत्ति होती है। इसका प्रभाव मनुष्य के मुख मण्डल से जाना जा सकता है।

१८. दुःख- इसकी उत्पत्ति अपने प्रतिकूल प्रवृत्ति होने से हुआ करती है। इसका प्रभाव भी मुख मण्डल से जान लिया जाता है। कष्टदायक अतीत की अनुभूतियों से भी दुःख उत्पन्न होता है, भविष्य के दुष्परिणामों की विचार भावना भी इसकी उत्पत्ति में एक हेतु है।

१९. इच्छा- जिस वस्तु का जीवन में अभाव हो, उसे अपने लिए अथवा किसी अन्य के लिए प्राप्त करने-कराने का मन बनाना ही इच्छा है। इसके भी दो विभाग हैं- १. फल की इच्छा एवं २. उपाय की इच्छा। कामना, आकांक्षा आदि इच्छा के ही भेद हैं।

२०. द्वेष- अपने प्रतिद्वन्द्वी की अथवा किसी बुरे व्यक्ति की स्मृति से अंत:करण में जलन होने का नाम द्वेष कहलाता है। अमर्ष, क्रोध, मन्यु आदि द्वेष के ही भेद माने जाते हैं।

२१. प्रयत्न- इच्छा शक्ति से इसकी उत्पत्ति हुआ करती है। आत्मा एवं मन का गुण भी इसे माना गया है। किसी कार्य के प्रति मन में जो उत्साह उत्पन्न होता है तथा कार्य कर डालने का उठने वाला भाव ही प्रयत्न है। सत्कर्मों के प्रति मानसिक प्रवृत्ति एवं दुष्कर्मों से निवृत्ति में प्रयत्न का होना इच्छा शक्ति पर निर्भर करता है।

२२. धर्म- वेदादि श्रुति, स्मृति, पुराण में वर्णित सत्कर्मों को धर्म की संज्ञा दी गई है। यह सुख देने वाला है।

२३. अधर्म– वेदविहित कर्मों से प्रतिकूल आचरण का नाम अधर्म है। इससे दुःख की उपलब्धि होती है।

२४. संस्कार– इसके तीन विभाग हैं, पहला– 'वेग' नामक संस्कार जो मन एवं पृथ्वी आदि चारों तत्त्वों में रहा करता है तथा भविष्य में सम्पन्न होने वाले कर्मों का हेतु होता है। दूसरा है– 'भावना' नामक संस्कार, इसकी उत्पत्ति पूर्वानुभवों की स्मृति से चित्त में हुआ करती है। भावना ही विभिन्न प्रकार की वासनाओं की हेतु है। योग-व्यायाम, शिल्पकला तथा विद्या आदि का अनवरत अभ्यास करके जो दक्षता प्राप्त की जाती है, वह इसी भावना-संस्कार के कारण होती है। तीसरे प्रकार का संस्कार है– 'स्थिति स्थापक'। यह अपने जगह से हटाई गई वस्तु को पुनः उसी स्थिति में स्थापित कर देता है। जैसे रबड़ खींचने के पश्चात् छोड़ने पर पुनः यथास्थिति प्राप्त कर लेता है।

सर्वाधिक गुण १४ की संख्या में पृथ्वी एवं जल में रहते हैं। ११ गुण अग्नि में तथा ८ गुण वायु में होते हैं। ६ गुण आकाश में तथा दिक् एवं काल में ५-५ गुण होते हैं। चैतन्य जीवात्मा एवं मन में क्रमशः १४ एवं ८ गुण होते हैं। उपर्युक्त समस्त गुण द्रव्याश्रित रहते हैं। ऐसा पूर्व में कहा जा चुका है।

वैशेषिक दर्शन की कपितय विशेषताएँ

अपनी कुछ विशेषताओं के कारण ही महर्षि कणाद के दर्शन को वैशेषिक की संज्ञा प्राप्त है। दर्शन में तीन पदार्थों १. द्रव्य २. गुण और ३. कर्म पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया गया है। इनकी व्याख्या बहुत विस्तारपूर्वक हुई है। सांसारिक पदार्थों एवं उनके स्वरूप का सर्वत्र वर्णन करते हुए भी अनेक अवसरों पर उन्हीं को आधार बनाकर धर्मयुक्त जीवनयापन की व्यावहारिक दिशाधारा सुनिश्चित करने वाले ऐसे बहुमूल्य सिद्धान्तों को भी प्रतिपादित किया है, जो मनुष्य के चरम लक्ष्य निःश्रेयस एवं अभ्युदय को देने वाले हैं।

क. धर्म-कर्म से परमलक्ष्य की प्राप्ति– कर्म भी द्रव्य के आश्रय में रहते हैं। कर्मों का भी उल्लेख पूर्व में हो चुका है। वैशेषिक दर्शन में सांसारिक कर्मों के कथन के साथ धार्मिक कर्मों की अभिव्यक्ति विशेष रूप से की गयी है। धर्म स्वरूप कर्म ही मानव को उसके परम लक्ष्य अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति कराता है। वैशेषिक शास्त्र के प्रारम्भ में ही द्वितीय सूत्र में इसका वर्णन है। बुद्धिपूर्वक दान देने और दान लेने का कथन किया गया है, आज की तरह निकम्मेपन एवं उदर पोषण हेतु भिक्षा जैसा नहीं। **वर्णाश्रम-धर्म** महर्षि कणाद ने अपने शास्त्र में केवल ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के ही कर्मों का उल्लेख किया है, कारण कि उस समय यही दोनों वर्ण उसके अधिकारी थे तथा यही दोनों उसके अनुसार व्यवहार किया करते थे। ब्राह्मण का कर्म समाज को सुसंस्कृत बनाना, यज्ञ कराना, पठन-पाठन आदि तथा दान में प्राप्त धन का उपयोग मात्र अपने लिए ही नहीं, वरन् आर्थिक एवं शारीरिक दृष्टि से कमजोर असहाय जनों के लिए भी होता था। ऐसे त्यागमूर्ति ब्राह्मण भी हुआ करते थे, जो दान की सम्पदा का मात्र निजी हित में ही उपयोग नहीं करते थे। कणाद भी उनमें से एक हैं, जो अनाज के दाने बीन कर उससे ही जीविका चलाते थे। इस दर्शन में आहार शुद्धि पर भी विशेष बल दिया गया है। ६।१।६ में कहा गया है– **'तद् दुष्ट भोजने न विद्यते'** (अभ्युदय की प्राप्ति कराने

वाला फल कुसंस्कारी अन्न खाने से नहीं प्राप्त होता।) तथा ६।१।८ में कहा गया है- **'तस्य समभिव्याहारतो दोषः'** (दोष युक्त भोजन कराने से करने एवं कराने वाले दोनों ही दोषी होते हैं।)

सदाचरण एवं नीति नियमावली का विधिवत् पालन करते हुए धर्म की रक्षा हेतु युद्ध करना क्षत्रिय का कर्त्तव्य बतलाया है। निर्बल पर कभी प्रहार न करना तथा समान बल वाले के साथ चुनौती मिलने पर कदम वापस न लाना क्षत्रिय का धर्म बताया है। यहाँ तक कि अपने से बलवान् द्वारा किये जाने वाले अन्याय का भी बलपूर्वक भयभीत हुए बिना प्रतिकार करे। जीवन के अन्तिम श्वास तक युद्ध करता हुआ अपने कर्त्तव्य से पीछे न हटे।

भाव परिष्कार—भावनाओं की महत्ता का प्रतिपादन भी इस शास्त्र में सुचारु रूप से किया गया है। भाव दोष से उत्पन्न अधर्म का स्पष्ट उल्लेख भी है- ६।२।४ में **'भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधा'** से उपाधि अधर्म एवं अनुपाधि धर्म का कथन भी किया गया है। इसके साथ-साथ वेदों की प्रामाणिकता में भी दृढ़ विश्वास व्यक्त किया है। वेदानुमोदित शास्त्र (वैशेषिक दर्शन) के शुभारम्भ में ही तीसरे सूत्र द्वारा **'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्'** से अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कहा कि धर्म निरूपण में वेद वाक्य ही प्रमाण हैं। वेदों का ज्ञान सम्प्रदायवाद एवं मत-मतान्तर के भेद से पूर्णतः सुरक्षित एवं निरपेक्ष है। वैशेषिक शास्त्र के रचयिता महर्षि कणाद ने धर्म का विवेचन वेदों के नियम व सिद्धान्तों के आधार पर ही किया है। इसी से शास्त्र का शुभारम्भ एवं समापन दोनों ही किया है।

आक्षेप एवं परिहार

सृष्टि की संरचना का हेतु वैशेषिकों ने परमाणु को माना है तथा शब्द की अनित्यता का कथन किया है। अन्य दर्शनकार इसे वेद-विरुद्ध कहकर इसकी आलोचना करते हैं। उनका मानना है कि यदि शब्द की अनित्यता स्वीकारी जायेगी, तो उससे वेदों की अपौरुषेयता एवं अनादिपने का खण्डन होता है। सभी वैदिक धर्मावलम्बियों ने जब बिना किसी ना-नुकर के सृष्टि निर्माता के रूप में ईश्वर को स्वीकार किया है, तो उस स्थिति में परमाणुओं द्वारा सृष्टि निर्माण का कथन करना उपयुक्त नहीं; क्योंकि यह कथन वेदसम्मत न होकर वेद- विरुद्ध है। वैशेषिककार ने कहा कि इस तरह के आक्षेपों एवं आलोचनाओं को बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। सबका अपना-अपना दृष्टिकोण है, ईश्वर को सबने माना है। कोई भौतिकवादी दृष्टिकोण का आधार लेकर अपनी मान्यता बताता है, कोई आध्यात्मिक तरीके से। दोनों की अपनी-अपनी उपयोगिता है। लोग अपनी रुचि एवं विचारणा के अनुरूप उन सबके विचारों का लाभ लेते रहेंगे।

वैशेषिक शास्त्र १०।२।८ में कहा गया है कि **"दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय"** "वेदादि धर्म शास्त्रों में जिन कर्मों को करने का निर्देश किया गया है, जिनको व्यवहार में लाना इसी जीवन में सम्भव है, उनको अनवरत करते ही रहना चाहिए। लाभ मिले अथवा नहीं; क्योंकि इनका प्रयोग सदैव अभ्युदयकारक ही होता है।" इस कथन के अनन्तर हमें वैशेषिक शास्त्र के विरुद्ध बोलने वाले आलोचकों के आक्षेप सारहीन प्रतीत होते हैं। सृष्टि संरचना- उसकी

विकास प्रक्रिया तथा समापन काल-प्रलय आदि में वैचारिक मतभेदों के न्यूनाधिक्य से शास्त्र पर दोष आरोपित करना उचित प्रतीत नहीं होता। वेदों की आज्ञा का अनुपालन करना जहाँ अध्यात्मवादी के लिए अभ्युदयकारक है, वहीं भौतिकवादी के लिए भी कल्याणकारी है। सार संक्षेप यह है कि ज्ञानयुक्त आत्मा रूपी चैतन्य तत्त्व ही सृष्टि की संरचना में महत्त्वपूर्ण है, जो परमात्म तत्त्व का अंश है, उसी आत्मा के अभ्युदय हेतु निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से यह बात साफ हो जाती है कि वैशेषिक दर्शन अपनी सहज स्वाभाविकता के साथ-साथ नितान्त उपयोगी है। यह शास्त्र जितना लोकोपयोगी एवं व्यावहारिक है, उतना ही विज्ञान सम्मत भी है। अनुभवों द्वारा सिद्ध इसके पदार्थों का प्रयोग हर मानव अपने जीवन में नित्य ही करता रहता है। आज के वैज्ञानिक दृष्टिकोण से वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद का कथन अपने आप में परिपूर्ण भले न हो; परन्तु केवल तर्क के आधार पर परमाणु स्तर तक भूतों का विश्लेषण किया जाना अति-विशिष्टता युक्त ज्ञानात्मक उत्कर्ष है। इसी कारण देश-विदेश के अनेक दर्शनशास्त्री, वैशेषिकों के वैचारिक पद्धति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। यह अलग बात है कि इसका प्रभाव कहीं तो प्रत्यक्ष है और कहीं अप्रत्यक्ष। पर एक बात तो सुनिश्चित ही है कि इसे कोई चुनौती नहीं दे सकता। शास्त्रकार ने शास्त्र रचना करके अंत में यह सार प्रस्तुत किया कि शरीरस्थ जीवात्मा का समानधर्मी तत्त्व वस्तुतः धर्म ही है तथा द्रव्य, गुण, कर्म आदि जो पदार्थ हैं, उनका यथार्थ ज्ञान हो जाने से मनुष्य साधर्म्य एवं वैधर्म्य को भी जान जाता है। उसकी जानकारी से वह सांसारिक दुःखों से मुक्त हो जाया करता है। हमारी ऐसी मान्यता है कि मनुष्य को उसके अभीष्ट फल का प्रदाता ज्ञान मूलक धर्म ही है; क्योंकि वह दार्शनिक ज्ञान इतना बलवान् होता है कि काल के न्यूनाधिक थपेड़े उसे उसके स्थान से विचलित नहीं कर पाते। धर्म एवं दर्शन का यह पारस्परिक सामंजस्य ही हमारे हिन्दू धर्म की महानतम विशिष्टिता है तथा अत्यधिक पुरातन समय से सुदृढ़ सम्बन्ध बनाये रखा है। अतएव इस तथ्य को देखकर अपना कर्त्तव्य बन जाता है कि दर्शनशास्त्र के ज्ञान की महत्ता समझ कर उसका अनुशीलन भी किया जाए।

ॐ

॥ अथ वैशेषिकदर्शनम् ॥

॥ प्रथमाध्यायेप्रथमाह्निकम् ॥

(१) अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— अथ = अब (मङ्गलकारी आरम्भ के समय माङ्गलिक शब्द), अतः = यहाँ से, धर्मम् = धर्म की , व्याख्यास्यामः = व्याख्या आरम्भ करते हैं।

व्याख्या— मंगलमय कल्याणकारी शब्द 'अथ' के उच्चारण के साथ वैशेषिक दर्शन का शुभारम्भ होता है। जगत् और जागतिक पदार्थों के विषय में जिज्ञासाओं के लिए महर्षि कणाद धर्म के विषय में वर्णन करते हैं। प्रमाण इत्यादि सोलह पदार्थों की जानकारी होने के बाद व्यक्ति को धर्म का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए; क्योंकि ब्रह्मचर्याश्रम में व्यक्ति नियमोपनियमों का पालन करते हुए विद्याध्ययन पूर्ण करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश के बाद मनुष्य भोगों में लिप्त होता जाता है। भोगों में लिप्त मानव का पतन हो जाता है। वह अज्ञान के कारण धर्म की ओर ध्यान नहीं देता। अविद्या धर्म का ज्ञान नहीं होने देती; क्योंकि धर्म का उदय मानव जीवन में या तो पूर्व जन्मार्जित संस्कारों से होता है या फिर उपदेश सुनने से धर्म का ज्ञान होता है। इसलिए यह आवश्यक है कि वेद-शास्त्रानुमोदित प्रमाणित धर्म का ज्ञान हो। बिना धर्म ज्ञान हुए अर्थ, काम और मोक्ष का ज्ञान एवं उसके लिए समुचित प्रयास होना असम्भव है॥ १ ॥

(२) यतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— यतः = जिससे, अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः = लौकिक कल्याण तथा मोक्ष की प्राप्ति (होती है), स = उसे, धर्मः = धर्म (कहते) हैं।

व्याख्या— लौकिक सुख-समृद्धि एवं पारलौकिक मोक्ष जिस ज्ञान के द्वारा होता है, उसे यहाँ धर्म कहा गया है। यहाँ पर धर्म की व्याख्या मनु आदि ऋषियों तथा मीमांसा शास्त्र से भिन्न है। प्रसिद्ध व्याख्याकार आचार्य प्रशस्तपाद ने अपने प्रथम मङ्गलाचरण में महर्षि कणाद के भावों का उल्लेख करते हुए लिखा है "परम पिता परमेश्वर एवं मुनि कणाद की वन्दना करके पदार्थ तथा उसके धर्मों की संकलित की हुई व्याख्या की जायेगी।" यहाँ पर धर्म का अर्थ 'पदार्थों का ज्ञान' होना बताया गया है। गन्ने में मीठापन होता है तथा मिठाई बनती भी उसी से है; परन्तु जो मनुष्य गन्ने को उगाने से लेकर रस निकालने एवं मीठा बनाने से लेकर उसके प्रयोग से होने वाली हानि और लाभ के बारे में जानता है, वही उसे यथार्थ रूप से जानता है। इस प्रकार ज्ञान होने पर मनुष्य उसका लाभ उठाएगा; अन्यथा हानि भी हो सकती है। आज का समस्त पदार्थ विज्ञान इसी धुरी पर टिका है। पदार्थ का ज्ञान होने के कारण उसका लाभ उठाया जा रहा है।

पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होने पर लौकिक सिद्धि के साथ लोककल्याण अर्थात् पारलौकिक सिद्धि भी मिलती है। सामान्य जीवन में मानव भौतिक जगत् की ओर ही प्रेरित होता है तथा उसे पाने के लिए तरह-तरह

के तरीके अपनाता है। उस समय यदि उसे पदार्थ का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा, तो वह उसी को पाने में अपना सारा जीवन लगा देगा तथा नीति, सदाचार, संस्कार, यथार्थ आदि को निरर्थक मानेगा। तब वह पाप कर्मों में लिप्त हो जायेगा। यही मान्यता उसके साथ जन्म-जन्मान्तरों तक चलती रहेगी। जिसके कारण उसे बार-बार अधोगति में जाना पड़ेगा; परन्तु जब मनुष्य को इस पदार्थ जगत् की नश्वरता का ज्ञान हो जाता है, तब उससे विरत होकर सत्कार्य करने लगता है, जो उसे नि:श्रेयस अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कराता है। सूत्रकार ने इसी कारण धर्म को परम कल्याणकारी तथा दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति करने वाला कहा है॥ २॥

(३) तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्॥ ३॥

सूत्रार्थ— तत् = उसके, वचनात् = कहने वाला होने से, आम्नायस्य = वेद का, प्रामाण्यम् = प्रामाण्य है।

व्याख्या— 'तद्वचनात्' पद पूर्व कथित सूत्र के अंतिम पद 'धर्म' की ओर संकेत करता है; क्योंकि 'तद्वचनात्' समासयुक्त पद है, जिसका विवेचन 'तस्य+वचनात्' हुआ; परन्तु द्रव्यादि धर्म के द्वारा ईश्वर ने इस जगत् की रचना की है। जिस प्रकार से इसकी रचना हुई है, इसका विस्तार से वर्णन वेदों में मिलता है। इसी आधार पर वेदों को ईश्वर की वाणी कहकर प्रमाणित किया गया है। इस सृष्टि की समस्त जानकारी वेद भगवान् को है, इसलिए समस्त विषयों में वेद प्रामाणिक माने जाते हैं। धर्म का वास्तविक स्वरूप वेदों में ही वर्णित है, वेदों में वर्णित साधना-अनुष्ठानों को करने से उसी प्रकार का फल मिलते हुए देखा गया है,इससे भी प्रमाणित होता है कि वेदों का प्रामाण्य है। महर्षि मनु ने मनुस्मृति २.६ में कहा 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' अर्थात् धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वेद की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वेद से बढ़कर दूसरा कोई प्रमाण नहीं हो सकता। इसलिए सूत्रकार ने वेद वचन को प्रामाण्य माना है॥३॥

(४) धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसम्॥ ४॥

सूत्रार्थ— धर्मविशेषप्रसूतात् = धर्म विशेष जन्य, द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानाम् = द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय नाम के, पदार्थानाम् = पदार्थों के, साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम् = स्वाभाविक धर्म एवं विपरीत धर्म के द्वारा, तत्त्वज्ञानात् = तत्त्वज्ञान से, नि:श्रेयसम् = मोक्ष (प्राप्त होता है)।

व्याख्या— पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए उनकी सामान्य, असामान्य तथा गुण-विशेष के सम्पर्क से विपरीत विशेषताओं को समझ लेना आवश्यक है। इसी को द्रव्यादि विषयक तत्त्वज्ञान कहते हैं, शाब्दिक और साक्षात्कार, यह दो प्रकार का ज्ञान है। शाब्दिक ज्ञान श्रवण अथवा स्वाध्याय करके प्राप्त होता है। जब हम पदार्थों की स्थूल-सूक्ष्म समस्त प्रकार की विशेषताओं समेत उसके सूक्ष्म तत्त्व के द्वारा होने वाले उसके स्वरूप परिवर्तन को समझ लेते तथा अनुभव कर लेते हैं, तब साक्षात्कार ज्ञान होता है।

सूत्र का 'धर्मविशेषप्रसूतात् तत्त्वज्ञानात्' पद का संकेत यह है कि धर्म विशेष से उत्पन्न तत्त्वज्ञान से नि:श्रेयस की सिद्धि होती है। ऋषियों ने शास्त्रों में धर्म का प्रयोग विविध अर्थों में किया है। प्रथम एवं द्वितीय सूत्र तथा इस 'साधर्म्य' व 'वैधर्म्य' पद में धर्म का अर्थ समान है; परन्तु 'धर्म विशेष प्रसूतात्' में आये धर्म का अर्थ धर्म के साथ 'विशेष' पद लग जाने से भिन्न हो गया है।

महर्षि कणाद कहते हैं कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छः पदार्थों के परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य के ज्ञान के धर्म विशेष से अनुभूत हुए तत्त्वज्ञान से मोक्ष मिलता है। यहाँ यह समझना

चाहिए कि इन्द्रियों की अनुभूति क्षमता वहाँ तक पहुँचती है, जहाँ से मुक्ति मिलती है। इसलिए ऋषियों ने सूक्ष्मतत्त्वों का साक्षात्कार करने के लिए साधना-प्रयोगात्मक प्रक्रिया को अपनाया। जिसके द्वारा आन्तरइन्द्रिय 'मन' की सूक्ष्म शक्तियों का साक्षात्कार करने में सफल हुए। मन के सध जाने पर आत्मा की सुप्त पड़ी हुई शक्तियाँ जग जाती हैं और आत्मा दिव्य प्रतिभा-सम्पन्न हो जाती है। 'योग' अथवा 'समाधि' के नाम से कही जाने वाली प्रक्रिया को ही यहाँ 'धर्म विशेष' कहा गया है।

इस प्रकार से प्राप्त पदार्थों के तत्त्व ज्ञान से ही नि:श्रेयस अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है। आत्म-जिज्ञासु को वैशेषिक शास्त्र का तत्त्व विवेचन मोक्ष के मार्ग तक पहुँचा देता है। साधक की यह अवस्था लौकिक और पारलौकिक दोनों मार्ग प्रशस्त करती है। ऐसा व्यक्ति भौतिक दिशा में चमत्कारिक अन्वेषण करने में सफल होता है तथा आध्यात्मिक दिशा में चलकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस स्तर पर द्रव्यादि पदार्थों का प्राप्त हुआ ज्ञान उनके परस्पर समान धर्मों तथा विपरीत धर्मों का साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति उन तत्त्वों के उपयुक्त मात्रा में सम्मिश्रण के द्वारा अनेक तरह के निर्माण करने में सफल हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह वैशेषिक शास्त्र भौतिक शास्त्र भी है ॥ ४॥

(५) पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ— पृथिवी = पृथ्वी, आप: = जल, तेज: = अग्नि, वायु: = वायु, आकाशं = आकाश, काल: = समय, दिक् = दिशा, आत्मा = जीवात्मा और, मन = मन, इति = इतने, द्रव्याणि = द्रव्य कहे गये हैं।

व्याख्या— पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और मन ये पाँच द्रव्य परिच्छिन्न हैं। ये क्रिया से प्रभावित होकर अपनी अवस्थाओं को बदलते रहते हैं। आकाश, काल, दिशा और आत्मा- ये चार द्रव्य अपरिच्छिन्न समस्त पदार्थों से सम्बन्ध रखते हैं, इन्हें विभु कहा गया है; क्योंकि ये क्रिया से प्रभावित होकर अपनी अवस्थाओं को नहीं बदलते; इस प्रकार ये नौ द्रव्य कहे गये हैं। वैसे सूत्र में द्रव्यों की संख्या का उल्लेख नहीं है; परन्तु सूत्र में द्रव्यों के बाद आया 'इति' पद से यह स्पष्ट होता है कि द्रव्य नौ ही हैं ॥५ ॥

(६) रूपरसगन्धस्पर्शा: संख्या: परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्त्वापरत्वे बुद्धय: सुखदु:खे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणा: ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ— रूपरसगन्धस्पर्शा: = रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, संख्या: परिमाणानि = संख्याएँ और परिमाण, पृथक्त्वं = पृथक् होना, संयोगविभागौ = मिलना और विभक्त होना, परत्वापरत्वे = दूर होना और पास आना-जाना, बुद्धय: = बुद्धियाँ, सुखदु:खे = सुख-दु:ख , इच्छाद्वेषौ = इच्छा-द्वेष, प्रयत्ना: = प्रयास, च = और, गुणा: = गुण (हैं)।

व्याख्या— सूत्रकार रूप, रस, गंध इत्यादि सत्रह गुणों का उल्लेख करके आगे 'च' कहकर यह बतलाना चाहते हैं कि इसके अतिरिक्त और भी गुण हैं। यहाँ पर ' च' पद से शास्त्र प्रसिद्ध अन्य सातगुणों, यथा— गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द की ओर संकेत किया है। इस प्रकार रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, धर्म, अधर्म और शब्द ये चौबीस गुण नौ द्रव्यों के अन्तर्गत बताए गए हैं ॥ ६ ॥

(७) उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ— उत्क्षेपणं = ऊपर उठना, अवक्षेपणं = नीचे गिरना, आकुञ्चनं = सिकुड़ना, प्रसारणं =

विस्तार हो जाना, गमनं = गति करना या चलना, इति = यह, कर्माणि = कर्म कहे गये हैं।

व्याख्या— पिछले सूत्र में द्रव्यों के गुण बतलाए गये हैं। अब द्रव्यों के कर्म बतला रहे हैं। पदार्थों के पाँच कर्म कहे गये हैं। उत्क्षेपण अर्थात् ऊपर को उठाना, जैसे— धान कूटते समय मूसल को ऊपर उठाया जाता है। अवक्षेपण अर्थात् नीचे गिराना, जैसे— ऊपर उठाए हुए मूसल को इच्छापूर्वक नीचे गिराया जाता है। आकुञ्चन अर्थात् सिकोड़ना जिस प्रकार चादर को मोड़कर और रुई को समेटकर उसके आकार को छोटा कर लेते हैं। प्रसारण अर्थात् फैलाना, जैसे— चादर और रुई को पुनः फैलाकर उसी आकार में ले आते हैं। गमन अर्थात् चलना या गति करना। 'इति' पद से उन समस्त क्रियाओं का बोध होता है, जो पदार्थों में साधारण रूप से होती है। जैसे पहिये का घूमना, जल का बहना, मलमूत्र का रेचन और अग्नि की लौ का ऊपर उठना आदि॥ ७॥

(८) सदनित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः॥ ८॥

सूत्रार्थ— सत् = सदैव विद्यमान सत्तावान् होना, अनित्य = विनाशवान्, जो सदा न रहने वाला, द्रव्यवत् = द्रव्यसदृश, कार्यं = उत्पन्न होने वाले, कारणं = उत्पत्ति में निमित्त, सामान्यविशेषवत् = सामान्य और विशेषतायुक्त, इति = यह, द्रव्यगुणकर्मणाम् = द्रव्य, गुण और कार्य का, अविशेषः = सामान्य धर्म है।

व्याख्या— द्रव्य, गुण और कर्म का साधर्म्य है— सामान्य अस्तित्व वाला होना अर्थात् सत्ता जाति इन तीन पदार्थों में समान रूप से रहती है। ये अनित्य भी होते हैं। कार्य द्रव्य एवं कारण-द्रव्य, ये दो भेद द्रव्य के हैं। कारण द्रव्य से कार्य द्रव्य की उत्पत्ति होती है, जिसकी उत्पत्ति होती है उसे कार्य द्रव्य कहते हैं। जैसे घड़ा मिट्टी से बनता है, इसमें कारण द्रव्य के रूप में मिट्टी है; क्योंकि घड़ा उसी से बनता है। कारण द्रव्य नित्य होता है तथा कार्यद्रव्य अनित्य; क्योंकि घड़ा टूटकर मिट्टी बन जाएगा। इससे सिद्ध होता है कि मिट्टी नित्य है तथा घड़ा अनित्य। इस तरह से कारण-गुण तथा कारण-कर्म नित्य है एवं कार्य-गुण व कार्य-कर्म अनित्य है। स्वाभाविक गुण को कारण गुण कहते हैं, जैसे प्रकाश अग्नि का स्वाभाविक गुण है। अग्नि के साथ प्रकाश अवश्य रहेगा। इसलिए अग्नि के साथ प्रकाश नित्य हुआ। कार्य गुण को अनित्य कहा गया है- जैसे लोहा और सोना जैसे पदार्थों में द्रवत्व तो है; परन्तु गर्मी पाने पर। ठंडा होते ही वह ठोस हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि कार्य-गुण अनित्य है। इन समस्त उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों द्रव्य के सहारे रहकर सामान्य धर्म वाले भी हैं और विशेष धर्म वाले भी हैं। नित्य भी हैं और अनित्य भी हैं। तीनों कार्य और कारण भी तीनों में समान हैं॥८॥

द्रव्य, गुण और कर्म का साधर्म्य कहकर अब द्रव्य और गुण दोनों का साधर्म्य कहते हैं—

(९) द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम्॥ ९॥

सूत्रार्थ— द्रव्यगुणयोः = द्रव्यों तथा गुणों का, सजातीयारम्भकत्वम् = स्वजातीय पदार्थ उत्पन्न करना, साधर्म्यम् = साधर्म्य है।

व्याख्या— द्रव्य सदैव सजातीय द्रव्य को उत्पन्न करेंगे। मिट्टी से घड़ा बनाया जा सकता है; परन्तु जलत्व जातीय द्रव्य नहीं बनाया जा सकता। गुणों में भी ऐसा ही देखने को मिलता है। यदि कोई कारणभूत गुण कार्य द्रव्य में किसी गुण को उत्पन्न करता है, तो वह विजातीय गुण नहीं उत्पन्न करता; बल्कि सजातीय गुण को ही उत्पन्न करता है। जैसे—रूप-रूप को ही उत्पन्न करता है,रस को उत्पन्न नहीं करेगा॥९॥

(१०) द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्॥ १०॥

सूत्रार्थ— द्रव्याणि = बहुत से द्रव्य, द्रव्यान्तरम् =विभिन्न द्रव्यों को, आरभन्ते = आरम्भ करते हैं, च = और, गुणाः = रूप आदि गुणों से, गुणान्तरम् = विभिन्न गुणों का (आरम्भ होता है)।

व्याख्या— अनेक द्रव्य जब एक साथ होते हैं, तब अलग-अलग अनेक प्रकार के द्रव्य को तैयार कर देते हैं। यही प्रक्रिया गुणों में भी होती है, अनेक गुणों के मिलने पर अनेक प्रकार के गुण बन जाते हैं। कारण द्रव्य से कार्य द्रव्य का निर्माण होता है। जैसे- कारण द्रव्य मिट्टी या तन्तुओं के परमाणुओं के मिलने से कार्य द्रव्य-घड़ा या वस्त्र बन जाता है। ठीक इसी प्रकार रूप आदि गुणों के द्वारा उसी तरह के रूप की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार अग्नि का गुण प्रकाश उत्पन्न करना है; परन्तु वहीं अग्नि जब तक चिनगारी के रूप में अपने परमाणुओं को एकत्रित नहीं करती, प्रकाश रूप में नहीं दिखाई पड़ती; परन्तु चिनगारी के परमाणुओं के एकत्रित होते ही वह प्रकाश के रूप में बदल जाती है। इससे गुण के भीतर की न दिखाई पड़ने वाली सत्ता प्रकट होती है। कभी-कभी कोई गुण विजातीय गुण का आरम्भ करने वाला भी होता है। जैसे- हल्दी और चूना मिलने से लाल रंग की उत्पत्ति होती है। इस तरह के गुणों के संयोग से विभिन्न गुणों का होना सिद्ध होता है॥ १०॥

(११) कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते॥ ११॥

सूत्रार्थ— कर्म = कर्म, कर्मसाध्यम् = कर्म का जन्मदाता, न = नहीं, विद्यते = होता है।

व्याख्या— जिस प्रकार द्रव्य और गुण सजातीय द्रव्य एवं गुण उत्पन्न करते हैं, उस तरह कर्म में नहीं होता। कर्म के द्वारा कर्म की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि कर्म अनित्य होता है। जो नित्य नहीं, वह पुनः उत्पत्ति कारक नहीं हो सकता। यदि क्रिया से क्रिया की उत्पत्ति होती रहे, तो हाथ से छोड़ा गया पत्थर या बन्दूक से निकली गोली आगे ही बढ़ती जायेगी। वह वेग नामक संस्कार से प्रेरित होकर पुनः वेग को प्राप्त होगी तथा नीचे न गिरकर आगे ही बढ़ती रहेगी। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्म, कर्म का उत्पत्ति कारक नहीं होता॥ ११॥

(१२) न द्रव्यं कार्यं कारणं च वधति॥ १२॥

सूत्रार्थ— न = नहीं, द्रव्यम् = द्रव्य, कार्यम् = कार्य, च = और, कारणम्= कारण का, वधति = विनाश करता है।

व्याख्या— कोई भी द्रव्य अपने कार्य द्रव्य एवं अपने कारण द्रव्य को नाश नहीं करता। कारण यह है कि कार्य द्रव्य एवं कारण द्रव्य परस्पर विरोधी नहीं हैं। कार्य के बन जाने पर भी कारण द्रव्य बना ही रहता है। जिस प्रकार सुवर्ण से आभूषण निर्मित हो जाने पर भी वह आभूषण स्वर्ण परमाणुओं को नष्ट नहीं करता, वह सोना ही कहा जाता है। उसमें सोना रूपी कारण बना ही रहता है, साथ ही वह आभूषण भी कहा जाता है। इस प्रकार जो परमाणु द्रव्य का कारण है, वह उसका नाशक नहीं हो सकता, उसके द्वारा निर्मित घड़ा, वस्त्र आदि निर्मित होने पर कारण द्रव्य बना ही रहता है; परन्तु कर्म के द्वारा निर्मित कार्य द्रव्य का नाश हो सकता है। जैसे- आभूषण को गला करके सोना बनाया जा सकता है तथा घड़ा टूट जाने पर मिट्टी बन जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि कारण द्रव्य, कारण द्रव्य का नाश नहीं करता है; परन्तु कर्म के द्वारा कार्यद्रव्य का नाश हो सकता है॥ १२॥

(१३) उभयथा गुणाः॥ १३॥

सूत्रार्थ— उभयथा = दोनों तरह के, गुणाः = गुण होते हैं।

व्याख्या— गुणों के द्वारा कार्य गुण एवं कारण गुण दोनों का नाश होना बताया गया है। जिस प्रकार जिस ध्वनि के द्वारा शब्द निकलता है, उसी ध्वनि के साथ वह समाप्त भी हो जाता है। कुछ व्याख्याकारों का कहना है कि कारण और कार्य गुण दोनों समान धर्मी होते हैं। इसलिए जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है। जैसे-आम के बीज से आम का उत्पन्न होना, सोने के आभूषणों का सुवर्ण के रंग का होना। ये उदाहरण यह बतलाते हैं कि प्रथम कारण रूपा धातु की विद्यमानता बनी ही रहती है। इसी तरह घड़े में मिट्टी एवं वस्त्र में तन्तुओं का रहना प्रत्यक्ष दिखाई देता है॥ १३॥

(१४) कार्यविरोधि कर्म॥ १४॥

सूत्रार्थ— कार्य विरोधि = कार्य का विरोधी, कर्म = कर्म है।

व्याख्या— कार्य पूरा हो जाने पर कर्म का नाश हो जाता है अर्थात्-कार्य कर्मनाशक है। कर्म के द्वारा ही संयोग और वियोग उत्पन्न होता है; परन्तु संयोग और वियोग के अंत होने पर कर्म समाप्त हो जाता है। जैसे-कुम्भकार घड़ा बनाता है, उसका वह कर्म तब तक चलता रहता है, जब तक कार्य पूरा न हो जाये। कार्य पूरा होने पर वह कर्म को रोक देता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि कार्य ही कर्म का विरोधी है अर्थात् कार्य के सम्पन्न हो जाने पर कर्म समाप्त हो जाता है॥१४॥

(१५) क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्॥ १५॥

सूत्रार्थ— क्रियागुणवत् = क्रिया और गुण के समान, समवायिकारणम् = समवायिकारण (उत्पन्न होने वाले समस्त कार्यों का), इति = यह, द्रव्यलक्षणम् = द्रव्य का लक्षण है।

व्याख्या— जो क्रिया को ग्रहण कर सके, क्रिया के द्वारा अपने आपको बदल सके एवं अन्य वस्तुओं को नये रूप में बदल सके, उसे द्रव्य कहते हैं। जो किसी वस्तु का उपादान बन सकता है, उसको द्रव्य कहा जाता है; क्योंकि कार्य के साथ जिसका नित्य सम्बन्ध बना रहे, उसे ही समवायिकारण कहते हैं। इसके अतिरिक्त किसी और कारण का कार्य के साथ नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता॥१५॥

(१६) द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्॥ १६॥

सूत्रार्थ— द्रव्याश्रयी = द्रव्य के आश्रित रहने के स्वभाव वाले, अगुणवान् = जिसमें किसी प्रकार का गुण न हो, संयोगविभागेषु = संयोग-विभाग के, अकारणम् = कारण के बिना, अनपेक्षः = जो किसी से अपेक्षा न रखता हो, इति = यह, गुणलक्षणम् = गुण नामक पदार्थ का लक्षण है।

व्याख्या— द्रव्य के आश्रित रहने वाला अर्थात्- जो बिना द्रव्य के न रहता हो, जिसमें अन्य कोई गुण न हो, जो द्रव्य और कर्म के आश्रित रहते हुए भी उससे अलग हो, जो क्रिया और विभाग की अपेक्षा न रखता हो तथा वस्तुओं के संयोग-विभाग का भी कारण न हो, ये गुण नामक पदार्थ के लक्षण हैं।

सूत्र में सर्वप्रथम 'गुण' पदार्थ की पहचान बतलाते हुए कहा गया है कि जो पदार्थ स्वभावतः द्रव्य के आश्रित हैं, उसे गुण कहते हैं; यहाँ समवाय सम्बन्ध से गुण का आश्रय लिया गया है; परन्तु यह विश्लेषण अधूरा है; क्योंकि समस्त कार्य द्रव्य समवाय सम्बन्ध से अपने कारण द्रव्यों के आश्रय में रहते हैं। उस समय द्रव्याश्रयित्व-गुणों में रहते हुए-कार्य द्रव्यों में भी रहता है। इसलिए यह अतिव्याप्ति दोष हो गया। इस कमी को पूरा करने के लिए 'अगुणवान्' यह पद कहा गया। जिसका अर्थ हुआ समवाय सम्बन्ध से जिस पदार्थ में गुण न रहते हों, वही गुण है।

अगुणवान् कहने पर द्रव्य में अतिव्याप्ति नहीं हुई; परन्तु यहाँ कर्म में अतिव्याप्ति दोष बना रहा; क्योंकि

गुण के लक्षण की पहचान करने पर पता चलता है कि कर्म भी द्रव्याश्रित और अगुणवान् है। इस दोष का समाधान सूत्र का अगला पद 'संयोगविभागेषु अकारणम्' करता है अर्थात् गुण वह है, जो संयोगविभाग की उत्पत्ति में कारण न हो। यहाँ पर अतिव्याप्ति समाप्त हुई; परन्तु संयोग-विभाग में अव्याप्ति दोष आ गया, इसे दूर करने के लिए अगला पद 'अनपेक्ष' कहा गया है अर्थात् सापेक्ष कारण ही गुण है।

इस प्रकार जो द्रव्याश्रित अगुणवान् होते हुए संयोग-विभागों की उत्पत्ति में अनपेक्ष कारण हो, उसे गुण कहते हैं। यह सिद्ध हुआ ॥१६॥

अब कर्म का लक्षण कहते हैं—

(१७) एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्॥ १७॥

सूत्रार्थ— एकद्रव्यम् = एक द्रव्य के आश्रित, अगुणम् = बिना गुण के, संयोगविभागेषु = संयोग और विभागों की उत्पत्ति में, अनपेक्षकारणम् = अपेक्षा रहित कारण, इति = यह, कर्मलक्षणम् = कर्म का लक्षण है।

व्याख्या— एक द्रव्य के आश्रित गुण रहित वस्तुओं के संयोग और विभाग की उत्पत्ति में कारण न होने वाला, अपेक्षारहित अर्थात् क्रिया और विभाग की अपेक्षा से रहित जो कारण हो, उसे कर्म कहते हैं। जिस प्रकार स्वर्णकार सोने को गलाकर आभूषण बना देता है तथा आभूषण को गलाकर सोना बना देता है। इसमें जिसका रूपान्तर होना है, उसी एक पदार्थ के आश्रित होकर कार्य करता रहता है। इसलिए सूत्र में 'एकद्रव्यम्' अर्थात् एक द्रव्य के आश्रित पद आया है तथा 'अनपेक्षम्' अर्थात् किसी से अपेक्षा न रखते हुए यह पद आया है। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्म वह है, जो गुणरहित होकर एक द्रव्य के आश्रित, क्रिया व विभाग की अपेक्षा रहित तथा संयोग-विभाग के कारणों वाला नहीं है॥ १७॥

(१८) द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम्॥१८॥

सूत्रार्थ— द्रव्यगुणकर्मणाम् = द्रव्य, गुण और कर्म का, द्रव्यम् = द्रव्य, कारणम् = कारण है, सामान्यम् = सामान्यतया (यही मानते हैं)।

व्याख्या— सामान्यतया द्रव्य, गुण और कर्म का कारण द्रव्य ही होता है। द्रव्य जिस तरह से द्रव्य का कारण है, उसी प्रकार से गुण और कर्म का भी कारण है। यह कारण समवाय सम्बन्ध से होता है। जैसे- एक पिता के कई पुत्र होते हैं। उसी प्रकार उपादान कारण में रूप, द्रव्य और कर्म तीनों रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी कार्य द्रव्य का समवायिकारण केवल द्रव्य होता है। हर एक कार्य द्रव्य के अवयवी कारण हैं। जैसे-सोने से आभूषण बनाया जाता है। आभूषण में स्वर्ण रूपी द्रव्य के साथ उनका गुण 'रूप' भी है तथा आभूषण बनाने वाला कर्म भी है; क्योंकि बिना कर्म के बनेगा कैसे? इसलिए यह सिद्ध है कि द्रव्य, गुण और कर्म का कारण-द्रव्य ही है॥१८॥

(१९) तथा गुणः॥ १९॥

सूत्रार्थ— तथा = उसी प्रकार, गुणः = गुण (गुण भी कारण है)।

व्याख्या— इस सूत्र में 'तथा' पद का अर्थ 'पिछले सूत्र के अनुसार' है। जैसे द्रव्य-द्रव्य, गुण और कर्म का समान कारण है, उसी प्रकार गुण भी द्रव्य, गुण और कर्म का समान कारण है। यहाँ द्रव्य और गुण का सूक्ष्म विश्लेषण करना जरूरी है। द्रव्य और गुण में अपनी-अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं। विश्लेषण करने पर पता चलता है कि द्रव्य तीनों (द्रव्य, गुण और कर्म) का समवायिकारण है तथा गुण इन तीनों (द्रव्य, गुण और

कर्म) का समवायिकारण है; क्योंकि द्रव्य का इन तीनों से नित्य सम्बन्ध है तथा गुण का इन तीनों से अनित्य सम्बन्ध है, तात्पर्य यह है कि द्रव्यत्व पदार्थ की संयुक्त और असंयुक्त दोनों अवस्थाओं में बना रहता है। जैसे- घट बना रहेगा, तो भी वह मिट्टी है और जब टूट जायेगा, तब भी मिट्टी ही रहेगा; परन्तु गुण में ऐसा नहीं है। गुण संयुक्त अवस्था में ही कारण बनेगा, असंयुक्त अवस्था में नहीं॥ १९॥

(२०) संयोगविभागवेगानां कर्म समानम्॥ २०॥

सूत्रार्थ— संयोगविभागवेगानां = संयोग, विभाग एवं वेग का, कर्म = कर्म, समानम् = समान रूप से कारण है।

व्याख्या— संयोग, विभाग और वेग का असमवायिकारण कर्म होता है। कर्म के ही द्वारा ये तीनों उत्पन्न हो जाते हैं। एक साथ नहीं, अपितु क्रम से इनका उत्पन्न होना पाया जाता है। कर्म के द्वारा ही दो पदार्थ एक में मिलते तथा अलग-अलग होते हैं। जैसे— तीर-कमान का मिलना तथा कमान से तीर का छूटना और छूटकर वेग उत्पन्न करना, ये तीनों क्रियायें क्रम से कर्म के ही द्वारा सम्पन्न हुईं। इससे यह सिद्ध होता है कि संयोग, विभाग और वेग का कारण कर्म ही है॥२०॥

(२१) न द्रव्याणां कर्म॥ २१॥

सूत्रार्थ— द्रव्याणाम् = द्रव्यों का (कारण), कर्म = कर्म, न = नहीं है।

व्याख्या— कर्म के द्वारा द्रव्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। द्रव्य के उत्पन्न होने का कारण या तो द्रव्य या गुण ही हो सकता है। द्रव्य के प्रति कर्म के असमवायिकारण होने का यहाँ प्रतिषेध किया गया है॥२१॥

द्रव्य का कारण कर्म क्यों नहीं? इसका समाधान अगले सूत्र में—

(२२) व्यतिरेकात्॥ २२॥

सूत्रार्थ— व्यतिरेकात् = व्यतिरेक (अभाव) होने से भी द्रव्य का कारण कर्म नहीं।

व्याख्या— द्रव्य की उत्पत्ति के समय कर्म का अभाव होता है अर्थात् बिना कर्म के ही द्रव्य की उत्पत्ति होती है। उसे कर्म की अपेक्षा नहीं रहती। दूसरे कर्म अवयव संयोग उत्पन्न करके समाप्त हो जाता है, जैसे— कुम्भकार का घट तैयार हो जाने के बाद बनाने वाला कर्म समाप्त हो जाता है। कार्य के पूरा हो जाने के बाद कर्म नाश हो जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कर्म द्रव्य के रहने तक ही हो सकता है। कर्म द्रव्य को उत्पन्न करने वाला नहीं हो सकता। वह द्रव्य के आश्रित होता है। यदि द्रव्य की उत्पत्ति का कारण कर्म को माना जाय, तब द्रव्य के उत्पन्न होने से पहले कर्म को उपस्थित रहना चाहिए; परन्तु द्रव्य से पहले कर्म नहीं होता। इस कारण भी कर्म को द्रव्य का कारण नहीं माना जा सकता॥२२॥

(२३) द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम्॥ २३॥

सूत्रार्थ— द्रव्याणाम् = द्रव्यों का, द्रव्यम् = द्रव्य, कार्यम् = कार्य, सामान्यम् = सामान्य धर्म है।

व्याख्या— सूत्र में 'द्रव्यम्' बहुवचन प्रयोग कारण द्रव्य की अनेकता का बोध कराता है। दो या अनेक द्रव्यों को संयुक्त करके एक कार्य उत्पन्न होता है। जैसे— अनेक तन्तुओं को संयुक्त करके पट (वस्त्र) बनाया जाता है। पट की उत्पत्ति में तन्तु भी द्रव्य हैं एवं उससे बना हुआ वस्त्र भी द्रव्य ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि द्रव्य से कार्यरूप द्रव्य की उत्पत्ति होना सामान्य धर्म है॥२३॥

(२४) गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म॥ २४॥

सूत्रार्थ— गुणवैधर्म्यात् = गुणों से विपरीत धर्म वाला होने से, न = नहीं, कर्मणाम् = कर्मों का, कर्म = कार्य।

व्याख्या— अनेक कर्मों का कार्य 'कर्म' नहीं हो सकता; क्योंकि कर्मों का गुणों के साथ वैधर्म्य है। सूत्र में 'गुण' पद द्रव्य का उपलक्षण है। पिछले सूत्र में यह बताया गया है कि अनेक द्रव्य एक साथ होकर एक नये द्रव्य को जन्म दे देते हैं। ठीक यही बात गुणों में भी है कि अनेक गुण मिलकर एक नये गुण का सृजन कर लेते हैं। जैसे— हरित, पीत, लाल आदि कई रंगों के धागों से वस्त्र पर एक नये चित्र का सृजन हो जाता है। यह अनेकों के द्वारा एक कार्य का उत्पन्न होना द्रव्य और गुण का साधर्म्य है; किन्तु कर्म में ऐसा नहीं होता कि द्रव्य और गुणों के समान कई कार्य मिलकर किसी एक कार्य को उत्पन्न कर सकें। कर्म का इन दोनों से इस विषय में वैधर्म्य है। कर्त्ता से कर्म की उत्पत्ति तो प्रत्यक्ष सिद्ध है; परन्तु कर्म से कर्म की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती ॥२४॥

(२५) द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथक्त्वसंयोगविभागाश्च ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ— द्वित्वप्रभृतयः = दो आदि, संख्याः = संख्याओं, च = और, पृथक्त्व = अलग होना, संयोग = मिलना, विभागाः = विभाग।

व्याख्या— पिछले सूत्रों में कहा गया है कि अनेक द्रव्यों से मिलकर एक द्रव्य तथा अनेक गुणों से मिलकर एक गुण की उत्पत्ति होती है। इस सूत्र में कहा गया है कि अनेक द्रव्यों के मिलने पर एक गुण की उत्पत्ति होती है। सूत्र में आया हुआ 'प्रभृति' पद 'द्वित्व' दो संख्या से लेकर अन्य अनेक संख्याओं की ओर संकेत करता है। दो, चार आदि का मिलना, अलग-अलग होना, विभाजन होना आदि गुण अनेक द्रव्यों के संयोग से होते हैं। यदि एक ही द्रव्य हो, तो ये गुण नहीं हो सकते। दो आदि संख्यायें और पृथक्त्व, संयोग और विभाग इनमें से प्रत्येक गुण अपने उत्पत्ति के समय अनेक द्रव्यों के साथ समवेत रहते हैं अर्थात् इनमें से सबका समवायिकारण अनेक द्रव्य होते हैं ॥ २५ ॥

(२६) असमवायात् सामान्यकार्यं कर्म न विद्यते ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ— असमवायात् = समवायिकारण न होने से, सामान्यकार्यम् = अनेक द्रव्यों का सामान्य कार्य, कर्म = कर्म, न = नहीं, विद्यते = होता है।

व्याख्या— बहुत से द्रव्यों का कार्य कभी भी एक कर्म नहीं होता; क्योंकि कोई एक कर्म अनेक द्रव्यों में कभी भी समवेत नहीं होता। कर्म सदैव एक द्रव्य से उत्पन्न होने वाला है; क्योंकि एक क्रिया का एक द्रव्य समवायिकारण होने से कई द्रव्यों में उसका समवेत होना सम्भव नहीं होता। इस कारण एक ही कर्म का अनेक द्रव्यों से आरम्भ नहीं माना जा सकता। एक कर्म एक द्रव्य से उत्पन्न होने वाला और एक द्रव्य पर आश्रित रहता है। कर्म का यह स्वरूप सूत्रकार ने १/१/१७ सूत्र में भी बताया है ॥२६॥

(२७) संयोगानां द्रव्यम् ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ— संयोगानाम् = बहुत से संयोगों का, द्रव्यम् = द्रव्य (कार्य होता है)।

व्याख्या— प्रत्येक द्रव्य अर्थात् सावयव पदार्थ जब किसी प्रकार आपस में मिलते हैं, तब एक कार्य द्रव्य उत्पन्न होता है अर्थात् अनेक संयोग-गुण एक द्रव्य को उत्पन्न करते हैं। प्रत्येक सावयव पदार्थ का कारण संयोग है। संयोग के बिना कोई सावयव पदार्थ उत्पन्न नहीं होता है; परन्तु परमाणुरहित एवं स्पर्श गुण से रहित द्रव्य का यदि संयोग भी होगा, तो भी कोई कार्य द्रव्य उत्पन्न नहीं होगा ॥ २७ ॥

(२८) रूपाणां रूपम् ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ— रूपाणाम् = अनेक रूप-गुणों का, रूपम् = रूप होना साधर्म्य है।

व्याख्या— कारण द्रव्य के जो गुण होते हैं, कार्य द्रव्य में उन्हीं गुणों का प्रादुर्भाव होता है। इस कारण इस सूत्र में कहा जा रहा है कि अनेक रूपों का एक रूप कार्य होता है, जैसे— सोने से बने स्वर्णाभूषण सोने के ही रूप के होते हैं। मिट्टी के कण जिस रूप के होंगे, उसी रूप का घड़ा भी होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रकट पदार्थ से ही किसी वस्तु की उत्पत्ति संभव है, अप्रकट पदार्थ से नहीं॥२८॥

इस सूत्र में 'रूप' पद गुणों का उपलक्षण है। 'रूप' पद से अन्य गुण रस, गन्ध आदि सबको इसी प्रकार समझना चाहिए—

(२९) गुरुत्व प्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम्॥ २९॥

सूत्रार्थ— गुरुत्व = भार, प्रयत्नसंयोगानाम् = प्रयत्न और संयोग इन गुणों का, उत्क्षेपणम् = ऊपर जाना (आदि कर्म एक जैसे हैं)।

व्याख्या— द्रव्य में भार का होना, हाथ का संयोग, उसे ऊपर उछालने का प्रयास, इन सबके मिलने से उत्क्षेपण कार्य होता है। इसलिए ये सभी कर्म समान हैं। जैसे 'कोई वस्तु फेंकी गई' इस फेंकने की क्रिया में सबसे पहले भार उसका कारण है; क्योंकि जिसमें कोई भार नहीं, उसे उछाला नहीं जा सकता। फेंकने का प्रयत्न भी कारण है। साथ ही हाथ का संयोग होना भी आवश्यक है। इससे यह सिद्ध है कि भार, प्रयत्न और संयोग इन तीनों से उत्क्षेपण कार्य होता है, इससे यहाँ ये तीनों कर्म समान कहे गये हैं॥२९॥

(३०) संयोगविभागाश्च कर्मणाम्॥ ३०॥

सूत्रार्थ— संयोगविभागा: = संयोग और विभाग, च = और, कर्मणाम् = कर्मों के (कार्य हैं)।

व्याख्या— कर्म के कार्य संयोग और विभाग हैं। संयोग और विभाग बिना कर्म के संभव नहीं होता; क्योंकि बिना कर्म के किसी भी वस्तु को न तो उठाया जा सकता है और न गिराया जा सकता है।

यहाँ पर सूत्र के 'च' पद से 'वेग' को ग्रहण कर लेना चाहिए; क्योंकि गत सूत्र (१/१/२०) में कहा गया है कि किसी भी पदार्थ के उठाने अथवा गिराने के समय संयोग, विभाग के साथ वेग भी होता है। इसलिए अन्य व्याख्याकारों ने 'च' पद से 'वेग' पद को भी संग्रहणीय बताया है॥३०॥

(३१) कारणसामान्ये द्रव्यकर्मणां कर्माकारणमुक्तम्॥ ३१॥

सूत्रार्थ— कारणसामान्ये = सामान्य कारण होने पर, द्रव्यकर्मणाम्= द्रव्य और कर्मों को, कर्माकारणम् = कर्म का कारण नहीं, उक्तम् = कहा गया है।

व्याख्या— सामान्य स्थिति में द्रव्य और कर्म का कारण 'कर्म' नहीं होता है; परन्तु वह किसी का कारण है ही नहीं। इसका खण्डन नहीं किया गया है; क्योंकि संयोग, विभाग आदि गुणों का तो कारण कर्म होता ही है॥३१॥

॥ इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्॥

॥ अथ प्रथमाध्याये द्वितीयाह्निकम् ॥

द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों पदार्थों के बारे में पिछले आह्निक में विश्लेषण किया गया, जिसमें कौन-किसका समवायिकारण एवं कौन-किसका असमवायिकारण है, यह भी बताया गया। इस आह्निक में कार्य-कारण भाव का सम्बन्ध निरूपण किया जा रहा है—

(३२)   कारणाभावात्कार्याभावः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— कारणाभावात् = कारण के न रहने से, कार्याभावः = कार्य का भी अभाव (हो जाता है)।

व्याख्या— कार्य के सम्पन्न होने के लिए कारण का होना आवश्यक है, बिना कारण के कार्य का सम्पन्न होना सम्भव नहीं होता। कार्य के सम्पन्न होने के कई कारण होते हैं। समवयिकारण, असमवायिकारण और निमित्त कारण जैसे— वस्त्र के समवयिकारण तन्तु हैं तथा तन्तुओं का परस्पर मिलना असमवयिकारण है। शेष वस्त्र निर्माण के समय उपयोग होने वाले समस्त उपकरण निर्माण के निमित्त कारण हैं। इन समस्त कारणों में से किसी एक कारण के अभाव में वस्त्र निर्माण सम्भव नहीं होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि कारण के बिना कार्य संभव नहीं होता और यदि बिना कारण के वस्तु की उत्पत्ति मानें, तो कभी वस्तुओं का अभाव ही न रहे॥ १ ॥

(३३)   न तु कार्याभावात्कारणाभावः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— न = नहीं, तु = परन्तु, कार्याभावात् = कार्य का अभाव होने पर, कारणाभावः = कारण का अभाव।

व्याख्या— सूत्र में कहा जा रहा है कि यदि कार्य का अभाव हो जाय, तो भी कारण का अभाव नहीं होता; क्योंकि धुआँ कार्य है और उसका कारण अग्नि है; परन्तु धुआँ न होने पर भी अग्नि रहती है। इसलिए कहा गया है कि कार्य का अभाव होने पर भी कारण का अभाव नहीं होता॥२॥

(३४)   सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— सामान्यम् = सामान्य, विशेषः = विशेष, इति = ऐसा, बुद्ध्यपेक्षम् = बुद्धि की अपेक्षा से (के द्वारा)।

व्याख्या— यह सामान्य है, यह विशेष है, इसकी जानकारी बुद्धि (ज्ञान) के द्वारा होती है। सूत्र का 'बुद्धि' पद ज्ञान का सम्बोधक है। जब अनेकों पदार्थों में एक जैसा ज्ञान हो, तब वहाँ सामान्य धर्म का बोध होता है; परन्तु उन्हीं सामान्य में से जिसका सम्बन्ध थोड़े से क्षेत्र से ही रह जाय, तो उसे विशेष कहा जाता है। सामान्य धर्म को 'पर' और 'अपर' दो प्रकार का कहा गया है। 'पर' अर्थात् अधिक देश वृत्ति वाला। 'अपर' अर्थात् अल्पदेशवृत्ति वाला। पर-सामान्य है, अपर 'विशेष' है। इसी प्रकार सामान्य एवं विशेष की जानकारी की जाती है। जैसे बहुत से व्यक्तियों में जो गुण पाये जाते हैं, उसे सामान्य कहा जायेगा। जो गुण कुछ लोगों या देश में पाया जायेगा, उसे विशेष कहा जायेगा। बहुत से मनुष्य जहाँ हैं, उसे सामान्य कहेंगे; परन्तु उसी में कुछ ब्राह्मण या अन्य जाति के लोग होंगे, तो उन्हें विशेष कहा जायेगा। यह सामान्य बुद्धि की विशेषता ज्ञान (बुद्धि) के ही कारण है॥३॥

सामान्य 'पर' और 'अपर' दो प्रकार का कहा है; परन्तु क्या कोई सामान्य केवल 'पर' ही होता है, ऐसी शिष्य की जिज्ञासा है—

(३५) भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव॥ ४॥

सूत्रार्थ— भाव: = अस्तित्व, अनुवृत्ते: = अनुवृत्ति का, एव = इस प्रकार, हेतुत्वात् = हेतु होने से, सामान्यं एव = सामान्य जैसा ही है।

व्याख्या— अनुवृत्ति का हेतु होने के कारण सत्ता केवल सामान्य होती है अर्थात् जहाँ भी हम देखते हैं, सत्ता वहीं विद्यमान दिखाई देती है। जहाँ भी हम जाते हैं, वहीं सत्ता विद्यमान रहती हैं। जिस पदार्थ को हम देखते हैं, वही अस्तित्व वाला दिखाई पड़ता है। अस्तित्व के सर्वत्र दिखाई पड़ने के कारण, उसे विशेष नहीं कहा जा सकता॥४॥

(३६) द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च॥ ५॥

सूत्रार्थ— द्रव्यत्वम् = द्रव्यत्व, गुणत्वम् = गुणत्व, कर्मत्वम् = कर्मत्व (ये तीनों), च = और भी, सामान्यानि सामान्य, च = और, विशेषा: = विशेषों से।

व्याख्या— द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व तथा और भी सामान्य-विशेष सत्ता वाले हैं। सूत्र में कर्मत्व के बाद आया हुआ 'च' पद अन्यों का भी बोध कराता है कि केवल यही तीनों नहीं, अन्य भी सामान्य-विशेष हैं। जैसे द्रव्यों में पृथिवीत्व, जलत्व आदि गुणों में गंधत्व, रसत्व आदि तथा कर्मों में उपेक्षणत्व, अपेक्षणत्व आदि जातियाँ भी सामान्य विशेष हैं। द्रव्य अपने द्रव्यत्व गुण के कारण अन्य पदार्थों से भिन्न माना जाता है, इसी तरह गुण अपने गुणत्व के कारण अपने आपको दूसरे पदार्थों से भिन्न सिद्ध करता है। कर्म का कर्मत्व भी इसी प्रकार अपने आप अलग दिखाई देता है। ये सब सामान्य और विशेष दोनों कहे गये हैं। इसी प्रकार अन्यों में भी समझना चाहिए॥ ५॥

(३७) अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्य:॥ ६॥

सूत्रार्थ— अन्यत्र = अन्य में (और कहीं), अन्त्येभ्य: = सबसे बाद में रहने वाले, विशेषेभ्य: = विशेषों से।

व्याख्या— पदार्थ का कारण जब कार्य के रूप में परिवर्तित हो जाता है, तब वह अन्त्यावयवी कहलाता है। यह अन्त्यावयव अन्यों से भिन्न होने के कारण ही विशेष कहलाता है? घट और पट आदि का कार्य रूप जब बनकर तैयार हो जाते हैं, तो फिर उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। यह ही उनका अन्त्यावयव है। यह कार्य द्रव्य अपनी विशेषता लिए हुए होता है। इसीलिए इसको विशेष कहा गया है,

इससे भिन्न द्रव्य वृत्ति के जो भी पदार्थ हैं, वे पूर्व कथित 'सामान्य-विशेष' दोनों होते हैं। अब सत्ता के स्वरूप का लक्षण कहते हैं—

(३८) सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता॥ ७॥

सूत्रार्थ— यत: = जिससे, द्रव्यगुणकर्मसु = द्रव्य, गुण और कर्मों में, सत् इति = सत् इसी रूप में, सा = वह, सत्ता = सत्ता है।

व्याख्या— जिसके द्वारा यह जानकारी हो कि यह द्रव्य है, यह गुण है, यह कर्म है, उसे ही सत् कहा गया है, वही 'सत्ता-सामान्य' है अर्थात् द्रव्यादि तीनों पदार्थों में 'सत्' की प्रतीति का कारण 'सत्ता' ही है। जैसे —स्वर्ण का सुनहलापन, मिट्टी का मिट्टीपन जो दिखाई पड़ता है, उसे ही उसकी 'सत्ता' कहते हैं॥ ७॥

यहाँ शिष्यगणों की शंका है कि तीनों पदार्थों में अलग से सत्ता का अनुभव नहीं होता। गौओं का गोत्व, अश्वों

का अश्वत्व बाहर से कहीं नहीं दिखता है। ऐसी स्थिति में उसे पदार्थ ही माने, सत्ता क्यों कहा ? इसका समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत है—

(३९) द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ— द्रव्यगुणकर्मभ्य: = द्रव्य, गुण, कर्म से, सत्ता = अस्तित्व, अर्थान्तरम् = भिन्न होता है।

व्याख्या— सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म तीनों पदार्थों से समवेत रहते हुए भी भिन्न पदार्थ है। ये तीनों पदार्थ एक दूसरे का रूप नहीं हो सकते हैं। द्रव्य, कर्म और गुण नहीं है, कर्म, द्रव्य और गुण नहीं तथा गुण, द्रव्य और कर्म नहीं हो सकता, परन्तु सत्ता इन सबमें समवेत रहते हुए भी भिन्न स्वरूप धारण किये रहती है ॥८ ॥

सूत्रकार इस कथन की पुष्टि के लिए अगला सूत्र कहते हैं—

(४०) गुणकर्मसु च भावान्न कर्म न गुण: ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ—गुणकर्मसु = गुण कर्मों में, भावात् = रहने से, न कर्म = कर्म नहीं, च = और, न गुण: = गुण भी नहीं।

व्याख्या— सत्ता में 'द्रव्य' के लक्षण नहीं मिलते, इसलिए उसे द्रव्य नहीं कह सकते। गुण और कर्म के आश्रय में रहने के कारण वह गुण और कर्म भी नहीं हो सकता; क्योंकि आश्रय दाता के समान आश्रित नहीं हो सकता। इसलिए गुण, कर्म और द्रव्य में समवेत होते हुए भी सत्ता को तीनों से भिन्न समझना चाहिए। यद्यपि सूत्र में 'द्रव्य' पद नहीं आया है, परन्तु व्याख्याकारों ने सूत्र में आये हुए व्यतिक्रम पाठ के कारण यहाँ 'द्रव्य' पद को समाविष्ट किया है। पदार्थ-निर्देश के अनुसार 'न गुणो न कर्म' ऐसा सूत्र पाठ होना चाहिए; परन्तु व्यतिक्रम पाठ होने से द्रव्य पद ग्रहण कर लिया गया।

उक्त कथन की प्रामाणिकता के लिए अगला सूत्र कहा जा रहा है—

(४१) सामान्यविशेषाभावेन च ॥ १० ॥

सूत्रार्थ— सामान्य विशेष = सामान्य विशेष धर्म के, अभावेन = अभाव से, च = और।

व्याख्या— द्रव्य, गुण और कर्म या तो सामान्य होगा अथवा विशेष; परन्तु सत्ता में ऐसा नहीं होता; क्योंकि द्रव्यों में 'द्रव्यत्व' सामान्य-विशेष है। जैसे— मिट्टी सामान्य रूप से सर्वत्र उपलब्ध है; परन्तु मिट्टी में चिकनापन या रूखापन यह मिट्टी की विशेषता है। इसी प्रकार गुणों में 'गुणत्व' सामान्य-विशेष रहता है; परन्तु 'गुणत्व' की उपलब्धि सत्ता में नहीं होती, जैसे— यह रूप है, यह गन्ध है, ऐसा कहा जाता है, फिर उसी में उसके गुणों में भेद होते हैं। यह गंध अच्छी है, यह खराब है। यह मनुष्य रूपवान् है, यह कुरूप है इत्यादि। कर्म शब्द भी सामान्य-विशेष है, परन्तु जब यह कहा जाता है कि यह पाप कर्म है, यह पुण्य कर्म है तब उसकी विशेषता प्रकट होती है; परन्तु सत्ता में ऐसा नहीं होता अर्थात् सत्ता में कर्मत्व सामान्य-विशेष की प्रतीति नहीं होती। इससे यह सिद्ध होता है कि द्रव्य, गुण और कर्म में क्रमश: द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व सामान्य-विशेष रहता है; परन्तु सत्ता में इसका अभाव रहता है, सत्ता इनसे भिन्न है ॥ १० ॥

(४२) अनेकद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ— अनेक द्रव्यवत्त्वेन = अनेक द्रव्यों में रहने से, द्रव्यत्वम् = द्रव्यत्व, उक्तम् = कहा है, समझना चाहिए।

व्याख्या— जिस प्रकार सत्ता द्रव्यादि पदार्थों से भिन्न है, उसी प्रकार द्रव्यत्व को जाति द्रव्यों से भिन्न कहा गया है, जिससे द्रव्य की पहचान गुण और कर्म से अलग हो सके; क्योंकि द्रव्यों का द्रव्यपन सामान्य या विशेष न होकर नित्य होता है। इसीलिए कहा गया है कि अनेक अर्थात् सभी द्रव्यों में रहने के कारण द्रव्यत्व द्रव्य से भिन्न होता है ॥११॥

(४३) सामान्यविशेषाभावेन च॥ १२॥

सूत्रार्थ— सामान्य = सामान्य, च = और, विशेष = विशेष, अभावेन = अभाव होने से।

व्याख्या— सामान्य-विशेष समस्त द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं; किन्तु द्रव्यत्व जाति में सामान्य-विशेष नहीं रहता। जिस तरह सत्ता सामान्य विशेष न होने के कारण द्रव्य, गुण एवं कर्म से भिन्न है, इसी प्रकार द्रव्यत्व (जाति) सामान्य-विशेष न होने के कारण द्रव्य, गुण और कर्म से भिन्न है ॥१२॥

(४४) तथा गुणेषु भावाद्गुणत्वमुक्तम्॥ १३॥

सूत्रार्थ— तथा = उसी प्रकार, गुणेषु = गुणों में, भावात् = समवाय सम्बन्ध रहने, गुणत्वम् = गुणत्व, उक्तम् = कहा गया है।

व्याख्या— जिस प्रकार समस्त द्रव्यों में रहते हुए द्रव्यत्व-द्रव्य, गुण एवं कर्म से भिन्न रहता है, उसी प्रकार गुणत्व सामान्य भी द्रव्य, गुण एवं कर्म से भिन्न है, इसका कारण यह है कि गुणों में गुणत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है; परन्तु गुणों में द्रव्य, गुण में कोई भी समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता। इसलिए द्रव्य, गुण एवं कर्म तीनों से गुण सामान्य भिन्न है॥ १३॥

(४५) सामान्यविशेषाभावेन च॥ १४॥

सूत्रार्थ— सामान्य विशेष = सामान्य विशेष का, अभावेन = अभाव होने से, च = और।

व्याख्या— जिस प्रकार द्रव्य, गुण और कर्म में 'सामान्य-विशेष' होता है, उसी प्रकार गुणत्व में सामान्य और विशेष नहीं होता, इसलिए 'गुणत्व-सामान्य' द्रव्य, गुण और कर्म से भिन्न है। यदि इनसे भिन्न नहीं होता, तो जिस प्रकार द्रव्य, गुण एवं कर्म में क्रमशः पृथिवीत्व, गंधत्व और उपेक्षणत्व में सामान्य-विशेष रहते हैं, उसी प्रकार 'गुणत्व-सामान्य' में भी प्रतीत होता; परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। इससे यह सिद्ध है कि 'गुणत्व सामान्य' द्रव्य, गुण और कर्म से भिन्न है॥ १४॥

(४६) कर्मसु भावात्कर्मत्वमुक्तम्॥ १५॥

सूत्रार्थ— कर्मसु = कर्म में, भावात् = होने से, कर्मत्वम् = कर्मत्व, उक्तम् = कहा गया है।

व्याख्या— प्रत्येक कर्म में कर्मत्व समवेत रहता है। परन्तु द्रव्य, गुण और कर्म में से कोई भी कर्मों में समवेत नहीं रहता। यदि द्रव्य, गुण, कर्म, 'कर्मत्व-सामान्य' में अभिन्न रहता, तब वह द्रव्यादि की तरह कर्मों में समवेत होता। इससे यह सिद्ध होता है कि, 'कर्मत्व-सामान्य' द्रव्य, गुण, कर्म से भिन्न है ॥१५॥

(४७) सामान्यविशेषाभावेन च॥ १६॥

सूत्रार्थ— सामान्यविशेषाभावेन = सामान्य-विशेष के रहित होने से, च = और।

व्याख्या— द्रव्य, गुण और कर्म कर्मों में समवेत नहीं रहता, जबकि 'कर्मत्व-सामान्य' कर्मों में समवेत रहता है। 'कर्मत्व-सामान्य' यदि कर्म में रहने वाले सामान्य-विशेष वाला होता, तब उसकी गणना

द्रव्य, गुण एवं कर्म में होती; लेकिन कर्मत्व-सामान्य और विशेष दोनों नहीं है, इसलिए वह तीनों से भिन्न है।

ऊपर कहे गये इन सूत्रों में जिसे द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व कहा गया है, उसका आशय जाति है, जो द्रव्य, गुण, और कर्म में रहता है। प्रत्येक जाति (सत्ता) को अन्यों से भिन्न करने वाली जो जाति (सत्ता) है, वह समस्त जातियों में समान रूप से प्राप्त होती है। इसलिए इन सूत्रों में जाति को नित्य बताया है—

(४८) सदिति लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैको भावः ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ— सत् = सत्ता, इति = इस तरह, लिंगाविशेषात् = विशेषता वाले लक्षण के होने से, विशेषलिङ्गाभावात् = विशेष लक्षण न होने से, च = अथवा भी, भावः = जाति (सत्ता), एकः = एक।

व्याख्या— सत् (सत्ता) का लक्षण है अर्थात् अस्तित्व कहा जाता है। द्रव्य, गुण और कर्म में सत्ता है, इसकी समान प्रतीति होती है। तीनों में 'सत्ता' को एक माना गया है। अस्तित्व अर्थात् 'सत्ता' सर्वत्र पाये जाने के कारण वह सामान्य ही है, विशेष नहीं। द्रव्यत्व और गुणत्व दोनों परस्पर भिन्न माने गये हैं; क्योंकि इन दोनों के आश्रय भिन्न हैं, द्रव्य 'द्रव्यत्व' का आश्रय है, गुण नहीं है। इसी तरह गुण ही गुणत्व का आश्रय है, द्रव्य नहीं है; लेकिन द्रव्य, गुण और कर्म तीनों सत्ता के आश्रयीभूत हैं। इसका यहाँ पर कोई भेदक प्रमाण न होने से 'भाव' अर्थात् 'सत्ता सामान्य' द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में पाई जाती है॥ १७॥

॥ इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम् ॥

॥ अथ द्वितीयाध्याये प्रथमाह्निकम्॥

इससे पूर्व वैशेषिक दर्शन के प्रथम अध्याय में सूत्रकार ने धर्म की व्याख्या प्रथम आह्निक में तथा द्वितीय आह्निक में कारक और कार्य का विस्तृत विवेचन किया है। प्रस्तुत द्वितीय अध्याय के प्रथम आह्निक में पञ्च तत्त्वों का निरूपण करते हैं—

(४९) रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी॥ १॥

सूत्रार्थ— रूपरसगन्ध = रूप, रस, गन्ध और, स्पर्शवती = स्पर्श धर्मवाली है, पृथिवी = पृथिवी।

व्याख्या— पृथिवी अर्थात् भूमि में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पाँच गुण होते हैं; किन्तु ये गुण परस्पर मिश्रित बतलाये गये हैं। पृथक्-पृथक् इन गुणों का वर्णन करें, तो क्रमश: रूप-अग्नि का,रस-जल का, गन्ध-पृथिवी का और स्पर्श-वायु का गुण है। पंच भूतों (पृथिवी, जल, अग्नि, आकाश, वायु) की संयुक्तता के कारण ही यहाँ उक्त गुणों को संयुक्त कहा गया है। इन पंचभूतों में पृथिवी की अत्यधिक स्थूलता के कारण ही पृथिवी में अन्य चारों महाभूतों के गुणों का भी आभास हो जाता है। इसलिए सूत्रकार ने रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन समस्त गुणों का सम्मिश्रण पृथिवी तत्त्व में माना है॥१॥

ऊपर के सूत्र में पृथिवी तत्त्व के गुणों के विषय में विवेचन किया गया। अब उसके अगले सूत्र में जल तत्त्व की विशेषता का वर्णन कर रहे हैं—

(५०) रूपरसस्पर्शवत्य आपोद्रवाः स्निग्धाः॥ २॥

सूत्रार्थ— रूपरसस्पर्शवत्यः = रूप, रस और स्पर्श वाले हैं। आपोद्रवाः = जल द्रव (पतला) है। स्निग्धाः =चिकना है, स्नेह गुण वाला है।

व्याख्या— जल तत्त्व में रूप, रस और स्पर्श इन तीनों गुणों का समावेश है। जल चिकना होने के साथ-साथ बहने वाला है। प्रकट स्वरूप वाला होने के कारण जल रूपवान् है। उपयोग में लाने अर्थात् पीने पर शीतल, गर्म, खारा एवं मीठे आदि का रसास्वादन होने से रस है। जल को छूकर उसके शीत तथा उष्ण होने का पता चलता है; इसलिए जल स्पर्शगुण सम्पन्न है और अग्नि तथा वायु के गुणों का सम्मिश्रण भी॥२॥

उपर्युक्त सूत्र में सूत्रकार ने जल तत्त्व एवं उसके स्वरूप का गुणों के आधार पर वर्णन किया। अब अगले सूत्र में तेज अर्थात् अग्नि तत्त्व का निरूपण किया जा रहा है—

(५१) तेजो रूपस्पर्शवत्॥ ३॥

सूत्रार्थ— तेजः = (अग्नि) तेज, रूपस्पर्शवत् = रूप और स्पर्श की तरह (गुणों वाला है)।

व्याख्या— तेज (अग्नि) का स्वरूप तो सुनिश्चित ही है, स्पर्श गुण से भी सम्पन्न है। स्पर्श अग्नि का प्रधान गुण है। प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने से रूपवान् भी है। छूते ही अग्नि का ज्वलनशील 'स्पर्श' गुण परिलक्षित हो जाता है। पृथिवी तत्त्व और जल तत्त्व दोनों ही अग्नि की तुलना में स्थूल हैं, अतएव उनके गुणों का अग्नि में अभाव है, वायु तत्त्व अग्नि तत्त्व से भी सूक्ष्म है। अत: अग्नि के सम्पर्क से वायु भी उष्णतायुक्त हो जाता है॥३॥

उक्त सूत्र में अग्नि तत्त्व का विवेचन हुआ, अब आगे सूत्रकार वायु तत्त्व का निरूपण करते हैं—

(५२) स्पर्शवान् वायुः॥ ४॥

सूत्रार्थ— स्पर्शवान् = स्पर्श वाला है, वायुः = वायु।

व्याख्या— यथार्थतः वायु का गुण केवल स्पर्श है। शीतलता एवं उष्णता उसके अपने स्वभावगत

गुण नहीं हैं। जल तथा अग्नि के सम्पर्क में आने से ही वायु शीतल अथवा उष्ण हो जाती है। शीतोष्ण से अलग मात्र स्पर्श ही वायु का अलग गुण है। त्वचा से उसकी स्पर्शजन्य अनुभूति होती है ॥४॥

ऊपर के सूत्र में सूत्रकार ने वायु तत्त्व के गुणों के विषय में वर्णन किया, अब अगले सूत्र में आकाश तत्त्व की व्याख्या करते हैं—

(५३) ते आकाशे न विद्यन्ते ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ— ते = वे (गुण), आकाशे = आकाश में, न = नहीं, विद्यन्ते = विद्यमान (उपलब्ध) हैं।

व्याख्या— वैशेषिक दर्शन के द्वितीय अध्याय के प्रथम आह्निक में पञ्च तत्त्वों में पृथिवी, जल, अग्नि और वायु के जिन गुणों का विवेचन सूत्रकार ने किया है, वे गुण आकाश तत्त्व में विद्यमान नहीं हैं। आकाश तत्त्व पञ्चभूतों में सर्वाधिक सूक्ष्म है। अतएव उक्त चारों तत्त्वों (पृथिवी, जल, अग्नि और वायु) के गुण आकाश तत्त्व में समाविष्ट नहीं हो सकते। कदाचित् नीले रंग का जो आकाश दृष्टिगोचर होता है, वह आकाश का रूप न होकर आकाशस्थ जल कणों का स्वरूप है। आकाश में वही नीलापन है। नियमानुसार सूक्ष्म में स्थूल के गुण नहीं आते। अतएव जब तक सूक्ष्म द्रव्य के अन्दर स्थूल द्रव्य न मिल जाय, तब तक उसके गुण भी नहीं समाहित होते। उदाहरण के लिए जल से अग्नि सूक्ष्म है, अत: जल तो उष्ण हो सकता है अर्थात् जल अग्नि का गुण धारण कर सकता है; किन्तु अग्नि में जल के गुण नहीं आ सकते ॥५॥

उपर्युक्त सूत्र ५ (५३) में सूत्रकार ने आकाश तत्त्व के गुणों का वर्णन किया है। अब यहाँ एक शंका प्रकट होती है कि जल की तरलता के कारण उसमें जो बहने का गुण है, वह केवल जल का ही गुण नहीं, अपितु घी, लाख, मोम आदि वस्तुओं का भी गुण माना जाता है। यह कहाँ तक सत्य है? अगले सूत्र में सूत्रकार उसी का समाधान करते हैं—

(५४) सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ— सर्पि: = घी (घृत), जतु = लाख, मधूच्छिष्टानाम् = मोम, (इन सबका), अग्नि = आग के, संयोगाद् = संयोग से, द्रवत्वम् = बहना (बहने का स्वरूप), अद्भि: = जल(में) सामान्यम् = सामान्य (गुण) है।

व्याख्या— शंका का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जल को बहने के लिए अग्नि के गुणों की सहायता नहीं लेनी पड़ती, जबकि घी, लाख एवं मोम अग्नि की ऊष्मा से प्रभावित हुए बिना बह नहीं सकते। अतएव द्रवीभूत होना जल का ही स्वाभाविक गुण है न कि घी, लाख और मोम का ॥६॥

यहाँ एक और प्रश्न आता है कि बहने का गुण उक्त पदार्थों के अलावा राँगा, सीसा, लोहा, चाँदी और सोने में भी दृष्टिगोचर होता है? अगले सूत्र में सूत्रकार उसी का उत्तर दे रहे हैं—

(५५) त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ— त्रपु = राँगा, सीस = सीसा, लोह = लोहा, रजत = चाँदी, सुवर्णानाम् = सोने में, अग्निसंयोगात् = अग्नि के संयोग से, द्रवत्वम् = द्रवीभूत है, अद्भि: = जल में, सामान्यम् = सामान्य (सहज ही बहने का गुण है)।

व्याख्या— भाष्यकार समाधान देते हुए कहते हैं कि राँगा, सीसा, लोहा, चाँदी और सोना भी अग्नि के गुणों का संयोग पाकर ही बहने का स्वरूप प्राप्त करते हैं। द्रवीभूत होना इन धातुओं का अपना गुण नहीं है। जबकि पानी का बहना उसका स्वाभाविक गुण है। उसे बर्फ बनाने के लिए तापमान को कम करना पड़ता है। (घनीभूत) जमना उसका अपना गुण नहीं है ॥ ७ ॥

उपर्युक्त सूत्र में भाष्यकार ने शंकाओं का समुचित समाधान करते हुए जल के स्वाभाविक गुणों का विवेचन किया। आगे के सूत्र में सूत्रकार ने स्वरूप रहित पदार्थों का अनुमान परक विवेचन करने का विधान बताया है—

(५६) विषाणी ककुद्मान् प्रान्तेवालधिः सास्नावानिति गोत्वे दृष्टं लिङ्गम्॥ ८॥

सूत्रार्थ— विषाणी = सींग (होना), ककुद्मान् = कन्धे के ऊपर का मांस पिण्ड (कन्धे का कूबड़) वाली, प्रान्तेवालधिः = पूँछ के अन्तिम सिरे में बाल वाली (बालों के गुच्छों वाली), सास्नावान् = गले के नीचे लटकती हुई खाल विशेष (से युक्त), इति = यह, गोत्वे = गौ (गाय के), इष्टम् = स्पष्ट, लिङ्गम् = चिह्न (लक्षण) है।

व्याख्या— सूत्रकार ने इस सूत्र में गौ के पहचानने के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा है कि जो सींग युक्त हो; परन्तु सींग से युक्त तो अन्य पशु भी होते हैं। दूसरा लक्षण कन्धे पर उभरा हुआ मांस पिण्ड ककुद् बताया, जिसे साँड या स्वस्थ बैल में स्पष्ट देखा जा सकता है। तीसरा लक्षण पूँछ के अन्तिम छोर पर बालों का गुच्छा बताया, जो भैंस में भी पाया जाता है। अन्त में जिस लक्षण की बात कही, वह है सास्ना-एक चर्म विशेष, जो गर्दन के नीचे लटकता रहता है। अन्य पशुओं में इस लक्षण का अभाव है। अतः इसी से गऊ होने की पुष्टि होती है ॥८॥

उपर्युक्त सूत्र में सूत्रकार ने गौ के लक्षणों का वर्णन किया। अब अगले सूत्र में वायु के प्रधान लक्षणों का विवेचन करते हैं—

(५७) स्पर्शश्च वायोः॥ ९॥

सूत्रार्थ— स्पर्शः = छूना- स्पर्श करना, च = और (कम्प,धृति, शब्द), वायोः = वायु के गुण हैं।

व्याख्या— सूत्रकार ने सूत्र संख्या ८/५६ में जिस प्रकार गौ के प्रमुख लक्षण सास्ना के साथ-साथ सींग आदि अन्य लक्षणों का संकेत किया, उसी प्रकार यहाँ वायु के प्रधान गुण स्पर्श के साथ-साथ 'च' शब्द का प्रयोग कर शब्द, कम्पन और धृति आदि गुणों की ओर भी ध्यान आकृष्ट करना है। वायु की तीव्रता से उत्पन्न होने वाली विशेष ध्वनि ही 'शब्द' है। पत्ते व कागज आदि वस्तुओं को उड़ाते रहना ही (धृति) है। वायु के प्रभाव से पेड़-पौधों का हिलना-डुलना ही 'कम्प' है; किन्तु रूप विहीन वायु का प्रधान गुण स्पर्श ही है ॥९॥

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि स्पर्श तो पृथिवी आदि के भी गुण हैं- इस शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार का कथन है —

(५८) न च दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिङ्गो वायुः॥ १०॥

सूत्रार्थ— न = नहीं, च = और (अन्यों का), दृष्टानाम् = दृष्टि में आये हुए (पृथिवी आदि)का, स्पर्शः = स्पर्श, इति = इस कारण, अदृष्टलिङ्ग = न दिखाई देने वाला चिह्न, वायुः = वायु का (ही है)।

व्याख्या— यहाँ इस प्रश्न का कोई औचित्य नहीं कि स्पर्श गुण, पृथिवी, अग्नि, जल आदि का भी है, वैसे स्पर्श केवल वायु का ही गुण है। जो उष्णता विहीन और अपाकरण होने से सबसे अलग प्रकार है। जल को छूने पर शीतलता का तथा अग्नि को छूने पर उष्णता का अनुभव होता है। पृथिवी का स्पर्श न तो शीतल और न ही गर्म है। अतएव उक्त स्पर्श मात्र वायु का ही गुण है, ऐसा मानना चाहिए ॥१०॥

यहाँ भी एक प्रश्न उठ खड़ा हो सकता है कि द्रव्य का आश्रय लेकर ही गुण अपना अस्तित्व बनाये रख सकता है अर्थात् वायु जब द्रव्य होगा, तभी तो स्पर्श गुण उसका चिह्न हो सकता है। इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए सूत्रकार कह रहे हैं—

(५९) अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम्॥ ११॥

सूत्रार्थ— अद्रव्यवत्त्वेन = अलग प्रकार के द्रव्य का आश्रय होने के कारण, द्रव्यम् = द्रव्य है (वायु)।

व्याख्या— वायु का द्रव्य तत्त्व पृथिवी आदि की तरह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं है; परन्तु पृथिवी आदि की भाँति वायु भी द्रव्य है तथा भिन्न द्रव्य का आश्रय है। पृथिवी जिस प्रकार गुण, कर्म का आश्रय होने के कारण द्रव्य है, उसी प्रकार वायु भी क्रिया और स्पर्श का आश्रय होने के कारण द्रव्य है॥११॥

उक्त सूत्र में सूत्रकार ने वायु को द्रव्य होना सिद्ध किया,उसी क्रम में आगे के सूत्र में भी अन्य प्रमाणों का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

(६०) क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च ॥ १२॥

सूत्रार्थ— क्रियावत्त्वात् = क्रियायुक्त होने से, गुणवत्त्वात् = गुणयुक्त होने से (वायु का द्रव्य होना सिद्ध होता है।), च = और (अन्य कारणों से भी)।

व्याख्या— द्रव्य वह है, जो क्रिया और गुण से युक्त हो। इस प्रकार उक्त सूत्र के अनुसार स्पर्श गुण तथा क्रिया दोनों से युक्त होने के कारण वायु के द्रव्य होने में कोई सन्देह नहीं है।

सूत्र में आया हुआ 'च' पद अन्य कारण अर्थात् समवायिकारण होने का संकेत करता है। यह सिद्धान्त है कि 'कार्य द्रव्य' अपने कारण द्रव्य से उत्पन्न होता है और कारण द्रव्य, कार्य द्रव्य के समवायिकारण होते हैं। तथा प्रत्येक कार्य का समवायिकारण द्रव्य ही होता है। चूँकि अनुभव में आने वाला वायु 'कार्यद्रव्य' है, इसलिए इसका कारण द्रव्य होना आवश्यक है, वही समवायिकारण द्रव्य भी होगा॥१२॥

वायु का द्रव्यत्व उक्त सूत्र में सिद्ध करने के पश्चात् अब सूत्रकार अगले सूत्र में उसका नित्य होना सिद्ध करते हैं—

(६१) अद्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम्॥ १३॥

सूत्रार्थ— अद्रव्यत्वेन = अद्रव्य होने से (उत्पन्न होने का कारण द्रव्य न होने से) नित्यत्वम् = नित्य होना (वायु का), उक्तम् = कहा गया है।

व्याख्या— किसी द्रव्य से उत्पन्न न होने के कारण वायु नित्य है। जिस प्रकार जीव, प्रकृति आदि। पृथिवी, जल और अग्नि ये तीनों अनित्य हैं। अवान्तर प्रलय में इनका विलय अपने-अपने कारण द्रव्यों में ही हो जाता है; परन्तु वायु की स्थिति अपरिवर्तनशील है। वायु का अस्तित्व यथावत् ही बना रहता है। प्रलयकाल में भी वह नष्ट नहीं होता। अतएव वायु के नित्य होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता है॥१३॥

उपर्युक्त सूत्र में वायु का नित्य होना सिद्ध करके अगले सूत्र में सूत्रकार वायु का एक से अधिक होना सिद्ध कर रहे हैं—

(६२) वायोर्वायुसंमूर्च्छनं नानात्वलिङ्गम्॥ १४॥

सूत्रार्थ— वायोः = वायु का, वायुसम्मूर्च्छनम् = वायु की पारस्परिक टकराहट (से), नानात्व = (वायु के) अनेक होने का, लिङ्गम् = लक्षण है।

व्याख्या— एक वायु का दूसरे वायु से टकराना उसकी अनेकता को प्रकट करता है। कभी-कभी ऐसा भी देखने को मिलता है, जब एक दूसरे के विपरीत दिशाओं से आने वाली हवा टक्कर खाकर चक्राकार घूमती और धूल कणों तथा घास-फूस कणों को ऊपर की ओर ले जाकर उसे नचाती प्रतीत होती है। उस समय यही लगता है कि हवा द्वारा ही दूसरी हवा ऊपर की ओर ले जायी जा रही है, उसी के साथ तिनके भी ऊर्ध्वगामी हो रहे हैं। इससे रूप रहित वायु के अनेक होने का अनुमान होता है। वायु के आपसी टकराहट से उसके ऊपर उठने की बात जल के उदाहरण से और भी अधिक स्पष्ट होती है। दो जल धाराओं की एक दूसरे

से प्रतिकूल दिशा से आने पर होने वाली टक्कर से जल ऊपर की ओर ही आता है। जल में मिले हुए तृण कण भी जल के साथ ऊपर ही उछल जाते हैं। इस प्रकार स्थूल जल के समान सूक्ष्म वायु का अनेक होना सुनिश्चित है ॥१४॥

व्याख्याकार ने उक्त सूत्र में वायु का अनेक होना सिद्ध किया, अब आगे के सूत्र में वायु (निराकार) के स्पर्श गुण को अदृष्ट लक्षण सिद्ध करते हैं—

(६३) वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते॥ १५॥

सूत्रार्थ— वायुसन्निकर्षे = वायु के साथ सम्बन्ध, प्रत्यक्षाभावात् = प्रत्यक्ष न होने से, दृष्टम् = दृष्ट (स्पर्श), लिङ्गम् = चिह्न, न = नहीं, विद्यते = है।

व्याख्या— चतुर्दिक् वायुमण्डल के परिपूर्ण रहने पर भी ऐसा अनुभव होता है कि पत्ता भी नहीं हिलता, वायु नहीं चल रहा। इससे यह सिद्ध होता है कि त्वचा रूपी इन्द्रिय के साथ वायु का सम्बन्ध होने पर भी त्वचा हवा का दर्शन नहीं कर पा रही। यहाँ अभाव हवा का नहीं, अपितु उसकी गतिशीलता का है। बाह्य इन्द्रियों के द्वारा वायु का साक्षात्कार नहीं होता; किन्तु उसकी अनुभूति के कारण उसके स्पर्श गुण को अदृष्ट प्रमाण ही मानना चाहिए; क्योंकि स्पर्श भी तो एक तरह की अनुभूति ही है ॥१५॥

आगे के सूत्र में सूत्रकार वायु के अस्तित्व का प्रमाण अनुमान के आधार पर प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

(६४) सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ— सामान्यतोदृष्टात् = सामान्यतोदृष्ट से (अनुमान प्रमाण), च = और, अविशेषः = विशेष नहीं, सामान्य (वायु की सिद्धि है)।

व्याख्या— यदि कोई भी वस्तु अप्रत्यक्ष रहकर भी इन्द्रिय (त्वचा) द्वारा स्पर्श गुण से अपने अस्तित्व का आभास बार-बार कराये, तो उस अदृश्य तत्त्व को नकारा नहीं जा सकता, उसे मान्यता देनी ही पड़ती है। अनुमान से उसकी सही स्थिति का ज्ञान कर लिया जाता है। हवा द्रव्य होने पर भी दृष्टिगोचर नहीं है, अतः अनुमान प्रमाण से उसका होना सिद्ध है ॥१६॥

अगले सूत्र में सूत्रकार आगम को भी वायु की सिद्धि में प्रमाण रूप होना बतलाते हैं—

(६५) तस्मादागमिकम्॥ १७॥

सूत्रार्थ— तस्मात् = उससे (प्रमाण के द्वारा भी), आगमिकम् = आगम (वेद) से भी वायु का होना सिद्ध है।

व्याख्या— अनुमान द्वारा वायु का अस्तित्व तो सिद्ध हो ही चुका, आगम ने भी वायु की महत्ता का वर्णन किया है। वैदिक साहित्य में अनेकों स्थानों पर 'वायु' शब्द प्रयुक्त हुआ है, अतः वेद भी इसे प्रमाणित करता है ॥१७॥

उक्त सूत्र में सूत्रकार ने वैदिक प्रमाण से भी वायु का होना सिद्ध किया, अब आगे के सूत्र में अपने से बड़ों के अस्तित्व का लक्षण और उसका विवेचन करते हुए कहते हैं—

(६६) संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्॥ १८॥

सूत्रार्थ— संज्ञा = नाम, कर्म = कार्य (कर्त्तव्य), तु = तो, अस्मद् = अपने (से) , विशिष्टानाम् = विशिष्ट जनों के, लिङ्गम् = लक्षण है।

व्याख्या— जिसने समस्त पदार्थों का नामकरण किया और सम्पूर्ण मानव जाति को कर्त्तव्य-कर्म में लगने का ज्ञान दिया, उसकी विशिष्टता निःसन्देह अपने से तो अधिक ही है। संज्ञा एवं स्वरूप भी उसी की देन

है। विशिष्ट व्यक्तियों की पहचान उनके गुण - कर्म एवं नाम से ही होती है। यह बात वेदों का अर्थ करने वाले ऋषियों का नाम वेद मन्त्रों के साथ जुड़ने से, उन्हीं के द्वारा व्यक्त की गई उपनिषदों आदि से स्पष्ट हो जाती है॥ १८॥

उपर्युक्त सूत्र में सूत्रकार ने यह सिद्ध किया कि संज्ञा और स्वरूप से ही विशिष्ट व्यक्ति की विशेषता परिलक्षित होती है। अगले सूत्र में व्याख्याकार कहते हैं कि किसी भी वस्तु को नाम (संज्ञा) वही दे सकता है, जिसने उसका ज्ञान प्राप्त कर लिया हो—

(६७) प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः॥ १९॥

सूत्रार्थ— प्रत्यक्षः = प्रत्यक्ष है (समस्त वस्तु, सब कुछ), प्रवृत्तत्वात् = प्रवृत्त होने से (उन वस्तुओं में), संज्ञाकर्मणः = संज्ञा और कर्म (को बनाने वाले ईश्वर के लिए)।

व्याख्या— जिस विषय का जो विशेषज्ञ होता है, वह उस विषय का मर्मज्ञ भी होता है। गूढ़ तत्त्वों का विवेचन भी वही कर सकता है। संसार की हर एक वस्तु का साक्षात्कार करने में एक-मात्र ईश्वर ही समर्थ है। सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही उन समस्त वस्तुओं का सृष्टिकर्त्ता होने के कारण उन सबके कर्म विभाग तथा संज्ञा का दाता है। मोक्ष आदि का सम्पूर्ण ज्ञान ईश्वर को ही है, अतः प्रवृत्त कराने वाला भी वही है। इस हेतु जो साधन उस परमात्मा द्वारा बताये गये हैं, उन सबको वेदों में देखा और पढ़ा जा सकता है। वेद ही उनके नामों और कर्त्तव्यों का मार्ग दिखाते हैं॥१९॥

अगले क्रम में अब सूत्रकार आकाश तत्त्व का निरूपण करते हुए कहते हैं—

(६८) निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्॥ २०॥

सूत्रार्थ— निष्क्रमणम् = (अन्दर से) बाहर निकलना, प्रवेशनम् = (बाहर से) अन्दर आना, इति= ऐसी (क्रिया), आकाशस्य = आकाश का, लिङ्गम् = लक्षण है।

व्याख्या— जिस प्रकार धूम्र को देखकर अग्नि के रहने का प्रमाण सिद्ध है, उसी प्रकार जिस-जिस स्थान में आने-जाने की सुविधा है, वहाँ आकाश का रहना भी सुनिश्चित है। दरवाजों में से ही आने-जाने की स्थिति बनती है, दीवार में प्रवेश और निकास संभव नहीं। घड़े आदि में भी आकाश का अस्तित्व सहज सिद्ध है। उसके अन्दर का रिक्त स्थान वस्तुतः आकाश ही है॥ २०॥

यहाँ एक शंका उठ खड़ी होती है कि आकाश तो स्पर्श गुण से सर्वथा विहीन है, अतः बताये गये उपर्युक्त लक्षण आकाश के कैसे हो सकते हैं? प्रस्तुत सूत्र में उसी को दर्शाया है—

(६९) तदलिङ्गमेकद्रव्यत्वात् कर्मणः॥ २१॥

सूत्रार्थ— तत् = (बाहर-अन्दर जाना-आना) उसे, अलिङ्गम् = लक्षण नहीं (माना जा सकता), एक-द्रव्यत्वात् = एक द्रव्य होने के कारण, कर्मणः = कर्म (क्रिया)।

व्याख्या— निष्क्रमण एवं प्रवेशन स्पर्श गुण सम्पन्न द्रव्यों के लक्षण हैं, न कि स्पर्श रहित आकाश के। द्रव्य के आश्रित रहकर ही कर्म का अस्तित्व है और वह भी प्रत्यक्ष द्रव्य की क्रियाशीलता का प्रमाण प्रत्यक्ष द्रव्य से ही मिलता है। आकाश अप्रत्यक्ष है, अतएव वह निष्क्रिय है। इस आधार पर आकाश किसी वस्तु अथवा क्रिया का समवायिकारण नहीं हो सकता॥२१॥

अगले सूत्र में सूत्रकार अन्य कारणों को दर्शाते हुए कहते हैं—

(७०) कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्याच्च॥ २२॥

सूत्रार्थ— कारणान्तरानुक्लृप्ति = (उसमें) कारणों के अन्तर (भिन्न) होने, च = और, वैधर्म्यात् =

वैधर्म्य (विरूप) होने से (वे लक्षण आकाश की सिद्धि नहीं करते)।

व्याख्या— समवाय अर्थात् संयोग का उल्लेख पूर्व में आ चुका है। सूत्रकार ने गत सूत्र में कहा कि आकाश का रूप प्रत्यक्ष न होने से वह कर्म नहीं कर सकता। अत: किसी क्रिया के साथ उसका समवायिकारण नहीं है। उसी का समाधान करते हुए प्रस्तुत सूत्र में कहते हैं कि आकाश में घुसना और बाहर निकलना इस कर्म का सम्बन्ध आकाश से नहीं; क्योंकि वह असमवाय है। किसी का उससे जुड़ा होना भी प्रत्यक्ष नहीं है। इसी से प्रवेशन और निष्क्रमण प्रमाण के रूप में आकाश की सिद्धि नहीं करते ॥२२॥

यहाँ अब प्रश्न यह उठता है कि फिर किस आधार पर प्रवेशन और निष्क्रमण को आकाश का लक्षण बताया गया। उसी के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—

(७१) संयोगादभाव: कर्मण: ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ— संयोगात् = संयोग का, अभाव: = अभाव होने से, कर्मण: = कर्म का न होना है (कर्म नहीं हो सकता)।

व्याख्या— आकाश को यदि कर्म का निमित्त कारण मान लिया जाये, तो भी ठीक नहीं; क्योंकि निमित्त कारण वह होता है जो किसी कार्य को सम्पादित करने के लिए 'हेतु' अर्थात् कारण हो। कर्म के विषय में उपर्युक्त सूत्रों द्वारा स्पष्ट हो ही चुका है कि कर्म भी आकाश का कारण नहीं है, न तो समवाय, न तो असमवाय। इसलिए कर्म को आकाश की सिद्धि में प्रमाण नहीं माना जा सकता। कर्म की उत्पत्ति और उसका समापन कर्त्ता पर ही निर्भर है। आकाश को जिसमें क्रिया हो सकती है, उसे द्रव्य न मानकर उसका आधार होना बताया है ॥२३॥

आगे के सूत्र में सूत्रकार बतला रहे हैं कि कारण गुणों द्वारा ही कार्य गुण दृष्टिगोचर होते हैं—

(७२) कारणगुणपूर्वक: कार्यगुणो दृष्ट: ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ— कारणगुणपूर्वक: = कारण के गुणों के अनुसार, कार्यगुण: = कार्य के गुण, दृष्ट: = देखे जाते हैं।

व्याख्या— आचार्य सूत्रकार का कथन है कि कार्य पूर्णरूप से कारणों पर ही आधारित है। कार्य में गुणों का प्रादुर्भाव कारण के गुणों के द्वारा ही देखा जाता है। सफेद रंग का वस्त्र बनाने के लिए सफेद रंग के ही धागों की आवश्यकता पड़ती है। पदार्थ के वर्ण पर ही उससे विनिर्मित वस्तु का वर्ण आश्रित है, अत: कार्य में वही गुण आयेंगे जो कारण में पहले से समाहित हैं। तीन प्रकार के कारणों का उल्लेख पहले आ चुका है, वे हैं- समवाय, असमवाय और निमित्त। इस सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने कारण गुणों के आधार पर कार्य गुणों का उत्पादन सिद्ध किया है ॥ २४ ॥

अगले सूत्र में व्याख्याकार आचार्य कह रहे हैं कि शब्द पृथिवी आदि का गुण नहीं है—

(७३) कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्द: स्पर्शवतामगुण: ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ— कार्यान्तर = कार्य की भिन्नता (अन्तर) से, अप्रादुर्भावात् = उत्पन्न न होने से, च = और (भी), शब्द: = शब्द, स्पर्शवताम् = स्पर्श करने योग्य (पृथिवी आदि का), अगुण: = लक्षण (गुण) नहीं है।

व्याख्या— स्पर्शवताम् शब्द यहाँ चारों स्पर्शवान् द्रव्यों (पृथिवी, जल, अग्नि और वायु) का संकेतक है। शब्द इन चारों द्रव्यों में से किसी का भी गुण नहीं है। कोई भी वाद्य यन्त्र अकारण शब्द युक्त नहीं होता। उसके छेड़े जाने पर ही शब्द उत्पन्न होता है। जिस प्रकार रूप उस वीणा, मृदंग आदि का अपना गुण है, उस तरह शब्द उसका अपना गुण नहीं है। शब्दों में समानता का भी अभाव है, कभी धीमा-कभी ऊँचा आदि।

बजाने वाले की इच्छा पर ही वाद्ययन्त्र से स्वर लहरी निकलती एवं बन्द होती है। बराबर रहने की स्थिति नहीं है; जबकि कपड़े का अपना रूप (श्वेत गुण) कपड़े के अस्तित्व बने रहने तक बराबर बना रहता है। स्पर्शमान द्रव्य पृथिवी आदि के रूप में स्पर्श आदि गुण कर्म द्रव्य बने रहने तक समान रूप से अपनी उपलब्धि का प्रमाण देते रहते हैं ॥२५॥

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यदि शब्द को मन अथवा आत्मा का गुण मान लिया जाये, तो अगले सूत्र में सूत्रकार ने बतलाया—

(७४) परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ— परत्र = अन्यत्र (शब्द आत्मा के द्रव्य में), समवायात् = सम्बन्ध होने से, न = न तो, आत्मगुणः = आत्मा का गुण है, च = और, प्रत्यक्षत्चात् = प्रत्यक्ष होने से (इन्द्रिय कान का विषय होने के कारण) मनोगुणः = मन का गुण (भी नहीं है)।

व्याख्या— आत्मा के साथ शब्द गुण का समवाय न होने से वह आत्मा का गुण नहीं हो सकता। ज्ञान, संस्कार आदि जो आत्मा के गुण हैं, वे बाह्य इन्द्रियों द्वारा देखे नहीं जा सकते। शब्द कान रूपी स्थूल इन्द्रिय द्वारा श्रवण किया जाता है, अतः वह आत्मा का गुण कैसे हो सकता है? ठीक इसी प्रकार मन के गुणों का भी प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता, फिर प्रत्यक्ष शब्द को उसका गुण कैसे माना जाय? कदाचित् शब्द को आत्मा का गुण मान भी लिया, तो फिर जिनकी श्रवण करने की शक्ति समाप्त हो गई है, ऐसे बधिरजनों को भी आत्मा का गुण शब्द सुनाई पड़ना चाहिए; पर ऐसा नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि शब्द न आत्मा का गुण है, न मन का ॥२६॥

प्रश्न उठता है कि शब्द पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि का भी गुण नहीं है। आत्मा और मन का भी गुण नहीं है, तो फिर किसका गुण है? आगे के सूत्र में आचार्य सूत्रकार कहते हैं—

(७५) परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य॥ २७॥

सूत्रार्थ— परिशेषात् = सबसे बचा हुआ जो शेष है, लिङ्गम् = लक्षण है, आकाशस्य = आकाश का।

व्याख्या— पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, दिशा, काल तथा आत्मा और मन इन आठ द्रव्यों में से किसी का भी लिङ्ग 'शब्द' नहीं है, अतएव नौ द्रव्यों में से जो शेष बचा, वह है आकाश। आकाश का ही गुण है शब्द, ऐसा मानना चाहिए। पहले इसी प्रसङ्ग में उल्लेख भी हो चुका है कि गुण का अस्तित्व द्रव्य पर ही आधारित है। अतएव शब्द गुण का आश्रय आकाश ही है ॥२७॥

यहाँ एक संदेह उत्पन्न होता है कि पृथिवी, जल, अग्नि आदि की भाँति आकाश को भी द्रव्य और अनित्य कहा जा सकता है? सूत्रकार समाधान देते हुए कह रहे हैं—

(७६) द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते॥ २८॥

सूत्रार्थ— द्रव्यत्व = द्रव्य है, नित्यत्वे = नित्य भी है, वायुना = वायु के समान, व्याख्याते= व्याख्या की गई।

व्याख्या— शब्द को आकाश का गुण कहा गया है, इस कारण आकाश का द्रव्य होना सिद्ध है। जैसे वायु किसी द्रव्य के आश्रित न रहने से नित्य है, उसी प्रकार आकाश का भी समवायिकारण कोई द्रव्य न होने से आकाश भी नित्य है। गुण सम्पन्न होने से वायु भी द्रव्य है ॥२८॥

उपर्युक्त सूत्र में सूत्रकार ने वायु की तरह आकाश को द्रव्य और नित्य होना बताया है। अगले सूत्र में आकाश का अनेक न होने का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए आचार्य कह रहे हैं—

(७७) तत्त्वं भावेन॥ २९ ॥

सूत्रार्थ— तत्त्वं = तत्त्व है (आकाश), भावेन = भाव सत्ता के अनुरूप।

व्याख्या— जिस प्रकार हर एक द्रव्य तथा उसके गुण-कर्म आदि में समाविष्ट सत्ता का लक्षण एक है, ठीक उसी प्रकार किसी अन्य द्रव्य का आश्रित न होने के कारण आकाश भी अनेक न होकर एक ही तत्त्व माना गया है। पंचतत्त्वों में से एक मात्र आकाश ही है, जिसकी सत्ता अपने आप में सबसे विलक्षण है। अन्य किसी भी द्रव्य का उसमें हस्तक्षेप नहीं है, अतएव उसकी एकता सिद्ध है॥२९॥

आचार्य उपर्युक्त कथन की पुष्टि में अन्य कारणों का भी उल्लेख करते हुए अगले सूत्र में कहते हैं—

(७८) शब्दलिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्च॥ ३०॥

सूत्रार्थ— शब्द लिङ्गाविशेषात् = शब्द लिङ्ग (लक्षण) के अविशेष (सामान्य) होने से, विशेष लिङ्ग = (अनेकता का प्रमाण देने वाले) विशेष लक्षण के, अभावात् = न होने से, च = और।

व्याख्या— शब्द ही आकाश का एक मात्र लिङ्ग अथवा गुण है। आकाश में भेद अथवा उसकी अनेकता को सिद्ध करने वाला कोई भी लक्षण कहीं भी न मिलने से आकाश का एकत्व स्वत: सिद्ध हो जाता है। एक मात्र लक्षण 'गुण' को धारण करने वाला आकाश एक ही है। यदि यहाँ ऐसी शंका की जाय कि आत्मा का गुण ज्ञान है और वह भी एक है; परन्तु आत्मायें तो एक नहीं हैं? यह शंका भी निर्मूल ही है। यह सत्य है कि आत्मायें एक नहीं, अनेक हैं; किन्तु उनका लक्षण ज्ञान भी सुख-दु:खादि अनुभवों के आधार पर अनेक ही है। ऐसी स्थिति शब्द की न होने से आकाश का एक होना असंदिग्ध है॥ ३०॥

आगे के सूत्र में सूत्रकार उक्त कथन में सत्ता का भेद रहित होना बतलाते हैं—

(७९) तदनुविधानादेकपृथक्त्वं चेति॥ ३१॥

सूत्रार्थ— तदनुविधानात् = उस (एक होने के) अनुविधान के अनुसार, एक- पृथक्त्वम् = एक पृथक्त्व गुण (भी है), च = और, इति = आह्निक की समाप्ति।

व्याख्या— एकत्व के समान ही एक पृथक्त्व गुण है, जो एकत्व का अनुगामी है। सर्वदा साथ रहने वाले हैं। इनका यह सम्बन्ध नियम के अन्तर्गत ही है। आकाश विराट् और व्यापक है। सर्वत्र संव्याप्त रहते हुए सबसे अलग भी है। जो भी अकेला है, उसकी मान्यता अपने आप में विशिष्ट है। उसकी श्रेणी ही पृथक् कर दी जाती है। घट में व्याप्त आकाश ही आकाश का एक पृथक्त्व गुण है। आकाश के एकत्व में घटाकाश का पृथक्त्व कहीं से भी अवरोधक प्रतीत नहीं होता, अतएव इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आकाश एक ही है॥३१॥

इसी के साथ द्वितीय अध्याय का प्रथम आह्निक पूर्ण हुआ। इसमें पंचभूतों पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के लक्षणों का उल्लेख सूत्रकार ने किया।

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्॥

॥ अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयाह्निकम् ॥

वैशेषिक दर्शन के पिछले, द्वितीय अध्याय के प्रथम आह्निक में पंचतत्त्व पृथिवी, जल, अग्नि आदि तत्त्वों की उनके लक्षणों के साथ विवेचना हुई। द्वितीय आह्निक में उक्त पंचभूतों के गुणों का परीक्षण प्रारम्भ करते हुए, सूत्रकार ने उन गुणों में से सर्वप्रथम पृथिवी के गुण, गन्ध का उल्लेख करते हुए कहा—

(८०) पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तराप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धाभावलिङ्गम् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— पुष्पवस्त्रयोः = पुष्प और वस्त्र का, सति = होने से, सन्निकर्षे = (पारस्परिक) सम्बन्ध, गुणान्तर = अन्य गुणों का, अप्रादुर्भावः = प्रादुर्भाव न होने के कारण, वस्त्रे = वस्त्र में, गन्धाभाव = गन्ध न होने का, लिङ्गम् = चिह्न है।

व्याख्या— सूत्रकार प्रस्तुत सूत्र में गन्ध गुण की विवेचनाभिव्यक्ति करते हुए कह रहे हैं कि पुष्प और कपड़े का पारस्परिक सम्बन्ध होने से कपड़े में जो सुगन्ध आने लगती है, वह उसकी अपनी न होकर पुष्प की होती है। कपड़े में गन्ध का सर्वथा अभाव है। शरीर के साथ वस्त्रों का संयोग होने से जो गन्ध आती है, वह भी कपड़े की न होकर स्वेद (पसीने) की होती है। इस तरह के नैमित्तिक गुण कभी लक्षण नहीं माने जाते। द्रव्य के अपने स्वभावगत गुण ही उसके स्वाभाविक लक्षण के रूप में प्रमाण हैं। गन्ध पृथिवी का ही गुण है। जल, अग्नि, वायु के रस, रूप, स्पर्श आदि गुण भी पृथिवी में समाहित तो हैं; किन्तु वे पृथिवी के गुण में प्रमाण नहीं हैं ॥१ ॥

गत सूत्र के विवेचन में सूत्रकार ने कहा कि गन्ध ही पृथिवी का लक्षण है। अगले सूत्र में भी उसी की पूर्ति की गई है—

(८१) व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— व्यवस्थितः = विशेष रूप से स्थित है, पृथिव्याम् = पृथिवी में, गन्धः = गन्ध।

व्याख्या— व्यवस्थित शब्द से सूत्रकार ने यह समझाने का प्रयास किया है कि समूची पृथिवी में गन्ध सर्वत्र संव्याप्त है। मनीषियों ने गन्ध के दो प्रकार बतलाये हैं-प्रथम सुरभि और दूसरा असुरभि। पृथिवी में दोनों ही प्रकार की गन्ध रहती है, 'गन्धवती पृथिवी' इसी कारण कहा गया है। रस, रूप, स्पर्श आदि लक्षणों का पृथिवी में होना सुनिश्चित है; परन्तु उनसे पृथिवी का लक्षण सिद्ध नहीं होता ॥२ ॥

आगे के सूत्र में आचार्य जलादि तत्त्वों के गुणों का परीक्षण करते हुए कहते हैं—

(८२) एतेनाप्सूष्णता व्याख्याता ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— एतेन = इसी तरह से, अप्सु = जल में, उष्णता = ताप (गर्मी) की, व्याख्याता = विवेचना की गई है।

व्याख्या— जिस प्रकार पृथिवी तत्त्व का गुण गन्ध है, ठीक उसी प्रकार अग्नि का गुण 'उष्णता' बतलाया गया है। गन्ध जिस प्रकार पृथिवी का समवाय है, उष्णता भी उसी प्रकार तेज (अग्नि) का समवाय है। गन्ध के सदृश उष्णता अग्नि का अपना गुण है, जो स्वाभाविक माना गया है। सूर्य के ताप से पत्थर के गरम होने में कारण सूर्य का तेज ही है। गरम होना पत्थर का अपना गुण नहीं है। इसी प्रकार लुहार द्वारा लोहा गरम किये जाने में अग्नि का ही संयोग महत्त्वपूर्ण है। अतएव उष्णता अग्नि का ही स्वाभाविक गुण है। पानी भी आग के संयोग से शीतलता के स्थान पर उष्णता धारण कर लेता है ॥३ ॥

अग्रिम सूत्र में भी इसी की स्पष्ट व्याख्या की गई है —

(८३) तेजस्युष्णता ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ— तेजसि = अग्नि का, उष्णता = गर्म होना (स्वाभाविक गुण है)।

व्याख्या— जिस द्रव्य का जो स्वाभाविक गुण होता है, उस गुण को ही उस द्रव्य का लक्षण माना जाता है। अग्नि प्रकट होते ही अपनी गर्मी का प्रमाण दे देता है, अतएव गर्मी का कारण उष्ण होना है। यही उष्णता ही अग्नि का अपना स्वभावगत लक्षण है। जंगल में लगी दावानल की गर्मी वायु के आश्रय से दूर तक अनुभव की जाती है। स्वरूपवान् होना भी अग्नि का लक्षण है; परन्तु मुख्य लक्षण उष्णता ही है ॥४॥

तेज के पश्चात् अब अगले क्रम में जलत्व के लक्षण का विवेचन प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(८४) अप्सु शीतता ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ— अप्सु = जल में, शीतता = शीतलता (गुण) है।

व्याख्या— शीतलता ही पानी का स्वाभाविक गुण है और जल का प्रमुख लक्षण है। गंगा के शीतल जल का स्पर्श करके वायु जो शीतलता पूर्ण हो जाती है, वह उपाधि के कारण है। जल के परमाणु ही वायु में घुलकर उसे शीतल बना देते हैं।

उपर्युक्त सूत्रों द्वारा सूत्रकार ने पृथिवी तत्त्व तथा जल तत्त्व और अग्नि के गुणों का परीक्षण किया, अब आगे के सूत्र में काल के लक्षण का विवेचन करते हैं —

(८५) अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ— अपरस्मिन् = अपर में, अपरम् = पर में पर (का ज्ञान), युगपत् = एक साथ, चिरम् = विलम्ब (देर), क्षिप्रम् = शीघ्र (जल्दी), इति = यह, काल = समय के, लिङ्गानि = लक्षण हैं।

व्याख्या— काल के गुणों की विवेचना करते हुए सूत्रकार का कथन है कि पाँच प्रकार के लक्षणों द्वारा काल का परीक्षण किया जाता है। पहला 'अपर' अर्थात् यह छोटा है या यह पहले (पूर्व) का है। दूसरा 'पर' अर्थात् यह बड़ा (ज्येष्ठ) है या बाद का है। तीसरा 'युगपत्' अर्थात् दोनों साथ-साथ के हैं (एक समान हैं)। चौथा है 'चिरम्' अर्थात् देर से (विलम्ब)। पाँचवाँ है 'क्षिप्रम्' अर्थात् जल्दी (शीघ्र)। (उदाहरणार्थ रात में मैं देर से सोया, प्रातः मैं जल्दी जग गया।) इनसे जो एक प्रकार का ज्ञान होता है, वही समय का लक्षण कहलाता है। मेरा भाई मुझसे तीन साल का छोटा है। मैं उससे तीन साल का बड़ा हूँ। मेरा मित्र मेरी ही उम्र का है। मेरी बहन के और मेरे जन्म में काफी अन्तर है। इसी प्रकार काल के लक्षणों को जाना जाता है ॥६॥

लक्षणों का उल्लेख करने के पश्चात् अब सूत्रकार अगले सूत्र में काल का द्रव्य और नित्य होना बतलाते हैं—

(८६) द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ— द्रव्यत्व = द्रव्य का होना, (और) नित्यत्वे = नित्य होना, वायुना = वायु की भाँति (काल का भी), व्याख्याते = बतलाया गया है।

व्याख्या— प्रस्तुत संदर्भ में आचार्य ने 'काल' को 'वायु' के समान गुण वाला सिद्ध किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार स्पर्श गुण से सम्पन्न होने से वायु द्रव्य है, ठीक उसी प्रकार संख्या, परिमाण आदि गुणों से युक्त होने के कारण काल भी द्रव्य है। किसी द्रव्य से वायु की उत्पत्ति न होने से जिस तरह उसका नित्य होना सिद्ध है, वैसे ही सृष्टि रचना में जन्म न लेने के कारण काल का भी नित्य होना सिद्ध है। अपर होना तथा पर होना काल के प्रधान लक्षण बतलाये गये हैं॥ ७॥

आगे के सूत्र में सूत्रकार काल की अनेकता का निवारण करके उसका एक होना बतलाते हुए कहते हैं—

(८७) तत्त्वं भावेन॥ ८॥

सूत्रार्थ—तत्त्वम् = एकत्व (एक होना) सिद्ध है, भावेन = समान सत्ता (के गुणों की विवेचना से)।

व्याख्या— द्रव्य और गुण, कर्म में अवस्थित रहने वाली एक ही सत्ता का जिस प्रकार अनेक होना नहीं सिद्ध होता, वैसे ही भूत, भविष्य तथा वर्तमान में भी एक ही काल समान रूप से समाया हुआ है। भूत, भविष्य और वर्तमान काल के भेद न होकर उसके विभाग होने का गौरव प्राप्त करते हैं। इनके द्वारा काल की अवस्थाओं, स्थितियों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। जैसे- हमारे पास घड़ी थी, उसे हमने पाँच दिन पहले तीन सौ रुपये में लिया था। वह घड़ी अब भी हमारे पास है; परन्तु अब पहले जैसी चमकती नहीं है। आगे भी रहेगी; पर कैसी रहेगी आदि। अतएव काल की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से एक ही काल की सत्ता का सिद्ध होना पाया जाता है। दिन का होना, रात का होना, सर्दी, गर्मी, बरसात आदि का होना यह सब काल की ही अवस्था के द्योतक हैं। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और नक्षत्र आदि के घूमने से ही प्रातः, मध्याह्न, सायं आदि का जो भान होता है, उससे काल का भेद सिद्ध नहीं होता॥८॥

काल की एकता को सिद्ध करके सूत्रकार अब अगले सूत्र में काल को कारण मानते हुए उसके प्रमाण प्रस्तुत करते हैं —

(८८) नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति॥ ९॥

सूत्रार्थ— नित्येषु = नित्य पदार्थों में, अभावात् = अभाव के कारण, (और) अनित्येषु = अनित्य पदार्थों में, भावात् = होने के कारण, कारणे = कारण में, कालाख्या = काल का नाम जोड़ना चाहिए, इति = इस तरह (यहाँ काल परीक्षण का क्रम पूर्ण होता है)।

व्याख्या— गत सूत्र ६.२.२ में आचार्य ने काल के जिन लक्षणों (अपर, पर, युगपत्, चिर, क्षिप्र) का उल्लेख किया है, उन सभी का नित्य पदार्थों में सर्वथा अभाव होने से तथा अनित्य पदार्थों में होने से काल ही काल का कारण माना गया है। काल के लक्षण जो पूर्व में कहे जा चुके हैं, उन सबका क्रियान्वयन अनित्य (शरीर वस्त्रादि) में ही पाया जाता है। इसके विपरीत आत्मा, आकाश आदि नित्य पदार्थों में जिनका अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता, तीनों कालों में जो बने रहते हैं, उनके साथ काल का सम्बन्ध नहीं रहता, अर्थात् वे काल के अधीन नहीं रहते।

जबकि तीनों काल भूत, भविष्य और वर्तमान एक ही काल के विभाग होकर उस काल से ही उत्पन्न हैं। रात, दिन, महीना, वर्ष, संवत्सर, युग आदि भी काल से संचालित हैं, अतएव काल के कारण में काल ही प्रमाण है। यहीं काल का प्रकरण पूर्ण होता है॥ ९॥

गत सूत्र में सूत्रकार ने काल का विवेचन किया। अब अगले सूत्र में दिशा की विवेचना करते हुए कहते हैं—

(८९) इत इदमिति यतस्तद्दिश्यम् लिङ्गम्॥ १०॥

सूत्रार्थ— इतः = इधर (इस ओर) से, इदम् = यह, इति = इस प्रकार (ऐसा व्यवहार), यतः = जिस कारण से होता है, तत् = उसको, दिश्यम् = दिशा को (बतलाने वाला), लिङ्गम् = लक्षण (माना जाता) है।

व्याख्या— सूर्य पूर्व दिशा में निकलता है, पश्चिम की ओर जाकर अस्त होता है। कन्याकुमारी भारत के दक्षिण में है, गंगोत्री उत्तर में है। इस प्रकार के व्यवहार को ही दिशा ज्ञान कहा जाता है। यह बालक इधर आ रहा है, वह व्यक्ति उधर जा रहा है। पानी नीचे की तरफ बह रहा है, आग की लपटें ऊपर की ओर उठ रही हैं, इस प्रकार सुगमतापूर्वक दिशाओं की जानकारी कर ली जाती है। आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे, समीप-दूर, इस प्रकार से ही दिशा बोध होता है॥ १०॥

सूत्रकार ने उक्त सूत्र में दिशाओं का लक्षण बताया और अब अगले सूत्र में उनका द्रव्य होना और नित्य होना बतलाते हैं—

(९०) द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ— द्रव्यत्व = द्रव्य होना (तथा), नित्यत्वे = नित्य होना, वायुना = वायु के समान (दिशाओं का भी), व्याख्याते = बतलाया गया है।

व्याख्या— सूत्रकार कहते हैं कि स्पर्श गुण से सम्पन्न होने और कार्य न होने के कारण जिस तरह वायु द्रव्य भी है और नित्य भी है, ठीक उसी प्रकार दिशा भी उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम, ऊपर-नीचे के अन्तर से द्रव्य तथा कार्य के अभाव से नित्य है। अन्य पर आश्रित न होकर दिशा का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। उसे किसी भी आश्रय की अपेक्षा नहीं रहती, इससे दिशा का नित्य होना सिद्ध है। गुणों के पाये जाने से दिशा का द्रव्य होना भी सिद्ध है; क्योंकि गुण द्रव्य के ही सहारे रहते हैं ॥११॥

व्याख्याकार आचार्य ने ऊपर के सूत्र में दिशा का द्रव्यत्व और नित्यत्व सिद्ध किया। अब आगे के सूत्र में दिशा का एक होना बतलाते हैं—

(९१) तत्त्वं भावेन ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ— तत्त्वं = एक ही है (दिशा), भावेन = सत्ता के ही सदृश।

व्याख्या— पूर्व में सूत्रकार आचार्य ने सत्ता के एकत्व का निरूपण करके उसका एक होना बताया। द्रव्य, गुण और कर्म तीनों एक ही सत्ता के आश्रयी हैं। सत्ता अनेक न होकर जिस तरह एक है, उसी तरह दिशा भी एक ही है। ऊपर-नीचे, दायें-बायें, पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण ये सब दिशा के विभाग हैं। वस्तुतः दिशा एक ही है ॥ १२ ॥

दिशा का एक होना बतलाने के उपरान्त अब अग्रिम सूत्र में उसके कार्य विशेषण से अनेक होने की बात बतलाते हैं—

(९२) कार्यविशेषेण नानात्वम् ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ— कार्यविशेषेण = कार्य की विशेषता से (दिशा), नानात्वम् = नाना प्रकार की प्रतीत होती है।

व्याख्या— दिशाएँ जो अनेक प्रकार की प्रतीत होती हैं, वह मात्र व्यवहार के कारण, न कि अनेकत्व से। सर्वत्र एक ही दिशा की सत्ता संव्याप्त है। दस दिशाओं का उल्लेख औपाधिक है, उसका यथार्थ होना नहीं पाया जाता है ॥ १३ ॥

इसी पक्ष में सूत्रकार और भी स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करते हैं —

(९३) आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ— आदित्य = सूर्य के, संयोगात् = संयोग से, भूतपूर्वात् = जो बीत चुका है, भविष्यतो = जो भविष्य (आगे) में होगा, च = और (तथा), भूतात् = जो वर्तमान में हो रहा है, प्राची = पूर्व (दिशा) कहलाती है।

व्याख्या— सृष्टि के प्रारम्भ से ही एक सुनिश्चित स्थान की तरफ सूर्य का निकलना सिद्ध है। वर्तमान में भी उसी ओर सूर्योदय का होना प्रत्यक्ष है, आने वाले समय में भी यही प्रक्रिया बनी रहेगी। भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में सूर्य का संयोग बने रहने से पूर्व अथवा प्राची दिशा नाम दिया गया, सर्वप्रथम सूर्य का दर्शन उस तरफ ही होने के कारण ॥१४॥

उक्त उल्लेख के आधार पर प्राची दिशा के समान अन्य दिशाओं के विषय में भी जानना चाहिए ऐसा अगले सूत्र में आचार्य का कथन है—

(९४) तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची च॥ १५॥

सूत्रार्थ— तथा = प्राची की भाँति, दक्षिणा = दक्षिण, प्रतीची = पश्चिम, च = और, उदीची = उत्तर दिशा (को भी जानना चाहिए)।

व्याख्या— सूर्य का उदय होना पूर्व अर्थात् प्राची दिशा में गत सूत्र से सिद्ध हुआ। सूर्य का दर्शन करने के लिए सूर्याभिमुख होना पड़ता है, उस दशा में उसके दाँये तरफ दक्षिण, पीठ की तरफ अर्थात् पीछे पश्चिम और बायें हाथ की ओर उत्तर दिशा होती है। उत्तरायण और दक्षिणायन तथा दिशाओं का सम्पूर्ण ज्ञान सूर्य के संयोग पर ही निर्भर है॥१५॥

अग्रिम सूत्र में सूत्रकार उप दिशाओं के सम्बन्ध में कथन करते हुए बताते हैं—

(९५) एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि॥ १६॥

सूत्रार्थ— एतेन = इसी प्रकार (प्राची की तरह), दिगन्तरालानि = (प्रत्येक) दिशाओं के अन्तराल-बीच की दिशाओं का, व्याख्यातानि = विवेचन जान लेना चाहिए।

व्याख्या— पूर्व और दक्षिण के बीच आग्रेयकोण, दक्षिण और पश्चिम के मध्य नैर्ऋत्यकोण, पश्चिम और उत्तर के बीच वायव्यकोण तथा उत्तर और पूर्व के मध्य ईशानकोण। इसके साथ-साथ ऊपर और नीचे ये कुल मिलाकर दस दिशायें (चार मुख्य सहित) होती हैं। इन सबकी सिद्धि भी सूर्य के ही आश्रित है तथा इनके विभाग भी सूर्य की चाल एवं सूर्य से संयोग को लेकर है। एक ही दिशा के, कार्य की सरलता की दृष्टि से, अनेक भेद प्रतीत होते हैं॥१६॥

दिशा का विवेचन करके अब व्याख्याकार अग्रिम सूत्र से आकाश के गुण शब्द का परीक्षण करते हैं। शब्द के विषय में अनेक प्रकार के संशय होते हैं। अतएव सूत्रकार ने पहले शब्द का विवेचन न करके संशय का विवेचन किया है—

(९६) सामान्य प्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः॥ १७॥

सूत्रार्थ— सामान्यः = सामान्य धर्म का, प्रत्यक्षात् = साक्षात्कार होने से, विशेष = विशेष धर्मों का, अप्रत्यक्षात् = अप्रत्यक्ष होने से, च = और, विशेषस्मृतेः = विशेष कार्य की स्मृति हो आने से, संशयः = संशय बन जाता है।

व्याख्या— जहाँ साधारण गुण, प्रत्यक्ष हों तथा विशेष गुण, अप्रत्यक्ष हों, उन परिस्थितियों में विशेष गुणों की स्मृति हो जाने से, संशय उत्पन्न हो जाता है। उदाहरणार्थ-रात के अँधेरे में मनुष्य के ही कद काठी से मिलता जुलता कोई झुरमुट अथवा ठूँठ आदि मन में भय उत्पन्न कर देता है। आकृति से सामान्य लगता है; पर मन में कई तरह की शंकायें होने लगती हैं। ध्यानपूर्वक उसके हाव-भाव, क्रिया-कलाप समझने, मनुष्य होने के विशेष लक्षणों का अवलोकन करने का प्रयास किया जाता है। जिन विशिष्ट गुणों का पूर्व से ज्ञान हो जाता है, उनका स्मरण हो आता है। ऐसी स्थिति में निर्णय नहीं हो पाता कि यथार्थ क्या है? संशय के नाम से उसे जाना जाता है। आचार्य कहते हैं कि संशय उत्पन्न होने पर ही किसी विषय का परीक्षण किया जाता है। सन्देह रहित सुनिश्चित ज्ञान की परीक्षा नहीं की जाती। दूसरी ओर जिस वस्तु की लेशमात्र जानकारी न हो, उसकी भी परीक्षा नहीं की जाती॥१७॥

आकाश के गुण 'शब्द' के परीक्षण के क्रम में अब आगे आने वाले सूत्रों में सूत्रकार आचार्य दृष्टमान और

अदृष्टमान पदार्थों में उत्पन्न होने वाले संशय का विवेचन करते हुए प्रत्यक्ष का कथन प्रस्तुत करते हैं—

(९७) दृष्टं च दृष्टवत्॥ १८॥

सूत्रार्थ— दृष्टम् = जो दिखाई पड़ रहा है, च = और, दृष्टवत् = पहले देखे जा चुके के समान गुण वाला (संशयात्मक) है।

व्याख्या— प्रस्तुत सूत्र में दो प्रकार के संशयों की स्थिति उत्पन्न होती है, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष में भी दो तरह के संशय सामने आते हैं। प्रथम वह जिसके गुण सम्मुख होते हैं, दूसरा वह जिसके विशेष लक्षण अदृश्य रहते हैं। हिरन तथा गाय दोनों की सींग प्रत्यक्ष है और उनकी पहचान कराने वाले गुण भी स्पष्ट प्रकट होने से यह सींग गाय की है और यह हिरन की । उक्त उदाहरण से गुण के आधार पर संशय का निवारण हो जाता है।

यहाँ गाय और नीलगाय की सींग की पहचान करने में कठिनाई आती है; क्योंकि हिरन और गाय की सींग में अन्तर था; किन्तु यहाँ समानता होने के कारण सन्देह उत्पन्न होता है। गुण तो प्रत्यक्ष है, जो दोनों में ही है; परन्तु विशेष लक्षण न दिखने के कारण संदेह का निवारण नहीं हो रहा है।

अगले सूत्र में सूत्रकार अन्य विषयक संशय की स्थिति का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

(९८) यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च॥ १९॥

सूत्रार्थ— च = और, यथा = जैसा, दृष्टम् = पूर्व में देखा जा चुका है, अयथा = उसके विपरीत, दृष्टत्वात् = देखे जाने से (भी संशय उत्पन्न हो जाता है)।

व्याख्या— जिस वस्तु का पहले स्वयं के द्वारा प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लिया गया हो, कालान्तर में पुनः उसी वस्तु को उसके पूर्ववत् स्वरूप में न देखे जाने से, यह वही है, जिसे हमने पहले देखा था या वह नहीं है, ऐसा संशय उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ–कोई व्यक्ति हमें आम आदमी की तरह सामान्य स्थिति में मिला, कुछ समय पश्चात् उसी जैसा हुलिया वाला पुरुष सम्मुख आता दिखाई पड़ा; किन्तु लम्बी दाढ़ी और सिर पर जटा-जूट, शरीर पर संत जैसा बाना, तो पहले देखे हुए व्यक्ति का स्वरूप स्मरण हो आता है और उस स्वरूप का इस सामने वाले के स्वरूप से मेल न खाने से संशय होने लगता है कि यह वही व्यक्ति या कोई और है ?॥ १९॥

इसके अनन्तर अभ्यन्तर विषयक संशय के रूप का निरूपण करते हुए आचार्य कहते हैं—

(९९) विद्याविद्यातश्च संशयः॥ २०॥

सूत्रार्थ— विद्या = विद्या, च = और, अविद्यातः = अविद्या से भी, संशयः = संशय हो जाता है।

व्याख्या— विद्या और अविद्या के कारण जो संशय उत्पन्न होता है, उसे आभ्यन्तर संशय की संज्ञा प्राप्त है। विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान, अविद्या अर्थात् यथार्थता से रहित ज्ञान। किसी भी विषय वस्तु के बारे में आधा-अधूरा ज्ञान ही सन्देह का कारण बनता है। वेशभूषा के आधार पर ही यदि किसी व्यक्ति की पहचान कर ली जाय, तो मन में एक प्रकार का संशय बना ही रहता है कि यह व्यक्ति वही है या कोई और। वनौषधियों की पहचान करनी हो, तो उसके स्वरूप विशेष की सहायता से पहचान हो जाने पर भी आन्तरिक संशय का निवारण नहीं हो पाता है॥ २०॥

संशयों के विवेचन के उपरान्त अब अगले सूत्र में आचार्य सूत्रकार शब्द विषयक परीक्षण का शुभारम्भ करते हुए कहते हैं—

(१००) श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः॥ २१॥

सूत्रार्थ— श्रोत्रः = कर्णेन्द्रिय द्वारा, ग्रहणः = ग्रहण किया जाने वाला, यो = जो कुछ भी, अर्थः = अर्थ उपलब्ध है, सः = उसको, शब्दः = शब्द की संज्ञा दी गई है।

व्याख्या— जिन अर्थों का श्रवण कानों द्वारा किया जाय, उन्हें शब्द कहा जाता है। अन्य इन्द्रियों द्वारा शब्द को ग्रहण कर पाना किसी भी स्थिति में संभव नहीं है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना अलग-अलग कार्य व गुण है। आँखों का देखना, नाक का सूँघना, जीभ का स्वाद लेना आदि की तरह शब्दों को सुनना कानों का विषय है। कानों की प्रवृत्ति मात्र शब्दों के श्रवण में ही है। शब्दों का अपना प्रभाव होता है। मिठास भरे शब्द मन को सुख तथा कड़ुवे शब्द मन को दुःख देते हैं। शब्द को आकाश का गुण होना पूर्व में ही सिद्ध है। इसी कारण (कान) कर्णेन्द्रिय की उत्पत्ति आकाश तत्त्व से मानी जाती है॥ २१॥

शंका के कारण ही किसी विषय वस्तु का परीक्षण किया जाता है। शब्द के परीक्षण की आवश्यकता क्यों आ पड़ी ? उन संशयों का उल्लेख करते हुए आचार्य सूत्रकार आगे कहते हैं—

(१०१) तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषुविशेषस्य उभयथा दृष्टत्वात्॥ २२॥

सूत्रार्थ— तुल्यः = समान, जातीयेषु = जाति वाले पदार्थों में (तथा), अर्थान्तरभूतेषु = असमान जाति वाले पदार्थों में, विशेषस्य = विशेष के गुण, उभयथा = दोनों तरह अथवा दोनों में, दृष्टत्वात् = देखे जाने के कारण, (शब्द विषयक संशय होता है)।

व्याख्या— रूप, रस आदि गुणों का जिस प्रकार इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाना पाया जाता है, उसी तरह शब्द कर्णेन्द्रिय अर्थात् कानों द्वारा ग्राह्य है। अतएव कानों द्वारा ग्रहण किये जाने के कारण शब्द भी गुण मालूम होता है। कभी धीरे बोलने तथा कभी जोर से बोलने से द्रव्य की भाँति हलका और भारी होने के कारण तदनुरूप गुणों का आश्रय होने के कारण द्रव्य जैसा प्रतीत होता है। अतएव ऐसा सन्देह होने लगता है कि शब्द गुण है, कर्म है या द्रव्य है॥२२॥

अगले सूत्र में सूत्रकार संशयों का निवारण करते हुए शब्द का द्रव्य न होना बतलाते हैं—

(१०२) एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम्॥ २३॥

सूत्रार्थ— एकद्रव्यत्वात् = एक द्रव्य में ही संव्याप्त होने से, द्रव्यम् = द्रव्य, न = नहीं है।

व्याख्या— शब्द की उत्पत्ति आकाश तत्त्व से होने के कारण आकाश के साथ शब्द का समवाय है। शब्द आकाश के आश्रित रहता है, अतएव उसका द्रव्य होना सिद्ध नहीं होता। इसका कारण यह है कि द्रव्य किसी द्रव्य का आश्रयी न होकर गुण का आश्रयी होता है और किसी कार्य द्रव्य की उत्पत्ति भी किसी एक द्रव्य के द्वारा नहीं होती, यह एक सुनिश्चित सिद्धान्त है। विज्ञान भी इस बात का पक्षधर है। इस प्रकार शब्द को द्रव्य नहीं माना जा सकता॥ २३॥

गत सूत्र में जिस प्रकार आचार्य व्याख्याकार ने शब्द का 'द्रव्य' न होना सिद्ध किया है, वैसे ही आगे के सूत्र में शब्द का 'कर्म' न होना बतलाते हैं —

(१०३) नापि कर्माऽचाक्षुषत्वात् प्रत्ययस्य॥ २४॥

सूत्रार्थ— कर्म = कर्म, अपि = भी, न = नहीं है, अचाक्षुषत्वात् = नेत्रों द्वारा दिखलाई न पड़ने के कारण, प्रत्ययस्य = ज्ञान के।

व्याख्या— प्रत्येक कर्म का प्रत्यक्ष दृश्य आँखों द्वारा देखा जाना सहज सुलभ है। पानी का बहना, वायु का गतिमान् होना, अग्नि का ऊपर उठना, उत्क्षेपण तथा अपक्षेपण आदि समस्त कर्म नेत्रों द्वारा देखे जाते हैं; किन्तु न तो शब्द को किसी ने अपनी आँखों से देखा और न तो शब्द के कर्म को ही। इससे यही सिद्ध होता है कि शब्द कर्म भी नहीं है॥ २४॥

यहाँ एक आशंका उठ खड़ी होती है कि जिस प्रकार कर्म अपने कार्य की समाप्ति के साथ नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार शब्द भी अपना काम करके विनष्ट हो जाते हैं। इस समान धर्म वाला होने के कारण क्या शब्द को 'कर्म' मानना चाहिए ? अग्रिम सूत्र में सूत्रकार उसी का समाधान करते हैं—

(१०४) गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम् ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ— गुणस्य = गुण का, सतः = होना, अपवर्गः = शीघ्र नष्ट होना, कर्मभिः = कर्म के साथ, साधर्म्यम् = समानता है।

व्याख्या— कार्य का सम्पादन होने से जिस तरह कर्म की समाप्ति हो जाती है, ठीक उसी तरह शब्द भी अपना कार्य करके विनष्ट हो जाते हैं। शब्द के साथ कर्म की यह साधर्म्यता है। आशुविनाशत्व के कारण शब्द की समानता गुण से की गई है। जबकि ऐसा होना आवश्यक नहीं है; क्योंकि संख्या तथा आत्मा का ज्ञान,सुख-दुःख जैसे गुण भी त्वरित नष्ट होने वाला है तथा कर्म की भाँति विनष्ट होने से यह आवश्यक नहीं कि शब्द को कर्म माना जाय, फिर भी शब्द को गुण और कर्म की तरह माना है। कोई शब्द बोला जाता है, तो उसकी पूर्ति हेतु जो क्रिया होती है, वह तो प्रत्यक्ष ही दिखाई पड़ती है। इससे सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि गुण व कर्म न होकर भी शब्द उनकी तरह ही है॥ २५ ॥

आचार्य अब अगले सूत्र में शब्द का अनित्य होना बतलाते हुए प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

(१०५) सतो लिङ्गाभावात् ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ— लिङ्गः = लक्षण, अभावात् = न होने से, सतः = नित्य नहीं है (शब्द)।

व्याख्या— शब्द का उच्चारण जिस समय किया जाता है तभी उसका अस्तित्व अनुभव होता है। उच्चारण से पहले तथा उच्चारण के पश्चात् उसका अस्तित्व कहीं भी नहीं मालूम पड़ता। शब्द की यदि नित्यता होती, तो उच्चारण के पहले और बाद में भी उसका होना पाया जाता है; किन्तु ऐसा नहीं है; क्योंकि कोई भी लक्षण इस तथ्य की पुष्टि करते नहीं प्राप्त होते। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शब्द नित्य नहीं है। जो अविनाशी है उसी की नित्यता सिद्ध है। शब्द उच्चारण के पूर्ण होते ही नष्ट हो जाते हैं। उत्पन्न होना और विनष्ट होना शब्द की अनित्यता का पूर्ण परिचायक है॥ २६ ॥

शब्द की अनित्यता के पक्ष में आचार्य और भी प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

(१०६) नित्यवैधर्म्यात् ॥ २७ ॥

सूत्रार्थ— नित्यः = (विनाश न होने वाले) नित्य के साथ, वैधर्म्यात् = प्रतिकूलता होने से (भी शब्द नित्य नहीं है)।

व्याख्या— व्यक्ति को न देखकर मात्र शब्द के सुनने से बोलने वाले उस अमुक व्यक्ति के परिचित जन उस व्यक्ति की पहचान कर लेते हैं, कई व्यक्तियों के शब्द समूहों में से उसकी आवाज को समझकर, नाम कह देते हैं कि देवदत्त नहीं यज्ञदत्त बोल रहा है। एकरूपता का होना शब्दों के साथ नहीं पाया जाता, अतएव उसका नित्य के साथ विरोधी होना स्पष्ट हो जाता है। हर व्यक्ति अपने-अपने शब्द उत्पन्न करता है, जबकि उत्पन्न होना अनित्य का ही धर्म है। इसलिए शब्द की अनित्यता संशयात्मक नहीं, सुनिश्चित ही है॥ २७ ॥

शब्द के अनित्य होने में उक्त प्रमाण प्रस्तुत करने के पश्चात् और भी साक्ष्य देते हुए आचार्य कहते हैं—

(१०७) अनित्यश्चायं कारणतः ॥ २८ ॥

सूत्रार्थ— च = और, अयम् = यह शब्द, कारणतः = कारण से उत्पन्न होने से, अनित्यः = नित्य नहीं है।

व्याख्या— शब्दों का उच्चारण, उनका सुनाई पड़ना एवं उनकी अनुभूति से हर मानव परिचित है।

शब्दों के उच्चारण में मनुष्य ही कारण है, वह अपने मुख से शब्दों को उत्पन्न करता है। ढोलक, नगाड़े, करताल, मँजीरा स्वत: नहीं बज उठते, निर्धारित साधनों द्वारा ही उनकी शब्द ध्वनि उत्पन्न होती है। इस प्रकार कारण से उत्पन्न होने वाले कार्य रूप (शब्द) को नित्य मानना सही नहीं है ॥२८॥

जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इस बात की पुष्टि कैसे हो कि शब्द किसी कारण से ही उत्पन्न होता है? उसी का समाधान प्रस्तुत करते हुए आचार्य का कथन है—

(१०८) न चासिद्धं विकारात्॥ २९॥

सूत्रार्थ— न = नहीं है, च = और (शब्द का), असिद्धम् = प्रमाण हीन होना, विकारात् = विकारों (तीव्रत्व, मन्दत्व, मधुरत्व आदि) के कारण।

व्याख्या— शब्द सदैव एक जैसी स्थिति में नहीं रहता। मधुर होना, कर्कश होना, तेज होना, धीमा होना आदि शब्दगत भेदों का होना प्रत्यक्ष है। जोर की थाप देने से ढोलक जोर की और धीरे थाप देने पर धीमी आवाज निकालती है। पशु-पक्षी अनेक प्रकार के शब्द रूप बोली बोलते हैं, एक स्वरता का अभाव शब्द की विलक्षणता का ही द्योतक है। इन उपर्युक्त विकारों के कारण शब्द का उत्पन्न होने वाला होना प्रमाणहीन नहीं अर्थात् सिद्ध है। शब्द यदि प्रकट होता, तो उसमें वैभिन्नता आदि विकारों का सर्वथा अभाव ही होता। अतएव शब्द प्रकट न होकर, कारण से उत्पन्न है॥ २९॥

अन्य शंका का निवारण करते हुए अग्रिम सूत्र में सूत्रकार कहते हैं—

(१०९) अभिव्यक्तौ दोषात्॥ ३०॥

सूत्रार्थ— अभिव्यक्तौ = अभिव्यक्ति में, दोषात् = दोष होने के कारण (शब्द का प्रकट होना नहीं सिद्ध होता)।

व्याख्या— यद्यपि शब्द की उत्पत्ति प्रत्यक्ष नहीं होती, फिर भी वह उत्पन्न होने वाले द्रव्यों के समान ही उत्पन्न होता है। शब्दों का प्रकट होना सिद्ध नहीं; क्योंकि उच्चारण करने पर ही उनकी स्थिति का भान होता है। यदि शब्द का प्रकट होना मानें, तो प्रकट करने वाला (अभिव्यञ्जक) और प्रकट होने वाला (अभिव्यङ्ग्य) दोनों का एक साथ- एक क्षेत्र में न रहने के सिद्धान्त से दोष उत्पन्न होगा। नगाड़े पर दण्ड पड़ने पर ही शब्द निकलता है, इस शब्दोच्चारण से ढोलक, मृदंग आदि के शब्द एक साथ सुनाई नहीं पड़ते; किन्तु स्थल और प्रयास कारणों से पृथक्-पृथक् ही सुनाई पड़ते हैं। अतएव शब्द में अभिव्यञ्जक और अभिव्यङ्ग्य होने की स्थिति सिद्ध न होने से उसका उत्पन्न होना ही सिद्ध होता है ॥३०॥

(११०) संयोगाद् विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः॥ ३१॥

सूत्रार्थ— संयोगात् = संयोग से, विभागात् = विभाग से, च = तथा, शब्दात् = शब्द से, च = भी, शब्दनिष्पत्तिः = शब्द की उत्पत्ति होती है।

व्याख्या— संयोग होने से, विभाग होने से तथा शब्दों के द्वारा भी शब्द का उत्पन्न होना-यही तीन कारण शब्द उत्पत्ति के हेतु माने गये हैं। संयोग व विभाग तथा शब्द, शब्द के समवायिकारण न होकर असमवाय हैं। एक मात्र आकाश ही शब्द का समवायिकारण है। ढोलक-थाप, शंख और मुख तथा बाँसुरी आदि निमित्त कारणों के अन्तर्गत हैं।

१. ढोलक के साथ जब थाप का संयोग होता है, तब उससे शब्द उत्पन्न होता है।

२. वृक्षों के टूटने व काटने अथवा उन्हें विभक्त करने से शब्द की उत्पत्ति होती है।

३. सुदूरवर्ती क्षेत्र से आने वाले बादलों, बाँसुरी आदि की ध्वनि में संयोग और विभाग की सुनिश्चितता

संशय युक्त होने से शब्द के द्वारा ही शब्द की उत्पत्ति पायी जाती है। उपर्युक्त तीनों कारणों को क्रमशः १. संयोगात्मक २. विभागात्मक तथा तीसरा ध्वन्यात्मक कहते हैं ॥३१॥

शब्द की उत्पत्ति के तीनों कारणों का उल्लेख करने के उपरान्त, अब आगे के सूत्र में, शब्द के नित्य न होने के पक्ष में, सूत्रकार अन्य हेतु बतलाते हैं—

(१११) लिङ्गाच्चानित्यः शब्दः ॥ ३२ ॥

सूत्रार्थ— लिङ्गात् = लक्षणों के द्वारा, च = भी, शब्दः = शब्द का, अनित्यः = नित्य न होना प्रामाणिक है।

व्याख्या— एक सुनिश्चित सिद्धान्त के अन्तर्गत ऐसी मान्यता सर्वमान्य है कि उत्पन्न होने वाले पदार्थ सर्वथा अविनाशी नहीं होते, उनका विनष्ट होना तय है। उपर्युक्त सूत्रों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि शब्दों की उत्पत्ति तीन कारणों (संयोग, विभाग और शब्दों (ध्वनियों)) से ही होती है, अतएव शब्द का अनित्य होना ही प्रमाण युक्त है। घट, पट आदि की तरह ही शब्द भी अनित्य है ॥३२॥

आशंकाओं के निवारणार्थ अब अग्रिम सूत्र में आचार्य पूर्व पक्ष का निरूपण करते हुए कहते हैं—

(११२) द्वयोस्तु प्रवृत्त्योरभावात् ॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ— द्वयोः = दोनों की, तु = तो, प्रवृत्त्योः = प्रवृत्तियों के, अभावात् = न होने से (शब्द नित्य है)।

व्याख्या— यदि यह मान लिया जाय कि शब्द नित्य नहीं है, तो गुरु और शिष्य के मध्य अध्ययन और अध्यापन रूप कार्य में व्यवधान उठ खड़ा होगा। शब्द जब विनाशी है, तो गुरु के द्वारा उत्पन्न होने पर शिष्य के कानों तक कैसे पहुँच जाता है। उसे तो तुरन्त नष्ट हो जाना चाहिए। गुरु अपने शिष्य को विद्या (रूपी शब्दों) का दान करता है। सर्वविदित है कि दान की हुई वस्तु में स्थायित्व होता है। इस प्रकार शब्दों का स्थायी होना भी सत्य प्रतीत होता है; क्योंकि शब्दों के अभाव में पढ़ाने व पढ़ने की प्रवृत्ति का होना सम्भव नहीं। अतएव शब्द का नित्य होना सिद्ध है ॥३३॥

इसी पक्ष में अन्य प्रमाण प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार का कथन है—

(११३) प्रथमाशब्दात् ॥ ३४ ॥

सूत्रार्थ— प्रथमा = प्रथमा, शब्दात् = शब्द से।

व्याख्या— गत सूत्र की पुष्टि में प्रस्तुत सूत्र का आशय है कि यदि शब्द की अनित्यता प्रामाणिक होती, तो प्रथमा शब्द की उत्पत्ति न होती। यज्ञ प्रकरण के अन्तर्गत अग्नि प्रज्वलित करने में जिन सामिधेनी ऋचाओं का उच्चारण किया जाता है, उनके लिए स्पष्ट निर्देश है कि तीन बार प्रथमा और तीन बार उत्तमा का वाचन किया जाय। जिसकी सत्ता स्थायी हो, उसी की पुनरावृत्ति हो सकती है। अनित्य धर्मी होने से शब्द विनाशी हैं, तो उसका आवर्तन कैसे संभव है ? यदि शब्द अनित्य होता, तो तीन-तीन बार उसका वाचन ही न हो पाता, उच्चारण करते ही वह समाप्त हो जाता और हर बार नया वर्ण बनकर उत्पन्न होता। इस तरह शब्द का नित्य होना ही तर्क संगत व प्रामाणिक है ॥३४॥

गत सूत्र की पुष्टि में अभी और भी कारण बताते हैं—

(११४) संप्रतिपत्तिभावाच्च ॥ ३५ ॥

सूत्रार्थ— संप्रतिपत्तिः = प्रत्यभिज्ञा के, भावात् = होने से, च = भी (शब्द का अनित्य होना नहीं पाया जाता)।

व्याख्या— पहले देखी हुई वस्तु कुछ समय बीत जाने के पश्चात् स्मरण होकर अपने गुण-दोषों का जब अनुभव कराती है, तो उसी अनुभूतिजन्य क्रिया को प्रत्यभिज्ञा की संज्ञा दी गई है। पूर्व और वर्तमान दोनों प्रकार के ज्ञान का सम्मिश्रण प्रतिपत्ति कहलाता है। पूर्व के वर्णों की पुनरावृत्ति वर्तमान में भी होती चल रही है, यदि शब्द अनित्य होता, तो पूर्वोक्त बातों का स्मरण क्यों बना रहता? की हुई प्रतिज्ञायें, उठाये गये शपथ क्यों याद आते? इन सबसे यह स्पष्ट है कि शब्द अनित्य न होकर नित्य ही है॥ ३५॥

शब्द की नित्यता के समर्थन में उक्त तीनों सूत्रों के द्वारा जिन हेतुओं को सूत्रकार ने प्रस्तुत किया था, उन सभी को संदिग्ध बताते हुए अगला सूत्र रखते हैं—

(११५) संदिग्धा:सति बहुत्वे॥ ३६॥

सूत्रार्थ— संदिग्धा: = सभी (तीनों ही) संदिग्ध हैं, सति = पाया जाता है, बहुत्वे = बहुत होना (शब्दों का इसी से)।

व्याख्या— शब्द की नित्यता के पक्ष में प्रस्तुत किये गये तीनों ही प्रमाण संदेह युक्त हैं। इनसे तो अनित्य पदार्थों की भी प्रामाणिकता सिद्ध की जा सकती है। पढ़ना-पढ़ाना, गुरु-शिष्य के बीच विद्या दान की ही भाँति और भी कई प्रकार कि क्रियाएँ जैसे— नृत्य, व्यायाम, कुश्ती आदि को देखा जाता है। इन सब में भी भाव विशेष का अभिनय, अंग संचालन आदि प्रत्यक्ष होता है और इसकी भी नित्यता अध्ययन-अध्यापन की ही तरह संदिग्ध है। इसी प्रकार से पुनरावृत्ति भी शब्द की ही भाँति इन उक्त अन्य क्रियाओं की भी होती है, अतएव इससे भी शब्द की अनित्यता ही प्रमाणित होती है। प्रत्यभिज्ञा द्वारा भी जिस प्रकार पूर्व की स्मृति का जो हेतु दिया गया, वह भी अन्य क्रियाओं के साथ पाया जाता है। अमुक व्यक्ति हमें अमुक स्थान में दो वर्ष पहले मिला था, यह वही है। यही सूत्र अन्य जगह (अनित्य पदार्थों के साथ) भी प्रयुक्त होता मिलता है, अतएव इन सबसे शब्द का नित्य होना सिद्ध नहीं होता॥ ३६॥

यहाँ एक प्रश्न यह उठ रहा है कि शब्द यदि नित्य नहीं हैं, तो फिर अंकों का स्वरूप तथा दोहा, सोरठा, छन्दों की सुनिश्चितता भी नहीं होनी चाहिए? उसी का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं—

(११६) संख्याभाव: सामान्यत:॥ ३७॥

सूत्रार्थ— संख्याभाव: = संख्याओं का होना, सामान्यत: = (जातिगत उद्देश्य से) सामान्य है।

व्याख्या— संख्या तथा छन्द आदि का नित्यत्व होना तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता, क्योंकि जाति के आधार पर ही वर्णों की संख्या का निर्धारण है। अकार में अ, मकार में म, नकार में न, एक ही तरह का रहता है। वर्ण अनेक हैं और अनेक होने से भी उनकी नित्यता असिद्ध हो जाती है। कपड़ा कई रंग का हो सकता है, किन्तु वह कपड़ा ही कहलाता है। रंगों से तो उसकी पहचान सरलतापूर्वक हो जाती है। इसी प्रकार मात्र ज्ञान कराने हेतु ही संख्या, वर्ण आदि का क्रम नियमबद्ध है। अतएव शब्दों का नित्य होना उक्त विवेचन से सिद्ध नहीं होता, अतएव शब्द अनित्य ही हैं॥ ३७॥

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम्॥

॥ अथ तृतीयाध्याये प्रथमाह्निकम् ॥

पिछले अध्याय में बाह्य द्रव्यों के गुणों एवं उनके परीक्षण का विवेचन सूत्रकार द्वारा किया गया, अब आत्मा और मन के परीक्षण के क्रम में सर्वप्रथम आत्मा के विषय में शुभारम्भ करते हैं—

(११७) प्रसिद्धा इन्द्रियार्था: ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— प्रसिद्धा: = प्रसिद्ध हैं, इन्द्रियार्था: = इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने वाले विषय।

व्याख्या— जिन विषयों का ग्रहण इन्द्रियों द्वारा होता है, वे सब प्रसिद्ध हैं। उन्हें सिद्ध करने के लिए साक्ष्यों की जरूरत नहीं है। प्रत्येक इन्द्रियों का अपना-अपना ग्राह्य विषय है- यथा नासिका गन्ध को ग्रहण करती है, त्वचा स्पर्श को ग्रहण करती है और कान शब्दों को ग्रहण करते हैं। सर्व साधारण को भी यह ज्ञान है; अत: इनको सिद्ध करने के लिए अन्य किसी प्रमाण का दिया जाना अनिवार्य नहीं है ॥ १ ॥

अगले सूत्र में सूत्रकार गत सूत्र का प्रासंगिक प्रयोजन बतलाते हुए कहते हैं—

(११८) इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतु: ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— इन्द्रियार्थप्रसिद्धि: = इन्द्रियों तथा उनके नियत विषयों की प्रसिद्धि, इन्द्रियार्थेभ्य: = इन्द्रियों एवं उनके नियत विषयों से, अर्थान्तरस्य = अर्थ के अन्तर का, हेतु: = हेतु है।

व्याख्या— इन्द्रिय तथा उसके द्वारा ग्रहण किये जाने वाले विषयों का प्रसिद्ध होना ही इन्द्रिय और उसके द्वारा ग्राह्य विषयों से अलग आत्मा रूप वाले तत्त्व की सिद्धि में कारण है। प्रस्तुत सूत्र इन्द्रियों एवं उनके अर्थों के व्यवहारों से अलग किसी विशेष अर्थ तत्त्व की सिद्धि करता है। गत सूत्र से यह स्पष्ट हो चुका कि इन्द्रियों एवं उनके द्वारा ग्राह्य विषय नियत हैं। प्रत्येक इन्द्रियों का अपना-अपना ग्रहण कार्य सुनिश्चित है। उसके प्रतिकूल कोई भी व्यवहार संभव नहीं; यथा— नासिका का कार्य केवल नासिका ही करेगी, अन्य किसी इन्द्रिय द्वारा नासिका का कार्य नहीं होगा। आँखों का देखना कानों द्वारा नहीं हो सकता आदि; परन्तु इन सभी इन्द्रियों से अलग कोई ऐसी शक्ति अवश्य है, जो सभी इन्द्रियों को माध्यम बनाकर सबको निर्देशित करती है। कानों द्वारा शब्दों का श्रवण मात्र होता है; परन्तु उस दिशा में तुरन्त आँखों द्वारा देखा कि जाना, आँखों ने देखा कि नीचे कोई मूल्यवान् वस्तु पड़ी है, हाथों द्वारा उसका शीघ्र उठाया जाना, इन सबसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने वाले समस्त विषयों को जानने वाला, सबका प्रेरक आत्म-तत्त्व ही है, जिसकी सत्ता सबसे अलग है ॥ २ ॥

इसी भावाभिव्यक्ति को अगले सूत्र द्वारा व्यवहार में लाते हुए आचार्य का कथन है—

(११९) सोऽनपदेश: ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— स: = वह (नियत विषयों वाले इन्द्रियों का आश्रय शरीर), अनपदेश: = कारण नहीं है।

व्याख्या— जो नियत विषय, नियत इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होते हैं, वे समस्त विषय इन्द्रियों के आश्रित हैं। शरीर के आश्रय में न रहने के कारण उनकी प्रसिद्धि शरीर द्वारा नहीं मानी जाती। जो कार्य जिसके लिए नियत है, वही उसे करता है, वही उसका आश्रय भी होता है। अतएव ज्ञान को शरीर का गुण कहा जाता है; क्योंकि ज्ञान आत्माश्रित नहीं है। इस संदेह का निवारण करते हुए व्याख्याकार का कथन है कि ज्ञान को शरीर का कार्य कहा जाना ठीक वैसे ही प्रमाण का प्रतीत होना भर है, जैसे- घट-पट आदि का ज्ञान प्रकाश (दीप) का कार्य होते हुए भी उसके आश्रित नहीं ॥ ३ ॥

उपर्युक्त विवेचन में जो हेतु का न होना बताया गया है, उसी का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कह रहे हैं—

(१२०) कारणाज्ञानात् ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ— कारण = पंचभूत कारणों में, अज्ञानात् = अज्ञानता होने से।

व्याख्या— पंचभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) में ज्ञान का अभाव होने से ज्ञान को शरीर का आश्रय नहीं माना जा सकता। जब पंचभूतों में ही ज्ञान नहीं है,तो शरीर जो उन्हीं पंचभूतों से बना है, उसमें कैसे होगा? जो गुण उपादान कारण में होते हैं, वही गुण उसके कार्य में भी होने चाहिए। इस तरह ज्ञान का शरीराश्रित होना न सिद्ध होकर आत्माश्रित होना ही सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि देहादि के कारण परमाणुओं में ज्ञान (चैतन्य) को सूक्ष्म रूप से मान लिया जाए, तो क्या हानि है? देहादि कार्यों में वह स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो जाता है—

(१२१) कार्येषु ज्ञानात् ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ— कार्येषु = कार्य पदार्थों में, ज्ञानात् = ज्ञान होने से (भी सिद्ध होना नहीं पाया जाता)।

व्याख्या— शरीर के मूल कारणभूत पंच तत्त्वों में यदि ज्ञान का होना सुनिश्चित होता, तो उन्हीं पंचभूतों से विनिर्मित घर-मकान भी चैतन्य गुण से युक्त होते। समस्त पार्थिव पदार्थों में पृथ्वी तत्त्व का गुण समवेत रहता है। अत: सबमें चैतन्यता का गुण भी रहना चाहिए; पर ऐसा नहीं होता।

जबकि शरीर का चैतन्य होना प्रत्यक्ष है। इसी से ऐसा अनुमान होता है कि इस शरीर में कोई ऐसी शक्ति अवश्य है, जिसने इसे चैतन्यतायुक्त कर रखा है। जिस प्रकार अग्नि के संयोग से जल उष्णता रूपी गुण को धारण करता है, वैसे ही आत्मा के संयोग से शरीर का चैतन्य होना भी पाया जाता है। अत: यह प्रमाणित हो जाता है कि ज्ञान की सत्ता चेतन में ही रहती है ॥ ५ ॥

इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति सूत्रकार अन्य प्रकार से करते हुए कहते हैं—

(१२२) अज्ञानाच्च ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ— अज्ञानात् = ज्ञान से रहित होने से, च = भी (और)।

व्याख्या— यदि शरीर में पंचभूत परमाणु द्वारा ज्ञान का होना पाया जाता, तो प्रत्येक कार्य पदार्थ में ज्ञान अवश्य रहता, जबकि ऐसा नहीं है। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस तरह गन्ध आदि गुणों से पृथ्वी आदि पदार्थों की पहचान होती है, उसी तरह ज्ञान का आश्रय होने से आत्मा का बोध होता है। आत्म-तत्त्व के रहने तक ही शरीर में ज्ञान की सत्ता रहती है तथा शरीर से आत्म तत्त्व के अलग हो जाने पर ज्ञान भी नहीं रहता। इससे यह सिद्ध हो जाता है ज्ञान आत्मा का आश्रयी है ॥ ६ ॥

यहाँ एक आशंका उठ खड़ी होती है- ज्ञान का आत्मा के साथ तादात्म्य संबंध नहीं है, अत: ज्ञान को आत्माश्रयी कैसे कहा जा सकता है?

(१२३) अन्यदेव हेतुरित्यनपदेश: ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ— अन्यत् = भिन्न (साध्य से), एव = ही (होता है), हेतु: = कारण, इति = इसलिए, अनपदेश: = प्रमाणित (प्रमाण सम्मत नहीं है) तादात्म्य सम्बन्ध वाला कारण नहीं है।

व्याख्या— किसी भी पदार्थ की सिद्धि में जो हेतु प्रयुक्त होता है, वह हेतु उस पदार्थ से अलग प्रकार का होता है। जिस वस्तु का जिससे स्वभावगत सम्बन्ध होता है, वही उसकी प्रामाणिकता में उपयुक्त प्रमाण माना जाता है तथा वह कारण उससे भिन्न होता है। आत्मा 'साध्य' तथा ज्ञान 'हेतु' में तादात्म्य संबंध से वह कारण नहीं हो सकता; क्योंकि हेतु अपने आप में प्रमाणयुक्त नहीं है। वृक्षत्व एक ही जगह न होकर अन्य वृक्षों में भी प्रत्यक्ष है, अत: यहाँ हेतु ही असिद्ध है ॥ ७ ॥

इसी विवेचन को आगे भी गतिमान् रखते हुए आचार्य कहते हैं—

(१२४) अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्यानपदेशः॥ ८॥

सूत्रार्थ— अर्थान्तरं = साध्य से भिन्न, हि = कोई भी (वस्तु), अर्थान्तरस्य = साध्य की (सिद्धि में), अनपदेशः = प्रमाण नहीं माना जाता।

व्याख्या— साध्य से असम्बद्ध कोई भी पदार्थ उस साध्य का हेतु नहीं हो सकता। जिस पदार्थ का जिससे संयोग है, वही उस वस्तु की सिद्धि में प्रमाण है। जैसे- गोबर को देखकर गाय का अनुमान होता है, न कि किसी अन्य तत्त्व का। धुएँ को देखकर अग्नि की उपस्थिति की पुष्टि होती है, गाय आदि की नहीं। 'करण' (इन्द्रियों) से 'कर्त्ता' (आत्मा) का संयोग होता है। कर्त्ता के अभाव में करणों की कार्य-उपलब्धि नहीं हो सकती तथा करणों से रहित कर्त्ता भी निष्क्रिय है। इन्द्रियों के सक्रिय होने से ही कर्त्ता 'आत्मा' का अनुमान होता है॥ ८॥

अब अग्रिम सूत्र में आचार्य लिङ्ग भेद का विवेचन करते हुए कहते हैं—

(१२५) संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च॥ ९॥

सूत्रार्थ— संयोगि = संयोगी, समवायि = समवायी, एकार्थसमवायि = एकार्थ समवायी, च = और, विरोधि = विरोधी, (यह चार प्रकार के हेतु होते हैं)।

व्याख्या— आचार्य ने यहाँ चार प्रकार के लिंगों (हेतुओं) का उल्लेख किया-संयोग सम्बन्ध वाले, समवाय सम्बन्ध वाले, एक ही साध्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले तथा विरोधी सम्बन्ध वाले।

संयोग सम्बन्ध वाले जैसे-धुएँ को देखकर अग्नि होने का सहज अनुमान कर लिया जाता है, चूँकि धुआँ अग्नि का संयोगी है। अतः गाड़ियों, वायुयानों को अनुशासनिक ढंग से गतिमान् होते देखकर उनके चालकों की दक्षता का अनुमान हो जाता है। चालकों का उनके वाहनों से संयोग होने पर ही नियमित गतिशीलता का होना पाया जाता है। एक दूसरे के साथ साहचर्य है- समवाय सम्बन्ध, जैसे- पुष्पों की सुगन्ध मिलने से यह अनुमान होना कि आस-पास कहीं न कहीं पुष्प वृक्ष भी हैं। शीतल स्पर्श पाते ही ठंडी हवा का अनुमान कर लिया जाता है। उष्णता से युक्त गरम हवा से दावानल का अनुमान हो जाता है। शब्द गुण से आकाश का अनुमान किया जाना प्रसिद्ध है॥ ९॥

एक अर्थ में समवाय सम्बन्ध का दृष्टान्त देते हुए स्वयं आचार्य सूत्रकार कथन करते हैं—

(१२६) कार्यं कार्यान्तरस्य॥ १०॥

सूत्रार्थ— कार्यम् = एकाकी कार्य, कार्यान्तरस्य = अन्य कार्य (अपने से भिन्न) की सिद्धि में प्रमाण है।

व्याख्या— एक कार्य अपने से पृथक् कार्य की सिद्धि के लिए साधन होता है, वही एकार्थ समवाय कहलाता है। यथा- रूप और स्पर्श का साहचर्य, जहाँ रूप है, वहीं स्पर्श भी है। रूप एक अलग कार्य है और स्पर्श एक अलग कार्य। रूप कार्य एक अलग अन्य कार्य का प्रमाण है। स्पर्श करके ही रूप की पहचान होती है। यह जल ठण्डा है, यह लोहा गरम है- इस तरह का ज्ञान स्पर्श से ही होता है॥ १०॥

अगले सूत्र में 'विरोधी' लक्षण का दृष्टान्त देते हुए व्याख्याकार कहते हैं—

(१२७) विरोध्यभूतं भूतस्य॥ ११॥

सूत्रार्थ— अभूतम् = विद्यमान न होना, भूतस्य = भूत की प्रामाणिकता में, विरोधि = विरोधी लिङ्ग है।

व्याख्या— बादल होने के बावजूद वर्षा नहीं हो रही है। यहाँ वर्षा के विरोधी वायु और बादल के

संयोग का अनुमान होता है; क्योंकि बादल छाये रहने पर भी उसके विरोधी 'वायु' के होने से वर्षा नहीं हो पाती। वर्षा का न होना अपने विरोधी 'वायु' के उपस्थित होने का अनुमापक है॥ ११॥

इस पक्ष में और भी दूसरे दृष्टान्त का उल्लेख करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(१२८) भूतमभूतस्य॥ १२॥

सूत्रार्थ— भूतम् = हो चुका कार्य (भी), अभूतस्य = अभूत को सिद्ध करने में (विरोधी लक्षण है)।

व्याख्या— बादल उमड़े और वर्षा हो गई। यहाँ वर्षा का होना, विरोधी 'वायु' के अविद्यामान होने का अनुमान कराता है। यह भी विरोधी लिङ्ग है॥ १२॥

और भी दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते हैं —

(१२९) भूतो भूतस्य॥ १३॥

सूत्रार्थ— भूत: = विद्यमान पदार्थ भी, भूतस्य = भूत (विद्यमान) की सिद्धि में, विरोधी लक्षण माना जाता है।

व्याख्या— कहीं-कहीं विद्यमान पदार्थ भी विद्यमान पदार्थ की सिद्धि में विरोधी लक्षण उत्पन्न करता है। जैसे-नेवले की उपस्थिति का आभास जब सर्प को हो जाता है, तो वह बड़े ही क्रोध के साथ फुफकारने लगता है। इसी तरह अपनी माँद में छिपा नेवला भी साँप की फुफकार से ही साँप के आस-पास होने का अनुमान लगा लेता है और लड़ने के लिए चल पड़ता है। इस तरह दोनों ही विद्यमान हैं तथा दोनों ही एक दूसरे का अनुमान लगा लेते हैं। यह विरोधी लिंग का सरलतम उदाहरण है॥ १३॥

(१३०) प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य॥ १४॥

सूत्रार्थ— प्रसिद्धिपूर्वकत्वात् = प्रसिद्धिपूर्वक होने के कारण (व्याप्ति ज्ञान का आश्रयी है), अपदेशस्य = हेतु के ज्ञान की।

व्याख्या— प्रसिद्धि अर्थात् लिङ्गी और लिङ्ग के साहचर्य का सुनिश्चित ज्ञान, इसी को व्याप्तिज्ञान भी कहते हैं। जो प्रत्यक्ष एवं प्रसिद्धि के आधार पर साहचर्य सम्बन्ध का ज्ञान कराये, वही हेतु होता है।

व्याप्ति के होने की प्रसिद्धि प्रत्यक्ष सिद्धि के बिना किसी अन्य तरह की सिद्धि नहीं होती। अतएव (प्रत्यक्ष संबंध) व्याप्ति को हेतु मानकर अनुमान करने पर इसे सरलता से समझा जा सकता है। मिथ्या हेतु द्वारा मिथ्या अनुमान की सिद्धि स्वाभाविक है। धुएँ से जल का अनुमान करना मिथ्या ही है; क्योंकि धुआँ अग्नि की सिद्धि में हेतु है। अग्नि का लिङ्ग धुआँ है। इसी प्रकार आत्मा की सिद्धि के लिए इन्द्रियों की प्रसिद्धि वाले जो उपर्युक्त कारण प्रस्तुत हुए हैं, उनमें कोई दोष न होने से आत्मा की सत्ता का अनुमान सिद्ध हो जाता है॥ १४॥

कारणों में दोष की उपलब्धि से हेतु की यथार्थता समाप्त होकर, हेतु का आभास मात्र रह जाता है? उन असत् हेतुओं (हेत्वाभास) व उनके लक्षणों का निरूपण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(१३१) अप्रसिद्धोऽनपदेशो॥ १५॥

सूत्रार्थ— अप्रसिद्ध: = प्रसिद्धि से रहित हेतु को, अनपदेश: = हेत्वाभास ही कहा जाता है (वह हेतु नहीं होता)।

व्याख्या— जिस हेतु में व्याप्ति सम्बन्ध प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न होता हो, उसे हेत्वाभास कहते हैं। प्रत्यक्ष सम्बन्ध के अभाव में व्याप्ति की सिद्धि का होना सम्भव नहीं, अत: व्याप्ति में दोष उत्पन्न होने से, उस व्याप्ति का लक्षण प्रमाण शून्य ही माना जायेगा। अग्नि और धूम्र में व्याप्ति प्रत्यक्ष (स्पष्ट) रूप से है; क्योंकि अग्नि के बिना धुएँ का होना असम्भव है। धुआँ प्रत्यक्ष है, तो अग्नि का होना भी सुनिश्चित है॥ १५॥

अन्य लक्षणों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने कहा—

(१३२) असन्सन्दिग्धश्चानपदेशः ॥१६ ॥

सूत्रार्थ— च = और, असन् = जिनकी सिद्धि नहीं है, संदिग्धः = जो संदेहयुक्त हेतु है, अनपदेशः = वे सभी हेत्वाभास हैं।

व्याख्या— प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने सिद्धि से रहित तथा संदेहयुक्त प्रत्यक्ष सम्बन्ध वाले व्याप्ति के हेतुओं को हेत्वाभास कहा है। जिस स्थल में व्याप्ति की उपस्थिति संदेह से युक्त हो या व्याप्ति का पाया जाना ही सिद्ध न हो, तो उसमें प्रयुक्त होने वाला हेतु दोषपूर्ण होता है। जब अग्नि ही नहीं रहेगी, तो धुएँ के रहने की बात कैसे सत्य हो सकती है ? इस प्रकार यह हेत्वाभास की विवेचना हुई॥ १६ ॥

अग्रिम सूत्र से अब सूत्रकार प्रतिकूल एवं प्रसिद्धि रहित हेतुओं का दृष्टान्त सहित विवेचन प्रारम्भ करते हैं—

(१३३) यस्माद्विषाणी तस्मादश्वः ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ— यस्मात् = जिस कारण से, विषाणी = सींगयुक्त है, तस्मात् = उससे, अश्वः = (यह) घोड़ा है।

व्याख्या— खरगोश, रासभ (गधा), शृगाल आदि पशु सींगयुक्त नहीं होते, घोड़े के भी सींग नहीं रहते; परन्तु यह पशु सींग वाला है। अतः यह घोड़ा है, ऐसा कहना मिथ्या व दोषपूर्ण होने के कारण हेत्वाभास है। किसी भी प्रमाण से घोड़े का सींगयुक्त होना नहीं पाया जाता। घोड़े में सींग होने की कल्पना विरुद्ध है; क्योंकि सींग वाले पशु गाय-भैंस आदि होते हैं। अतः यह विरुद्ध हेतु है॥ १७ ॥

अब अग्रिम सूत्र में संदिग्ध (अनैकान्तिक) का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार का कथन है—

(१३४) यस्माद्विषाणी तस्माद्गौरिति चानेकान्तिकस्योदाहरणम् ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ— यस्मात् = जिन कारणों से (जिससे), विषाणी = सींग वाली है, तस्मात् = उससे, गौः = (यह) गाय है, इति = ऐसा कहना, च = और (भी तरह से कहना), अनैकान्तिकस्य = अनैकान्तिक हेतु का, उदाहरणम् = उदाहरण है।

व्याख्या— सींग वाली है, इसीलिए इसे गाय कहा जाता है, इस प्रकार कहना अति व्याप्ति वाले 'कारण' का उदाहरण है। सींग को देखकर गऊपने की पुष्टि कराने वाला हेतु व्यभिचारी माना जायेगा; क्योंकि सींग तो भैंस, हरिण, बकरी आदि की भी होती है, अतएव मात्र सींग से ही गाय होना सिद्ध नहीं होता, अपितु यह हेतु (सींग) गाय के साथ-साथ भैंस-बकरी आदि का भी गऊ होना सिद्ध करने लगता है। यहाँ पर यह हेतु अपने साध्य गऊ को छोड़कर उससे भिन्न भैंस, हरिण आदि में भी गतिमान् है। इस कारण इसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहना चाहिए। हेत्वाभास पाँच तरह से देखने में आते हैं-१. अनैकान्तिक (अतिव्याप्ति) २. विरुद्ध ३. संदिग्ध (प्रकरण सम) ४. साध्य सम ५. कालातीत।

हेतु के भी तीन प्रकार पाये जाते हैं-१. जिसका कहीं विरोध न हो तथा साध्य में जो समान रूप से प्राप्त हो, वह हेतु 'केवलान्वयी' कहलाता है। २. जिसका साध्य के साथ पृथक्त्व हो तथा साध्य के विपरीत हो, उस हेतु को 'केवल व्यतिरेकी' समझना चाहिए। ३. जिसकी साध्य के साथ कहीं तो आंशिक प्राप्ति हो और कहीं पृथक्ता, उसको 'अन्वय व्यतिरेकी' हेतु कहा जाता है॥ १८ ॥

हेत्वाभासों की उपर्युक्त विवेचना से सूत्रकार ने यह स्पष्ट किया कि आत्मा के स्वरूप का भान कराने के लिए जो हेतु दिये गये, वे हेत्वाभास न होकर शुद्ध हेतु हैं। आगे के सूत्र में आत्म-तत्त्व की सिद्धि हेतु प्रकारान्तर से कहते हैं—

(१३५) आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत् ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ— आत्मेन्द्रियार्थ = आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ के, सन्निकर्षात् = विषय संयोग से, यत् = जिस, निष्पद्यते = उत्पत्ति होती है, तत् = वह (ज्ञान), अन्यत् = आत्मा के स्वरूप के प्रत्यक्ष ज्ञान से भिन्न है।

व्याख्या— आत्मा के आश्रय में रहने वाली इन्द्रियों तथा उन इन्द्रियों के अर्थ के संयोग से उत्पन्न हुआ ज्ञान हेत्वाभासों से पृथक् है। इससे (इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष) उत्पन्न ज्ञान को आत्म ज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह ज्ञान आत्मा का गुण है, तथापि विषय जन्य ही है। विषय भोग से पूर्ण रूपेण निवृत्त होने पर आत्मा में जिस ज्ञान का स्फुरण होता है, उसे आत्मज्ञान कहते हैं। ज्ञान को जो आत्मा का गुण माना गया है, वह इसलिए कि चेतना शून्य इन्द्रियाँ, आत्मा (चेतन) द्वारा ही विषयानुरक्त की जाती हैं। अतएव उक्त विषय जन्य ज्ञान, मोक्ष का साधक न होने से, आत्मज्ञान से पृथक् माना गया है॥ १९॥

उपर्युक्त विवेचन से सूत्रकार ने स्पष्ट किया कि आत्मा, इन्द्रिय एवं अर्थ के संयोग से उत्पन्न ज्ञान सेआत्मा की सिद्धि होती है, परन्तु आत्मज्ञान उससे पृथक् है। अग्रिम सूत्र में अपने शरीर के साथ-साथ अन्य शरीरों में भी आत्मा की सत्ता विद्यमान है, इसी कथन की पुष्टि करते हुए कहते हैं—

(१३६) प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिङ्गम्॥ २०॥

सूत्रार्थ— प्रवृत्ति = प्रवृत्त होना (और), निवृत्ति = निवृत्त होना, च = तथा, प्रत्यगात्मनि = अपनी आत्मसिद्धि में (उसका), दृष्टे = देखा जाना, परत्र = अन्य शरीरों में स्थित आत्मा की सत्ता का, लिङ्गम् = प्रमाण है।

व्याख्या— अपनी इच्छा एवं अनिच्छा द्वारा जैसे किसी विषय में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का होना पाया जाता है और उसी से अपनी आत्मसत्ता का भान होता है। ठीक इसी तरह अन्य व्यक्तियों में भी उक्त प्रवृत्ति-निवृत्ति विषयक क्रिया-कलापों को देखकर उन सबमें भी आत्मतत्त्व विद्यमान होने का अनुमान हो जाता है। विषय भोगों की प्रवृत्ति एवं कालान्तर में उन सबसे निवृत्ति यह सब कुछ आत्मा की सत्ता का ही चेतना पूर्ण व्यवहार है। प्रेरक आत्मा ही विषयों की ओर मन व इन्द्रियों को लगाती है तथा वही चेतन आत्मा ही निवृत्ति मार्ग का पथ प्रशस्त करती है। ऐसा व्यवहार अन्य शरीरों में भी सहज देखा जाता है। यही आत्मा की सिद्धि में प्रमाण है। प्रत्येक शरीर में आत्मा के होने का लक्षण है॥ २०॥

॥ इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्॥

॥ अथ तृतीयाध्याये द्वितीयाह्निकम् ॥

इससे पूर्व के आह्निक में सूत्रकार ने उन हेतुओं व हेत्वाभासों की विवेचना की जो आत्मा की प्रामाणिकता में प्रासङ्गिक हैं। अब इस द्वितीय आह्निक में आत्म-सिद्धि विषयक हेतुओं को प्रस्तुत करते हुए सर्वप्रथम मन की सिद्धि की विवेचना करते हैं —

(१३७) आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे = आत्मा के, इन्द्रिय- अर्थ (विषय) के साथ सम्बन्ध होने से, ज्ञानस्य = ज्ञान का, भावः = होना, च = तथा, अभावः = न होना, मनसः = मन की सत्ता की सिद्धि में, लिङ्गम् = प्रमाण है।

व्याख्या— आत्मा की साक्षी में इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्बन्ध होने से जो ज्ञान का होना और न होना पाया जाता है, वही मन की सत्ता को प्रमाणित करता है। आत्मा के साथ जिस समय मन का संयोग तथा इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग बनता है, उस स्थिति में आत्मा ज्ञान प्राप्त करता है। इन्द्रियों का स्वामी मन है, विषयों की संयोगानुरक्ति में इन्द्रियाँ ही सक्रिय रहती हैं और मन आत्मा से सम्बन्ध बनाता है। जिस समय केवल इन्द्रियाँ विषयानुरक्त होती हैं, तब तक ज्ञान का सर्वथा अभाव ही बना रहता है। जब यह इन्द्रियाँ मन के साथ संयुक्त होकर कार्य करने लगती हैं, तब (आत्म तत्त्व में उनके क्रियान्वयन के परिणाम स्वरूप) ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अतएव ज्ञान के उत्पन्न होने एवं न होने में मन की सत्ता का प्रमाण मिलता है ॥ १ ॥

मन के अस्तित्व को सिद्ध करने के उपरान्त आचार्य मन का द्रव्यत्व एवं नित्यत्व आगे के सूत्र में बतलाते हैं—

(१३८) तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— तस्य = उस (मन) का, द्रव्यत्व = द्रव्य होना, तथा; नित्यत्वे = नित्य होना, वायुना = वायु की तरह, व्याख्याते = समझ लेना चाहिए।

व्याख्या— पिछले प्रसंगों में जिस प्रकार वायु का द्रव्य होना तथा नित्य होना कहा गया है, उसी तरह मन भी अवान्तर सृष्टि में उत्पन्न न होने तथा संयोग से गुणों को धारण करने के कारण द्रव्यत्व एवं नित्यत्व से युक्त है। संयोग एवं क्रिया का आश्रयी होने के कारण यह 'मन' द्रव्य तथा अजन्मा एवं अविनाशी होने से नित्य है। इसी कारण मन को भी वायु की भाँति द्रव्य एवं नित्य कहा गया है ॥ २ ॥

मन के द्रव्य तथा नित्य होने की बात कहकर अब सूत्रकार अगले सूत्र से प्रत्येक शरीर में मन की एकता एवं अनेकता की निश्चयात्मक स्थिति का कथन करते हैं—

(१३९) प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— प्रयत्नायौगपद्यात् = प्रयत्नों का एक साथ न होने से, च = तथा, ज्ञानायौगपद्यात् = ज्ञान का एक साथ न होने से, एकम् = एक ही है (प्रत्येक शरीर में मन की सत्ता)।

व्याख्या—एक ही समय में दो कर्मेन्द्रियों का कार्यरत होना दृष्टिगोचर नहीं होता और न तो कई विषयों का ज्ञान ही एक साथ होता है। कर्मविषयक एवं ज्ञान विषयक दोनों ही अनुभवों का सम्बन्ध मन से जुड़ा हुआ है। इस कारण मन का एक होना ही सत्य है। अनेक मन की पुष्टि होने पर तो अनेकों कर्मों का तथा अनेकों विषयों का ज्ञान रूप फल एक ही समय में सुलभ हो जाता, जबकि ऐसा होता नहीं है ॥ ३ ॥

मन की स्थिति का निश्चय करने के उपरान्त अब आत्म विषयक परीक्षण का शुभारम्भ करते हुए आचार्य कहते हैं—

(१४०) प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ— प्राणापाननिमेषोन्मेष = प्राण-अपान, निमेष-उन्मेष, जीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः = जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तरविकार, सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाः = सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, च = तथा (और) आत्मनः = आत्मविषयक, लिङ्गानि = लक्षण हैं।

व्याख्या— आत्म विषयक परीक्षण के क्रम में ज्ञान एवं चेष्टा को मुख्यतः आत्मा का लक्षण बताया है; परन्तु शरीर में संचरित वायु की ऊर्ध्व व अधोगामिता, श्वास लेना एवं छोड़ना रूपी प्राण-अपान की क्रिया, पलकों का खुलना-बन्द होना रूपी निमेष-उन्मेष की क्रिया, प्राणरूप जीवनीशक्ति की स्वसंचालित प्रक्रिया, मन की चंचलता, गतिशीलता, इन्द्रियान्तर विकार, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि भी आत्मा के ही लक्षण माने जाते हैं; क्योंकि भूख- प्यास का लगना, ग्रहण किये गये भोजन को पचाना प्राणों का ही कार्य है।

यहाँ यदि कोई यह शंका करे कि इस प्रकार का कार्य तो इंजन आदि का भी देखा जाता है? वह भी कोयला रूप भोजन, भाप रूप जल को ग्रहण कर राख आदि बाहर निकाल देता है। निमेष-उन्मेष जैसी स्थिति तो कुछ पुष्पों में भी (पंखुड़ियों के खुलने-बन्द होने में) देखी जाती है, वृक्ष-वनस्पतियाँ भी जीवनीशक्ति से युक्त हैं, इन सभी लक्षणों में मनोनुकूल प्रयत्नों का अभाव होने के कारण इनके द्वारा आत्म तत्त्व का उन सबमें पाया जाना सिद्ध नहीं होता, अतएव वे आशंकायें निर्मूल हैं। मन के अनुसार कार्य करने में न तो इंजन समर्थ है और न तो वृक्ष आदि ही। मनुष्य (चालक) के सहयोग से ही इंजन क्रियाशील होता है। इंजन की गति (धीमी-तेज), उसका आगे-पीछे होना, कोयला-पानी लेना, भाप निष्क्रमण आदि कार्य से उस इंजन को निर्देशित करने वाले (चालक) की सत्ता की सिद्धि होती है। इसीतरह समस्त शारीरिक चेष्टाओं को करने-कराने वाला कर्त्ता ही आत्मा है। उपुर्यक्त विवेचना से उसी आत्मा की सिद्धि होती है॥ ४॥

आत्म विषयक लक्षणों की सिद्धि के अनन्तर अब अगले सूत्र द्वारा आचार्य आत्मा का द्रव्यत्व एवं नित्यत्व बतलाते हैं—

(१४१) तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ— तस्य = उस (आत्मा) का, द्रव्यत्व = द्रव्य होना, नित्यत्वे = नित्य होना, वायुना = वायु परीक्षा विषयक विधि से, व्याख्याते = बतलाया गया है।

व्याख्या— पूर्व में कहा जा चुका है कि गुण सदैव पदार्थ अथवा द्रव्य के आश्रय में रहते हैं। ज्ञान एवं प्रयत्न आदि गुण आत्मा के आश्रित हैं, अतएव आत्मा का द्रव्य होना संदेह से रहित हो जाता है। इसी तरह किसी द्रव्य से उत्पन्न न होने के कारण उसका नित्य होना भी (वायु के समान) सिद्ध हो जाता है॥ ५॥

यहाँ भी एक आशंका यह उत्पन्न होती है कि अनुमान युक्त लक्षणों द्वारा आत्मा की सिद्धि की बात उचित नहीं; क्योंकि धुआँ देखकर जो अग्नि का अनुमान किया जाता है,उसके मूल में धूम्र एवं अग्नि का प्रत्यक्ष होना है। आत्मा के विषय में ऐसी बात नहीं है। इसी तथ्य को सूत्रकार अग्रिम सूत्र में व्यक्त कर रहे हैं—

(१४२) यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ— यज्ञदत्तः = यह यज्ञदत्त है, इति = इस प्रकार का, सन्निकर्षे = (शरीर का इन्द्रियों के साथ) सम्बन्ध होने पर भी, प्रत्यक्षाभावात् = प्रत्यक्ष का अभाव होने से, दृष्टं = प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाला, लिङ्गम् = प्रमाण, न = नहीं, विद्यते = है।

व्याख्या— पूर्वपक्ष का आशय स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने कहा कि यह 'यज्ञदत्त है'। किसी को

देखकर यदि ऐसा कहा जाय, तो भी जब तक यज्ञदत्त का शरीर प्रत्यक्ष रूप से सम्मुख न हो, उक्त कथन की सिद्धि नहीं हो सकती। इस उक्त कथन से यज्ञदत्त के शरीर में रहने वाली इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाला आत्मा, यज्ञदत्त की प्रत्यक्ष पुष्टि नहीं करता; जबकि धूम्र एवं अग्नि का प्रत्यक्ष होना सर्वत्र सिद्ध है। आत्म तत्त्व के अप्रत्यक्ष रहने से उसका हेतु सन्निकर्ष भी दृष्टि में नहीं आता। इस प्रकार अदृश्य आत्मा को सिद्ध करने वाला कोई सुनिश्चित हेतु नहीं हो सकता। अनुमान प्रमाण सहित अन्य प्रमाण भी आत्म परीक्षण में आत्मा की सिद्धि नहीं करते॥ ६॥

उक्त विषयक विवेचन के ही क्रम में सूत्रकार अगले सूत्र द्वारा आत्मा की सिद्धि 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान से करते हैं—

(१४३) सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ॥ ७॥

सूत्रार्थ— सामान्यतोदृष्टात् = सामान्यतोदृष्ट (प्रमाण) द्वारा, च = (प्रमाणित करने पर) भी, अविशेषः = कुछ विशेष नहीं।

व्याख्या— सामान्यतोदृष्ट अनुमान प्रमाण से भी ज्ञान आदि का आश्रय होने से आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। पूर्व में कहा जा चुका है कि द्रव्य का आश्रय पाये बिना गुणों का अस्तित्व संभव नहीं। अतएव ज्ञान, प्रयत्नादि गुणों को धारण करने से द्रव्य तो हो जायेगा, परन्तु वह द्रव्य 'आत्मा' ही होगा, यह प्रमाणित नहीं हो सकेगा। इस प्रकार आत्मा के साधन में सामान्यतोदृष्ट अनुमान तथा प्रत्यक्ष लक्षणों की बात उचित नहीं लगती॥ ७॥

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब आत्मा प्रत्यक्ष एवं अनुमान लिङ्ग द्वारा ज्ञातव्य नहीं है, तो फिर आत्म सत्ता को कौन सा प्रमाण सिद्ध करता है? इसी का समाधान प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते हैं—

(१४४) तस्मादागमिकः ॥ ८॥

सूत्रार्थ— तस्मात् = उस अनुमान द्वारा, ज्ञान व प्रयत्न आदि को आश्रय देने वाले, जिस पदार्थ की सिद्धि होती है, आगमिकः = उसकी सिद्धि में वेद-शास्त्र ही प्रमाण हैं।

व्याख्या— जिस आत्मा का परीक्षण-विवेचन किया जा रहा है और जिसकी सिद्धि में अनेक उक्त हेतु भी प्रस्तुत हुए, वह वेद, शास्त्र, उपनिषदों द्वारा प्रमाणित आत्मा ही है। शास्त्र ही उसकी सिद्धि में हेतु है। यजुर्वेद के मन्त्र [**"यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः"**] रूप प्रमाण से आत्मा की ज्ञातव्यता का निर्देश किया है। कठोपनिषद् में भी **"आत्मानं रथिनं विद्धि"** से आत्मा की सत्ता का प्रमाण मिलता है। इस प्रकार शास्त्र विषयक अनेकों प्रमाणों से आत्मा की सिद्धि होती है॥ ८॥

उपर्युक्त तीनों सूत्रों द्वारा पूर्वपक्ष के विषयों का विवेचनात्मक स्वरूप समझाकर आचार्य अब समस्त सन्देह एवं आशंकाओं का निवारण करते हुए कहते हैं—

(१४५) अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ॥ ९॥

सूत्रार्थ— अहम् = मैं हूँ, इति = ऐसी (अनुभूति करने में), शब्दस्य = शब्द के, व्यतिरेकात् = व्यतिरेक (शब्द साक्ष्य का अभाव) होने के कारण, आगमिकम् = शास्त्रों द्वारा आत्मा की सिद्धि का प्रमाणित होना, न = नहीं है।

व्याख्या— इस संसार में "यह मैं हूँ" ऐसा अनुभव करने में ऐसी किसी भी आश्रय की आवश्यकता नहीं पड़ती, जो साक्ष्य शब्द के रूप में हो। ज्ञान, प्रयत्न आदि आत्मा के गुणों को तो प्रत्यक्ष ही देखा जाता है। शब्द साक्ष्य से पूर्णतः अनभिज्ञ मनुष्य भी आत्म सत्ता (मैं हूँ) की अनुभूति करता है। चेतना शून्य शरीर, ज्ञानादि गुणों से रहित होता है। चैतन्य आत्मा ही, मैं नासमझ हूँ, मैं भूखा हूँ, मैं थका हूँ, रोगी हूँ, प्रसन्न हूँ, विद्वान् हूँ

आदि ज्ञान में प्रवृत्त होता है। इस तरह की अनिश्चयात्मक अनुभूतियों में चैतन्य आत्मा ही प्रकाशित है। अतएव 'आगमिक' (शास्त्र प्रमाण) की इस सन्दर्भ में कोई भूमिका नहीं है॥ ९॥

यहाँ एक आशंका यह होती है कि जब शारीरिक चेष्टाओं एवं गुणों आदि से आत्मा का प्रत्यक्ष बोध-अनुभव होने लगता है, तो फिर उसके प्रमाणित होने में अनुमान प्रमाण का प्रस्तुतीकरण कहाँ तक उपयुक्त है? उसी भाव को सूत्रकार अग्रिम सूत्र में प्रकट करते हैं—

(१४६) यदि दृष्टमन्वक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति॥ १०॥

सूत्रार्थ— यदि = यदि, अहं = मैं, देवदत्तः = देवदत्त हूँ, अहम् = मैं, यज्ञदत्तः = यज्ञदत्त हूँ, इति = इस तरह की अनुभूति, अन्वक्षम् = प्रत्यक्ष, दृष्टम् = दृष्टिगोचर होती है।

व्याख्या— मैं देवदत्त हूँ, मैं यज्ञदत्त हूँ आदि यदि इस तरह की अनुभूति से आत्म सत्ता की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाय, आत्मा की सिद्धि प्रत्यक्ष दिखाई देने लगे, तो अन्य बहुत से अनुमान आदि प्रमाणों की क्या आवश्यकता है? अनावश्यक इतने साक्ष्यों का प्रस्तुतीकरण किया गया है॥ १०॥

उक्त आक्षेप का समुचित समाधान करते हुए, पूर्व प्रयासों की सार्थकता की सिद्धि में सूत्रकार कहते हैं—

(१४७) दृष्ट आत्मनि लिङ्गे एक एव दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् प्रत्ययः॥ ११॥

सूत्रार्थ— आत्मनि = आत्मा सम्बन्धी, लिङ्गे = ज्ञानादि लक्षणों के, दृष्टे = प्रत्यक्षीभूत होने पर, प्रत्ययः = अनुमान के आधार पर जो आत्मा का ज्ञान होता है,एव = वह ही, एक = एक है, दृढत्वात् = ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाने से, प्रत्यक्षवत् = प्रत्यक्ष साक्ष्य की भाँति (प्रतीत होता है)।

व्याख्या— प्रयत्न एवं ज्ञान आदि आत्मा के गुणों का प्रत्यक्षी भूत होने से, आत्मा की सिद्धि में अनुमान प्रमाण, प्रत्यक्ष साक्ष्य जैसा ही प्रतीत होता है। प्रत्यक्ष साक्ष्य से जानी जा चुकी आत्मा की सिद्धि में ही अनुमान आदि प्रमाण प्रयुक्त होते हैं, तो अनेकानेक साक्ष्यों द्वारा एक असंशयात्मक स्थिर ज्ञान की प्राप्ति होती है। एक ही बात की सत्यता में जब अनेक विद्वान् एक मत से समर्थन करते हैं, तो वह बात और भी सत्य प्रतिष्ठ हो जाती है।

जलाशय, नदी आदि के देखने से वहाँ जलचर पक्षियों का आवागमन देखकर जल होने की अनुमान युक्त पुष्टि दृढ़ से दृढ़तर होती चली जाती है। इसी प्रकार ज्ञान, प्रयत्न आदि अनेकों साक्ष्य आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हैं। अतएव उपर्युक्त अनुमानादि प्रमाण जो आत्म विषयक विवेचन में प्रयुक्त हुए उनकी सार्थकता में शंका नहीं करनी चाहिए॥ ११॥

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है, पूर्व विवेचना में जो आशय उपस्थित हुआ, उसमें आत्मा का प्रत्यक्ष होना 'मैं हूँ' से माना गया। जबकि 'मैं' का क्रियात्मक पक्ष पूर्ण रूपेण शरीराश्रित ही है। मैं जाता हूँ, मैं करता हूँ, मैं खाता हूँ, इन समस्त चेष्टाओं में शरीर ही गतिशील रहता है। इस संशयात्मक स्थिति का समाधान अगले सूत्र में प्रस्तुत है—

(१४८) देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरे प्रत्ययः॥ १२॥

सूत्रार्थ— देवदत्तः = देवदत्त, गच्छति = जाता है, यज्ञदत्तः = यज्ञदत्त, गच्छति = जाता है, इति = इस तरह की, प्रत्ययः = अनुभूति, (अहंभाव), शरीरे = शरीर में, उपचारात् = व्यवहार द्वारा (पायी जाती है)।

व्याख्या— अदृश्य आत्मा शरीर के आश्रय में ही 'अहंभाव' प्रदर्शित करता है। शरीर से पृथक् होते हुए भी वह शरीर द्वारा मैं देवदत्त हूँ, यज्ञदत्त जाता है, आदि व्यवहार से अपने को प्रस्तुत करता है। शरीर द्वारा होने वाली समस्त चेष्टायें, सभी प्रयत्न औपचारिक ही मानने चाहिए। व्यवहार के कारण ही कर्त्तापन का भाव 'मैं करता हूँ' ऐसा शरीर में प्रतीत होता है॥ १२॥

इसी प्रसङ्ग को सूत्रकार अग्रिम सूत्र द्वारा व्यक्त करते हैं—

(१४९) **सन्दिग्धस्तूपचारः ॥ १३ ॥**

सूत्रार्थ— सन्दिग्धः = सन्देहास्पद है, तु = लेकिन (यह), उपचारः = उपचार-व्यवहार।

व्याख्या— उपचार की जो बात यहाँ कही गई है, उसमें भी सन्देह है; क्योंकि "देवदत्त जाता है" यदि यह शरीर में औपचारिकता का भाव है, तो 'मैं बहुत प्रसन्न हूँ' इसमें किसका उपचार है? ऐसा कहना, ऐसी व्यावहारिक प्रक्रिया तो सन्देहात्मक ही है। इसमें कैसे जाना जाय कि कौन शरीर के लिए कहा गया तथा किसका कथन आत्मा के पक्ष में है?॥ १३॥

इसी संदेह का निवारण करने हेतु सूत्रकार आगे कहते हैं—

(१५०) **अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तर प्रत्यक्षः ॥ १४॥**

सूत्रार्थ— अहम् = मैं हूँ, इति = ऐसी प्रतीति, प्रत्यगात्मनि = (शरीर से परे) अपनी आत्मा में, भावात् = होने के कारण, परत्र = दूसरों की आत्मा में, अभावात् = (उसी का) अभाव होने से, अर्थान्तर प्रत्यक्षः = शरीरादि से पृथक् विषय (आत्मतत्त्व) का प्रत्यक्षीभूत है।

व्याख्या— 'मैं हूँ' यह प्रतीत होना अनुभवजन्य ज्ञान है। देहादि तत्त्वों में चेतना का अभाव रहता है। शारीरिक गुणों रूप,रस, गन्ध आदि का सम्बन्ध इन्द्रियों के साथ प्रत्यक्ष होने से भी आत्मा के बिना उनका अनुभव नहीं किया जा सकता। "मैं भोजन कर रहा हूँ" में आत्मा की ही चेतना प्रकाशित होती है। प्रसन्नता एवं विषाद आदि गुणों द्वारा आत्मा का ही अस्तित्व सिद्ध होता है; क्योंकि प्रसन्नता, विषाद आदि का बाह्य इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकरण होना नहीं पाया जाता, इससे आत्मा की सत्ता की सिद्धि होती है॥ १४॥

यहाँ एक आशंका है कि मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं युवा हूँ आदि अनुभूति का होना शरीर के कारण ही है न कि आत्मा के? इसी भाव को सूत्रकार व्यक्त करते हैं—

(१५१) **देवदत्तो गच्छतीत्युपचारादभिमानात्तावच्छरीर प्रत्यक्षोऽहंकारः ॥ १५ ॥**

सूत्रार्थ— देवदत्तः = देवदत्त, गच्छति = जाता है, इति = इस तरह (का अनुभव करना), उपचारात् = उपचार द्वारा, अभिमानात् = अभिमान के होने से, तावत् = उसी प्रकार, शरीरः = शरीर में, प्रत्यक्षः = प्रत्यक्ष, अहंकारः = अहंकार है।

व्याख्या— देवदत्त जाता है; इस व्यवहार से गति शरीर में दिखाई देती है, इसलिए 'देवदत्त' शब्द का तात्पर्य 'शरीर' से है, उसी के समान गोरा, काला, मोटा, ठिंगना, दुबला आदि शरीर के गुण हैं, न कि आत्मा के। अतएव इनके लिए 'अहं' आदि जो शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं, वे शरीर व्यवहार से, अभिमान हेतु पूर्वक-अहंकार के कारण, मात्र शरीर बोध के लिए है। शरीर को ही निशाना बनाकर यह उपचार प्रयुक्त हुआ है, आत्मा के लिए नहीं॥ १५॥

पूर्वपक्ष की पुष्टि करते हुए पुनः सूत्रकार कहते हैं—

(१५२) **सन्दिग्धस्तूपचारः ॥ १६ ॥**

सूत्रार्थ— तु = फिर भी, संदिग्धः = सन्देह उत्पन्न करने वाला, उपचारः = उपचार है।

व्याख्या— 'देवदत्त जाता है' इस तरह की प्रतीति का होना, उपचार से ही माना गया है, जो निश्चयात्मक नहीं है। अतः यह संदेह बना रहता है कि गतिशीलता का कथन शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है या आत्मा के लिए॥ १६॥

पूर्वपक्ष की विवेचना को पूर्ण करने के उपरान्त सूत्रकार अब आशंकाओं का निराकरण करने के उद्देश्य से समझाते हुए कहते हैं—

(१५३) **न तु शरीरविशेषाद् यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानं विषयः॥ १७॥**

सूत्रार्थ— तु = वह तो, शरीरविशेषात् = शरीर विशेष के अन्तर के कारण से, यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोः = यज्ञदत्त और विष्णु मित्र के, ज्ञानं = ज्ञान, विषयः = विषय, न = (प्रत्यक्ष) नहीं है।

व्याख्या— चूँकि यज्ञदत्त और विष्णु मित्र से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान, शरीर विशेष की विशिष्टता के कारण ही प्रतीत होता है, आत्मा के कारण नहीं। इससे यज्ञदत्त और विष्णु मित्र की शारीरिक भिन्नता की सिद्धि होती है। प्रसन्नता, सुख, दुःख आदि ज्ञान शरीर के धर्म नहीं हो सकते। यदि इन सभी को शरीर का धर्म माना जाय, तो देवदत्त और विष्णुमित्र जो परस्पर भिन्न हैं, उनकी शारीरिक भिन्नता (आकृति भेद वर्ण आदि) की ही तरह इन्द्रियों द्वारा ज्ञान की भी भिन्नता प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होनी चाहिए, ताकि यह जाना जा सके कि यह ज्ञान विष्णुमित्र का नहीं, देवदत्त का है।

देवदत्त एवं विष्णुमित्र का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है। जबकि इन्द्रियाँ शरीर से सम्बन्ध रखती हैं, इसी से यह सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान का ग्राहक आत्मा है, शरीर नहीं। प्रसन्नता, विषाद, ईर्ष्या, द्वेष, इच्छा, अनिच्छा आदि समस्त गुणों का आश्रय आत्मा है। इस तरह सूत्रकार ने सिद्ध किया कि 'अहं' शब्द से जिस अर्थ का ज्ञान होता है, वह पदार्थ शरीर से पृथक् आत्मा है। आत्मा में ही शारीरिक गुणों का व्यवहार होता है; परन्तु आत्मा शरीर से भिन्न तत्त्व है॥ १७॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त भावों को और भी अच्छी तरह समझाते हुए कहते हैं—

(१५४) **अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद् व्यतिरेकाव्यभिचारात् विशेषसिद्धेर्नागमिकः॥ १८॥**

सूत्रार्थ— अहम् = मैं हूँ, इति = इस तरह का ज्ञान, मुख्ययोग्याभ्याम् = मुख्य एवं योग्य रूप होने के कारण, शब्दवत् = शब्द की भाँति, व्यतिरेकाव्यभिचारात् = अहं प्रत्यय के अभाव का व्याभिचार न होने से, विशेषसिद्धेः = शरीरादि से भिन्न विशेष तत्त्व (आत्मा) के प्रमाणित हो जाने से, आगमिकः = मात्र शब्द (शास्त्रों) प्रमाण से, न = सिद्ध नहीं हो सकता।

व्याख्या— अहमिति अर्थात् 'मैं हूँ' इस तरह की अनुभूति- ज्ञान की सिद्धि-प्रत्यक्ष तथा अनुमानादि प्रमाणों से नहीं की जा सकती। उक्त अहं भाव से वह तत्त्व प्रकाशित होता है, जो शरीर से अलग है। 'मैं हूँ' ऐसा अनुभव आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है। मन इस बात का साक्षी है। यदि ऐसी बात न होती, तो कोई कैसे कहता, आज मैं बड़ी प्रसन्नता अनुभव कर रहा हूँ । आज मेरा मन बहुत दुःखी है। यह समस्त अनुभूति एक मात्र आत्मा द्वारा ग्राह्य है, शरीर द्वारा नहीं। जैसे शब्द गुण बिना किसी दोष के- व्यतिरेक पृथक् से अपने आश्रय आकाश तत्त्व में प्रमाणित है, ठीक उसी प्रकार से आत्मा के आश्रय में 'अहमिति' शब्द की सिद्धि है। शरीर रूप पृथ्वी आदि द्रव्यों में ज्ञान का अभाव होने से, ज्ञान को धारण करने वाले पृथ्वी आदि से पृथक् आत्मा की सत्ता सिद्ध हो जाती है। 'मैं हूँ' शब्द की सिद्धि , शरीर एवं आत्मा के पृथक्त्व भेद से आत्मा में ही आश्रित है, शरीर में नहीं॥ १८॥

पूर्वपक्ष उपस्थित होता है, देहादि की भिन्नता होने पर भी ज्ञान सुख-दुःख आदि का सभी जगह समान रूप से पाया जाना क्या यह सिद्ध नहीं करता कि समस्त शरीरों में एक ही आत्मा विद्यमान है? इसी प्रश्न को प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(१५५) **सुखदुःखज्ञाननिष्पत्यविशेषादैकात्म्यम्॥ १९॥**

सूत्रार्थ— सुख-दुःख = सुख एवं दुःख, ज्ञाननिष्पत्ति = ज्ञान आदि का उत्पन्न होना, अविशेषात् =

समान रूप से उपलब्ध होने से, ऐकात्म्यम् = (सभी शरीरों में) एक ही आत्मा सिद्ध है।

व्याख्या— संसार में सबको अर्थात् भिन्न-भिन्न शरीरों वाले प्राणियों को सुख-दु:ख आदि का अनुभव होना लगभग समान रूप से ही पाया जाता है। उसमें कोई विशेषता दृष्टिगोचर न होने से आत्मा एक ही है, वही सबके शरीर में रहता है। जल की तरह आत्मा भी एक ही सत्ता के रूप में सर्वत्र विराजती है। जैसे घड़ों में स्थित जल, नदी-जलाशय में स्थित जल एक ही होता है, वैसे ही समान गुणों से सम्पन्न आत्मा में किसी प्रकार की विलक्षणता की प्रतीति न होने से उसे अनेक तो नहीं कहा जा सकता॥ १९॥

इस पक्ष का समाधान करते हुए आगे के सूत्र द्वारा आचार्य कहते हैं—

(१५६) व्यवस्थातो नाना॥ २०॥

सूत्रार्थ— व्यवस्थात: = सुख एवं दु:ख (आदि अनुभवों) की व्यवस्था प्रत्यक्ष होने से आत्मा, नाना = अनेक हैं।

व्याख्या— संसार के समस्त शरीरधारी एक विशेष व्यवस्था के अन्तर्गत क्रियाशील व अनुशासित हैं। हर एक शरीर को अपना सुख, अपना दु:ख व भाव-अभाव, सम्पन्नता, दरिद्रता आदि का अनुभव होता है और वह भी एक ही समय में देखने को मिलता है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं एवं भिन्न-भिन्न परिस्थितियों से एक ही काल में अनेकों मनुष्यों का प्रभावित होना, आत्मा की अनेकता की सिद्धि करता है। आत्मा का अनेकत्व न मानने पर महान् दोष उपस्थित होता है। कोई महान् पण्डित है, कोई निरा अज्ञानी, किसी में ज्ञान का भण्डार भरा है, कोई अक्षर ज्ञान से भी शून्य है। इस विषमता पूर्ण अवस्थाओं से आत्मा की अनेकता का ही प्रमाण मिलता है। जल भी किसी स्थान का मीठा, तो कहीं का खारा। समुद्र का जल तथा नदी का जल दोनों में बहुत बड़ा अन्तर रहता है। गुणों में विशेषता अनेक रूप से देखने व अनुभव करने को मिलती है। ठीक ऐसी ही स्थिति आत्मा की भी है। गुणों के आधार पर आत्मा की विशिष्टता एवं अनेकता पूर्णरूपेण प्रमाणित है॥ २०॥

आत्मा की अनेकता में साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(१५७) शास्त्रसामर्थ्याच्च॥ २१॥

सूत्रार्थ— शास्त्र = शास्त्रों के, सामर्थ्यात् = शक्ति सामर्थ्य रूप शब्द प्रमाणों से, च = भी (आत्मा का अनेक होना ही सिद्ध होता है।)

व्याख्या— शास्त्र प्रमाण-वेद आदि के द्वारा भी जीवों की अनेकता का कथन किया गया है। यजुर्वेद १९/४६ ''ये समाना: समनसो जीवा जीवेषु मामका:'' कठोपनिषद् २.२.१३ - 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' मिलने वाले समस्त प्रमाण जीवात्माओं की अनेकता सिद्ध करते हैं। अत: आत्मा की अनेकता की सिद्धि संशयरहित हो जाती है॥ २१॥

॥ इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम्॥

॥ अथ चतुर्थाध्याये प्रथमाह्निकम् ॥

पिछले प्रकरणों में सूत्रकार ने पृथ्वी आदि द्रव्यों के लक्षण एवं उनके परीक्षण से संयुक्त आवश्यक विवेचन का कथन किया। अब उन नित्य एवं अनित्य पृथ्वी आदि नौ द्रव्यों में से नित्य द्रव्यों के युक्तिपूर्ण परीक्षण हेतु नित्य का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं—

(१५८) सदकारणवन्नित्यम्॥ १ ॥

सूत्रार्थ— सत् = (भावरूप) विद्यमान पदार्थ, अकारणवत् = कारण विहीन होने से, नित्यम् = नित्य माने जाते हैं।

व्याख्या— जिस विद्यमान पदार्थ को, अपने अस्तित्व के लिए, किसी आश्रय रूप कारण की अपेक्षा न रखनी पड़े तथा जो भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों में कारण रहित होकर अपनी सत्ता की विद्यमानता बनाये रखे, उस पदार्थ को नित्य की संज्ञा दी गई है। स्वयं जो किसी कारण से उत्पन्न न होकर सबकी उत्पत्ति का मूल हो, वह प्रकृति अर्थात् भावरूप सत् पदार्थ नित्य होता है॥ १ ॥

अब अगले सूत्र द्वारा सूत्रकार मूल प्रकृति की प्रामाणिकता की विवेचना करते हुए कहते हैं—

(१५९) तस्य कार्यं लिङ्गम्॥ २ ॥

सूत्रार्थ— तस्य = उस मूल प्रकृति की प्रामाणिकता का, लिङ्गम् = प्रमाण, कार्यम् = संसार रूप कार्य है।

व्याख्या— सामान्य सिद्धान्त यह है कि कार्य को सिद्ध करने में कारण और कारण को सिद्ध करने में कार्य को ही हेतु माना जाता है। संसार रूप कार्य से उसके मूल कारण प्रकृति की सिद्धि का सुगमतापूर्वक अनुमान हो जाता है, जिस प्रकार घड़े रूप कार्य से उसके उपादान कारण मिट्टी का अनुमान हो जाता है। वस्त्रों से उनके मूल कारण धागों व कपास आदि का भी। कपास न होता तो धागे न बनते, धागे न बनते तो कपड़ा कैसे बुना जाता? अतएव यह सिद्ध है कि मूल प्रकृति को प्रमाणित करने में उसके द्वारा उत्पन्न जगत् रूप कार्य ही प्रमाण है॥ २ ॥

मूल प्रकृति की सिद्धि में और अधिक गुरुता लाने के भाव से सूत्रकार अगले सूत्र में कहते हैं—

(१६०) कारणाभावात् कार्याभावः ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— कारणाभावात् = कारण के अभाव होने से, कार्याभाव = कार्य का भी अभाव हो जाता है।

व्याख्या— कार्य का उत्पादन करने वाला उस कार्य का कारण ही जब नहीं होगा, तो बिना कारण के कार्य होना कदापि संभव नहीं है। जगत् को उत्पन्न करने वाली कारण रूप प्रकृति के न होने से यह संसार भी न होता। मिट्टी के अभाव से घड़े का न होना ही पाया जाता है। जैसा जिसका कारण होगा,वैसा ही उसका कार्य भी होगा। मिट्टी से घड़ा ही बनेगा, कपड़ा नहीं तथा कपास से धागा ही बनेगा, घड़ा नहीं। जगत् रूप कार्य (लिङ्ग) (कार्य) से प्रकृति रूप कारण का संयोग प्रमाणित होता है॥ ३ ॥

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जगत् रूप कार्य का प्रत्यक्ष होने से, मूल प्रकृति जिससे कि जगत् की उत्पत्ति है; उसकी नित्यता का अनुमान हो जाता है। जबकि जगत् रूप कार्य अनित्य है,तो उस कार्य के कारण रूप प्रकृति को भी अनित्य कहना चाहिए। सूत्रकार अगले सूत्र में इसका प्रमाण देते हुए कहते हैं—

(१६१) अनित्य इति विशेषतः प्रतिषेधभावः ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ— अनित्य = पदार्थ अनित्य है, इति = इस तरह का, प्रतिषेधभावः = नित्यता का निषेधात्मक भाव ही, विशेषतः = विशेष प्रकार से उनकी प्रामाणिकता में साक्ष्य है।

व्याख्या— नित्यता की निषेधात्मकता ही नित्य वस्तु की सत्ता को प्रमाणित करने में लक्षण है। सम्पूर्ण जगत् विनाशवान् है, अतएव जगत् के समस्त पदार्थों की अनित्यता ही प्रकृति की नित्यता को सिद्ध करने में विशेष लक्षण है।

जो अवयव युक्त पदार्थ हैं, उन सबका अपने उन अवयवों से संयुक्त होकर प्रत्यक्ष होने से पूर्व अस्तित्वहीन होना ही उन पदार्थों की अनित्यता को सिद्ध कर देता है; क्योंकि सावयव पदार्थ का प्रत्यक्ष उसके अवयवों द्वारा ही होता है, अवयवों के बिखर जाने पर उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसीलिए सावयव पदार्थ अनित्य एवं निरवयव पदार्थ नित्य माने जाते हैं। संसार के उपादान कारण रूप परमाणु असंयुक्त होने से नित्य हैं, अतएव प्रकृति को अनित्य नहीं कहा जा सकता ॥ ४ ॥

बहुत से लोग सम्पूर्ण पदार्थों को अनित्य ही मानते हैं। दर्शनकार उसी का समाधान देते हुए अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

(१६२) अविद्या ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ— अविद्या = विद्या विहीन, अज्ञानता है।

व्याख्या— जिस मूल प्रकृति से जगत् का प्रादुर्भाव हुआ हो, उसकी अनित्यता प्रमाणित करने में प्रयुक्त होने वाले लक्षण कदापि शुरू नहीं हो सकते। अधिक से अधिक लक्षणाभासी ही हो सकते हैं। जगत् का प्रत्यक्ष होना ही उसकी अनित्यता का प्रमाण है; क्योंकि जगत् के उपादान प्रकृति के परमाणु असंयुक्त हैं। इस नियम से भी प्रकृति का नित्यत्व प्रमाणित है। जिन भाव पदार्थों का स्वरूप अप्रत्यक्ष रहता है, वे नित्य हैं। परमात्मा, प्रकृति एवं जीवात्मा अविनाशी एवं अजन्मा होने से सर्वथा नित्य ही हैं, इन्हें अनित्य कहना विद्या से विहीन होने अर्थात् अज्ञानता का ही परिचायक है ॥ ५ ॥

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यदि जगत् के उपादान कारण एवं मूलप्रकृति की सत्ता नित्य है, तो उसका प्रत्यक्ष होना क्यों नहीं पाया जाता ? प्रत्यक्ष होने की इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने कहा—

(१६३) महत्यनेकद्रव्यवत्त्वात् रूपाच्चोपलब्धिः ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ— महति = महत् परिमाण वाले द्रव्य में, अनेक = विभिन्न प्रकार के, द्रव्यवत्त्वात् = द्रव्य युक्त होने के कारण, रूपात् = रूप से, च = तथा (छूने से), उपलब्धिः = उपलब्ध होता है।

व्याख्या— प्रत्यक्ष स्वरूप वाली वस्तु का महत् (बड़ा) परिमाण वाली होना, विभिन्न द्रव्याश्रयी होना और रूपवान् होना अनिवार्य है। स्पर्श से अपनी सत्ता की अनुभूति कराने वाली भी हो। परमाणुओं की अति सूक्ष्मता ही उनकी अप्रत्यक्षता का कारण है। परमाणु विभिन्न द्रव्यों के आश्रयी भी नहीं हैं; तथापि खिड़की, झरोखों आदि द्वारा पड़ने वाली सूर्य किरणों में ये दिखते भी हैं, हाथ लगाने पर स्पर्श भी होते हैं; फिर भी उनका हाथों द्वारा पकड़ा न जाना उनकी अप्रत्यक्षता सिद्ध करती है। उसी प्रकार वायु का भी उदाहरण है। स्पर्श होती हवा का अनुभव होता है; परन्तु अपने विभिन्न अवयवों से संयुक्त न होने के कारण आँखों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं है। महत्परिमाण वाली दिशायें भी रूप, स्पर्श, गुण तथा अनेक द्रव्याश्रित न होने के कारण ही प्रत्यक्ष नहीं होती हैं ॥ ६ ॥

एक प्रश्न उठ रहा है कि वायु महत्परिमाण वाला है, विभिन्न द्रव्य परमाणुओं से युक्त है, फिर भी उसका प्रत्यक्षीकरण क्यों नहीं होता? सूत्रकार ने उत्तर देते हुए कहा—

(१६४) सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ— रूपसंस्कार = रूप के संस्कार का, अभावात् = अभाव होने से, द्रव्यत्वे = विभिन्न द्रव्याश्रयी, (तथा) महत्त्वे = महत्परिमाण वाला, सति = होते हुए, अपि = भी, वायोः = वायु का, अनुपलब्धिः = उपलब्ध (प्रत्यक्ष) होना नहीं पाया जाता।

व्याख्या— रूप अर्थात् स्थूल स्वरूप का संस्कार अर्थात् गुण न रहने के कारण, एक से अधिक परमाणु रूप पदार्थों के सम्मिश्रण से उत्पन्न वायु बड़े परिमाण वाला होते हुए भी चक्षुओं द्वारा देखा नहीं जा सकता। इसका तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म तत्त्वों में स्थूल के गुणों का प्रवेश नहीं होता। रूप, तेज का लक्षण है तथा तेज अर्थात् अग्नि से वायु सूक्ष्म है। इस प्रकार से तेज का गुण रूप, वायु में किसी तरह भी नहीं आ सकता। इसी कारण वायु को प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता। अग्नि में रूप के साथ-साथ स्पर्श गुण भी होता है, इसी से अग्नि का स्वरूप प्रत्यक्ष है। जितने द्रव्य स्थूल हैं, वे दृष्टिगत हैं तथा जितने सूक्ष्म हैं, वे वायु के समान ही दृष्टि में नहीं आते ॥ ७ ।॥

अगले सूत्र में सूत्रकार रूप के प्रत्यक्षीभूत होने के विषय में समझाते हुए कहते हैं—

(१६५) अनेकद्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ— अनेकद्रव्यसमवायात् = अनेक द्रव्यों के सम्मिश्रण से, च = तथा, रूपविशेषात् = रूप में विशिष्टता की अभिव्यक्ति के कारण, रूपोपलब्धिः = रूप की उपलब्धता होती है।

व्याख्या— एक से अधिक द्रव्यों का सम्मिश्रण होने पर पदार्थ का स्वरूप बनता है। समवाय सम्बन्ध से ही उनकी पदार्थ के रूप में पहचान बनती है। एकाकी द्रव्य समवाय के अभाव में रूप का गुण नहीं पाता। इसी कारण उसका प्रत्यक्ष भी नहीं हो पाता। किसी एकाकी परमाणु को रूप के अभाव में देख पाना संभव नहीं है, मात्र परमाणुओं के संयोग द्वारा भी परमाणुओं को नहीं देखा जाता। यदि ऐसी स्थिति होती, तो गुण रूप विशेष के कारण अग्नि के परमाणु तो दिखाई ही देते। वायु भी अनेकों परमाणु रूप द्रव्य वाला होने से दिखाई पड़ता; किन्तु ऐसा है नहीं। इस तरह प्रमाणित होता है कि अनेक द्रव्यों के समवाय तथा रूप की विशिष्टता से ही रूप का प्रत्यक्ष होना देखा जा सकता है ॥ ८ ॥

अगले सूत्र में सूत्रकार उक्त विवेचन की ही तरह अन्य गुणों के भी प्रत्यक्षीभूत होने की बात बतलाते हैं—

(१६६) तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ— तेन = उसी प्रकार की विधि- व्यवस्था से, रसगन्धस्पर्शेषु = रस,गन्ध तथा स्पर्शादि गुणों में भी, ज्ञानम् = प्रत्यक्ष होने की जानकारी करना, व्याख्यातम् = बतलाया है।

व्याख्या— जैसा कि गत सूत्र के विवेचन से ज्ञात हो चुका है कि एक से अधिक परमाणुओं का संयुक्त होकर रूप तथा रूप से आकृति की स्थिति में परिवर्तित होना स्पष्ट है। उसी तरह से रस, गन्ध एवं स्पर्श आदि को भी जानना चाहिए। जिह्वा को रस के स्वाद की अनुभूति तभी होगी, जब जल युक्त पदार्थ का संयोग उसके साथ होगा। मिट्टी के परमाणु के संयुक्त हुए बिना नासिका अपनी घ्राण शक्ति द्वारा गन्ध का प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। इसी तरह त्वचा भी वायु के परमाणु से संयुक्त हुए बिना स्पर्श

सुख रूप गुण का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर सकती॥ ९॥

आशंका है कि पत्थर में भी बहुत से परमाणु मिले हुए हैं, तो भी पत्थर से गन्ध का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? सूत्रकार ने बताया कि—

(१६७) तस्याभावादव्यभिचारः॥ १०॥

सूत्रार्थ— तस्य = उस गन्ध विशेष के, अभावात् = अभाव से (न रहने से), अव्यभिचारः = व्यभिचार का अभाव है।

व्याख्या— उपर्युक्त प्रसङ्ग में जिन नियमों की बात कही है, उसमें दोष का सर्वथा अभाव है। पत्थर में भी गन्ध का होना सुनिश्चित है; क्योंकि उसमें मिट्टी के परमाणु मिले हुए हैं। पत्थर को तपाने के पश्चात् जब उस पर जल डालते हैं, तो उस समय गन्ध का प्रत्यक्ष अनुभव होना पाया जाता है। पृथ्वी के परमाणुओं की अधिकता से पृथ्वी की तुलना में पत्थर अधिक कठोर है। इसी कारण मिट्टी के गन्ध रूप परमाणु का प्रत्यक्ष अनुभव पत्थर को तपाने के पश्चात् जल से संयुक्त करके प्राप्त होता है। अतएव रूप प्रत्यक्ष की उपलब्धि में जो उक्त नियम कहे गये हैं, उनमें किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं है॥ १०॥

अगले सूत्र द्वारा सूत्रकार उन गुणों को क्रमशः बतलाते हैं, जिनका प्रत्यक्ष अनुभव एक से अधिक अर्थात् दो इन्द्रियों से प्राप्त होता है—

(१६८) संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिद्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि॥ ११॥

सूत्रार्थ— संख्याः = गिनती (गणना), परिमाणानि = (लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, गोलाई आदि) परिमाण का, पृथक्त्वम् = पृथक्-पृथक् होना, संयोगविभागौ = संयुक्तता व विभक्तता, परत्वापरत्वे = परत्व-अपरत्व, कर्म = कर्म, च = और (आदि सभी) , रूपिद्रव्य = रूप युक्त द्रव्य में, समवायात् = समवाय (संयुक्त) होने के कारण, चाक्षुषाणि = चक्षुओं (आँखों) से ग्रहण किया जाता है।

व्याख्या— गणना तथा लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, गोलाई आदि परिमाण, संयुक्त होना, विभक्त होना, परत्व-अपरत्व.आदि समस्त कार्य उसी पदार्थ में देखे जा सकते हैं, जो समवाय होते हैं। अवयव युक्त पदार्थ का समवाय पाकर परिमाण वाले हो जाते हैं, जिससे चक्षुओं द्वारा उनका प्रत्यक्ष हो जाता है। रूप की ही तरह संख्याओं को भी चक्षु द्वारा देखा जाता है। परत्व व अपरत्व का प्रत्यक्ष भी द्रव्य के साथ समवाय के ही कारण होता है। आँखों से कर्म का भी प्रत्यक्ष होता है; क्योंकि रूपवान् पदार्थ से कर्म का समवाय है। बच्चे, युवा व वृद्ध कुल दस मनुष्य खड़े हैं, इस दस की संख्या को आँखों ने देखा, चार बच्चे हैं, चार युवा हैं तथा दो वृद्ध हैं, इसे भी आँखों ने ही देखा। बच्चे छोटे हैं तथा एक साथ हैं, युवा लम्बे-चौड़े हैं तथा अलग-अलग खड़े हैं, यह भी आँखों ने ही देखा, वृद्ध सफेद बाल वाले हैं आदि सारा कुछ आँखों ने ही ग्रहण किया, इस तरह सूत्र का आशय स्पष्ट हो जाता है॥ ११॥

किस पदार्थ का प्रत्यक्ष आँखों द्वारा नहीं होता इसी का वर्णन अगले सूत्र में किया जा रहा है—

(१६९) अरूपिष्वचाक्षुषाणि॥ १२॥

सूत्रार्थ— अरूपिषु = निराकार द्रव्यों में (संख्या आदि का गुण), अचाक्षुषाणि = चक्षुओं द्वारा ग्राह्य नहीं होता।

व्याख्या— जिन द्रव्यों में रूप का अभाव रहता है, आँखों द्वारा उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। जिनकी कोई आकृति हो, स्वरूप हो, उन्हें ही आँखें देख सकती हैं। इसीलिए प्रकृति, वायु, आकाश आदि को नहीं देखा जा सकता और न आत्मा आदि की गणना ही की जा सकती है॥ १२॥

उन्हीं भावों को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार अगले सूत्र में कहते हैं—

(१७०) एतेन गुणत्त्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम्॥ १३॥

सूत्रार्थ— एतेन = इससे (पूर्व सूत्र के भाव से), गुणत्त्वे = गुणों से युक्त जाति विषयों में, च = तथा, भावे = सत्ता जाति के बारे में, सर्वेन्द्रियम् = समस्त इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला, ज्ञानम् = व्याप्त ज्ञान, व्याख्यातम् = बतलाया गया है।

व्याख्या— जिस तरह आँखों द्वारा, ग्राह्य विषयों का रूपवान् होना तथा रूप से रहित किसी भी पदार्थ का न देख पाना निश्चित है, ठीक उसी तरह गुणत्व जाति वाले विषयों तथा सत्ता जाति के विषयों का ग्रहण समस्त इन्द्रियों से हो जाता है, ऐसा जानना चाहिए। आँखों से रूप का, जिह्वा से रस का, नासिका से गन्ध का, त्वचा से स्पर्श आदि का ग्रहण होना पाया जाता है॥ १३॥

॥ इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्॥

॥ अथ चतुर्थाध्याये द्वितीयाह्निकम् ॥

गत प्रसङ्ग में जगत् रूप कार्य के मूलकारण प्रकृति एवं उसके गुण विषयक परीक्षण की विवेचना हुई। अब आगे इस आह्निक में सूत्रकार पृथिवी आदि कार्य द्रव्यों का परीक्षण करने का भाव रखकर कथन करते हैं—

(१७१) तत्पुनः पृथिव्यादि कार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— तत् = वह, पृथिव्यादि = पृथिवी आदि, कार्यद्रव्यम् = कार्य रूप वाला द्रव्य, पुनः = फिर, शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् = शरीर, इन्द्रिय एवं विषय नाम से, त्रिविधम् = तीन तरह का होता है।

व्याख्या— पृथिवी आदि कार्यरूप द्रव्य भी तीन प्रकार के (शरीर, इन्द्रिय और विषय) हैं। जिसके आश्रित रहकर जीवात्मा भोग प्राप्त करता है, जिसके द्वारा इन्द्रियों एवं उनके विषयों से जीवात्मा का संयोग होता है, उसे शरीर कहा जाता है। शरीर, इन्द्रिय तथा विषय ही तीन भेद हैं। तीन तरह से शरीर की व्याख्या बतलाई गई है-१. कर्त्तव्य योनि— जिस शरीर के आश्रय में रहते हुए जीवात्मा के पूर्वकृत कर्मों का फल न भोगकर, कर्म द्वारा भोग प्राप्त करना होता है। २. कर्त्तव्य-भोक्तव्य योनि— जिस शरीर में रहकर जीवात्मा को पूर्वकृत कर्मानुसार पाप व पुण्य रूप भोग प्राप्त होते हैं तथा कर्मरत रहना पड़ता है। ३. भोक्तव्य योनि— जिस शरीर में जीवात्मा को पिछले जन्म के कर्मों का केवल फल ही भोगना रहता है तथा भविष्य के लिए किसी प्रकार का शुभ कार्य करने का अवसर नहीं रहता। ऐसे ही जल, अग्नि तथा वायु के भी तीन-तीन भेद बतलाये गये हैं। आकाश तत्त्व दो प्रकार का होता है; क्योंकि काल अर्थात् (समय) शरीर अथवा इन्द्रिय किसी का रूप न होकर मात्र विषय रूप है ॥ १ ॥

एक प्रश्न यह उठता है कि जिन शरीरों की विवेचना उक्त प्रसङ्ग में की गई, उनकी उत्पत्ति एक तत्त्व अर्थात् पृथिवी आदि से नहीं हो सकती; क्योंकि पंचतत्त्वों से ही शरीर बना है ? सूत्रकार ने स्पष्ट किया—

(१७२) प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणाम् = प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष द्रव्यों के बीच में, संयोगस्य = सम्बन्ध का, अप्रत्यक्षत्वात् = प्रत्यक्ष दिखाई न पड़ने के कारण, पञ्चात्मकम् = पंचतत्त्वों से किया गया कार्यरूप (शरीर), न = नहीं, विद्यते = है।

व्याख्या— जो प्रत्यक्ष द्रव्य हैं तथा जो अप्रत्यक्ष द्रव्य हैं, उनके पारस्परिक सम्बन्धों को एक नियम के अन्तर्गत नहीं देखा जा सकता। अप्रत्यक्ष द्रव्य वायु एवं आकाश तत्त्व से, प्रत्यक्ष द्रव्य अग्नि का समवाय (प्रत्यक्षीभूत) प्रत्यक्ष देखने में नहीं मिलता, इसलिए शरीर को पाँचों भूतों का कार्य बतलाना उपयुक्त नहीं लगता। पंचभूतों द्वारा ही यदि शरीर का होना सिद्ध हो रहा हो, तो उसमें वायु एवं आकाश तत्त्व का समवाय होने से शरीर का प्रत्यक्ष होना ही नहीं चाहिए अथवा जल तथा अग्नि के समवाय से कुछ दिखता और कुछ न दिखता परन्तु; ऐसा नहीं है। इसलिए शरीर पंचभूतों का कार्य नहीं है ॥२ ॥

यहाँ जिज्ञासा यह है कि प्रत्यक्ष न होने वाले वायु एवं आकाश को छोड़कर, प्रत्यक्ष भूत-पृथ्वी, जल तथा अग्नि से ही शरीर की उत्पत्ति हुई ? सूत्रकार ने समाधान क्यों न मान लिया जाए, करते हुए कहा—

(१७३) गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— गुणान्तराप्रादुर्भावात् = गन्ध के अतिरिक्त अन्य गुणों का प्रकटीकरण न होने से, च = भी, (पूर्वोक्त कथन ठीक है)।

व्याख्या— शरीर में केवल गन्ध ही प्रकट है, जो पृथ्वी का गुण है। इस गन्ध से ही शरीर का पार्थिव होना प्रमाणित हो जाता है। यदि यह मान लिया जाय कि जल एवं अग्नि से इसकी उत्पत्ति है, तो 'गन्ध' की ही भाँति 'तरलता' एवं 'तेजस्विता अर्थात् प्रकाश' जो क्रमशः जल एवं अग्नि के गुण हैं, इनका भी प्रकट होना पाया जाता है। जबकि ऐसा नहीं है। इस कारण पृथ्वी आदि को पंचभूतों का कार्य नहीं माना जाता॥ ३॥

तो क्या शरीर तीन ही तत्त्वों से बना है? सूत्रकार ने कहा—

(१७४) न त्र्यात्मकम्॥ ४॥

सूत्रार्थ— न = नहीं, त्र्यात्मकम् = तीन तत्त्वों से बना भी नहीं माना जा सकता।

व्याख्या— अन्य गुणों के न मिलने के कारण न तो शरीर को पंचभौतिक कह सकते हैं और न त्र्यात्मक ही। शरीर में एक मात्र 'गन्ध' का ही प्रत्यक्ष है, अतएव शरीर पृथिवी से ही बना हुआ है। त्र्यात्मक होता तो-गन्ध की तरह ही जल एवं अग्नि आदि गुणों का भी प्रत्यक्ष होना पाया जाता॥ ४॥

प्रश्न उठता है, शरीर में जो रूपादि गुण तथा भोजन आदि को पचाने का कार्य होना पाया जाता है, उससे तो पंचभूतों द्वारा ही शरीर का होना सिद्ध होता है? सूत्रकार ने समझाया—

(१७५) अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः॥ ५॥

सूत्रार्थ— अणुसंयोगः = अणुओं के सम्बन्धों की, तु = तो (इसमें), अप्रतिषिद्धः = निषेधात्मकता नहीं कही गई है।

व्याख्या— गत सूत्रों द्वारा बतलाया कि, यद्यपि यह शरीर पंचभूतों का कार्य नहीं है; परन्तु उस विवेचन क्रम में कहीं भी अणुओं के सम्बन्ध की निषेधात्मकता भी नहीं कही गई। शरीर निर्माण में पृथिवी तत्त्व की मात्रा अधिक है, इसलिए इसे पार्थिव कहा है। अन्य भूतों जल, अग्नि, वायु एवं आकाश के गुणों का इसके साथ समवाय है, अन्य तत्त्वों के परमाणु भी इसमें संयुक्त हैं, इसी से अग्नि तत्त्व से पाचन, वायु से रक्त श्वसन, जल से रक्त आदि का संचालन बना रहता है। पृथिवी तत्त्व की अधिकता तथा उसके गुण रूप 'गन्ध' के कारण शरीर की उत्पत्ति पार्थिव कही गयी है॥ ५॥

प्रश्न है-पार्थिव शरीर की रचना एक ही जैसी रहती है या उसमें भी विभिन्नता होती है? सूत्रकार ने शरीर के विभाग की बात का कथन करते हुए बताया—

(१७६) तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च॥ ६॥

सूत्रार्थ— तत्र = उनमें, शरीरम् = (पार्थिव) शरीर, योनिजम् = योनि द्वारा उत्पन्न होने वाला, च = तथा, अयोनिजम् = जिनकी उत्पत्ति योनि से नहीं होती, द्विविधम् = दो तरह के (शरीर) होते हैं।

व्याख्या— पार्थिव शरीर दो तरह का होता है, एक 'योनिज' अर्थात् योनि द्वारा उत्पन्न; दूसरा 'अयोनिज' जो योनि से उत्पन्न नहीं। योनिज के दो विभाग हैं, पहला 'जरायुज' अर्थात् जरायु से उत्पन्न होने वाले; दूसरा 'अण्डज' अर्थात् अण्डे से पैदा होने वाले। माता-पिता के संयोग से उत्पन्न होने वाला शरीर योनिज कहलाता है, इसी से मनुष्य, पशु-पक्षी आदि जरायुज एवं अण्डज सभी प्रकार के प्राणी उत्पन्न होते हैं। सृष्टि निर्माण के समय स्वतः उत्पन्न होने वाले ऋषि आदि, योनि से पैदा न होने के कारण अयोनिज माने जाते हैं। संचित व प्रारब्ध कर्मों से पूर्णतः मुक्त होने के कारण उन्हें जन्म-मरण के चक्र व गर्भावस्था के दुःखों से मुक्त रहना होता है। इस तरह से शरीर के दो विभाग बतलाये गये हैं॥ ६॥

यहाँ प्रश्न उठता है कि योनिज शरीर तो सर्वत्र सुलभ है; परन्तु अयोनिज शरीरों के होने की बात सही नहीं लगती। योनि से जिनकी उत्पत्ति नहीं है, ऐसे शरीर होते हैं, तो दिखते क्यों नहीं? सूत्रकार इस भाव का आदर करते हुए क्रमशः हेतु बतलाते हुए कहते हैं—

(१७७) अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात्॥ ७॥

सूत्रार्थ— दिग्देशः =दिशा एवं देश का, पूर्वकत्वात् = पूर्व निर्धारण की दृष्टि से,अनियतः = नियत न होने से।

व्याख्या— सर्ग (सृष्टि) के प्रारम्भ में जिन अयोनिज शरीरों का प्रकट होना विवेचना क्रम में कहा गया, उनकी उत्पत्ति से पूर्व उनकी दिशा व देश (स्थान) आदि की सुनिश्चितता नहीं रहती। संचित व प्रारब्ध कर्मों के बन्धनों से मुक्त होने के कारण उनके लिए कोई कर्म विधान का अनुशासन लागू नहीं होता, अतः इसके लिए योनि का निर्धारण भी नहीं रहता। योनिज शरीर के परे ही, ईश्वर के विशेष नियम के अन्तर्गत, उन मुक्त आत्माओं का अयोनिज होना माना जाता है॥ ७॥

इसी पक्ष में सूत्रकार दूसरा सूत्र प्रमाण रूप में प्रस्तुत करते हुए बतलाते हैं—

(१७८) धर्मविशेषाच्च॥ ८॥

सूत्रार्थ— धर्मविशेषात् = धर्म की विलक्षणता, च = तथा (अधर्म की विलक्षणता के कारण)।

व्याख्या— जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप ईश्वर द्वारा निर्धारित नियमों के अन्तर्गत योनिज और अयोनिज शरीरों को प्राप्त करता है। मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनिज तथा सिद्धों, योगियों एवं संकल्प मात्र से ही उत्पन्न होने वाले ऋषि अयोनिज कहलाते हैं। धर्म विशेष के कारण ही स्वेदज जो पसीने से उत्पन्न होते हैं तथा वृक्ष, लता, घास आदि उद्भिज्जों का प्रादुर्भाव होता है। योनि से उत्पन्न न होने के कारण यह सब अयोनिज ही कहलाते हैं॥ ८॥

साध्य की सिद्धि में और भी प्रमाण देते हुए सूत्रकार का कथन है—

(१७९) समाख्याभावाच्च॥ ९॥

सूत्रार्थ— समाख्या = सम्यक् रूप से संज्ञा की प्रसिद्धि , भावात् = होने के कारण, च = भी (उपर्युक्त कथन की सिद्धि है)।

व्याख्या— सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया के आरम्भ में बिना योनि से उत्पन्न जिन ऋषियों की सम्यक् रूप से प्रसिद्धि हुई है, उनके स्पष्ट प्रमाण शास्त्रों में उपलब्ध हैं। अङ्गिरा, स्वयंभू ब्रह्मा, भरद्वाज, पुलत्स्य, गौतम तथा आदित्य, अग्नि, वायु की उत्पत्ति योनि से नहीं हुई है। समस्त संसार में इनकी महानता का गुणगान होता रहता है। अतः अयोनिज शरीर का होना सिद्ध है॥ ९॥

इस विवेचन के क्रम में साक्ष्य के ही रूप में सूत्रकार द्वारा यह सूत्र भी प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१८०) संज्ञाया आदित्वात्॥ १०॥

सूत्रार्थ— संज्ञायाः = प्रसिद्धि प्राप्त उन नामों का उल्लेख, आदित्वात् = प्रारम्भ में ही होने के कारण (भी उक्त बात मान्य है)।

व्याख्या— जिन अयोनिज ऋषियों के प्रसिद्ध नामों का उल्लेख, गत सूत्र-विवेचन में हुआ है, उनमें से किसी के भी माता-पिता के नाम, प्रकाश में नहीं आते; जिससे यह माना जाय कि वे अङ्गिरा आदि ऋषि

अयोनिज नहीं हैं। अतएव उक्त प्रमाणों से अयोनिज शरीरों की प्रामाणिकता हर प्रकार से सिद्ध होती है॥ १०॥

मात्र संज्ञा के ही पाये जाने से, माता-पिता के अभाव में उनकी उत्पत्ति का होना कैसे संभव है? उक्त सभी आशंकाओं का निराकरण करते हुए सूत्रकार का कथन है—

(१८१) सन्त्ययोनिजाः॥ ११॥

सूत्रार्थ— अयोनिजाः = बिना योनि के ही उत्पन्न होना, सन्ति = उक्त प्रमाणों द्वारा सिद्ध है।

व्याख्या— उपरोक्त चार सूत्रों द्वारा जो साक्ष्य, साध्य की सिद्धि में प्रयुक्त किये गये, उन प्रामाणिक विवेचनों से यह स्पष्ट हो गया कि शरीर का अयोनिज होना युक्तिसगत व सिद्ध हैं। सर्ग के आदिकाल में ऋषियों की बिना योनि की उत्पत्ति एवं उन सबके माता-पिता के नाम आदि का प्रकाशित न होना रूप प्रमाणों से साध्य की प्रामाणिकता कहीं से भी संदिग्ध नहीं रह जाती॥ ११॥

उपर्युक्त प्रमाणों की और भी अधिक पुष्टि करते हुए सूत्रकार ने प्रकरण के समापन पर शब्द प्रमाण का भी कथन करते हुए कहा—

(१८२) वेदलिङ्गाच्च॥ १२॥

सूत्रार्थ— वेद = वेद में, च = भी, लिङ्गात् = प्राप्त प्रमाणों से (उक्त साध्य की सिद्धि हो जाती है)।

व्याख्या— वेदों में उपलब्ध प्रमाण भी अयोनिज शरीर की सिद्धि करते हैं। देवता, ऋषि, ब्रह्मा आदि की उत्पत्ति का वर्णन वेद में मिलता है। पुरुष सूक्त के मन्त्र **"तस्मादश्वाअजायन्त"** **'चन्द्रमा मनसो जातः'** इसके प्रमाण हैं। **'प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्'** अथर्ववेद का कथन भी यही सिद्ध करता है॥ १२॥

॥ इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम्॥

॥ अथ पञ्चमाध्याये प्रथमाह्निकम् ॥

गत प्रकरण में द्रव्यों एवं उनके गुणों का परीक्षा कार्य पूर्ण करने के उपरान्त, अब इस पाँचवें अध्याय के प्रथम आह्निक में कर्म परीक्षण के अन्तर्गत उत्क्षेपण संज्ञा वाले कर्म की परीक्षा का कार्य प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(१८३) आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म॥ १ ॥

सूत्रार्थ— आत्मसंयोग = कर्मेन्द्रियों के साथ आत्मा का सम्बन्ध, (एवं) प्रयत्नाभ्याम् = सम्बन्ध जन्य प्रयत्नों से, हस्ते = हाथों से, कर्म = कर्म उत्पन्न होता है।

व्याख्या— हाथों द्वारा कर्म के उत्पादन में आत्मा के साथ कर्मेन्द्रिय का संयोग एवं संयोग से होने वाला प्रयत्न ही कारण है। आत्मा के संयोग तथा प्रयत्न के बिना हाथ सक्रिय नहीं हो सकता। आत्मा में चैतन्यता की शक्ति होने से वही अचेतन कर्मेन्द्रियों को अपना संयोग देकर चेतन बनाता है, तभी शारीरिक क्रियायें हाथ-पैर चलाना आदि का होना पाया जाता है। आत्मा में जो कर्म सम्पन्न की प्रबल आकांक्षा उत्पन्न होती है, वह प्रबल इच्छाशक्ति ही इच्छित कर्म के अनुकूल प्रयत्न (चेष्टायें) की उत्पत्ति करके सक्रियता का स्वरूप ले लेती है। जिस अंग के साथ वह इच्छाशक्ति प्रयत्नशीलता से संयोग करती है, वही अंग कार्य करने में लग जाता है। जिस कार्य में उसकी रुचि न होगी, उसके लिए प्रयत्न ही नहीं करेगी। जब जिस अंग से कार्य न लेना चाहेगी, तो उसमें भी चेष्टा का अभाव ही रखेगी। कर्म के उपादान में चेष्टा अर्थात् प्रयत्न प्रत्यक्ष कारण होता है। अतएव यह सिद्ध होता है कि चेष्टायुक्त आत्मा का हाथ से सम्बन्ध होने पर ही हाथ कर्म कर सकता है॥१ ॥

हाथ जब कर्म में प्रयुक्त होता है, तो उस समय हाथ से संयुक्त वस्तु भी हाथ की गति के साथ ही गतिशील होगी। हाथ का ऊपर की ओर उठना उत्क्षेपण कर्म कहलाता है। इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति करते हुए सूत्रकार का कथन है—

(१८४) तथाहस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म॥ २ ॥

सूत्रार्थ— तथा = उसी तरह से, हस्तसंयोगात् = हाथ के संयोग होने पर (प्रयत्न की तरह आत्मा का मूसल युक्त हाथ से संयुक्त होने पर), च = भी, मुसले = मूसल में, कर्म = जो कर्म होता है, उसको उत्क्षेपण कर्म कहा जाता है।

व्याख्या— गत सूत्र में जैसे आत्मा के संयोग तथा चेष्टा द्वारा हाथ में कर्म के उत्पादन की बात कही गई, उसी प्रकार से हाथ के ही संयोग से ऊखल में धान कूटने की क्रिया का सम्पादन करते समय मूसल में कर्म का उत्पादन होता है। हाथ जब ऊपर की ओर उठता है, तो मूसल भी उत्क्षेपित हो जाता है। हाथ के प्रयास के बिना मूसल ऊपर नहीं जा सकता। धान कूटते समय बार-बार ऊपर जाने की क्रिया हाथ का आश्रय पाये बिना मूसल द्वारा नहीं की जा सकती। नीचे ऊखल में ही मूसल का अवक्षेपण कर्म सम्पन्न हो, इसके लिए भी हाथ ही मूसल को सही दिशा देता है। यदि मूसल की ऊपर से नीचे गिरने की क्रिया में हाथ की शक्ति न लगे, तो यह आवश्यक नहीं कि मूसल ऊखल में ही गिरेगा। अत: अवक्षेपण अर्थात् नीचे गिरने की भी दशा में हाथ का ही संयोग मानना उपयुक्त होगा। जो गेंद से मूसल की तुलना का कथन करते हैं कि हाथ के संयोग से गेंद उछलता है तथा बिना प्रयत्न ही नीचे गिर जाता है। अत: मूसल भी बिना प्रयास अर्थात् नीचे लाने में हाथ को शक्ति नहीं लगानी पड़ती, गेंद की भाँति ही स्वत: नीचे आ जाता है। उक्त दृष्टान्त में यह दृष्टव्य है कि मूसल की तरह गेंद पर हाथ की पकड़ बराबर नहीं रहती। गेंद तो उत्क्षेपण के साथ ही हाथ से अलग हो जाता है तथा नीचे गिरने तक उसका संयोग हाथ से नहीं रहता। अत: हाथ के संयोग से मूसल में जिस प्रकार उत्क्षेपण क्रिया होती है, वैसे ही नीचे गिरने के साथ धान से चावल अलग करने की भी क्रिया का सम्पादन होता है॥२ ॥

अगले सूत्र में सूत्रकार मूसल का ऊपर उठना समझाते हुए कहते हैं—

(१८५) अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकादकारणम् हस्तसंयोग: ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— अभिघातजे = अभिघात (चोट) द्वारा उत्पन्न होने वाले, कर्मणि = कर्म में, (जो) मुसलादौ = मूसल आदि में (देखा जाता है), (वह), व्यतिरेकात् = अलग प्रकार का होने से, हस्तसंयोग: = मूसल के साथ हाथ के संयोग का, अकारणम् = कारण नहीं माना जाता।

व्याख्या— धान कूटने की प्रक्रिया में जब मूसल का ओखली में अवक्षेपण अर्थात् तीव्र चोट करने का कार्य होता है, निरन्तरता एवं गतिशीलता का वह वेग ही मूसल को ऊपर उठाता है। इसके लिए हाथ को कोई विशेष चेष्टा नहीं करनी होती। मोटर साइकिल एवं रेल इंजनों के चालन रूप कर्म में जिस प्रकार इंजन को गतिशील बनाकर इंजन की गति बन्द कर दिये जाने पर भी मोटर साइकिल चलती रहती है, गति का प्रभाव कम होने पर ही रुकती है। इसी तरह रेल का इंजन अपने तीव्र धक्के से गति देकर छोड़ देता है, डिब्बा दूर तक चलता चला जाता है। साइकिल में भी तेजी से पैडिल मारकर जब गति पैदा कर दी जाती है और तब उससे पैडिल बन्द कर देने पर भी कुछ दूर तक साइकिल का चलना देखा जाता है। ठीक ऐसे ही बार-बार ओखली से अभिघात होने से मूसल में भी गति उत्पन्न हो जाती है। इस तरह मूसल के बार-बार ऊपर उठने में वेग को ही कारण मानना चाहिए॥ ३ ॥

यदि 'वेग' के कारण मूसल बार-बार ऊपर उठता है, तो क्या उस मूसल के साथ हाथ का संयोग होने में भी 'वेग' ही कारण है? जिससे हाथ ऊपर उठा करता है-सूत्रकार ने कहा—

(१८६) तथात्मसंयोगो हस्तकर्मणि ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ— तथा = उसी प्रकार से, हस्तकर्मणि = हाथ के द्वारा होने वाले उत्क्षेपण रूप कार्य में, आत्मसंयोग: = आत्मा के साथ हाथ का संयोग कारण नहीं है।

व्याख्या— गत सूत्र की विवेचना में मूसल उत्क्षेपण क्रिया में हाथ के संयोग को कारण न मानकर 'वेग' को कारण माना जाता है। ठीक उसी तरह हाथ द्वारा जो मूसलयुक्त उत्क्षेपण रूप कर्म किया जाता है, उस उत्क्षेपण की क्रिया में आत्मा का संयोग भी कारण नहीं माना जा सकता। उत्क्षेपण रूप कर्म का संयोग ही हाथ की क्रियाशीलता में गति प्रदान करता है। कुछ विद्वान् उस उत्क्षेपण रूप क्रिया में हाथ का आत्मा के साथ सम्बन्ध होते हुए भी इच्छाशक्ति के अभाव के कारण उस संयोग को उत्क्षेपण क्रिया में कारण नहीं मानते। कुछ मानसिक सम्बन्ध के प्रभाव से उस उत्क्षेपण रूप कर्म को हाथ द्वारा होना बतलाते हैं ॥४ ॥

यहाँ आशंका यह है कि इच्छाशक्ति के अभाव में हाथ किस तरह क्रियाशील होते हैं? सूत्रकार ने बतलाया—

(१८७) अभिघातान्मुसलसंयोगाद्धस्ते कर्म ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ— अभिघातात् = चोट मारने की क्रिया से, मुसलसंयोगात् = हाथ से मूसल के पकड़े जाने रूप संयोग द्वारा, हस्ते = हाथ में उत्पन्न होने वाला, कर्म = उत्क्षेपण रूप क्रिया का होना पाया जाता है।

व्याख्या— धान कूटने की क्रिया में बार-बार मूसल का ओखली में तीव्रतापूर्वक चोट करने से जो गति उत्पन्न होती है, वही मूसल को बारम्बार उछालती रहती है। हाथ द्वारा मूसल को ग्रहण किये रहना ही हस्त मूसल संयोग है। उसमें न तो मन का कोई योगदान रहता है और न ही आत्म प्रयत्न का प्रभाव होना पाया जाता है। धान कूटने वाले उसी क्रिया कालावधि में हास परिहास आदि वार्तालाप भी करते रहते हैं, तो उनका धान कूटना रूप कर्म प्रभावित नहीं होता है। अतएव वेग को ही उक्त कर्म में कारण मानना ठीक है; क्योंकि अभिघात से ही हाथों से गृहीत मूसल गतिशील रहता है ॥ ५ ॥

प्रश्न उठता है कि यदि इस बात को मान लें, मूसल को हाथ पकड़े रहता है, इस कारण हाथ मूसल के साथ गति से ऊपर उठ जाता है; पर देखा व अनुभव किया जाता है कि उक्त क्रिया के सम्पादन में सम्पूर्ण शरीर ही सक्रिय हो जाता है, ऊपर उठ जाता है? इस पर सूत्रकार ने कहा—

(१८८) **आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च ॥ ६ ॥**

सूत्रार्थ— आत्मकर्म = शरीर में उत्पन्न होने वाला कर्म, हस्तसंयोगात् = हाथ के साथ शरीर का संयोग होने के कारण, च = तथा (तीव्र धक्के से होता है।)

व्याख्या— प्रस्तुत सूत्र में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण शरीर (जो आत्मा के प्रयत्न का आश्रय है) के लिए हुआ है। हाथ न केवल शरीर का एक अंग है, अपितु शरीर से संपृक्त भी है। अतएव हाथ जिस समय वेगवान् मूसल की गतिशीलता से क्रियाशील होता है, तो उससे जुड़ा हुआ शरीर उस वेग के कारण ही सक्रिय होता है, हिलता-डुलता रहता है। अत: शरीर के इस हिलने-डुलने आदि कर्म में आत्म प्रयत्न को कारण नहीं माना जा सकता; क्योंकि चेतन शरीर में उत्पन्न होने वाले कर्म का कारण 'वेग' कभी नहीं हो सकता। नीचे-ऊपर गिरने उठने वाले मूसल का वेग हाथ को भी वेगवान् बना देता है, जिसके फलस्वरूप समस्त शरीर में कर्म होना पाया जाता है। रेल का इंजन जब अनेक डिब्बों को अपने साथ जोड़ लेता है, तब इंजन में होने वाली क्रियाशीलता इंजन में जुड़े डिब्बों को भी क्रियाशील बना देती है। जबकि इंजन में कर्म पैदा करने वाली शक्ति 'भाप' का संयोग इंजन के अतिरिक्त अन्य किसी भी डिब्बे से नहीं है, फिर भी कर्म संयोग के कारण सारी बोगियाँ चलती हैं, आगे पीछे होती हैं। वजनदार मूसल के नीचे गिरकर ओखली से टकराकर ऊपर उछलने की क्रिया का 'वेग' ही हाथ व हाथ से जुड़े शरीर को कर्मयुक्त कर देता है॥६॥

अगले सूत्र से सूत्रकार मूसल की अवक्षेपण क्रिया की बात बतलाते हुए कहते हैं—

(१८९) **संयोगाभावेगुरुत्वात्पतनम् ॥ ७ ॥**

सूत्रार्थ— संयोगाभावे = संयोग की स्थिति के अभाव में, गुरुत्वात् = द्रव्य की गुरुता (भारीपने) से, पतनम् = (उस द्रव्य का) नीचे गिरना रूप अवक्षेपण हो जाता है।

व्याख्या— संयोग के न होने का तात्पर्य यह है कि मूसल को ऊपर ले जाते समय, हाथ का सम्बन्ध दृढ़ रहता है तथा अवक्षेपण क्रिया अर्थात् नीचे गिरते समय हाथ मात्र सहारा देता है। प्रयत्न विशेष की आवश्यकता न होने से ही संयोग के अभाव की बात कही गई है। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति मूसल को नीचे गिराने में प्रमुख सहायक होती है। मूसल नियत स्थान ऊखल में ही गिरे, इतने भर के लिए ही हाथ की पकड़ रहती है। इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि मूसल पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से स्वत: नीचे गिर जाता है। उसके अवक्षेपण में हाथ अवरोधक नहीं बनता॥ ७॥

यहाँ आशंका यह उत्पन्न होती है कि मूसल नीचे ही क्यों गिरता है? इधर-उधर भी तो पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण रहता है, वहाँ क्यों नहीं गिरता? सूत्रकार ने बताया—

(१९०) **नोदनविशेषाभावान्नोर्ध्वं न तिर्यग्गमनम् ॥ ८ ॥**

सूत्रार्थ— नोदनविशेष = प्रेरणा विशेष के, अभावात् = न रहने के कारण, न = न तो, ऊर्ध्वम् = ऊपर की ओर, न = और न ही, तिर्यक् = (तिरछी) इधर-उधर को, गमनम् = जाता है।

व्याख्या— जब भी किसी वस्तु को फेंकने का मन बनाकर, उसके लिए दिशा का निर्धारण करके, (उस वस्तु को कहाँ फेंकना है?) शक्तिपूर्वक, चेष्टा सहित क्रिया की जाती है, तब उस वस्तु का प्रक्षेपण हो जाता है। नोदन अर्थात् विशेष प्रेरणा के रहने पर ही वस्तु का प्रक्षेपण ऊपर-नीचे अथवा इधर-उधर को होता है। प्रयत्न से ही मूसल अपने लक्ष्य ओखली में प्रक्षेपित होता है। प्रयत्नपूर्वक शक्ति के साथ सही निशाने की

ओर जब गेंद प्रक्षेपित की जाती है तभी स्टम्प से टकराती है। बिना प्रयत्न के फेंकने पर तो इधर-उधर कहीं भी जा सकती है ॥८॥

प्रेरणा विशेष का भाव एवं अभाव कैसे होता है, इस नोदन विशेष रूपी कर्म की उत्पत्ति किस प्रकार होती है? सूत्रकार ने कहा—

(१९१) प्रयत्नविशेषान्नोदनविशेषः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ— प्रयत्नविशेषात् = प्रयत्न की विशिष्टता से, नोदनविशेषः = प्रेरणा विशेष की उत्पत्ति होती है।

व्याख्या— आत्मा के द्वारा विशेष प्रयत्न किये जाने पर मन के संयोग से जिस विशिष्ट क्रिया की उत्पत्ति होती है, उसे नोदन विशेष कहते हैं। आत्मा (जीवात्मा) शरीर का प्रेरक है तथा मन की प्रेरणा से इन्द्रियों में प्रेरणा उत्पन्न होती है, वही कर्म में परिणत हो जाती है। क्रिया की गति प्रेरणा की शक्ति पर निर्भर रहती है। हमें कोई वस्तु कितनी दूर फेंकनी है, यह अपनी इच्छाशक्ति पर ही आश्रित है ॥९॥

इस नोदन विशेष की क्रिया की उपलब्धि किस रूप में होती है, इसी को सूत्रकार अगले सूत्र में बतलाते हैं—

(१९२) नोदनविशेषादुदसनविशेषः ॥ १० ॥

सूत्रार्थ— नोदनविशेषात् = प्रेरणा की विशिष्टता से, उदसनविशेषः = गति में विशेष उछाल उत्पन्न हो जाता है।

व्याख्या— प्रेरणा की विशिष्टता से ही वेग में उछाल रूप कर्म का सिद्ध होना पाया जाता है। प्रेरणा से हीं गेंद का ऊपर जाना होता है। जिस प्रकार की गति होगी, उसी तरह की ऊँचाई प्राप्त करेगी। भारी व हलकी होने के अनुपात में यदि हलकी वस्तु है, तो वेग के प्रभाव से अधिक ऊपर तथा यदि वस्तु भारी है, तो बड़े प्रयत्न के साथ वेगपूर्वक ही ऊपर जा सकेगी, वह भी अधिक ऊपर नहीं। अतएव यह सिद्ध है कि उदसन विशेष का होना नोदन विशेष से ही होता है ॥१०॥

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि उदसन विशेष अर्थात् उछाल यदि प्रेरणा विशेष (नोदन) से ही हुआ करता है, तो नन्हा बच्चा माता के आँचल में दूध पीते समय तथा अन्य अवसरों पर जो उछल कूद करता दिखाई देता है, क्या वह भी नोदन से ही होता है? सूत्रकार दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं —

(१९३) हस्तकर्मणा दारककर्म व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ— हस्तकर्मणा = हाथ के द्वारा होने वाले कर्म से, दारककर्म = शिशुओं की क्रीड़ा रूप क्रिया का, व्याख्यातम् = ज्ञान कर लेना चाहिए।

व्याख्या— हाथ के द्वारा होने वाले कर्म को समझाने के भाव से शिशुओं की क्रीड़ा रूप सहज क्रिया का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि ऊखल में मूसल का अवक्षेपण होते समय हाथ द्वारा जिस कर्म का सम्पादन किया जाता है, वह संस्कार जन्य होता है। उस कार्य से स्वर्ग-नरक की प्राप्ति कराने में हेतु पुण्य एवं पाप के अवसर नहीं उपस्थित होते। इसी तरह बालक के अंगों से जिस क्रिया का सम्पादन होता है, वह राग-द्वेष से रहित होने के कारण पाप एवं पुण्य से सर्वथा मुक्त होता है। बालक के अंगों का संचालन यद्यपि आत्मप्रेरणा से ही होता है; परन्तु बालक का अन्तःकरण पूर्णतः निर्दोष होने से उसे स्वभावगत सामान्य चेष्टा ही कहा जा सकता है ॥११॥

अगले सूत्र द्वारा सूत्रकार प्रेरणा मात्र से सम्पन्न होने वाले कार्य का दृष्टान्त देते हुए विशेष प्रयत्न से रहित कर्म को बतलाते हैं —

(१९४) तथा दग्धस्य विस्फोटने॥ १२॥

सूत्रार्थ— तथा = उसी तरह, दग्धस्य = जले हुए पदार्थ का, विस्फोटने = विस्फोट (टूट-फूट) होने में (प्रेरणा विशेष नहीं रहती)।

व्याख्या— पत्थर जब अग्नि की गर्मी की अधिकता से अत्यधिक तप जाता है, तो कई टुकड़ों में चटक कर छिटक जाता है। लकड़ी भी जल जाने के पश्चात् टूट जाती है। हवन कुंड में समिधा का जलकर बिखर जाना, इधर-उधर छिटकना आदि कर्म आत्मा के प्रयत्न से नहीं होते तथा उस क्रिया में प्रयत्न का भी सर्वथा अभाव रहता है। पाप अथवा पुण्य के कारण वे कर्म बनते हैं, जिनका सम्पादन दूसरे लोगों को हानि या लाभ पहुँचाने के उद्देश्य से किया जाता है। हिंसा के लिए उतारू किसी हिंसक प्राणी का वध आत्म रक्षार्थ न चाहते हुए भी यदि करना पड़े, तो उस बध रूप कर्म का पाप या पुण्य से कोई प्रयोजन नहीं रहता॥१२॥

प्रयत्न विशेष के अभाव में होने वाले कर्म का अन्य दृष्टान्त देते हुए सूत्रकार का कथन है—

(१९५) यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम्॥ १३॥

सूत्रार्थ— यत्नाभावे = प्रयत्न के न रहते हुए भी, प्रसुप्तस्य = प्रगाढ़ निद्रायुक्त मनुष्य का, चलनम् = पाद चालन आदि कर्म (का होना वायु द्वारा होता है)।

व्याख्या— कभी-कभी देखने में आता है कि तख्त आदि पर सोये हुए मनुष्य निद्रा की प्रगाढ़ता में नीचे गिर जाते हैं। गिरकर पुनः उठकर उसी तख्त पर सो जाते हैं; परन्तु उन्हें यह सब प्रातः उठने पर स्मरण नहीं रहता। इसी प्रकार नींद में उठकर चल देने वालों को भी कुछ स्मरण नहीं रहता, यह समस्त कर्म आत्मा के प्रयत्न के बिना ही सम्पन्न होते हैं; क्योंकि प्रगाढ़ निद्रायुक्त मनुष्य में प्रयत्न का सर्वथा अभाव रहा करता है। उक्त सभी कर्मों के सम्पादन में प्राणवायु ही कारण है॥१३॥

अगले सूत्र द्वारा सूत्रकार वायु एवं कर्म के संयोग का आशय स्पष्ट करते हुए शरीर को छोड़ अन्य स्थल में भी प्रयत्न बिना कार्य का होना बतलाते हैं—

(१९६) तृणे कर्म वायुसंयोगात्॥ १४॥

सूत्रार्थ— तृणे = तिनकों में, कर्म = कर्म का होना, वायुसंयोगात् = वायु के संयोग द्वारा पाया जाता है।

व्याख्या— नन्हें-नन्हें तिनके-घासफूस आदि में गति का दिखाई देना वायु के ही कारण होता है, न कि आत्मा के कारण। समस्त वृक्ष वनस्पतियों में, वायु के संयोग से ही, फलना-फूलना-हिलना डुलना आदि क्रियाओं का होना पाया जाता है। इसी तरह उन्मत्त मनुष्य भी अपने पागलपन के प्रभाव में नाच-कूद, पत्थर मारना आदि कर्म करता रहता है, उसके इस कर्म में आत्मा की कोई भूमिका नहीं रहती। उन्मत्त व्यक्ति द्वारा की जाने वाली उक्त क्रियाओं में उन्मत्तता हेतु है तथा इससे वह पाप-पुण्य का भागी भी नहीं होता। पूर्वकृत पाप का ही फल वह पागलपन के रूप में भुगत रहा होता है। अतएव जड़ पदार्थ का कर्म सम्पन्न होना, वायु के माध्यम से होता है। इसी तरह अचेतन शरीर में क्रिया का होना भी वायु द्वारा ही सिद्ध है॥१४॥

अगले सूत्र में सूत्रकार कुछ ऐसी क्रियाओं का होना बतलाते हैं, जहाँ न तो कोई प्रयत्न हेतु हैं और न ही कोई दूसरे पदार्थ- जैसे लोहे के साथ चुम्बक आदि।

(१९७) मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमित्यदृष्टकारणकम्॥ १५॥

सूत्रार्थ— मणिगमनम् = मणि का गतिशील होना, सूच्यभिसर्पणम् = सुई का चुम्बक की ओर सरकना, अदृष्टकारणम् = अदृष्ट कारण द्वारा होता है।

व्याख्या— लोहे का चुम्बक की ओर आकृष्ट होने में जो आकर्षण शक्ति 'हेतु' है, वह प्रत्यक्ष दृष्टि में नहीं आती। पूर्व जन्मों के कर्म भी दिखाई नहीं देते; परन्तु वे पूर्व जन्मों के कर्म अपने कर्त्ता तक भोग रूप में ईश्वर के न्यायानुसार आकर्षित होकर पहुँच जाते हैं। जीवात्मा को उसके लिए कोई भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता। भोगों को कर्त्ता तक पहुँचाने में आकर्षणशक्ति रूप अदृष्ट कारण का होना इस तरह से सिद्ध हो जाता है ॥१५॥

यहाँ प्रश्न यह है कि हाथ द्वारा पत्थर, गेंद आदि का फेंका जाना तथा तीर का धनुष द्वारा छोड़ा जाना आदि में, जो उत्क्षेपण रूप कर्म तथा अवक्षेपण क्रिया अर्थात् गेंद, पत्थर, तीर आदि का ऊपर जाना तथा नीचे गिरने वाली जो प्रक्रिया है यह एक ही तरह का कर्म है अथवा दो तरह का ? सूत्रकार ने समझाया—

(१९८) इषावयुगपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वेहेतुः ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ— इषौ = धनुष की प्रत्यंचा द्वारा छोड़ा हुआ बाण, अयुगपत् = क्रम के अनुसार अनेक समयों में, संयोग-विशेषाः = विशेष संयोग की उपलब्धि, कर्मान्यत्वे = कर्म की भिन्नता में, हेतुः = कारण है।

व्याख्या— धनुष की प्रत्यंचा द्वारा जब बाण निकलता है, तो बाण में संव्याप्त गति रूप क्रिया शक्ति विभिन्न कर्मों का सम्पादन करती देखी जाती है। पेड़ के अनेक पत्तों को छेदता हुआ, डाली आदि से टकराकर बाण द्वारा नीचे गिरने रूप अनेकों कर्मों का होना संयोग विशेष के प्राप्त होने के कारण पाया जाता है। आशय यह है कि यदि धनुष से छोड़ा गया बाण पेड़ पर लगे फल का वेधन रूप लक्ष्य प्राप्त करने हेतु गतिमान् है और वर्तमान में ऐसा कोई अवरोध भी प्रत्यक्ष नहीं है, जिससे लक्ष्य प्राप्ति में बाधा हो, तो उसी बीच यदि कोई पक्षी अचानक उड़ता हुआ बाण से टकरा जाय तथा बाण लक्ष्य तक न जाकर नीचे गिर जाय, तो इसे संयोग ही कहना चाहिए। बाण चलाने वाले धनुर्धर की आत्मा, उसका मन तथा उसके हाथ एवं धुनष की प्रत्यंचा, ये चार ही कारण बाण के चलने में प्रत्यक्ष हैं। इन सबके अलावा जितने भी कर्मों का उत्पन्न होना तथा बाण का टकराकर गिरनाआदि की सिद्धि में संयोग ही कारण है। अतएव अनेकों संयोगों के होने से कर्मों की अनेकता प्रमाणित हो जाती है ॥१६॥

प्रश्न यह उठता है कि बाण के गिरते ही उसके वेग के विनष्ट हो जाने से कर्म की भी विनष्टता देखी जाती है, तो क्या बाण द्वारा कर्म की उत्पत्ति पुनः हो जाती है ? सूत्रकार ने कहा-

(१९९) नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरं च ॥१७॥

सूत्रार्थ— नोदनात् = प्रेरणा विशेष के द्वारा, इषोः = बाण का, आद्यम् = सर्वप्रथम, कर्म = कार्य का प्रारंभ होता है, तत्कर्मकारितात् = उस प्रथम कर्म के कर्त्तापन भावों से, च = और, संस्कारात् = वेग नामक संस्कारों से, उत्तरम् = उस प्रथम कर्म के अनन्तर अगला कर्म, तथा = उसी तरह, उत्तरम् = उससे अगला कर्म, उत्तरम् = और भी आगे का कर्म, च = और भी।

व्याख्या— बाण का प्रथम कर्म जो धनुष की प्रत्यंचा से छूटते ही उससे अलग होना होता है, वह अन्तरात्मा की प्रेरणा से सम्पन्न होता है। उस पहले वाले कर्म में तीव्र धक्के के कारण 'वेग' नाम वाले संस्कार की उत्पत्ति हो जाती है और यही वेग बाण में समाहित होकर लक्ष्य की ओर निरन्तर अग्रसर रहता है। एक के बाद एक कर्म अपने पिछले कर्मों के कारण उत्पन्न होते रहते हैं, जिससे बाण की गतिशीलता बनी रहती है।

निर्धारित लक्ष्य को बेधन ही बाण का कर्म है। ऐसा सोचकर ही बाण चलाया जाता है; परन्तु वेग नामक संस्कार के कारण वेधने योग्य चीजों के संयोग से और भी कर्मों का होना पाया गया तथा वेग के प्रतिहत हो जाने से लक्ष्य तक न पहुँचना रूप कर्म का उत्पन्न होना तथा नीचे गिरने रूप अन्य कर्मों का उत्पन्न होना भी हुआ। अन्त समय तक वही वेग संस्कार कर्मों की उत्पत्ति में कारण बना रहता है। अत: कर्मों की उत्पत्ति सर्वथा मान्य है ॥१७॥

आशंका होती है कि 'वेग' संस्कार से जब निरन्तर कर्म होता रहता है, तो एक के बाद दूसरा फिर तीसरा कर्म करते हुए बाण को लक्ष्य तक पहुँच जाना चाहिए; परन्तु बाण नहीं पहुँचता और यदि पहुँच भी जाता है, तो भी नीचे गिर पड़ता है- क्यों ? सूत्रकार ने समझाते हुए कहा—

(२००) संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम्॥ १८ ॥

सूत्रार्थ— संस्काराभावे = संस्कार के न रहने के कारण, गुरुत्वात् = (बाण में) भारीपन होने से, पतनम् = (बाण) गिर जाता है।

व्याख्या— वजनदार भारी वस्तुओं का हलकी-फुलकी वस्तुओं की अपेक्षा नीचे की ओर गिरने में, पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण कम समय का लगना देखा जाता है। बाण में जो वेग नामक संस्कार रहता है, वही पृथिवी की इस गुरुत्वाकर्षण शक्ति से बचाये रहता है। वेग के समाप्त होते ही पृथिवी अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। आकाश में हवाई जहाज इंजन के तीव्र वेग से उड़ता चला जाता है; परन्तु इंजन के खराब होने पर नीचे आ जाता है। इसमें पृथिवी की गुरुत्वाकर्षण की शक्ति इंजन की गतिहीनता के कारण ही हवाई जहाज को आकर्षित कर लेती है ॥१८॥

॥ इति पञ्चमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ॥

॥ अथ पञ्चमाध्याये द्वितीयाह्निकम् ॥

कर्म परीक्षण विषयक विवेचन के अन्तर्गत अब अगले क्रम में सूत्रकार पृथिवी आदि से उत्पन्न होने वाले कर्मों का परीक्षण करने के उद्देश्य से प्रस्तुत सूत्र द्वारा कथन करते हैं—

(२०१) नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— नोदनाभिघातात् = प्रेरणा विशेष द्वारा चोट पड़ने से, च = तथा, संयुक्तसंयोगात् = संयुक्त पदार्थों के संयोग द्वारा, पृथिव्याम् = पृथिवी में, कर्म = कर्म (उत्पन्न होता है)।

व्याख्या— पृथिवी में कर्म का उत्पन्न होना, प्रेरणा विशेष से तथा विभिन्न पदार्थों के संयोग से पाया जाता है। संयुक्त संयोग अर्थात् विभिन्न द्रव्यों का संयोग तथा प्रेरणा विशेष (जो परमात्मा द्वारा दी जाती है) से ही पृथिवी निरन्तर सूर्य की परिक्रमा करती रहती है। ''व्याप्तं येन चराचरम्'' से अचेतन पृथिवी में गतिशीलता तथा भूकम्प आदि के होने में उस परमात्मा की विशेष प्रेरणा ही कार्य करती है। सर्वत्र संव्याप्त परमात्मा से ही जड़ पदार्थ रूप पृथिवी तथा समस्त ग्रह-नक्षत्र प्रेरित होकर क्रियाशील हैं। अतएव दैवी संयोजना एवं विभिन्न विस्फोटक द्रव्यों के टकराने से ही भूकम्पादि कर्म पृथिवी में परिलक्षित होते हैं ॥१ ॥

पृथिवी में होने वाली अन्य क्रियाओं की विवेचनात्मक अभिव्यक्ति में अग्रिम सूत्र प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार का कथन है—

(२०२) तद्विशेषेणादृष्टकारितम् ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— तद्विशेषेण = उस पृथिवी में पायी जाने वाली विशेषता से, (पृथिवी में होने वाले भूकम्प आदि कर्म) अदृष्टकारितम् = अदृष्ट (परमात्मा) का ही कार्य मानना चाहिए।

व्याख्या— निरन्तर सूर्य की परिक्रमा रूप कर्म अपनी धुरी पर घूमते हुए पृथिवी द्वारा गति किये जाते हुए भी आँखों द्वारा देखा नहीं जाता। इसी प्रकार भूकम्प आदि में भी अनुभव ही होता है, प्रत्यक्ष नहीं। पृथिवी में होने वाली उक्त क्रियायें ही उसके अदृश्य कर्म हैं। ईश्वर की अदृश्य सत्ता ही प्रेरणा देकर उक्त कर्मों का सम्पादन करती है। भूकम्प आदि विनाशकारी कर्मों से यदि प्राणी कष्ट पाता है, तो इसे उस प्राणी का प्रारब्ध ही मानना चाहिए। ईश्वर ही कर्मफल का भोग उक्त भूकम्प आदि के द्वारा प्रदान करता है। समस्त जीवों के पाप-पुण्य रूप कर्मों के फल को देने वाली वही अदृष्ट ईश्वरीय सत्ता है ॥२ ॥

पृथिवी में होने वाले कर्मों के परीक्षण के पश्चात् अब जल के परीक्षण के लिए सूत्रकार अग्रिम सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

(२०३) अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— अपाम् = पानी का, गुरुत्वात् = भारी होने से, संयोगाभावे = संयोग न होने के कारण, पतनम् = गिरना (नीचे की ओर) पाया जाता है।

व्याख्या— बादलों द्वारा बरसाये जाते हुए जल का भारी होने तथा बीच में संयोग का अभाव होने से धरती पर गिरना देखा जाता है। आशय यह है कि पानी बरसता है, तो पृथिवी की आकर्षण शक्ति उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है बीच में मकानों की छतें आदि का संयोग होने पर भी जल परनालों व अन्य सुराखों द्वारा पृथिवी पर ही आ जाता है तथा ढलान पाकर बहते-बहते गड्ढे, तालाब, नदी आदि में समाहित होकर गतिशील बना रहता है ॥३ ॥

अगले सूत्र से सूत्रकार जल का बहना क्यों होता है ? समझाते हुए कहते हैं—

(२०४) द्रवत्वात् स्यन्दनम् ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ— द्रवत्वात् = द्रव (पतला एवं गीला) होने से, स्यन्दनम् = नीचे की ओर जल का बहना होता है।

व्याख्या— जितने भी तरल पदार्थ होते हैं, उन सबका बहना देखा जा सकता है। लोहा भी जब द्रवत्व गुण से सम्पन्न हो जाता है, तब वह भी बहने लगता है। घृत आदि भी गरमाये जाने पर बहने लगता है। इसी प्रकार जल भी है। परस्पर समवेत होकर बूँदें धारा के रूप में परिवर्तित होकर ढलान की ओर सरकने लगती हैं, इसे ही स्यन्दन अर्थात् बहना कहा जाता है। बूँद एवं बूँद के समवाय से जल को भी समवायि कहा जाता है तथा स्यन्दन अर्थात् बहने रूप कर्म को असमवायि कहते हैं। नीचे गिरने में जल की गुरुता ही उसका निमित्तकारण तथा स्यन्दन अर्थात् बहने में द्रवत्व ही हेतु माना गया है। जहाँ-जहाँ द्रवत्व का होना निश्चित है, वहाँ स्यन्दन का होना भी सुनिश्चित है ॥४॥

प्रश्न यह है कि जल नीचे ही गिरता है। भारीपने एवं पृथिवी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण नीचे की ओर ही उसका प्रवाह है, फिर ऊपर आकाश में उसका होना कैसे संभव है? सूत्रकार ने बताया—

(२०५) नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम् ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ— नाड्यः = तेजस्वी सूर्य की किरणों, (तथा) वायुसंयोगात् = वायु के संयोग से (जल का), आरोहणम् = ऊपर की ओर (आकाश में) चढ़ना होता है।

व्याख्या— सूर्य की किरणें पृथिवी के जल को अपने उष्ण संयोग से वाष्प में परिणत कर वायु के साथ आकाश में ऊपर की ओर चढ़ा ले जाती हैं। प्रखर सूर्य की वे तेजस्वी किरणें, जब अपनी उष्णता नष्ट कर देती हैं, तब वायु के साथ उनका सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, तभी वर्षा रूपी जल नीचे बरसने लगता है। यद्यपि पानी नीचे की ओर ही प्रवाहित होता है; परन्तु सूर्य की रश्मियाँ वायु के साथ उसे अन्तरिक्ष में स्थापित कर देती हैं, यह सिद्ध होता है ॥५॥

यहाँ यह आशंका उत्पन्न होती है कि बिजली के पम्प, पिचकारी आदि से भी तो जल ऊपर चढ़ जाता है, क्या यह जल का आरोहण नहीं है? सूर्य की किरणों द्वारा जल का आरोहण कैसे होता है? सूत्रकार ने समझाया—

(२०६) नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ— नोदनापीडनात् = वायु की प्रेरणा विशेष व दबाव द्वारा, च = और, संयुक्तसंयोगात् = संयुक्त द्रव्य संयोग से (जल ऊर्ध्वगामी होता है)।

व्याख्या— बलवान् वायु द्वारा अपने प्रचण्ड वेग से दबाव बनाकर जल की बूँदों को नन्हें-नन्हें कणों में विभाजित करने पर सूर्य की रश्मियाँ वायु से संयुक्त होकर जल कणों को ऊपर उड़ा ले जाती हैं। यही कारण है कि गर्मी के दिनों में जलाशयों एवं नदी-नालों में पानी सूखकर बहुत कम रह जाता है। तेज हवा से जब पानी की लहरें आपस में टकराती हैं, तो उनमें उछाल आता है और तभी सूर्य की रश्मियाँ जल कणों को आत्मसात् करके ऊपर खींच ले जाती हैं। आग के संयोग से जल की उष्णता अत्यधिक बढ़ने पर भाप का ऊपर की ओर जाना प्रत्यक्ष है ही ॥६॥

यहाँ प्रश्न उठता है, जो पानी पेड़-पौधों की जड़ों में डाला जाता है, वह उन वृक्षों में से होता हुआ ऊपर चोटी तक किस प्रकार पहुँच जाता है? सूत्रकार ने समझाया—

(२०७) वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ— वृक्षाभिसर्पणम् = सम्पूर्ण वृक्ष में पानी का ऊपर की तरफ चढ़ना, इति = इस प्रकार, अदृष्टकारितम् = अदृष्ट कारण से ही पाया जाता है।

व्याख्या— जड़-चेतन, चर-अचर में संव्याप्त परमात्मा की प्राण चेतना वृक्ष-वनस्पतियों में भी

समाहित है। वही परमात्मा जड़-मूल में डाले गये जल को प्रेरित करके हर एक डाली एवं पत्ते तक पहुँचाता है। अपने नियम के अनुसार वही कर्मानुरूप भोगफल को देता रहता है। अदृष्ट-रहकर वह सदैव प्रेरणा स्रोत बन समस्त स्थावर-जंगम में क्रिया रूप से परिलक्षित होता रहता है। वृक्षों का बढ़ना, फलना-फूलना, हरा-भरा रहना ईश्वर की अदृष्ट प्रेरणा पर ही आधारित है॥ ७॥

आशंका होती है कि द्रवीभूत होना गीला एवं पतला होना जल का स्वाभाविक गुण है, तो फिर उसका बर्फ के रूप में जम जाना तथा फिर पिघलने लगना आदि कर्म कैसे हो जाता है? सूत्रकार ने समाधान देते हुए बताया—

(२०८) अपां संघातो विलयनं च तेजः संयोगात्॥ ८॥

सूत्रार्थ— अपाम् = पानी का, संघातः = जमकर बर्फ बन जाना, च = तथा, विलयनम् = गलने व पतला होने में, तेजः संयोगात् = तेज का संयोग होना पाया जाता है।

व्याख्या— पानी के जम जाने, बर्फ बनने और फिर गलकर पतला होने में जो कर्म प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं, वे तेज के संयोग से हैं। बिजली द्वारा अवरुद्ध जल के परमाणु द्वयणुक में पतलापन पैदा नहीं होने देते, परिणाम स्वरूप वे द्वयणुक परस्पर मिलकर बर्फ अथवा ओलों का स्वरूप धारण कर लेते हैं। वही बर्फ अथवा ओले गर्मी पाकर पुनः पिघल कर जल रूप में परिणत हो जाते हैं। जल को जमा देने वाले परमाणु तेज के प्रखर प्रभाव से विरहित होने पर बर्फ के आकार में जम जाते हैं तथा उसी तेज के प्रखर प्रभाव के संयोग से पिघल कर बह जाते हैं। दोनों क्रियाओं में 'तेज' ही कारण है॥ ८॥

प्रश्न उठता है कि आकाश में किस कारण से तेज का संयोग पाकर जल-बर्फ, ओले आदि में परिणत हो जाता है? सूत्रकार ने कहा—

(२०९) तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम्॥ ९॥

सूत्रार्थ— तत्र = उसमें (आकाश में जो जल से युक्त बादल है), विस्फूर्जथुः = बिजली की कड़क एवं उसका चमकना ही, लिङ्गम् = कारण रूप प्रमाण है।

व्याख्या— आकाश स्थित मेघ मण्डलों में बिजली की चमक, उसका कौंधना तथा कड़कना, चटचटाना ही जल के साथ तेज के संयोग में प्रमाण है। यदि यह तेज अन्तरिक्ष में विद्यमान न होता, तो बिजली कैसे चमक सकती थी, अतएव आकाश स्थित जल युक्त मेघ समूह में ओलों, बर्फ आदि का बनना, जल के साथ तेज के संयोग की सिद्धि में प्रमाण है। बिजली रूपी उक्त तेज ही जल को जमाने एवं पिघलाने में कारण है, ऐसा मानना चाहिए॥ ९॥

उपर्युक्त कथन की सिद्धि में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार अगले सूत्र से कथन करते हैं—

(२१०) वैदिकं च ॥ १०॥

सूत्रार्थ— च = तथा, वैदिकम् = वेदों में भी इसके प्रमाण प्राप्त हैं।

व्याख्या— वैदिक प्रमाणों से भी तेज के साथ जल के संयोग की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। यजुर्वेद (१२-३६) का मन्त्र "**गर्भोऽस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनां गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि**", तैत्तरीय संहिता ५/१/५/८ का मन्त्र "**अप्सु योनिर्वा अग्निः**" आदि प्रमाण शब्द के रूप में उपलब्ध होते हैं। सामवेद में भी "**अग्निर्मूर्धादिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्। अपाꣳ रेताꣳसि जिन्वति।**" (शुक्लयजुर्वेद ३/१२) का मन्त्र जो अग्नि की स्तुति में प्रयुक्त हुआ है, प्रमाण है॥१०॥

अगले सूत्र द्वारा सूत्रकार बिजली का कड़कना एवं उसकी उत्पत्ति की बात बतलाते हुए कहते हैं—

(२११) अपां संयोगाद् विभागाच्च स्तनयित्नोः॥ ११॥

सूत्रार्थ— अपाम् = तेज से आविष्ट जलों के, संयोगात् = पारस्परिक संयोग से, च = तथा,

वभागात् = विभक्त हो जाने से, स्तनयित्नोः = बिजली का कड़कना एवं चमकना देखा जाता है।

व्याख्या— जलापूरित सघन मेघ- मण्डल वायु द्वारा जब वेगपूर्वक इधर से उधर सम्प्रेषित किये जाते हैं, तो उनकी टकराहट रूप संयोग एवं अभिघात जन्य विखण्डन से गड़गड़ाहट तथा बिजली का उत्पन्न होना पाया जाता है। अतिशय संघर्षण से अग्नि की उत्पत्ति हो जाती है, जैसे अरणि- मन्थन से यज्ञाग्नि का उत्पन्न होना, पत्थर से पत्थर की रगड़ द्वारा चिनगारी छूटना, इंजनों में लाइनर-पिस्टन की घर्षणात्मक क्रिया द्वारा आग की उत्पत्ति आदि उदाहरणों के समान ही बादलों के संयोग एवं विभाग से ही गर्जना रूपी शब्द तथा बिजली का कौंधना रूप कर्म का होना सिद्ध होता है॥११॥

अगले सूत्र द्वारा सूत्रकार पृथिवी एवं जल की ही भाँति अग्नि तथा वायु के कर्मों की विवेचनात्मक अभिव्यक्ति प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

(२१२) पृथिवीकर्मणा तेजः कर्म वायुकर्म च व्याख्यातम्॥ १२॥

सूत्रार्थ— पृथिवीकर्मणा = पृथिवी के प्रत्यक्ष कर्मों के समान, तेजः कर्म = अग्नि द्वारा होने वाले कार्य, च = तथा, वायुकर्म = वायु के कार्य, व्याख्यातम् = बतलाये गये हैं।

व्याख्या— पृथिव्यादि में होने वाले भूकम्प आदि कार्य, जिस तरह ईश्वरीय प्रेरणा द्वारा जीवों के कर्मफल को ध्यान में रखकर सम्पन्न होते हैं, वैसे ही अदृष्ट ईश्वरीय प्रेरणा के वशीभूत प्राणियों के कर्मों के भोगरूप फल को उपलब्ध कराने हेतु तेज अर्थात् अग्नि का प्रकोप देखने में आता है। गाँवों में आग लगती है, तो कहीं तो कुछ भी नहीं बचता और कहीं मामूली-सी हानि होती है। इसी तरह वायु के भी कर्म उक्त ईश्वरीय अदृष्ट सत्ता की प्रेरणा से ही भयंकर आँधी-तूफान का प्रकोप कहीं बड़े-बड़े महा वृक्षों का जड़मूल सहित उखड़ जाना तथा घर-मकानों का उजड़ जाना और कहीं-कहीं हलका-फुलका नुकसान की ही स्थिति कर्मफल के प्रदाता ईश्वर की प्रेरणा से ही विनिर्मित होती है, जो कारण रूप मानी जाती है॥ १२॥

एक प्रश्न यह है कि अग्नि की ऊर्ध्वगामिता (जलने पर ऊपर की ही ओर उठना), वायु की अस्थिरता (हिलना-डुलना रूप कर्म) यह सब तथा मन की सक्रियता रूप कर्मों का प्रत्यक्ष न होना अदृष्टकारित माना जाय? सूत्रकार ने स्वयं कहा—

(२१३) अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम्॥ १३॥

सूत्रार्थ— अग्नेः = अग्नि का, ऊर्ध्वज्वलनम् = ऊपर की ओर प्रज्वलित होना, वायोः = वायु का, तिर्यक्पवनम् = आड़ा-तिरछा चलना, अणूनाम् = अणुओं-परमाणुओं का, च = तथा, मनसः = मन का, आद्यम् = प्रारम्भिक, कर्म = कार्य, अदृष्टकारितम् = अदृष्ट सत्ता द्वारा किया हुआ है (ऐसा मानना चाहिए)।

व्याख्या— प्रज्वलन होते ही अग्नि की ऊर्ध्वगमन रूप क्रिया, वायु की मन्दतर एवं तीव्रतर गति, उसकी आड़ी-तिरछी स्वभावगत गमनशीलता आदि कर्म तथा अणुओं-परमाणुओं एवं मन की पूर्व क्रियायें अदृष्ट के ही कृत्य मानने चाहिए। उपर्युक्त समस्त कर्म, प्राणियों को अदृश्य कर्मफल भोग प्रदान करने हेतु परमात्मा की अदृष्ट सत्ता के ही संयोजना के परिणाम रूप हैं। वही इन समस्त भूतों में अपनी प्रेरणा से कर्म की उत्पत्ति करके सभी कर्मों का विधिवत् संचालक है। अग्नि को जलाना (अरणि मन्थन अथवा पदार्थ विशेष) मनुष्य के वश में अवश्य है; परन्तु उसकी ऊर्ध्वगामिता में परमात्म प्रेरणा ही कारण है। मनुष्य के हजार प्रयत्न भी अग्नि की लौ को निम्नगामी नहीं बना सकते। पदार्थ के स्वाभाविक गुण नहीं मिटाये जा सकते। अग्नि की लपटों से यदि किन्हीं के तन अथवा धन सम्पत्ति की क्षति होती है, तो उसे पूर्वजन्म कृत कर्मों के ही परिणाम समझना चाहिए, जो अदृष्ट परमात्मा की प्रेरणा से मिल रहा है। इसी तरह वायु के कर्मों को भी समझ लेना चाहिए, अणु-परमाणु तथा मन के कर्मों को भी जानना चाहिए॥१३॥

मन के कर्मों का होना समझ में नहीं आ रहा, कैसे कहा जा सकता है कि यह मन से होने वाला कार्य है? किसकी प्रेरणा से होते हैं? सूत्रकार ने प्रमाण देकर समझाया—

(२१४) हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम्॥ १४॥

सूत्रार्थ— हस्तकर्मणा = हाथों के द्वारा सम्पन्न होने वाले कर्म से (ही), मनसः = मन की, कर्म = क्रिया, व्याख्यातम् = का कथन किया गया है।

व्याख्या— पूर्व विवेचन में यह व्यक्त हो चुका है कि जिस प्रकार आत्मा (जीवात्मा) से प्रेरित होकर हस्त आदि कर्मेन्द्रियाँ कर्म सम्पादन में तत्पर होती हैं, उसी प्रकार मन भी आत्मा से ही संचालित है। मन विभु न होकर अणु होने के कारण एक से अधिक इन्द्रियों का ज्ञान एक ही काल में नहीं प्राप्त कर सकता। सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त न होने से जिस सुख के विषय में लिप्त होता है,उस समय दुःखादि से अनजान रहता है। दुःखादि विषयों में अनुरक्त होने पर सुखादि से पूर्ण रूपेण अनभिज्ञ रहा करता है। मन के संयोग के बिना इन्द्रियाँ निष्क्रिय रहती हैं। अतएव यदि मन में कर्म का अभाव हो, तो सुख-दुःखादि के ज्ञान का भी सर्वदा अभाव ही रहेगा; क्योंकि जब तक मन का संयोग इन्द्रियों के साथ न हो, तब तक इन्द्रियों द्वारा कोई भी विषय ग्राह्य नहीं होता। मन में कर्म उत्पन्न हुआ, हस्तरूप कर्मेन्द्रिय से उसका संयोग हुआ, हाथ भोजन की थाली की ओर बढ़ा, इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि मन में कर्म का होना तथा उसी कर्म से सुख-दुःखादि का ज्ञान प्राप्त होता है॥१४॥

आत्मा की प्रेरणा से हाथ द्वारा सम्पन्न कर्म की भाँति ही क्या मानसिक कर्म भी प्रमाणित है? आगे के सूत्र द्वारा सूत्रकार समझाते हैं—

(२१५) आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे॥ १५॥

सूत्रार्थ— आत्मेन्द्रिय = जीवात्मा एवं इन्द्रियों (तथा), मनोऽर्थ = मन और विषयों के, सन्निकर्षात् = पारस्परिक स्पर्शादि सन्निकर्ष द्वारा, सुख-दुःखे = सुख व दुःख की अनुभूति होती है।

व्याख्या— जीवात्मा जिस समय इन्द्रियों के सम्पर्क में रहता है, तभी मन भी इन्द्रियों को प्रेरित करके उन्हें सक्रिय करता है और वे इन्द्रियाँ जब विषयों से संयोग स्थापित करके उनमें अनुरक्त हो जाती हैं, तो उसके परिणाम स्वरूप ही सुख-दुःखादि का अनुभव आत्मा द्वारा किया जाता है। इसके विपरीत जब विषयों की ओर से मन अध्यात्म ज्ञान द्वारा हटा लिया जाता है, या मन स्वतः ऊबकर विषयों की तरफ से उदासीन हो जाता है और समस्त इन्द्रियों की ओर से मुँह मोड़कर आत्म सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, उस समय वह उन गुणों से रहित हो जाता है, जो उसे कर्म में नियोजित करने वाले होते हैं। समस्त क्रिया-कलापों से विरक्त मन की वह ध्यानावस्थित स्थिति रहती है, जिसमें योगीजन शान्तिपूर्वक विश्राम करते हैं। इस प्रकार की योग की अवस्था में मानसिक कर्मों से उत्पन्न सुख-दुःखादि की लेशमात्र छाया तक नहीं रहती। सारा खेल मन का ही है, कभी-कभी आँखों से देखते हुए भी न देखने जैसी स्थिति हो जाती है। जिसकी प्रतीक्षा में खड़े होते हैं, वही व्यक्ति जब आकर टोकता है, तब ध्यान उसकी ओर होता है आदि। मन की गतिशीलता एवं चंचलता इसी से प्रसिद्ध है। अतएव मन में कर्म का रहना उक्त विवेचन से भी मान्य है॥१५॥

मनोनिग्रह के बिना ध्यान का लाभ संभव नहीं, मन की चंचलता से जीवात्मा को मोक्ष लाभ किस प्रकार हो सकेगा तथा उपर्युक्त सूत्र के कहने का आशय क्या है? आदि आशंकाओं के समाधान हेतु अगला सूत्र प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार का कथन है—

(२१६) तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः संयोगः॥ १६॥

सूत्रार्थ— तदनारम्भे = उस समय इन्द्रियाँ उन विषयों में अनुरक्त होना प्रारम्भ नहीं करती, (जब)

मनसि = मन की सत्ता, आत्मस्थे = आत्मस्थित हो जाती है, (तब) शरीरस्य = शरीर के (अनुभव में आने वाले), दु:खाभाव: = दु:खों के अभाव की, स: = वह स्थिति ही, योग: = योग कहलाती है।

व्याख्या— मन जब आत्मा में पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो जाता है, तब वह समस्त इन्द्रियों से सम्बन्ध विच्छेद करके विषय सुखों की अभिलाषा से रहित एक मात्र आत्मा में ही अनुरक्त रहता है, इसी अवस्था को योग का नाम दिया गया है। आत्मज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक योगीजन अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटाकर मन से आत्मचिन्तन करते हुए मन को आत्मा में स्थित करके ही अपनी योग-सिद्धि करते हैं। शरीर को जो दु:खादि प्राप्त होते हैं, उसका कारण इन्द्रिय से संयुक्त मन ही है। विषयों की ओर से मन व इन्द्रियों को हटाने में सुख की अनुभूति होती है, उससे लिपटे रहने में दु:ख है ॥१६॥

प्रश्न उठता है— शरीर से आत्मचेतना के निकल जाने पर शरीर, मन व इन्द्रियों से रहित 'शव' में परिणत हो जाता है। उस समय मन एवं इन्द्रियों का कार्य, प्रारब्ध, संस्कार जन्य क्रियाओं के फलस्वरूप पुनर्जन्म आदि का प्रयत्न के बिना कैसे होना पाया जाता है—

(२१७) अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्य दृष्टकारितानि ॥१७॥

सूत्रार्थ— अपसर्पणम् = पूर्व में प्राप्त शरीर से जीवात्मा तथा मन व इन्द्रिय का बहिर्गमन, उपसर्पणम् = समीपस्थ हो जाना, अशितपीतसंयोगा: = खाद्य एवं पेय पदार्थों के संयोग से सम्पन्न होने वाले क्रिया-कलाप, च = तथा, कार्यान्तरसंयोगा: = अन्य इन्द्रिय एवं प्राण आदि के संयोग से सम्पन्न होने वाले क्रिया-कलाप, इति = आदि ये सब, अदृष्टकारितान् = अदृष्ट द्वारा संचालित होते हैं।

व्याख्या— सामान्य बोलचाल की भाषा में जिसे 'मरना' अथवा 'स्वर्गवास' आदि कहा जाता है, यह वह स्थिति होती है, जिसमें जीवात्मा, मन तथा इन्द्रियाँ शरीर को त्याग कर बाहर निकल जाते हैं। पुन: नया शरीर प्राप्त करने के उद्देश्य से रज-वीर्य आदि में संयुक्त होकर गर्भगृह में प्रविष्ट हो जाते हैं। वहाँ माता के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले अन्न-जल का संयोग पाकर विकसित होते हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में जितने भी कर्म सम्पादित होते हैं तथा जो भी कार्य अन्य इन्द्रिय एवं प्राण आदि के संयोग से कर्मानुसार नव शरीर की उपलब्धि हेतु आत्मा एवं मन का संयोग व उससे विशेष योनि की प्राप्ति आदि सब कुछ प्रारब्धवश अदृष्ट की सत्ता से ही होता है। जीवात्मा अपने पूर्व शरीर में स्थित रहकर जैसा कर्म करता है, उसी के कर्मफल से नई योनि में प्रविष्ट होकर ईश्वरीय न्याय विधान के अन्तर्गत सुख एवं दु:ख को भोगता है। अदृष्टकारित कथन से यही आशय स्पष्ट होता है ॥१७॥

जिज्ञासा होती है कि यदि अदृष्ट द्वारा कर्मफल के विधान से जीव का जन्म लेना एवं मरना निरन्तर चलता रहता है, तो मुक्ति की बात कैसे कही जाती है? सूत्रकार ने कहा—

(२१८) तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्ष: ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ— तदभावे = उस (त्याग एवं ग्रहण रूप कर्म) के अभाव में, संयोगाभाव: = संयोग का न होना (शरीर के साथ आत्मा का) होता है, च = और , अप्रादुर्भाव: = जन्म लेना नहीं होता है, मोक्ष: = यही मोक्ष है, ऐसा जानना चाहिए।

व्याख्या— आत्मा में जब तक मिथ्याज्ञान की स्थिति बनी रहती है, तब तक जन्म व मरण के चक्र से वह मुक्त नहीं हो पाता। संशयरहित ज्ञान की निश्चयात्मक अवस्था में जब आत्मा स्थित हो जाता है, तो उससे मिथ्याज्ञान रूपी राग-द्वेष विनष्ट हो जाते हैं, जिसके कारण सूक्ष्म शरीर से भी आत्मा का सम्बन्ध नहीं रह जाता। अदृष्ट कर्म भी फल भोग सहित नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार उस 'कारण' की ही समाप्ति हो जाती है, जिससे जन्म-मरण रूप कार्य उत्पन्न हो सके। उस 'कारण' का संयोग न होने से एक शरीर से दूसरे शरीर में

प्रविष्ट होने की प्रक्रिया का न होना ही मुक्ति अर्थात् मोक्ष है ॥१८॥

प्रश्न है-तम अर्थात् अंधकार में भी कर्म का रहना होता है, परछाईं में भी गतिशीलता देखी जाती है, जबकि परछाईं में न तो आत्मा की प्रेरणा है और न मन तथा इन्द्रियों की। न तो उसमें भारीपन है, न ही हलकापन, न ही द्रवत्व तथा संस्कारादि; फिर भी वह कर्म करती देखी जाती है, क्यों ? सूत्रकार ने समझाया—

(२१९) द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ— द्रव्यगुणकर्म = पृथ्वी आदि द्रव्य, रूपादि गुण तथा उत्क्षेपण आदि कर्मों की, निष्पत्ति = प्रामाणिकता से, वैधर्म्यात् = विपरीत धर्मी होने के कारण, अभावः = प्रकाश का न पाया जाना, तमः = अन्धकार है।

व्याख्या— पृथ्वी आदि द्रव्य, रूप आदि गुण तथा कर्म इन तीनों में पाया जाने वाला एक भी लक्षण अन्धकार में नहीं है, अपितु वह उक्त लक्षणों से विपरीत धर्म वाला है। इसलिए अंधकार को न तो द्रव्य, न ही गुण और न कर्म ही माना जा सकता है। प्रकाश का अभाव ही अंधकार है। अंधकार न तो रूप वाला है और न ही स्पर्शवान् द्रव्य है। छाया को यदि रूप मानें, तो स्पर्श से रहित होने के कारण द्रव्य नहीं माना जा सकता। कर्म का उसमें सर्वथा अभाव ही है। रूप का होना प्रकाश में पाया जाता है, अँधेरे में तो कुछ दिखता ही नहीं। अतएव अन्धकार को द्रव्य, गुण व कर्म मान लेना कदापि तर्कसंगत नहीं है ॥१९॥

यदि अन्धकार में कर्म नहीं है, तो परछाईं साथ में कैसे चला करती है ? सूत्रकार ने बताया—

(२२०) तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च ॥ २० ॥

सूत्रार्थ— तेजसः = तेज के ऊपर, द्रव्यान्तरेण = अन्य द्रव्य के द्वारा, आवरणात् = ढक दिये जाने से, च = भी (प्रकाश न होने से अन्धकार हो जाता है)।

व्याख्या— तेज के ऊपर दूसरे द्रव्यों का आवरण आ जाने के कारण तेज का छिप जाना ही अन्धकार कहलाता है। उस आवरण की गति से ही ऐसा भ्रम होने लगता है कि छाया चल रही है। प्रकाश की अवस्था में जब प्राणी चलता है, तो उसकी परछाईं चल रही है, ऐसी प्रतीति होती है, जो भ्रम ही है। प्रकाश का न होना ही अन्धकार है, न तो यह कोई द्रव्य है और न ही उसमें गुण-कर्म ही रहता है ॥२०॥

अगले क्रम में सूत्रकार उन पदार्थों का उल्लेख करते हैं, जहाँ कर्म का सर्वथा अभाव रहता है। समझाने वाले भावों की अभिव्यक्ति करते हुए कह रहे हैं—

(२२१) दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ— दिक्कालौ = दिशा एवं काल, च = और, आकाशम् = आकाश, (अन्तरिक्ष में) निष्क्रियाणि = क्रिया का सर्वथा अभाव रहता है, (क्योंकि ये सभी) क्रियावद्वैधर्म्यात् = कर्मयुक्त पदार्थों से विपरीत धर्म वाले होने से (क्रिया से हीन हैं)।

व्याख्या— एक सीमा के अन्तर्गत सीमित तथा प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाले पदार्थों में ही कर्म का होना पाया जाता है। इस तरह दिशाएँ, काल एवं आकाश में जो लक्षण पाये जाते हैं, वह विपरीत धर्म वाले हैं। दिशाएँ सीमा के बन्धन से मुक्त हैं तथा सर्वत्र व्याप्त होने से आकाश की भाँति अनन्त हैं। काल भी सर्वत्र संव्याप्त है तथा इन तीनों का प्रत्यक्ष भी नहीं होता। अतः क्रियायुक्त पदार्थों से भिन्न धर्म वाले होने से इनकी निष्क्रियता का प्रमाणित होना सुनिश्चित है ॥ २१ ॥

उपर्युक्त विवेचना के अन्तर्गत ही सूत्रकार गुण एवं कर्म की स्थिति का कथन प्रस्तुत सूत्र में करते हैं—

(२२२) एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ— एतेन = इस प्रकार उपर्युक्त कथन द्वारा, कर्माणि = कर्म, च = और, गुणाः = गुणों

की, व्याख्याता: = व्याख्या भी समझनी चाहिए।

व्याख्या— गत सूत्र में यह कहा जा चुका है कि दिशाएँ, काल एवं आकाश तीनों में क्रिया का होना नहीं पाया जाता, ठीक वैसे ही कर्म तथा गुणों में भी क्रिया का सर्वथा अभाव बना रहता है। यहाँ भी न तो गुण है, न रूप है और न कर्म। अत: इन्हें भी कर्म से रहित ही माना गया है। आकार-प्रकार वाली मूर्तिमान् वस्तु का ही प्रत्यक्ष हो सकता है; परन्तु कर्म एवं गुण, आकाश, दिशा एवं काल की भाँति आकारहीन होने के कारण कार्य रहित ही सिद्ध होते हैं ॥२२॥

प्रश्न यह उठता है कि मूर्तियुक्त पदार्थ में गुण एवं कर्म का समाहित होना प्रमाणित है; किन्तु गुण एवं कर्म में क्रिया का अभाव होने से उनका कर्मरत होना संभव नहीं, ऐसी स्थिति में गुण-कर्म का द्रव्य के साथ संयोग भी नहीं होना चाहिए? सूत्रकार ने बताया—

(२२३) निष्क्रियाणां समवाय: कर्मभ्यो निषिद्धः ॥ २३॥

सूत्रार्थ— निष्क्रियाणाम् = क्रिया से रहित गुण एवं कर्म द्वारा, समवाय: = द्रव्य के साथ संयोग करने रूप कार्य का, कर्मभ्य: = क्रिया से युक्त होना, निषिद्धः = मान्य नहीं है।

व्याख्या— क्रियाओं से हीन गुण-कर्मों का पदार्थ के साथ समवाय सम्बन्ध होता है, जिसे कर्म द्वारा उत्पन्न होना नहीं माना जाता। द्रव्य एवं गुण कर्म आदि के पारस्परिक संयोग रूप क्रिया की उत्पत्ति ही नहीं होती; क्योंकि द्रव्य में जो गुण या कर्म समवाय रहते हैं, उस संयोग रूप कर्म को करने के लिए गुण-कर्म में गति जैसी कोई भी क्रिया का होना नहीं होता है।

द्रव्य से अलग रहकर गुण-कर्म अपने अस्तित्व को बनाये नहीं रह सकते। अत: गुण कर्म का द्रव्य से जो पारस्परिक संयोग है, वह नित्य है; परन्तु उसे क्रिया-कलापों के रूप में देख पाने में निषेध का कथन किया गया है ॥२३॥

प्रश्न उठता है, जब गुण और कर्म आकार रहित एवं क्रिया रहित होते हैं, तो फिर उनके द्वारा गुणों से गुण तथा सम्बन्ध से कर्म और कर्म से वेग नामक संस्कार का उत्पन्न होना कैसे पाया जाता है? सूत्रकार ने कहा—

(२२४) कारणं त्वसमवायिनो गुणा: ॥ २४॥

सूत्रार्थ— गुणा: = सम्बन्ध आदि जो गुण हैं, कारणम् = (कर्म को उत्पन्न करने में) कारण, तु = तो हैं; परन्तु, असमवायिन: = असमवायिकारण हैं, न कि समवायि।

व्याख्या— द्रव्य ही किसी भी कार्य के समवायिकारण होते हैं, गुणों द्वारा उत्पन्न कार्यों के साथ उन गुणों का समवायिकारण मान्य नहीं है। स्वर्णकार जब तक अग्नि प्रज्वलन रूप कर्म सम्पादित नहीं करेगा, तब तक सोना नहीं पिघल सकता, सोने के पिघलने में स्वर्णकार का कर्म ही कारण है। कर्म से गुण का उत्पन्न होना और गुण से कर्म की उत्पत्ति प्रमाणित हो जाती है; परन्तु स्वर्णकार द्वारा ताप देने रूप संयोगादि गुण कर्म समवायि नहीं कहे जा सकते; क्योंकि स्वर्णकार का वह कर्म स्वर्ण के साथ सदैव नहीं होता। सोने का पिघलना रूप गुण सदा सोने से जुड़ा रहता है, इसलिए वह गुण समवायि है। कर्म भी कार्य का समवायिकारण नहीं है; क्योंकि कार्य का सम्पादन होते ही कर्म की सत्ता नहीं रहती। कुम्भकार चाक चलाने, हाथ से मिट्टी को सँवारने आदि कर्म में तत्पर होकर जब घड़ा रूप कार्य सम्पन्न कर लेता है तब उसके हाथ एवं चाक रूप कर्म बन्द हो जाते हैं; परन्तु घड़ा प्रत्यक्ष है। इस तरह गुणों को भी कर्म का असमवायिकारण ही समझना चाहिए॥ २४॥

इसी क्रम में उपर्युक्त विवेचन के अनुसार गुणों के समान दिशाओं को भी समझने का कथन प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार ने कहा—

(२२५) गुणैर्दिग् व्याख्याता ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ— गुणैः = गुणों से, दिक् = दिशाओं के विषय में होने वाले ज्ञान को, व्याख्याता = पूर्वोक्त की भाँति ही समझना चाहिए।

व्याख्या— पूर्व में जैसा बताया कि गुणों को कर्म का समवायिकारण मानना उचित नहीं है, वैसे ही दिशाओं द्वारा किये जाने वाले कर्म दिशा के समवायिकारण नहीं माने जा सकते। गुण-कर्म की भाँति दिशा भी सर्वथा निराकार है। यद्यपि दिशाओं का महत्त्व, उनका प्रभाव एवं आश्रय अनुभूति जन्य है। सूर्य का पूरब में निकलना, पश्चिम में अस्त होना, उत्तर में हिमालय, दक्षिण में समुद्र आदि। आवागमन रूप कर्म को नकारा नहीं जा सकता; परन्तु ये कर्म असमवाय ही हैं। दिशा को यदि आधार मानें, तो जो समवायिकारण वाले हों, उन्हें भी आधार रूप में देखा जा सकता है। कुण्डे में दही का तथा मनुष्य का घर में होना मात्र आधार है, न कि समवायि। अतएव दिशायें कर्म की समवाय नहीं सिद्ध होतीं॥२५॥

इसी तरह काल को भी समझना चाहिए, सूत्रकार ने बताया—

(२२६) कारणेन कालः ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ— कारणेन = निमित्त कारण होने से, कालः = काल की भी विवेचना पूर्वोक्त की तरह कर लेनी चाहिए।

व्याख्या— काल के द्वारा भी कर्म की उत्पत्ति न किये जाने से काल को दिशा की तरह आधार भर माना जाता है, अतः काल भी समवायिकारण नहीं हो सकता। अमूर्त होने के कारण वह निमित्त मात्र है। इस प्रकार मूर्तिरहित एवं क्रियारहित होने से काल का समवायि न होकर आधार ही सिद्ध होता है॥ २६॥

॥ इति पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम्॥

॥ अथ षष्ठाध्याये प्रथमाह्निकम् ॥

पिछले अध्याय में कर्म परीक्षण का प्रकरण पूर्ण करने के पश्चात् अब इस छठवें अध्याय में गुणों की परीक्षा एवं उनके विवेचनात्मक स्वरूप की अभिव्यक्ति करने के भाव से वेदों की प्रामाणिकता की अभिव्यक्ति करते हुए सूत्रकार ने कहा—

(२२७) बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— वाक्यकृतिः = वाक्यों की रचना, वेदे = वेदों में, बुद्धिपूर्वा = बुद्धिमत्ता के साथ की गई है।

व्याख्या— वेदों की सम्पूर्ण वाक्य रचना बुद्धिपूर्वक है। विवेक सम्मत, धर्म-अधर्म एवं पाप-पुण्य का बोध कराने वाली है। यह वाक्य रचना शाश्वत ज्ञान की मूल तथा स्वतः प्रामाण्य है। बुद्धि के बिना ज्ञान को प्राप्त कर उसको ग्रहण करना संभव ही नहीं है। ज्ञान का विकास बुद्धि के ही आश्रय में रहता है। ज्ञान के गूढ़ रहस्य-प्रखर बुद्धि की परिपक्वता जो प्राप्त कर लेता है, वह शिक्षा-सम्पन्न बुद्धिमान् मनुष्य ज्ञानयुक्त वाक्य रचना के रहस्यमय अर्थ की जानकारी प्राप्त कर लेता है। प्रखर प्रज्ञा सम्पन्न बुद्धि से ही वेदों की वाक्य रचना संभव है। अल्पज्ञ जनों को भी वेदों की वाक्य रचना, धर्म एवं अध्यात्म का पथ प्रदान करके गूढ़ रहस्यों का अर्थ समझाने में सहायक होती है। सहायक के बिना बुद्धि भी निष्क्रिय ही बनी रहती है। ज्ञान के साधनों का संग्रह बुद्धि की सहायता से ही होता है; परन्तु बुद्धि सभी मनुष्यों में होने के अनन्तर भी एक जैसी नहीं रहती। किसी में मन्द है, तो किसी में तीव्र। जो मनुष्य शिक्षा से शून्य है, वह मन्दबुद्धि वेदों की वाक्य रचना समझने में सर्वथा असमर्थ ही रहेगा। लोकहित की भावना से सम्पूर्ण ज्ञान के अक्षय भण्डार 'वेद' के रचयिता ऋषि प्रखर प्रज्ञा सम्पन्न मन्त्रद्रष्टा थे, न कि सामान्य बुद्धि वाले अल्पज्ञ। इसीलिए धर्म एवं अधर्म के निर्णय में वेद शाश्वत प्रमाण माने जाते हैं। जितना भी ज्ञान मानव मात्र के लिए आवश्यक है,वह वेदों में प्रतिष्ठित है। इससे सिद्ध हो जाता है कि वेदों में वाक्य रचना बुद्धिपूर्वक है ॥ १ ॥

उपर्युक्त कथन में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार का कथन है—

(२२८) ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम् ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— ब्राह्मणे = शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में, संज्ञाकर्म = नाम एवं उसके साथ कर्मों के अनुष्ठान आदि का विवेचन, सिद्धिलिङ्गम् = (वेदों में की गई वाक्य रचना बुद्धिपूर्वक है, इसकी) सिद्धि में प्रमाण है।

व्याख्या— चारों ब्राह्मण ग्रन्थों (शतपथ, गोपथ, षड्विंश एवं ऐतरेय) में संज्ञा सहित कर्मों का जो अनुष्ठान बतलाया गया है, उनके विधिवत् सम्पादन से ग्रन्थों में उल्लिखित फल की प्राप्ति से वेदों की वाक्य रचना बुद्धिपूर्वक की गई है, इस बात की सिद्धि हो जाती है। मनुष्य की इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह चारों ब्राह्मणों की रचना एवं उनमें नियत कर्मानुष्ठान के सम्यक् विधि-विधान का कार्य सम्पन्न कर सके। ब्राह्मण ग्रन्थों का अधिकांश भाग वैदिक विवेचनाओं से युक्त होने, कर्मकाण्ड के साथ विनियोग की प्राप्ति होने तथा कर्म एवं नाम के विधान का उल्लेख वेदों के ही सिद्धि के प्रमाण से सिद्ध होते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में अपरोक्ष कथन की बातें वेदों को अपौरुषेय सिद्ध करती हैं। वेदों के प्रमाण के रूप में ही चारों ब्राह्मण ग्रन्थों का होना पाया जाता है ॥२ ॥

उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता में और भी हेतु प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार ने कहा—

(२२९) बुद्धिपूर्वो ददातिः ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— ददातिः = दान करने की आज्ञा वेद में, बुद्धिपूर्वः = बुद्धिपूर्वक ही दी गई है।

व्याख्या— वेदों में जो दान देने का निर्देश मानव मात्र के लिए हुआ है, वह बुद्धिपूर्वक एवं अभ्युदयकारक है। दान की यह शिक्षा ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेकों स्थानों पर देखने को मिलती है। मनुष्य अपनी समझ के अनुरूप बुद्धिमत्तापूर्वक दान कर्म में प्रवृत्त होता है, तो वह दान रूपी कर्म मनुष्य की सुख-समुन्नति का कारण बनता है। ब्राह्मण ग्रन्थों का कथन है 'परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' अर्थात् देवता (विद्वान् मनुष्य) अप्रत्यक्ष फल प्रदान करने वाले कर्मों में प्रीति तथा प्रत्यक्ष फल वाले कर्म के प्रति द्वेष भाव रखते हैं। पृथिवी में बीज डालने पर फल प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष में ही छिपा रहता है। बीज का उगना, वृक्ष का बनना, फिर फूल व फल के लगने में कुछ समय का लगना रूप परोक्ष फल जब प्रत्यक्ष प्राप्त होता है, तो वह सुख का कारण बनता है। विषय भोग सम्बन्धी कर्म तत्काल फल देते हैं; किन्तु वह फल दुःख का ही कारण बनता है। इसीलिए ब्राह्मण ग्रन्थों ने प्रत्यक्ष फल वाले कर्मों को न करने की बात कही है। परोक्ष फल वाले कर्म परलोक में सुख देते हैं। अतः विद्वानों द्वारा वही करणीय हैं। इसीलिए दान रूप कर्म जो परोक्ष फल का प्रदाता है, उससे सज्जन मनुष्य को कभी मुँह नहीं मोड़ना चाहिए। वेदों का यह व्याख्यान वेद की वाक्य रचना के बुद्धिपूर्वक तथा ईश्वर द्वारा किये जाने में साक्ष्य हैं ॥३॥

दान की महत्ता वेद से प्रमाणित करने के उपरान्त अब अगले सूत्र से सूत्रकार प्रतिग्रह की बात बतलाते हैं और प्रमाण भी देते हैं—

(२३०) तथा प्रतिग्रहः ॥ ४॥

सूत्रार्थ— तथा = उसी तरह से, प्रतिग्रहः = दान को स्वीकार करना भी (वेदों द्वारा ही निर्दिष्ट है।)

व्याख्या—जिस प्रकार दान देने में बुद्धिमत्ता की बात कही जा चुकी है, ठीक उसी तरह ब्राह्मण ग्रन्थों में दान के प्रतिग्रह अर्थात् स्वीकार करने का भी उल्लेख है। किस दान को ग्रहण करना चाहिए, किसे नहीं, कौन सा दान उत्तम फल का प्रदाता है और कौन सा दान अनिष्टकारी आदि का विधिवत् वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। बुद्धि द्वारा सोच-समझकर दान लेने का निर्देश है- पात्र-अपात्र की स्थिति एवं धन की अवस्था पवित्र है अथवा अपवित्र आदि। बिना ज्ञान के ऐसे निर्णय नहीं किये जा सकते, अतः यह सिद्ध हो जाता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में जो दान स्वीकारने की बात कही गयी है, वह भी बुद्धिमत्ता से परिपूर्ण है ॥४॥

मनुष्य अपने द्वारा ही किये गये कर्मों का फल प्राप्त करता है, किसी और के किये का नहीं। इसी तथ्य को यहाँ सूत्रकार ने बताया है—

(२३१) आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ॥ ५॥

सूत्रार्थ— आत्मान्तरगुणानाम् = दूसरी आत्मा के (सत्कर्म अथवा दुष्कर्म रूपी) गुणों को, आत्मान्तरे = किसी अन्य आत्मा के दुःख अथवा सुख का, अकारणत्वात् = कारण नहीं माना जा सकता।

व्याख्या— परमात्मा के द्वारा नियत 'कर्मफल सिद्धान्त' के अनुसार हर मनुष्य अपने ही किये का फल भोगता है। एक आत्मा के पाप-पुण्य रूप कर्मों का फल यदि किसी अन्य आत्मा को भोगना पड़े, तो ईश्वर का बनाया हुआ विधान ही बिगड़ जाय। पापी के द्वारा किये पाप से यदि किसी दोष- मुक्त आत्मा को दण्ड मिले तथा वह पापात्मा उस पाप से मुक्ति पा जाये, तो इससे सम्पूर्ण न्याय व्यवस्था गड़बड़ा जायेगी। दान का देना एवं दान का लेना, दोनों के फल अलग-अलग हैं। पिता द्वारा किये गये दान के फल को पुत्र नहीं पाता तथा पुत्र द्वारा किये दान रूप सत्कर्म का फल पिता को नहीं मिल सकता। अतएव अपनी मुक्ति के लिए स्वयं सत्कर्म करना चाहिए। दूसरा कोई सत्कर्म करके हमें मोक्ष दिला देगा, ऐसा विवेकीजन नहीं सोचा करते। मनुष्य के द्वारा जितने भी कर्म होते हैं, उनसे भोग एवं संस्कार उत्पन्न होते हैं। कर्म के अनुरूप उत्पन्न होने वाले

वही संस्कार भोगफल की प्राप्ति के अवसर पर सुखों तथा दु:खों की सृष्टि करते हैं, उन्हीं से मनुष्य हर्ष एवं विषाद की अनुभूति करता हुआ जीवन की प्रक्रिया पूरी करता है। प्रस्तुत सूत्र का कथन इस विवेचन से प्रमाणित हो जाता है ॥५ ॥

अन्नदान अथवा भोजन कराने से किस प्रकार फल प्राप्त होते हैं, प्रस्तुत सूत्र द्वारा सूत्रकार ने बताया—

(२३२) तद्दुष्टभोजने न विद्यते ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ— तत् = वह फल जिससे अभ्युदय की प्राप्ति हो, दुष्टभोजने = कुसंस्कारी अन्न को खाने में, न = नहीं, विद्यते = रहता है।

व्याख्या— पुण्यात्मा एवं पवित्र आचरण वाले मनुष्य को भोजन कराने अथवा अन्नदान करने से दाता को जो आत्मोत्थान रूप श्रेष्ठता एवं पुण्यफलों की प्राप्ति होती है, वह पापात्मा एवं दुर्गुणी को देने से नहीं। पापी एवं निकृष्टात्मा को दिया गया दान सर्वथा व्यर्थ ही रहता है। उसके प्रतिफल दु:ख देने वाले होते हैं। इसीलिए यज्ञ एवं तर्पण जैसे पुण्यदायी अवसरों पर, पापात्मा एवं गुणहीनों को दान एवं भोजन आदि से वंचित रखने में शास्त्र की सम्मति है। विवेकपूर्वक पात्रता की परख करके ही दान देना चाहिए। महापुरुषों की एवं ऋषियों की ऐसी ही आज्ञा है। कुपात्र गृहीता, दाता का एवं अपना सर्वदा अकल्याण ही करता है। ऊसर एवं बंजर धरती में उत्तम से उत्तम बीज बिना फल दिये ही बोने वाले की समस्त बीज रूप पूँजी एवं परिश्रम को बेकार कर देते हैं। अतएव सत्पात्र को ही दान देने से अभ्युदय रूप उत्तम फल प्राप्त होता है ॥६ ॥

प्रश्न उठता है- दुष्ट की पहचान कैसे हो, भोजन कैसे दूषित होता है ? उसकी क्या पहचान है ? दुष्ट मनुष्य के क्या लक्षण होते हैं ? सूत्रकार ने बताया—

(२३३) दुष्टं हिंसायाम् ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ— हिंसायाम् = हिंसा करने की भावना से युक्त, जो दूसरों को पीड़ा पहँचाता हो, दुष्टम् = वही दुष्ट है (उसका दिया हुआ अन्न दूषित होता है)।

व्याख्या— वेद शास्त्रों के विरुद्ध आचरण करने वाला अपने आचरण की निकृष्टता से प्राणिमात्र के प्रति दु:ख की सृष्टि करने वाला हिंसक मनुष्य ही दुष्ट की संज्ञा पाता है। अनीति एवं अन्यायपूर्वक उपार्जित अन्न का भोजन कराना एवं उस अन्न का दान हिंसात्मक भावों से युक्त होने के कारण सत्पुरुषों द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होता है। अतएव इस तरह के दान को निषिद्ध कहा है। मांसाहारी भोजन हिंसात्मक होने के कारण शास्त्र द्वारा निषिद्ध है। दूसरी ओर जिनका आचरण एवं व्यवहार वेद शास्त्रों के प्रतिकूल हो, उन्हें कराया गया भोजन एवं दिया गया अन्नदान निष्फल एवं हानिकारक ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार दुष्टों का अन्न एवं उनके यहाँ का भोजन दुष्टता के संस्कारों के कारण दूषित माना जाता है ॥ ७ ॥

कुसंस्कारी अन्न के खाने एवं दुष्टों की प्रतिष्ठा से समाज पर पड़ने वाले कुप्रभाव को प्रस्तुत सूत्र द्वारा बतलाते हुए सूत्रकार का कथन है—

(२३४) तस्य समभिव्याहारतो दोषः ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ— तस्य = उस हिंसात्मक भोजन के (हिंसा करने वाले को), समभिव्याहारतः = खाने एवं खिलाने दोनों से ही, दोषः = हिंसात्मक दोष प्राप्त होता है।

व्याख्या— हिंसात्मक जीविका से जीवन निर्वाह करने वालों का अन्न एवं उससे बनाया हुआ भोजन दूषित होने के कारण न तो सज्जनों द्वारा खाने योग्य होता है और न उन्हें दान देने योग्य। खाने व खिलाने दोनों ही में दोष कहा गया है। पापात्मा मनुष्यों के साथ उठना-बैठना एवं साथ में बैठकर खाने में भी दोष लगने का कथन किया गया है। अज्ञानता की स्थिति में यदि दाता एवं प्रतिग्रही दोनों उक्त दोषयुक्त भोजन के खाने-

खिलाने तथा दान के लेने एवं देने की क्रिया का सम्पादन करते हैं, तो भी दोनों उस पाप पूर्ण दोष से नहीं बच पाते। अतएव इसका कुप्रभाव समाज में हिंसात्मक प्रवृत्ति का पोषक ही माना जायेगा॥८॥

समाज इस कुप्रभाव से हिंसात्मक प्रवृत्ति की ओर उन्मुख न हो, उसका नियन्त्रण किस प्रकार से हो सकता है, अग्रिम सूत्र द्वारा उसी को सूत्रकार ने बताया है—

(२३५) तददुष्टे न विद्यते॥ ९॥

सूत्रार्थ— तत् = (उपर्युक्त) वह दोष, अदुष्टे = हिंसा से रहित अन्न एवं उससे बनाये गये भोजन में, न = नहीं, विद्यते = होता है।

व्याख्या— वेद-शास्त्रों में वर्णित आचरण-व्यवहार से न्याय एवं धर्मपूर्वक जिस अन्न का उपार्जन किया जाता है, उससे बनाया हुआ भोजन खाने एवं खिलाने वाले दोनों को ही अनुगृहीत व कृतकृत्य कर देता है। सज्जनों का संग सद्गुणों की तथा दुर्जनों का संग दुर्गुणों की वृद्धि करता है। 'सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्' की उक्ति समाज में चरितार्थ हो, तो दुष्टता एवं कुसंग से अन्न व मनुष्य दोनों ही दूषित होने से बचे रह सकते हैं॥ ९॥

किन प्रयासों से सज्जनोचित गुणों का विकास हो सकता है, दान के लिए किनका चयन होना चाहिए? सूत्रकार अगले सूत्र द्वारा बतलाते हैं—

(२३६) पुनर्विशिष्टे प्रवृत्तिः॥ १०॥

सूत्रार्थ— पुनः = सदैव, विशिष्टे = सद्गुण सम्पन्न विशिष्टजनों से ही, प्रवृत्तिः = प्रवृत्त अर्थात् अनुरक्त होना चाहिए।

व्याख्या— वेद एवं शास्त्रों के अनुकूल आचरण करने वाले श्रेष्ठजनों में ही अपना अनुराग रखना चाहिए। धन, अन्न आदि के दान में तथा भोजन कराने हेतु उक्त सत्त्वगुण सम्पन्न विद्वानों का ही चयन करना शास्त्र सम्मत है। विशिष्ट गुण सम्पन्न मनुष्य की संगति से अपने अन्दर भी संगति के प्रभाव से सद्गुणों की प्रवृत्ति बढ़ती है। कुसंगति दुःख का कारण और सुसंगति सुख की हेतु मानी गई है। दुष्ट पुरुष एवं दुष्टता से सर्वथा दूर रहना ही हितकर होता है। हानि सहकर भी दुष्टता से बचना चाहिए। इसी तरह विद्वान् मनुष्य भी कुसंस्कारी एवं पापात्मा मनुष्य का न तो दान ग्रहण करे और न ही कभी उसका दिया भोजन ही ग्रहण करे। दुष्टों से किसी भी प्रकार की सहायता नहीं लेनी चाहिए तथा विशिष्ट जनों की संगति का कभी त्याग न करके उन्हीं में प्रेमभाव विकसित करते रहना चाहिए॥ १०॥

प्रश्न उठता है कि यदि सद्गुण सम्पन्न विद्वान् ही दान एवं भोजन के अधिकारी हैं, तो अज्ञानी जनों की स्थिति एवं उनकी जीविका का क्या होगा? इसी भावाभिव्यक्ति को प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने व्यक्त किया है—

(२३७) समे हीने वा प्रवृत्तिः॥ ११॥

सूत्रार्थ— समे = अपने समकक्ष गुणों वाले, वा = अथवा, हीने = निर्धन व्यक्ति जिसकी सामान्य प्रतिष्ठा है, प्रवृत्तिः = उसमें भी प्रवृत्ति होनी चाहिए (दान देना या भोजन कराना चाहिए)।

व्याख्या— वेद-शास्त्रों के ज्ञाता विद्वान् मनुष्य के अलावा, यदि अपने समकक्ष सामान्य गुणों से युक्त निर्धन व्यक्ति जो पापी न हो, उसे भोजन कराने, अन्न आदि का दान देने में भी शास्त्र की सम्मति है। ऐसा न हो कि विशिष्ट गुण सम्पन्न व्यक्ति के अभाव में दान रूप पुण्य कर्म का ही जीवन से नाता टूट जाय। पापात्माओं के लिए ही दान का निषेध किया गया है। इसी तरह उत्तम पकवान के अभाव में पुण्य कर्मों द्वारा उपार्जित रूखा, रसहीन भोजन भी सज्जनों द्वारा ग्राह्य माना गया है। पाप की कमाई का उत्तम पकवान भी सर्वथा त्याज्य है। अतः यह आवश्यक नहीं कि जो विशिष्ट गुण युक्त श्रीमन्त हों, उनकी ही सङ्गति की जाय, निर्धन

सतोगुणी का संग भी कल्याणकारी एवं सुखदायक होता है ॥११॥

विवेचना के इसी क्रम में सूत्रकार अगले सूत्र को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

(२३८) एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ— एतेन = इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन द्वारा, हीन = निर्धन, विशिष्ट गुणों से रहित, सम = सामान्य, विशिष्टः = विशिष्ट, धार्मिकेभ्यः = धर्माचार परायण जनों से ही, परस्व = दूसरों के द्वारा दिये गये, आदानम् = दान का प्रतिग्रह, व्याख्यातम् = बताया गया।

व्याख्या— गत सूत्र में कहा गया कि यदि विशिष्ट गुणों से सम्पन्न मनुष्य न मिलें, तो हीन अथवा निर्बल तथा अपने समकक्ष या अपने से भी अल्प प्रतिष्ठा वाले, जिनकी प्रवृत्ति पाप कर्मों में न हो, उन्हें भी दान देना चाहिए। ठीक वैसा ही विचार दान को ग्रहण करने के अवसर पर रखना चाहिए। सदैव यह ध्यान रहे कि पापात्मा, अधर्म परायण मनुष्य का दिया दान अकल्याणकारी है; क्योंकि उनकी कमाई सर्वथा दोषपूर्ण ही होती है। वेद विपरीत कर्म में रत रहने वाले जो हिंसात्मक प्रवृत्ति से युक्त हैं, उनके द्वारा चोरी आदि से लाये गये धन का दान गृहीता को संकट में ही खड़ा करता है। दान लेने वाला पाप का भागी बनता है। कुछ लोग जो यह कहते हैं कि भोजन न हो, तो पहले शूद्र के घर में चोरी करे। सप्ताह-दस दिन तक भोजन न मिले, तो वैश्य के घर में। पन्द्रह दिन तक भोजन न मिले तो क्षत्रिय के यहाँ तथा प्राणों के संकट के अवसर पर ब्राह्मण के यहाँ भी चोरी कर ले। ये बातें ठीक नहीं जान पड़तीं, मात्र आपद्धर्म में ही कदाचित् व्यवहार में लाने योग्य हो सकती हैं। चोरी भी अतिशय निन्दनीय कर्म माना गया है। इसका भी शास्त्र निषेध करता है। अतएव वेद-शास्त्र जिस कर्म की प्रशंसा करते हों, वही करणीय है ॥१२॥

अगले सूत्र द्वारा सूत्रकार वेद विपरीत, धर्म विरुद्ध आचरण करने वालों एवं उनके द्वारा दिये गये दान को त्यागने की बात कहते हैं—

(२३९) तथा विरुद्धानां त्यागः ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ— तथा = उसी प्रकार, विरुद्धानाम् = वेदादि शास्त्रों के विपरीत कर्म वाले मनुष्यों का, त्यागः = त्याग भी करना बताया है।

व्याख्या— जैसा कि उपर्युक्त विवेचन में कहा जा चुका है कि वेद विपरीत अधर्म परायण पापात्माओं को न तो दान देना चाहिए और न उनसे दान लेना ही चाहिए। ऐसे नास्तिकों के द्वारा दिये गये दानादि का सर्वथा त्याग ही करना चाहिए जिनका न तो धर्म में विश्वास है और न ही ईश्वर में आस्था है तथा दान के मर्म से अनभिज्ञ भी हैं, वे या तो अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए अथवा अभावग्रस्त मनुष्य की गरीबी का अनुभव करके अपने स्वार्थ को ध्यान में रखकर दान करते हैं। स्वार्थ लोलुपता एवं मिथ्या अहंकार से पूर्णभाव से युक्त होने के कारण उनके द्वारा दिया गया दान किसी भी स्थिति में लेने योग्य नहीं होता। इसलिए सदैव निर्दोष दान ही ग्राह्य है ॥१३॥

जिज्ञासा होती है कि किन परिस्थितियों में, किसके द्वारा दिया गया दान अग्राह्य है ? सूत्रकार ने बताया—

(२४०) हीने परे त्यागः ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ— परे = अन्य (दाता यदि), हीने = वेद विहित धर्माचरण से रहित हो तो , त्यागः = उसे त्याग देना श्रेयस्कर है।

व्याख्या— जो दाता हीन अर्थात् निकृष्टतम कार्यों में तत्पर वेद विरुद्ध विधि से अर्थोपार्जन कर रहा हो, आस्तिकता एवं दान के प्रति रुचि रखने वाला हो, तो भी उसका दिया दान ग्रहण करने योग्य नहीं है।

जिन्होंने यह कहा है कि अधर्म परायण मनुष्य यदि भूख के कारण प्राण त्याग रहा हो, तो भी उसे भोजन नहीं देना चाहिए, यदि ऐसा व्यक्ति मर भी जाय तो पाप नहीं लगता, परन्तु ऐसा व्यवहार न तो सज्जनोचित है और न ही धर्मानुकूल। पापात्मा की भी प्राणरक्षा यदि भोजन देने से हो रही हो, तो अवश्य ही देना चाहिए तथा प्रेम व सहानुभूति पूर्वक उसे अधर्म पथ से विलग करना चाहिए। अतएव वेदविहित कर्मयुक्त दाता का ही दान स्वीकारने योग्य है, यह सिद्ध होता है॥१४॥

प्रश्न उठता है कि यदि दो मनुष्य समान गुण-कर्म वाले हैं और दोनों ही भूखे हों तथा भोजन एक ही के खाने भर का हो, उस समय उसे खिलाये या स्वयं खा ले? इस पर सूत्रकार ने कहा—

(२४१) समे आत्मत्यागः परत्यागो वा ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ— समे = समानता की स्थिति में, आत्मत्यागः = दूसरे के लिए अपना भोजन त्याग दे, वा = अथवा, परत्यागः = दूसरा व्यक्ति पहले वाले के लिए त्याग दे।

व्याख्या— जहाँ दान देने वाला तथा दान लेने वाला, दोनों के गुण-कर्म में समानता हो, तो वहाँ दान देने या पा लेने की स्थिति न होकर व्यावहारिक आदान-प्रदान ही माना जायेगा। दोनों एक दूसरे के प्रति समान उपकारी होने की कृतज्ञता की अनुभूति सुख का फल ग्रहण कर सकते हैं। इस व्यावहारिक आदान-प्रदान में किसी तरह का धर्म-अधर्म अथवा पाप-पुण्य की स्थिति नहीं बनती। इतनी बात अवश्य है कि आत्म-त्याग का भाव सर्वदा सराहनीय माना जाता है॥ १५॥

उपर्युक्त भावों को और अधिक स्पष्टता से व्यक्त करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(२४२) विशिष्टे आत्मत्याग इति॥ १६ ॥

सूत्रार्थ— विशिष्टे = दूसरे मनुष्य के गुण-कर्म यदि अपने से विशिष्ट हैं, तो उस अवस्था में, आत्मत्यागः = अपने का ही त्याग करना उचित है, इति = समाप्त।

व्याख्या— जहाँ पर ऐसी स्थिति हो कि दान देने वाला अपने अर्थात् दान लेने वाले की तुलना में अधिक धर्म परायण एवं विशिष्टता के गुणों से युक्त हो, तो उस धर्मात्मा से दान नहीं लेना चाहिए। जो जितना अधिक श्रेष्ठ व साधन-सम्पन्न होगा, उसके द्वारा श्रेष्ठता का विकास भी उसी अनुपात में होता है। ऐसे व्यक्ति को यदि आवश्यकता पड़े, तो अपने धन, श्रम, साधनों का उदारतापूर्वक त्याग कर देना चाहिए। वेद विहित धर्म के पालन रूप कर्म के प्रति सदैव निष्ठावान् बने रहना चाहिए, ताकि समस्त कार्य शास्त्रों के अनुकूल मंगलकारी हों॥ १६॥

॥ इति षष्ठाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्॥

॥ अथ षष्ठाध्याये द्वितीयाह्निकम् ॥

छठवें अध्याय के प्रथम आह्निक में वेदों की प्रामाणिकता एवं वेदों के प्रमाण स्वरूप धर्म-अधर्म, दान दाता एवं गृहीता आदि की पात्रता का निरूपण करने के पश्चात् अब इस द्वितीय आह्निक में दृष्ट एवं अदृष्ट रूप फल तथा उसकी प्राप्ति आदि का विवेचन करते हुए सूत्रकार का कथन है—

(२४३) दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— दृष्टादृष्टप्रयोजनानाम् = प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रयोजन वाले कर्मों में, दृष्टाभावे = प्रत्यक्ष प्रयोजन के अभाव में (सम्पन्न होने वाला), प्रयोजनम् = अनुष्ठानपरक कर्म, अभ्युदयाय = परलोक में प्राप्त होने वाले सुख का हेतु है।

व्याख्या— सूत्रकार दो प्रकार के कर्मों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि जो कर्म आँखों द्वारा देखा जा सके, उसका फल उसी जन्म में प्राप्त होता है, वही दृष्ट कर्म कहलाता है- जैसे मजदूरी, व्यवसाय, कृषि आदि। दूसरा अदृष्ट कर्म वह है, जिसका फल इस लोक में प्राप्त नहीं होता, जैसे वाजपेय यज्ञ, अनुष्ठान आदि तथा तात्त्विक ज्ञान प्राप्ति का प्रयास रूप कर्म। इन अदृष्ट कर्मों को ही निष्काम कर्म की संज्ञा दी गई है। निष्काम कर्मों के फल इस जगत् में तो प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देते, परन्तु परलोक में उनकी प्राप्ति वेद विहित है। विवेकी एवं आस्था सम्पन्न कर्मनिष्ठा वाले मनुष्य ही परमात्मा को साक्षी मानकर निष्काम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। मोहग्रस्त, अज्ञानी जन कभी भी तत्त्वज्ञान रूप अदृष्ट कर्म में प्रवृत्त नहीं होते, क्योंकि उनका फल प्रत्यक्ष एवं शीघ्र नहीं मिलता। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति रूप निष्काम कर्म, जिसे मनुष्य फल की इच्छा से सर्वथा रहित होकर सम्पन्न करता है, उससे उसे लौकिक एवं पारलौकिक, दोनों ही प्रकार के फलों की उपलब्धि होती है, परन्तु वह लोभ रहित तत्त्वज्ञानी, लौकिक भोग-वैभव आदि तुच्छ पदार्थ रूप फल की तनिक भी इच्छा न करके परमात्मतत्त्व के ही चिन्तन का आश्रय लेता है। तत्त्वज्ञान से सांसारिक दु:खों की समाप्ति करके वह ब्रह्मज्ञानी मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। इससे इस बात की सिद्धि हो जाती है कि प्रत्यक्ष फल देने वाले दृष्ट कर्मों की अपेक्षा, परलोक में सुख देने वाले अदृष्ट कर्म अत्यधिक श्रेष्ठ एवं परम कल्याण के हेतु हैं। अत: मनुष्य उनमें ही अनुरक्त हो ॥१ ॥

अदृष्ट अर्थात् परलोक में जिनकी प्राप्ति होती है, उन कर्मों की विवेचना करते हुए सूत्रकार ने कहा-

(२४४) अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदान-प्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— अभिषेचन = तीर्थों में स्नान, उपवास = नवरात्र - एकादशी आदि व्रत, ब्रह्मचर्य = इन्द्रियों का संयम आदि तप, गुरुकुलवास = वेद-वेदाङ्ग आदि के अध्ययन के लिए गुरुकुल में निवास, वानप्रस्थ = वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश, यज्ञ = यज्ञमयव्यवहार, दान = त्याग की भावना का विकास, प्रोक्षण = यज्ञीय उपकरणों एवं व्रीहि आदि की पवित्रता, दिङ् = दिशाओं की विज्ञता, नक्षत्र = नक्षत्रों का ज्ञान, च = तथा, मन्त्रकालनियमा: = मन्त्र प्रयोग एवं अनुष्ठान आदि कर्म के समय एवं विधि का ज्ञान, अदृष्टाय = अप्रत्यक्ष फल के लिए हैं।

व्याख्या— मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित जल से अपने ऊपर अभिषिंचन करना तीर्थ स्नान के समान ही माना जाता है। गंगादि तीर्थों में स्नान का फल सनातन धर्म शास्त्रों में वर्णित है। तीर्थ में उपवास, जप, तप की महिमा का भी अतिशय महत्त्व बताया गया है। ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में इन्द्रियों को वश में रखते हुए विद्या

प्राप्ति की आकांक्षा से गुरुकुल में रहकर किये गये तप आदि कर्म द्वारा वेद-वेदाङ्ग के अध्ययन रूप फल की प्राप्ति से जो विशुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है, वह मनुष्य को लौकिक विषयों से ऊपर उठाकर आत्मचिन्तन की ओर ले जाता है। आत्मचिन्तन के फलस्वरूप मनुष्य धर्मानुकूल गृहस्थ आश्रम की समस्त जिम्मेदारियों का कुशलतापूर्वक निर्वाह करके जब वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता है, तब उसका जीवन यज्ञमय हो जाता है। वह देवपूजन, संगतिकरण एवं दान तीनों का सम्मिलित स्वरूप बनकर निरन्तर त्याग के भावों का विकास करता हुआ पवित्रतम यज्ञान्न ब्रीहि आदि का आहार लेकर निर्मल अन्त:करण वाला हो जाता है। उसको दिशा, काल आदि का समुचित ज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा वह सम्पूर्ण ग्रह-नक्षत्रों की विशेष स्थिति आदि का भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इन सबके साथ उस साधक को मन्त्रों का मर्म एवं उनकी प्रयोग विधि का भी सम्यक् ज्ञान मिल जाता है, जिससे वह अनुष्ठान आदि के लिए उपयुक्त एवं मांगलिक वेला, शुभ मुहूर्त आदि का सही निर्धारण करके अपने अनुष्ठान आदि कर्मों का सुचारु रूप से सम्पादन कर लेता है। पवित्रात्मा वह मनुष्य पारलौकिक (अदृष्ट) फलों का अधिकारी होकर आनन्द का अनुभव करता है ॥२॥

नोट-कतिपय भाष्यकार उपर्युक्त सभी कर्मों के फल अदृष्ट के साथ-साथ दृष्ट होना भी बतलाते हैं। स्नान से शरीर शुद्धि, उपवास से अन्नमयकोष की पवित्रता, ब्रह्मचर्य से शक्ति का संचय एवं शारीरिक सौष्ठव, गुरु संरक्षण में रहकर विद्याध्ययन आदि से दैनिक जीवन में शिष्टता-शालीनता, विद्वत्ता आदि, वानप्रस्थ से सामाजिक सुधार, ज्ञान विस्तार आदि, यज्ञ-दानादि से समाज में पारस्परिक सहयोग एवं आस्तिकता संवर्धन तथा दिशायें एवं कालादि के ज्ञान से तथा ग्रह, नक्षत्र एवं मन्त्र विषयक जानकारी से अनुष्ठान आदि कर्म के सम्पादन में अनिष्ट की आशंका का निवारण आदि जो फल है, उनको तो प्रत्यक्ष ही देखा जाता है। अत: उपर्युक्त सूत्र द्वारा वर्णित समस्त कर्म जहाँ अदृष्ट फल वाले हैं, वहीं वह दृष्ट फल से भी लाभान्वित करते हैं।

आगे तीसरे सूत्र द्वारा सूत्रकार आश्रमों एवं उनकी संख्या सहित नामों का उल्लेख करते हुए कहते हैं—

(२४५) चातुराश्रम्यमुपधा अनुपधाश्च ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— चातुराश्रम्यम् = चारों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास) आश्रमों में नियमपूर्वक किये जाने वाले अनुष्ठानादि कर्मों में, उपधा: = दोष, अनुपधा: = दोषहीनता का होना पाया जाता है।

व्याख्या— सामाजिक व्यवस्था में अच्छी एवं बुरी प्रवृत्तियों के अनुसार गुण व दोष दोनों का ही अस्तित्व रहा करता है। मानव-समाज में चार आश्रम -ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास-मानव जीवन की समुचित दिशा-धारा को एक गरिमामय राजमार्ग के रूप में चार मोड़ की भाँति प्रस्तुत करते हैं। इन चारों आश्रमों के अपने-अपने स्वतन्त्र नियम निर्देश हैं, जिनमें सम्पूर्ण निष्ठा व श्रद्धा रखकर प्रत्येक आश्रम को सफलतम अनुष्ठान की तरह पूर्ण किया जा सकता है। अतएव आश्रमों में मनुष्य के लिए जितने गरिमामय नियम व सिद्धान्त पालनार्थ कहे गये हैं, उनमें विश्वास व श्रद्धा का भाव रखते हुए मानव विवेकपूर्वक आचरण व व्यवहार प्रस्तुत करे, तो उसे आत्म सन्तोष का लाभ अवश्य मिले, जो सुख का आधार है ॥३॥

आश्रमों के नाम आदि का उल्लेख करने के पश्चात् सूत्र में प्रयुक्त हुए उपधा एवं अनुपधा शब्दों के अर्थ समझाने के लिए सूत्रकार आगे यह सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

(२४६) भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधा ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ— भावदोष: = श्रद्धाभाव विषयक दोष को, उपधा = उपधा कहते हैं, (तथा) अदोष: = श्रद्धाभाव विषयक दोष का अभाव ही, अनुपधा: = अनुपधा के नाम से जाना जाता है।

व्याख्या— श्रद्धाभाव के विषय में जो निन्दा-चुगली, राग-द्वेष, प्रमाद-अहंकार आदि दोष दिखाई देते हैं, वही 'उपधा' है। इसी तरह जहाँ अन्त:करण के भावों में निर्मलता, निर्विकारिता एवं दोषहीनता हो,वही 'अनुपधा' है। सेवा, शालीनता, ज्ञान, श्रद्धा आदि लक्षणों से अनुपधा का ही तात्पर्य समझना चाहिए। उपधा से अधर्म एवं अनुपधा से धर्म के गुण की पहचान होती है। इनकी उत्पत्ति में अज्ञान अथवा ज्ञान ही हेतु होते हैं। अतएव अनुपधा के प्रति अनुराग एवं उपधा के प्रति त्याग का भाव विकसित करना चाहिए॥४॥

श्रद्धाभाव की शुद्धता, पवित्रता आदि की विवेचना करने का भाव रखते हुए सूत्रकार यह सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

(२४७) यदिष्टरूपरसगन्धस्पर्शंप्रोक्षितमभ्युक्षितं च तच्छुचि॥५॥

सूत्रार्थ— यत् = जो, इष्ट = मन को अच्छी लगने वाली वस्तु, रूपरसगन्धस्पर्श = रूप,रस, गन्ध एवं स्पर्शवाली है, च = तथा, प्रोक्षितम् = अभिमन्त्रित जल से पवित्र व शुद्ध है, अभ्युक्षितम् = जिसकी शुद्धता बिना मन्त्र के प्रमाणित है, तत् = वह, शुचि = शुद्ध- पवित्र है।

व्याख्या— रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श गुण वाली, जितनी भी मन को अच्छी लगने वाली वस्तुएँ हैं, जिनकी अपेक्षा है तथा जिन्हें आँखों द्वारा देखा जाता है, उन सबको (प्रोक्षित) अभिमन्त्रित जल द्वारा पवित्र किया जा सकता है। वेद शास्त्रों में पवित्रता की महत्ता प्रमाणित है। वेद ने पवित्रता के नियम में जिन मन्त्रों का प्रयोग बतलाया है, उन मन्त्रों से अभिमन्त्रित वस्तु सर्वदा शुद्ध मानी जाती है। जिनकी शुद्धता (अभ्युक्षित) बिना मन्त्रों के ही प्रमाणित है, ऐसे भी पदार्थ पाये जाते हैं। उनकी शुद्धता संशय रहित होती है। आवश्यकता के अनुसार विवेकपूर्वक उन वस्तुओं का प्रयोग करना चाहिए॥५॥

अगले सूत्र द्वारा सूत्रकार शुद्ध एवं अशुद्ध की विवेचना परक व्याख्या करते हुए कहते हैं—

(२४८) अशुचीति शुचिप्रतिषेध:॥६॥

सूत्रार्थ— अशुचि = पवित्रता का अभाव ही अशुचि कहलाता है, इति = वह (स्वरूप है, जो), शुचिप्रतिषेध: = जहाँ पर शुचिता का प्रयत्नपूर्वक निषेध किया गया हो।

व्याख्या— सूत्र का आशय यह है कि शुद्धता का अभाव ही अशुचि है। अशुचि अर्थात् अपवित्रता, जो अधर्म का साधन मानी जाती है। जहाँ पर शुचिता के विपरीत व्यवहार होता है, वहीं बुराई का विकास होता है। अतएव धर्मविहीन आचरण व व्यवहार जहाँ कहीं भी देखने को मिलता है, उससे वहाँ अशुचि के होने का प्रमाण मिलता है॥६॥

इसके अतिरिक्त और भी दूसरे अर्थों द्वारा अशुचि का स्वरूप समझाते हुए सूत्रकार का कथन है—

(२४९) अर्थान्तरं च॥७॥

सूत्रार्थ— च = और, अर्थान्तरम् = उपर्युक्त धर्म की प्रवृत्ति के जो साधन बतलाये गये हैं, उससे अन्य अर्थात् विपरीत अर्थ में (भी अशुचि ही माना जाता है)।

व्याख्या— सूत्रकार का कहना है कि यदि धर्म में लगाने वाली प्रवृत्ति रूप साधन, अनुष्ठानादि में अश्रद्धा, प्रमाद आदि दुष्टता के भाव मन में उत्पन्न हो जायें अथवा साधन नियमों के प्रतिकूल वाणी की पवित्रता दूषित हो जाये, तो वह भी अशुचि के अन्तर्गत माना जाता है। आश्रमों आदि के निवास काल में जिन नियमों का विधान वेदविहित है, उन नियमों में प्रमाद अथवा उनकी अवज्ञा करना भी 'अशुचि' ही कहलायेगी॥७॥

धर्म साधन के पथ में जिन कारणों से साधक आत्मोन्नति नहीं कर पाता, उनका विवेचन आगे के सूत्र द्वारा सूत्रकार प्रस्तुत करते हैं—

(२५०) अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते नियमाभावात्॥८॥

सूत्रार्थ— अयतस्य = यम, नियम, आसन आदि नियमों का पालन न करने वाले मनुष्य का, शुचि = पवित्रता, भोजनात् = भोजन से भी, अभ्युदय: = आत्मोन्नति- कल्याण, न = नहीं, विद्यते = होता है, नियम = नियम आदि के, अभावात् = अभाव के कारण।

व्याख्या— मानव मात्र के लिए वेदों ने जो आत्मोन्नति के सूत्र-सिद्धान्त बतलाये हैं, उनमें यम अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य का पालन करना है। ऐसे मनुष्य जिनमें वेद-विहित आचरण का सर्वथा अभाव है, जो उपर्युक्त नियमों के प्रतिकूल आचरण करते हैं, उनका दिया हुआ भोजन ग्रहण करने योग्य नहीं होता। जो असत्य भाषण, निन्दा-चुगली, चोरी-व्यभिचारी आदि निकृष्ट कर्मों में रत रहते हैं, उनके द्वारा यदि भोजन व अन्नदान दिया जाता है, तो उसका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए; क्योंकि उससे कभी भी कल्याण नहीं होता। सूत्र का आशय यह है कि पापात्मा पुरुषों की अपेक्षा वे मनुष्य अधिक श्रेष्ठ हैं, जिनकी प्रवृत्ति पाप कर्मों में नहीं है, भले ही वे पुण्यकर्मों से वंचित हों। अतएव पापात्मा को किसी भी तरह का भोजन व दान आदि देने से कल्याण तो नहीं, अकल्याण अवश्य सुनिश्चित है॥८॥

उपर्युक्त सूत्र के विवेचन के ही अन्तर्गत सूत्रकार अगले सूत्र में यम का अन्य अर्थ समझाते हुए कहते हैं—

(२५१) विद्यते वाऽर्थान्तरत्वाद्यमस्य॥९॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा, यमस्य = (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य वाले) यम का, अर्थान्तरत्वात् = और दूसरा अर्थ भी होने के कारण, विद्यते = शुद्ध भोजन कल्याणकारी होता है।

व्याख्या— हिंसात्मक संस्कारों एवं काम-क्रोधादि भावों से युक्त पापात्मा मनुष्य यदि बाह्य पवित्रता से परिपूर्ण भी हो, तो भी वाग्दुष्टता एवं भाव दुष्टता के कारण उसका दिया हुआ तथाकथित पवित्र भोजन भी अपवित्र ही माना जाता है। अत: ऐसा भोजन ग्रहण करने वाला अपना लोक व परलोक दोनों ही बिगाड़ता है। धर्म साधन के जो नियम बतलाये गये हैं, उनके प्रतिकूल आचरण करने वाले मनुष्य का दान एवं भोजन आदि पूर्णत: दूषित हो जाता है। इसीलिए वेदशास्त्रों ने उसका त्याग करने की आज्ञा दी है॥९॥

अब अगले सूत्र द्वारा सूत्रकार भोजन की पवित्रता एवं उससे प्राप्त फल का विवेचन करते हुए कहते हैं—

(२५२) असति चाभावात्॥१०॥

सूत्रार्थ— अभावात् = देने वाले में दानादि के पवित्र गुण श्रद्धादि का अभाव होने के कारण, च = भी, असति = उसका दिया हुआ शुद्ध भोजन भी कल्याणकारी नहीं रहता है।

व्याख्या— दान देने वाला मनुष्य यदि वेदशास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट नियमों के अनुपालन में तत्पर है, यम आदि का पालन भी करता है, परन्तु इन गुणों के रहते हुए भी यदि उसकी भावना, शुद्ध भाव एवं सेवा आदि से शून्य है, भोजन करने-कराने तथा दानादि के प्रति उपेक्षा एवं अविश्वास पूर्ण है, तो उसका दिया दान व भोजन न तो उसके लिए कल्याण का साधन बनेगा और न गृहीता के लिए ही पारलौकिक सुख का हेतु होगा। सूत्रकार के समझाने का भाव यह है कि भोजन कराने एवं दान देने रूप पवित्र कर्म में श्रद्धा का प्रबल एवं पुनीत भाव समाहित होना चाहिए, उसी तरह गृहीता के हृदय में भी प्रतिग्रह रूप कर्म

के प्रति शुद्ध सात्विक श्रद्धा भाव रहना चाहिए॥ १०॥

प्रश्न उठता है कि जब धर्म ही सुख का मूल माना गया है तथा अधर्म आदि को दुखों का हेतु बताया गया है, तो वेद विहित धर्माचरण से अनुराग न रखकर मनुष्य पापकर्म में क्यों लग जाता है? सूत्रकार ने कहा—

(२५३) सुखाद्रागः॥ ११॥

सूत्रार्थ— सुखात् = सुखदायक विषयों के सेवन से मिलने वाले सुख से, रागः = उन विषयों के प्रति आसक्ति का हो जाना।

व्याख्या— आसक्ति के होने में सुख ही कारण होता है। जिन-जिन विषयों के सेवन से मनुष्य सुख का अनुभव करता है, उन-उन विषयों के प्रति मन का अनुराग विकसित होने लगता है, वही आसक्ति का रूप ले लेता है। मन का स्वभाव ही है सुन्दर, सुरस, सुगन्धित एवं सुस्पर्श वाली वस्तुओं में अनुरक्त होना। सुन्दर शरीर, सुस्वाद पेय, स्वादिष्ट भोजन, सुगन्धित तेलादि के प्रति मनुष्य मन की रुचि सहज एवं स्वाभाविक होती है। इन विषयों में उन्हें अपार सुख का अनुभव होता है, इन्हें प्राप्त करके वह धर्म एवं भगवान् तक को विस्मृत कर देता है। इनकी आसक्ति से मनुष्य अपने जीवन पथ का भी ध्यान नहीं रखता, अतः उसका जीवन द्वेष, दुर्भाव एवं दुःखों आदि से भर जाता है। जिनमें मनुष्य की आसक्ति है, जब वे विषय उससे दूर हो जाते हैं, तब वह उन्हें पाने के लिए प्रयास आरम्भ करता है, वही प्रयास उसके लिए अपार दुःखों का कारण बन जाते हैं, अतएव ऐसे विषयों एवं विषय जन्य सुखों का परित्याग कर मनुष्य आत्मचिन्तन करता हुआ आत्मोन्नति हेतु अपने कल्याण का मार्ग अपनाये, यही वेद विहित मार्ग है॥११॥

विवेचना के इसी क्रम में अगले सूत्र द्वारा सूत्रकार राग की उत्पत्ति का एक और कारण बतलाते हुए कहते हैं-

(२५४) तन्मयत्वाच्च॥ १२॥

सूत्रार्थ— तन्यमयत्वात् = तन्मय होने के कारण, च = भी (राग का उत्पन्न होना पाया जाता है)।

व्याख्या— किसी इच्छित वस्तु की प्राप्ति में जब दो व्यक्ति पूर्ण मनोयोग से लग जाते हैं अर्थात् तन्मय हो जाते हैं, तब उन दोनों के बीच में राग-द्वेष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि कोई अन्य उस मनोभिलषित वस्तु की प्राप्ति में सहायक की भूमिका का निर्वाह करता है, तो उसके प्रति अनुराग पैदा हो जाता है। तन्मयता के कारण ही अधर्माचरण से मनुष्य अपने को अलग नहीं कर पाता है। चोरी, डकैती, हिंसा, बलात्कार आदि कुकर्म इसी तन्मयता के ही परिणाम हैं। धन की लालसा, काम वासना की प्रबल ललक मनुष्य को इस तरह लीन कर देती है कि वह उसे पाने के लिए बड़े से बड़ा खतरा भी उठा लेता है। अतः राग व द्वेष आदि की उत्पत्ति में तल्लीनता अथवा तन्मयता भी एक कारण है॥ १२॥

एक अन्य कारण का उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने अगले सूत्र से उसे समझाते हुए बताया-

(२५५) अदृष्टाच्च॥ १३॥

सूत्रार्थ— अदृष्टात् = ऐसे कारण जो प्रत्यक्ष नहीं हैं तथा जिन्हें प्रारब्ध कहा जाता है, उस अदृष्ट से, च = भी उपर्युक्त दोषों का होना माना गया है।

व्याख्या— सामाजिक जीवन क्रम में कभी-कभी ऐसा भी देखने को मिलता है, जब अकारण ही किसी से राग एवं किसी से द्वेष हो जाया करता है। उस स्थिति में कोई प्रत्यक्ष कारण का होना नहीं पाया जाता, अतएव वहाँ प्रारब्ध अथवा पूर्व जन्मों के संस्कार जनित हेतु को ही माना गया है। पिछले जन्मों के संस्कारों की

प्रबलता से पारस्परिक खिंचाव एवं परस्पर विरोधी भावों की स्थिति बन जाती है। अतएव अदृष्ट के कारण भी राग-द्वेष का होना सिद्ध होता है ॥१३॥

यहाँ आशंका होती है कि यह राग-द्वेष एक ही जाति वालों में होते हैं या अन्य योनि से उत्पन्न प्राणियों में भी इनका होना होता है ? सूत्रकार ने कहा—

(२५६) जातिविशेषाच्च ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ— जातिविशेषात् = जाति विशेष के कारण, च = भी, राग-द्वेष पैदा हो सकते हैं।

व्याख्या— जाति विशेष के कारण भी राग अथवा द्वेष का उत्पन्न होना पाया जाता है। मानव योनि में जन्म लेने वाले मनुष्यों का फल-फूल, अन्न, उत्तम खाद्य पदार्थों एवं मधुर शीतल जल आदि के प्रति राग होता है। उसी प्रकार से पशु की योनि में जन्मे गाय, बैल, घोड़े आदि पशु घास, भूसा, खली आदि के प्रति विशेष रुचि रखते हैं, जिसमें सिंह आदि हिंसक पशु की कोई प्रीति नहीं रहती; क्योंकि उनका राग मांस व हिंसा में रहता है। कहावतें भी सुनी जाती हैं कि अमुक और अमुक में हाथी एवं घोड़े जैसी स्थिति तथा एक अन्य कहावत- साँप एवं नेवले की प्रसिद्ध है। ये सब दृष्टान्त यह प्रमाणित करते हैं कि जाति विशेष के कारण भी राग-द्वेष उत्पन्न होता है ॥१४॥

राग द्वेष की उत्पत्ति के कारणों की विवेचना करने के उपरान्त उसी क्रम में राग-द्वेष से ही धर्म एवं अधर्म की प्रवृत्ति का कथन करते हुए अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं-

(२५७) इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मयो: प्रवृत्ति: ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ— धर्माधर्म = धर्म अथवा अधर्म में, प्रवृत्ति: = प्रवृत्त होना भी, इच्छाद्वेष = रागद्वेष, पूर्विका = पूर्वक है।

व्याख्या— राग अर्थात् इच्छा एवं द्वेष के कारण ही मनुष्यों की प्रवृत्ति धर्म एवं अधर्म में होती है। किसी का उपकार करने की इच्छा, परोपकार रूपी उस पुण्यकर्म के प्रति राग उत्पन्न कर देती है और वही परोपकार रूप कर्म, धर्म को प्रकट कर देता है। यज्ञ दानादि शुभ कर्मों के प्रति प्रबल इच्छाशक्ति मनुष्य को धर्म-सम्पन्न बना देती है। उस धर्म-सम्पन्न व्यक्ति के धार्मिक क्रियाकलापों एवं उसे प्राप्त सम्मान को देख, अन्य व्यक्ति जिसकी प्रवृत्ति परोपकार रूप,धर्मादि कार्यों में नहीं है, वह भी ईर्ष्या-द्वेषवश नाम होने, सम्मान पाने के लोभवश यज्ञादि कार्यों में प्रवृत्त हो जाता है। इस तरह द्वेष के कारण मनुष्य की प्रवृत्ति धर्म एवं अधर्म में हो जाती है। इसी तरह से धन, स्त्री आदि को लेकर जो पारस्परिक द्वेष-दुर्भाव उत्पन्न होता है, वह अधर्म का जनक होता है ॥१५॥

इस धर्म एवं अधर्म के परिणाम स्वरूप ही संसार में मनुष्यों का आवागमन रूप चक्र सदैव चलता रहता है। सूत्रकार का अगले सूत्र द्वारा कथन है—

(२५८) तत्संयोगो विभाग: ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ— तत् = उपर्युक्त धर्म एवं अधर्म रूप कर्मों द्वारा ही, संयोग: = जन्म रूप संयोग एवं, विभाग: = मरण रूप विभाग का होना कहा गया है।

व्याख्या— शरीर, इन्द्रिय एवं अन्त:करण आदि का आत्मा के साथ सम्बन्ध को ही 'संयोग' कहा गया है तथा उपर्युक्त शरीर, इन्द्रिय आदि का आत्मा से पृथक् हो जाना ही 'विभाग'। जन्म एवं मृत्यु का होना धर्म एवं अधर्म के कर्मों पर ही आश्रित है। पुण्य एवं पाप कर्मों के भोगों को भोगने हेतु ही ईश्वरीय न्याय

व्यवस्था के अन्तर्गत जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। इसी आवागमन के फलस्वरूप संसार रूप चक्र चलता रहता है। जब मनुष्य के धर्म एवं अधर्म रूप कर्मों का सम्पूर्ण भोग समाप्त हो जाता है, तब जन्म-मरण का होना भी समाप्त हो जाता है। अतएव धर्म एवं अधर्म में प्रवृत्ति तथा जन्म एवं मरण में राग-द्वेष ही कारण है ॥ १६ ॥

परोपकार रूप धार्मिक कर्मों के फलस्वरूप आत्मोन्नति एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है, यही अगले सूत्र में सूत्रकार बतलाते हैं—

(२५९) आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ— आत्मकर्मसु = आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए जिन कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है,उन पुण्य कर्मों से, मोक्षः = जीवन्मुक्त अर्थात् मोक्ष प्राप्ति की बात, व्याख्यातः = कही गई है।

व्याख्या— आत्मज्ञान के अभाव में जीवात्मा मुक्त नहीं हो सकता, अतः भौतिक प्रलोभनों एवं सांसारिक आसक्तियों को त्यागने पर ही आत्म चिन्तन का दिव्य प्रकाश मिथ्याज्ञान रूप 'तम' का विनाश करता है। विषय भोगों की ओर से इन्द्रियों एवं मन के विमुख हुए बिना आत्मा विशुद्ध ज्ञान को ग्रहण नहीं कर पाता, फलतः उसमें अज्ञान ही बना रहता है। इसीलिए ऋषि-मुनि यम-नियम योगादि के द्वारा मन एवं इन्द्रियों को वश में करके मोक्ष प्राप्ति की बात बतलाते हैं। अतएव मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति हेतु आत्मज्ञान के लिए पूर्ण प्रयास करना चाहिए॥१७॥

॥ इति षष्ठाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम् ॥

॥ अथ सप्तमाध्याये प्रथमाह्निकम् ॥

पिछले अध्याय में धर्म एवं अधर्म की विवेचनात्मक अभिव्यक्ति करने के उपरान्त अब इस सातवें अध्याय में उन गुणों का परीक्षण करते हैं, जिनके उपदेश, विभाग एवं लक्षणों का उल्लेख पूर्व के अध्यायों में हो चुका है। गुणों के नित्य अथवा अनित्य होने की स्थिति स्पष्ट करने के उद्देश्य से उनकी परीक्षा करते हुए कहते हैं कि—

(२६०) उक्ता गुणाः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— गुणाः = वे गुण जिनका परीक्षण होने जा रहा है, उक्ता = उन सबका कथन पूर्व में हो चुका है।

व्याख्या— रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि २४ गुणों की विवेचना प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक में की जा चुकी है। प्रस्तुत आह्निक में पाँच प्रकार के (१. नित्य २. अनित्य ३. पाकज ४. संख्या तथा ५. परिमाण) गुणों के परीक्षण का कार्य सम्पन्न किया जायेगा। इस प्रथम आह्निक में उपर्युक्त इन्हीं पाँचों प्रकार के गुणों की परीक्षा की जायेगी ॥१ ॥

प्रारम्भ में सर्वप्रथम रूपादि चारों गुणों के परीक्षण का क्रम अपनाते हुए सूत्रकार उनकी अनित्यता को प्रमाणित करते हुए कहते हैं—

(२६१) पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— पृथिव्यादि = पृथ्वी आदि पदार्थों के, रूपरसगन्धस्पर्शाः = रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श आदि गुण, द्रव्यानित्यत्वात् = द्रव्यों की अनित्यता के कारण, अनित्यः = अनित्य हैं, च = तथा (द्रव्य की अनित्यता से गुण भी अनित्य ही हैं)।

व्याख्या— पूर्व के अध्याय में पंचभूतों की विवेचना के क्रम में जिन पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु के गुणों की अभिव्यक्ति की गई थी, वे रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श-चारों गुण अनित्य ही हैं। द्रव्यों के अनित्य होने के कारण गुणों की भी अनित्यता सिद्ध हो जाती है। कारण कि गुण सदैव किसी न किसी द्रव्य के ही आश्रय में रहते हैं, विनाशी पदार्थों में ही गुणों का अस्तित्व रहता है, वस्तु की विनष्टता के साथ ही गुण भी समाप्त हो जाते हैं। इस तरह सूत्रकार ने गुणों की अनित्यता प्रमाणित की ॥२ ॥

उपर्युक्त विवेचना को और अधिक स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(२६२) एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— एतेन = उपर्युक्त कथन के द्वारा ही, नित्येषु = नित्यत्व से युक्त द्रव्यों में, नित्यत्वम् = नित्यतारूप गुणों का होना, उक्तम् = बतलाया है।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या में यह कहा गया है कि जो द्रव्य नित्यतायुक्त न होकर अनित्य हैं, उनमें पाये जाने वाले गुण भी अनित्य ही होंगे। इसके विपरीत जिन द्रव्यों की सत्ता अनित्य नहीं है, वे अविनाशी द्रव्य नित्य गुणों से युक्त होते हैं। वे नित्य द्रव्यों के आश्रित रहने वाले गुण सदैव नित्य ही होते हैं। गुणों के परीक्षण के क्रम में इस तरह से नित्य एवं अनित्य गुणों की परीक्षा करके अपना मन्तव्य प्रकट किया ॥३ ॥

इस प्रकार सूत्रकार ने नित्य एवं अनित्य की स्थिति का विवेचन करके और भी सरल ढंग से इसे समझाने का भाव रखकर अगला सूत्र प्रस्तुत किया है—

(२६३) अप्सु तेजसि वायौ च नित्या द्रव्यनित्यत्वात् ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ— अप्सु = जल के परमाणुओं में, तेजसि = अग्नि के परमाणुओं में, च = तथा, वायौ = वायु

के परमाणुओं में, द्रव्यनित्यत्वात् = द्रव्यों की नित्यता के कारण, नित्याः = उन द्रव्यों के गुण भी नित्य हैं।

व्याख्या— द्रव्य एवं उन द्रव्यों के आश्रय में रहने वाले गुण, एक-दूसरे के साथ समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इस समवाय के कारण जल के परमाणुओं में रूप, रस एवं स्पर्श गुण की नित्यता की स्थिति अनुभव में आती है। इसी तरह अग्नि के परमाणुओं में रूप एवं स्पर्श की नित्यता देखी जा सकती है। वायु के परमाणु में भी स्पर्शगुण के नित्यता की मान्यता सर्वविदित है। इस तरह से नित्य द्रव्यों में रहने वाले गुणों की नित्यता की विवेचना की गई है॥ ४॥

अगले सूत्र में सूत्रकार अनित्य द्रव्यों के गुणों का अनित्य होना बतलाते हैं—

(२६४) अनित्येष्वनित्या द्रव्यानित्यत्वात्॥ ५॥

सूत्रार्थ— द्रव्यानित्यत्वात् = द्रव्य के अनित्य होने के कारण, अनित्येषु = जलादि अनित्य द्रव्यों में, अनित्याः = इन जलादि द्रव्यों में (जो अनित्य हैं) पाये जाने वाले गुण भी अनित्य होते हैं।

व्याख्या— नियमानुसार जो द्रव्य अनित्य कार्यरूप वाले हैं, उनकी गुणवत्ता भी अनित्य ही होती है। जलादि द्रव्यों में जो रूपादि गुण पाया जाता है, वह जल के रहने तक ही रहता है, पानी के सूखते ही गुणों की समाप्ति हो जाती है। जल नित्य नहीं है, अतएव जल के गुण भी नित्य नहीं हो सकते। इस तरह विनाशी आश्रय में रहने वाले गुण विनाशी ही होंगे, यह सिद्ध होता है॥ ५॥

अब अग्रिम सूत्र द्वारा सूत्रकार पृथ्वी के गुणों की विवेचना करते हुए कहते हैं—

(२६५) कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः॥ ६॥

सूत्रार्थ— पृथिव्याम् = पृथ्वीरूप कार्य द्रव्य के भीतर, पाकजाः = अन्य द्रव्यों के परमाणु समवाय से जो पकने के गुणों की उत्पत्ति होती है, (वह) कारणगुणपूर्वकाः = अपने-अपने कारणों के गुण पूर्वक होते हैं।

व्याख्या— पृथ्वी रूप कार्य द्रव्य में जो रूप, रस एवं गन्ध का होना पाया जाता है, वह दूसरे द्रव्यों के साथ पकने के कारण ही है। उन गुणों का उत्पन्न होना, उनके अपने-अपने कारणों द्वारा ही होता है। कपड़ा बुनने में जिस तरह के सूत्र अथवा धागों का प्रयोग होगा, कपड़ा उसी तरह सूती, रेशमी, ऊनी एवं धागों के रंग का ही बनेगा। जैसे कारण होंगे, कार्य का स्वरूप भी वैसा ही होगा। पौधे में लगा हुआ गुलाब का फूल एवं उसकी सुगन्ध, कागज के गुलाब में नहीं मिल सकती। जिस तरह के फूलों से माला गूँथी जायेगी, वैसे ही फूलों की सुगन्ध माला में रहेगी। यहाँ यदि कोई आशंका व्यक्त करे कि जो आँखों द्वारा देखा जा सके, वही रूपवान् है। जिसे जिह्वा ग्रहण कर सके वही रस है। समाधान यह है कि आँखों को बन्द कर लेने से रूप नहीं नष्ट होता। रूप का रूपत्व आँखों के नष्ट हो जाने पर भी नहीं नष्ट होता। जैसे नृत्य से नर्तक का सम्बन्ध है, वैसे ही रूपत्व का रूप से। इसी तरह जिह्वा के विनष्ट होने से रस का विनष्ट होना नहीं पाया जाता। अवयवी एवं अवयव सदैव साथ ही रहते हैं, अलग नहीं होते॥६॥

आशंका होती है कि पृथ्वी में गन्ध, रूप, रस एवं स्पर्श आदि सभी गुण पाये जाते हैं, जबकि पृथ्वी का गुण केवल गन्ध ही है, ऐसा क्यों है? सूत्रकार ने बताया—

(२६६) एकद्रव्यत्वात्॥ ७॥

सूत्रार्थ— एकद्रव्यत्वात् = पृथ्वीरूप एक ही द्रव्य में समाहित (समवाय) होने के कारण भी।

व्याख्या— यथार्थतः तो गन्ध ही पृथ्वी का गुण है, क्योंकि वह स्वाभाविक है और हर एक गुण अपने एक- मात्र द्रव्य के आश्रित रहा करते हैं। न्यायानुसार स्थूल वस्तु के गुण, सूक्ष्म वस्तु में नहीं आते; परन्तु सूक्ष्म वस्तु के गुण स्थूल में आ जाते हैं। इस तरह स्थूल द्रव्य पृथिवी में उससे सूक्ष्म जल एवं उससे भी सूक्ष्म अग्नि तथा और भी सूक्ष्म वायु के गुण आ जाते हैं। जल का गुण रस, अग्नि का रूप एवं वायु का स्पर्श, पृथिवी

में उससे सूक्ष्म जल एवं उससे भी सूक्ष्म अग्नि तथा और भी सूक्ष्म वायु के गुण आ जाते हैं। जल का गुण रस, अग्नि का रूप एवं वायु का स्पर्श पृथिवी में अनुभव होता है, जबकि पृथिवी का अपना स्वभावगत गुण गन्ध ही है। अन्य स्थलों पर भी ऐसी ही स्थिति जाननी चाहिए। वैसे एक द्रव्य में एक ही गुण का होना सिद्ध है ॥७॥

अब रूपादि गुणों के परीक्षण के पश्चात् सूत्रकार परिमाण की परीक्षा का शुभारम्भ करते हुए प्रस्तुत सूत्र में कहते हैं—

(२६७) अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ— अणोः = अणु की, च = तथा, महतः = महत् परिमाण वाले की, उपलब्ध्यनुपलब्धी = उपलब्धि एवं अनुपलब्धि, नित्ये = नित्य, व्याख्याते = बतलायी गई है।

व्याख्या— सूत्रकार ने कहा कि सूक्ष्म पदार्थ, जो अणु होता है, उसका प्रत्यक्ष होना नहीं पाया जाता; परन्तु महत् परिमाण वाला पदार्थ प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है तथा इसकी नित्यता भी बताई गई है। परिमाण चार प्रकार का होता है– छोटा, बड़ा, सूक्ष्म एवं स्थूल। किसी भी वस्तु को देखे बिना उसका परिमाण नहीं जाना जा सकता। यह पदार्थ छोटा है कि बड़ा, सूक्ष्म है या स्थूल अथवा पतला है या मोटा। देखकर ही संसार के सभी पदार्थों का तथा परमाणु आदि का भी परिमाण ज्ञात होता है। परमाणु अति सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष दृष्टि में नहीं आते; परन्तु जब वही परमाणु पदार्थ का रूप धारण कर महत् परिमाण वाले हो जाते हैं, तब वे दिखाई देने लगते हैं। इसी आशय से सूत्र में अणु की अनुपलब्धि एवं स्थूल अर्थात् महत् की उपलब्धि का कथन नित्यता के साथ किया गया है ॥८॥

प्रश्न उठता है कि परमाणु अति सूक्ष्म कहे गये हैं, वे महत् परिमाण वाले कैसे हो जाते हैं, इस सूत्र में सूत्रकार ने समझाया है—

(२६८) कारणबहुत्वाच्च ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ— कारणबहुत्वात् = हेतुओं की अधिकता के कारण, च = तथा, (नैमित्तिक कारणों से भी) महत् परिमाण वाला होता है।

व्याख्या— कारणों की अधिकता से उनके महत् परिमाण तथा महत् परिमाण के संयोग से महत् गुणों का होना पाया जाता है। सूक्ष्म होने के कारण अकेला परमाणु जब अपने जैसे अनेकों परमाणुओं से संयुक्त हो जाता है, तब वही महत् कहलाता है। जबकि एकाकी परमाणु में विद्यमान अणु में लघुता ही है; परन्तु जब वह अनेकों परमाणुओं के साथ जुड़ गया, तब उसमें महत् गुण भी उत्पन्न हो जाता है। एक धागा जब अनेक धागों से मिलता है, तो वह वस्त्र रूप में परिवर्तित हो जाता है। धागों की संख्या जितनी अधिक होगी, वस्त्र उतने ही परिमाण वाला बनेगा। एक से दो, दो से तीन इस प्रकार अनेकों कारणों का संयोग मध्यम परिमाण वाले पदार्थ में महत् की उत्पत्ति करता है। एक धागे का दूसरे के साथ संयोग न होता तथा धागों की अधिकता न होती, तो वस्त्र रूप महत् का होना न पाया जाता। इसी तरह यदि धागे की लम्बाई से वस्त्र लम्बा तथा धागों की अधिकता से चौड़ा हो जाता है। इस चौड़ाई का कारण धागों का पारस्परिक संयोग एवं धागों की अधिकता ही है। इसी तरह से मिट्टी के खिलौने मिट्टी की न्यूनाधिकता से छोटे अथवा बड़े बनते हैं। वहाँ भी कारण मिट्टी की न्यूनाधिकता एवं अणुओं का पारस्परिक संयोग ही है ॥९॥

उपर्युक्त विवेचना के ही क्रम में अगले सूत्र में सूत्रकार परमाणु विषयक कथन करते हुए कहते हैं—

(२६९) अतो विपरीतमणु ॥ १० ॥

सूत्रार्थ— अतः = इससे, विपरीतम् = विपरीत, अणु = महत् परिमाण अलग प्रकार के परिमाण वाला अणु है।

व्याख्या— गत सूत्र की विवेचना में जो महत् परिमाण वाले पदार्थों का प्रत्यक्ष दिखाई देना कहा गया, उससे विपरीत दिखाई न पड़ने वाला पदार्थ अणु है, ऐसा बताया गया। कारण, संयोग के अभाव से अकेला अणु महत् गुण वाला नहीं होता, इसीलिए वह दृष्टि में नहीं आता है। वही अणु जब अनेकों अणुओं से संयुक्त होकर महत् परिमाण वाला हो जाता है, तब उसे हर कोई देख सकता है। कारण संयोग की बहुलता के कारण परिमाण का बढ़ना एवं कारण संयोग की अल्पता के कारण घटना होता है। इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि महत् परिमाण से भिन्न परिमाण वाला अणु परिमाण कहलाता है॥१०॥

चूँकि अणु संयोग से विहीन है, इसीलिए उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी कारण उसे महत् से विपरीत अर्थात् सूक्ष्म कहा गया, तो इस तरह विपरीत कहने का क्या तात्पर्य है? समाधान देते हुए सूत्रकार ने कहा—

(२७०) अणु महदिति तस्मिन् विशेषभावात् विशेषाभावाच्च॥ ११॥

सूत्रार्थ— अणु = सूक्ष्मता, महत् = स्थूलता का, इति = इस प्रकार, तस्मिन् = उस परिमाण युक्त पदार्थ में, विशेषभावात् = विशेष के होने से, च = तथा, विशेषाभावात् = विशेष के अभाव से ही होना पाया जाता है।

व्याख्या— पूर्व में कहा जा चुका है कि छोटे एवं बड़े का कथन जो व्यवहार में लाया जाता है, वह अपेक्षाकृत कहलाता है। आँवले से बिल्वफल बड़ा होता है, बिल्वफल की अपेक्षाकृत आँवला छोटा है। पदार्थ के रचनात्मक स्वरूप से ही उसके छोटा होने या बड़ा होने का ज्ञान होता है। घड़ा, आँवले एवं बिल्वफल से भी बड़ा है; क्योंकि उसमें बड़ापन है। इसीलिए घड़े में विशेषता है। एक से दो बड़ा है, एक-एक धागे की वह सूक्ष्मता ही उसके महत् होने में कारण है। यदि वह धागा न होता, तो उसके साथ अन्य धागे कैसे जुड़ पाते। इसी कारण परमाणुओं में भी जो अवयव के सहित हैं, उनका बड़ा होना स्वभावगत है; किन्तु जहाँ अल्प मात्रा में होते हैं, वहाँ उनका स्वरूप अपेक्षाकृत छोटा होता है। परमाणुओं की जो सूक्ष्मता है, वही नित्य होने के साथ उसका कारण भी है। एक अकेला परमाणु नित्य है; क्योंकि अनित्य तो तब होता है, जब वह क्रमशः द्व्यणुक से बढ़ते-बढ़ते बड़ा होकर कार्य रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार से यह जो कहा गया कि अमुक पदार्थ अमुक से छोटा है, उसे अपेक्षाकृत ही बताया है॥११॥

यहाँ जो अपेक्षाकृत छोटे होने की बात कही है, इसे बिना प्रमाण के कैसे माना जाय? सूत्रकार ने बताया—

(२७१) एककालत्वात्॥ १२॥

सूत्रार्थ— एककालत्वात् = छोटा होना एवं बड़ा होना, एक समय में होने के कारण ही कहा जाता है।

व्याख्या— एक समय में ही किसी वस्तु को किसी वस्तु से छोटा अथवा बड़ा कहा जा सकता है। जब तक एक साथ- एक ही समय में एक ही स्थान पर घड़ा, आम एवं आँवला विद्यमान न हो, तब तक यह कैसे कहा जा सकता है कि आँवले से बड़ा आम है और आम से बड़ा घड़ा है। देखने में घड़े से आम अपेक्षाकृत छोटा है और आँवला, आम से अपेक्षाकृत छोटा है। यहाँ ध्यान देने योग्य यह भी है कि वस्तु के आकार-प्रकार का छोटा-बड़ा रूप गुण एक दूसरे के विरुद्ध है। एक ही पदार्थ में एक समय में उनका साथ रहना सम्भव नहीं हो सकता। घड़े के विनष्ट हो जाने पर भी घड़े का स्वरूप, उसका आकार-प्रकार नष्ट नहीं होता। परमाणुओं की न्यूनाधिकता से ही वस्तु का छोटा अथवा बड़ा होना, एक समय में उनका ज्ञान होना आदि व्यवहार में दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि छोटा या बड़ा आदि का होना एक समय में ही जाना जा सकता है॥ १२॥

उपर्युक्त कथन की पुष्टि में और भी प्रमाण प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार ने कहा—

(२७२) दृष्टान्ताच्च॥ १३ ॥

सूत्रार्थ— दृष्टान्तात् = (उपर्युक्त कथन की सिद्धि) दृष्टान्त से, च = भी होती है।

व्याख्या— गत सूत्र के विवेचन में जो घड़ा, आम एवं आँवला का दृष्टान्त दिया गया। इसी तरह अन्य दृष्टान्तों से भी उपर्युक्त कथन की सिद्धि हो जाती है। उदाहरणार्थ हाथी से भैंस छोटी होती है; परन्तु बकरी से भैंस बड़ी होती है। सारस पक्षी से गौरैया छोटी है, चूहा बिल्ली से छोटा है और चूहा से खरगोश बड़ा है। इन दृष्टान्तों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हाथी से भैंस, सारस पक्षी से गौरैया अपेक्षाकृत छोटी होती है। लोक व्यवहार में इन्हें प्रत्यक्ष देखा भी जाता है। यही बात परिमाण (मात्रा) के लिए भी लागू होती है॥१३॥

यहाँ भी एक आशंका होती है कि जो छोटी है वह और अधिक छोटी तथा जो बड़ी है, वह और भी अधिक बड़ी कही जाती है। इस तरह के कथन का क्या आशय है? गुण में गुण बतलाने का क्या तात्पर्य है? सूत्रकार ने इसी को स्पष्ट करते हुए कहा—

(२७३) अणुत्वमहत्त्वयोरणुत्वमहत्त्वाभावः कर्मगुणैर्व्याख्यातः ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ— अणुत्वमहत्त्वयोः = पदार्थ की अणुता एवं महत्ता में, अणुत्वमहत्त्वाभावः = सूक्ष्मता एवं स्थूलता का न होना, कर्मगुणैः = कार्यों एवं गुणों द्वारा, व्याख्यातः = बतलाया गया है।

व्याख्या— पदार्थ की अणुता एवं महत्ता में अणुत्व एवं महत्त्व का न होना, गुण में गुण एवं कर्म में कर्म के अभाव के विवेचन से ही स्पष्ट होना पाया गया है। पूर्व में यह कहा जा चुका है कि गुण सदैव द्रव्य के ही आश्रय में रहता है, कर्म अथवा गुण के आश्रय में नहीं। कर्म या गुण का परिमाण उनके आकार-प्रकार के अभाव के कारण नहीं जाना जाता। ठीक वैसी ही स्थिति अणु एवं महत् की भी है। परिमाण की दृष्टि से उनमें भी बड़ा या छोटा होना नहीं होता। सूत्र का आशय यह है कि कर्म में कर्म के अभाव एवं गुण में गुण के अभाव की ही तरह सूक्ष्म अणु में सूक्ष्मता का अभाव तथा महत् में बड़ेपन का अभाव बना रहता है।

जिज्ञासा होती है कि इस प्रकार का अभाव क्यों बना रहता है? सूत्रकार ने कहा—

(२७४) कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणा व्याख्याताः ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ— कर्मभिः = उत्क्षेपण आदि कर्मों से, कर्माणि = कर्मों के सम्बन्ध का, च = तथा, गुणैः = रूपादि विशिष्ट गुणों से, गुणाः = गुणों के सम्बन्ध का, व्याख्याताः = (पूर्व में) विवेचन किया जा चुका है।

व्याख्या— पूर्व में कहा जा चुका है कि कर्म में कर्म का होना नहीं पाया जाता; परन्तु सक्रिय पदार्थों में क्रिया का होना पाया जाता है। उत्क्षेपण आदि में पदार्थ की सक्रियता से ही क्रिया दृष्टिगोचर होती है। गुण भी सदैव द्रव्य के आश्रित रहा करता है, अतएव द्रव्य में गुणत्व का होना, गुण के कारण ही पाया जाता है। गुण में गुण नहीं रहा करता। इस संदर्भ को पूर्व विवेचन से भली-भाँति समझा जा सकता है॥१५॥

प्रश्न उठता है कि आम बोलचाल के क्रम में यह कहते सुना जाता है कि यह क्रिया बड़ी है, यह छोटी है, यह गुण बड़ा है, यह छोटा है, वाक्य प्रयोग के इस व्यवहार से कर्मों में परिमाण गुण की प्राप्ति देखी जाती है। गुण में भी गुण-कर्म का होना पाया जाता है। सूत्रकार ने इसका समाधान करते हुए कहा—

(२७५) अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणाश्च व्याख्याताः ॥ १६ ॥

सूत्रार्थ— अणुत्वमहत्त्वाभ्याम् = अणुत्व एवं महत्त्व के कथन से, च = भी, कर्मगुणाः = कर्म एवं गुणों की, व्याख्याताः = विवेचना समझ लेनी चाहिए।

व्याख्या— प्रश्न का समाधान देते हुए सूत्रकार ने कहा— बोलचाल एवं लोक व्यवहार में जो शब्दों के प्रयोग से कर्म में परिमाण की बात कही गई, वह अपेक्षा अथवा उपचार से ही कही गई मानना चाहिए। जिस

तरह अणु में अणु का अभाव रहा करता है, उसी तरह महत्त्व में महत्त्व नहीं होता। छोटे में छोटापन एवं बड़े में बड़ापन नहीं रहा करता, वैसे ही गुणों में भी अणुता एवं महत्ता का होना नहीं पाया जाता। अपेक्षा अथवा उपचार से ही शब्दों के प्रयोग का होना हो सकता है ॥१६ ॥

अगले सूत्र द्वारा सूत्रकार ने कहा कि सूक्ष्म एवं स्थूल के विषय में भी ऐसा ही जानना चाहिए—

(२७६) एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते ॥ १७ ॥

सूत्रार्थ— एतेन = इस प्रकार गत विवेचनों द्वारा, दीर्घत्व = दीर्घ होना, (एवं) ह्रस्वत्वे = छोटा होना, व्याख्याते = भी समझना चाहिए।

व्याख्या— गत सूत्रों के माध्यम से अणु एवं महत् परिमाण विषयक जो विवेचना की गई है, उसी के अनुरूप प्रस्तुत सूत्र में वर्णित दीर्घत्व एवं सूक्ष्मत्व परिमाण विषयक व्याख्या समझ लेनी चाहिए। दीर्घत्व एवं सूक्ष्मत्व से युक्त परिमाण भी गुणों की ही तरह मात्र पदार्थ के ही आश्रय में रहते हैं। गुण एवं कर्म नहीं रहा करते। सूक्ष्म में सूक्ष्मत्व एवं दीर्घ में दीर्घत्व का ही होना पाया जाता है, इसी कारण सूत्र में ह्रस्व अर्थात् सूक्ष्म एवं दीर्घ अर्थात् स्थूल का कथन करके सूक्ष्म पदार्थ में सूक्ष्मता एवं दीर्घ पदार्थ में दीर्घत्व की मान्यता प्रस्तुत की गई है॥१७ ॥

गत सूत्रों में जो परिमाण विषयक विवेचना हुई है, वह परिमाण नित्य है अथवा अनित्य ? इसी आशंका का समाधान करते हुए सूत्रकार अगला सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं—

(२७७) अनित्येऽनित्यम् ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ— अनित्ये = जो पदार्थ नित्य नहीं हैं, उनमें रहने वाला परिमाण, अनित्यम् = नित्य न होकर विनाशी ही हुआ करता है।

व्याख्या— जिन द्रव्यों की उत्पत्ति उनके अपने कारणों द्वारा होती है, उन द्रव्यों की अनित्यता प्रमाण सिद्ध है और अनित्य द्रव्यों के परिमाण भी इसी आधार पर अनित्य ही हुआ करते हैं। यह परिमाण द्रव्याश्रित होते हैं। इसीलिए द्रव्य के विनष्ट हो जाने पर परिमाण भी समाप्त हो जाता है; क्योंकि आश्रय की समाप्ति से उसमें रहने वाले कार्य का नष्ट होना अनिवार्य हो जाता है। ज्ञातव्य है कि आश्रय के नष्ट होने से आश्रित नष्ट हो जाता है; परन्तु आश्रित के न रहने पर भी आश्रय विद्यमान रहा करता है। मकान के गिर जाने पर खण्डहर से वहाँ मकान था, ऐसा अनुमान होना स्वाभाविक है। फटा हुआ वस्त्र इसका अनुमान करा देता है कि कभी यह वस्त्र नया व मजबूत रहा होगा। इस विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि अनित्य पदार्थ का परिमाण अनित्य ही हुआ करता है ॥ १८ ॥

जिस तरह अनित्य के परिमाण अनित्य हुआ करते हैं, उसी प्रकार नित्य के नित्य। इसी तथ्य को समझाने के भाव से सूत्रकार अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

(२७८) नित्ये नित्यम् ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ— नित्ये = नित्य पदार्थों में रहने वाला परिमाण, नित्यम् = अनित्य न होकर नित्य ही हुआ करता है।

व्याख्या— जिस तरह गत सूत्र में कहा गया कि अनित्य का परिमाण अनित्य होता है, उसी प्रकार प्रस्तुत सूत्र से सूत्रकार नित्य द्रव्य में स्थित परिमाण को नित्य होना बतलाते हैं। आकाश आदि जितने नित्य पदार्थ हैं, उनके आश्रय में रहने वाला जो परिमाण है, वह नित्य ही रहेगा; क्योंकि आकाश एवं परमाणु अविनाशी हैं। इसलिए उनमें रहने वाला परिमाण भी अविनाशी ही रहेगा। इस प्रकार सूत्र के कथन की सिद्धि हो जाती है कि नित्य में रहने वाला परिमाण नित्य होता है ॥१९ ॥

उपर्युक्त कथन की पुष्टि में सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत करते हुए बताया—

(२७९) नित्यं परिमण्डलम्॥ २०॥

सूत्रार्थ— परिमण्डलम् = परिमण्डलाकार (गोल) परमाणु का परिमाण, नित्यम् = नित्य माना जाता है।

व्याख्या— परिमण्डलाकार गोल परमाणुओं की समष्टि से यह सम्पूर्ण सृष्टि विनिर्मित है। सृष्टि के प्रलय आदि में नष्ट हो जाने पर भी वे परमाणु नष्ट नहीं होते। परमाणुओं से सम्पूर्ण संसार घिरा हुआ है, वे परमाणु नित्य हैं। गोल परमाणु में आकाश का होना भी प्रमाणित है। अतएव अवयव वाले द्रव्यों में भी आकाश होगा तथा जिस द्रव्य में आकाश होगा, उस द्रव्य का विभाग भी हो सकता है और जिस द्रव्य में आकाश का होना नहीं होगा, उसमें विभाग भी नहीं हो सकेगा। इस आधार पर परिमण्डल की नित्यता सिद्ध हो जाती है॥२०॥

प्रश्न उठता है कि अणु व परमाणु प्रत्यक्ष में न तो दिखाई देते हैं और न ही उसका परिमाण, तब मात्र कहने भर से कैसे उक्त बात मानी जा सकती है? सूत्रकार ने समाधान रूप में कहा—

(२८०) अविद्या च विद्यालिङ्गम्॥ २१॥

सूत्रार्थ— अविद्या = अज्ञानता, च = भी, विद्या = ज्ञान का, लिङ्गम् = प्रमाण है।

व्याख्या— अविद्या एवं विद्या परस्पर विरोधी हैं। अविद्या से विद्या का ज्ञान होता है। अविद्या यह बताती है कि विद्या भी कोई वस्तु है, जो हमारे विरुद्ध लक्षणों वाली है। अविद्या विद्या के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करती है, यदि रात न हो तो दिन की पहचान भी न हो। बुराई से अच्छाई का महत्त्व समझ में आता है। इसी तरह अणुत्व एवं महत्त्व की जानकारी भी प्राप्त होती है। महत् परिमाण से युक्त परमाणु की अणुत्वता की पहचान इसी से होती है। एक परमाणु का सूक्ष्म होना उसका अणुत्व है और इसके विरुद्ध एक से अधिक परमाणुओं का समुच्चय उसका महत्त्व माना जाता है। इस तरह एक से अधिक परमाणुओं से उत्पन्न महत्त्व से मात्र एक ही अणु की सूक्ष्मता प्रमाणित हो जाती है॥२१॥

इसके अनन्तर अब सूत्रकार अगले सूत्र से आकाश एवं आत्मा के परिमाण की विवेचना करते हुए कहते हैं—

(२८१) विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा॥ २२॥

सूत्रार्थ— आकाशः = आकाश, च = और, आत्मा = आत्मा, तथा =(उपर्युक्त विवेचना की तरह) वैसे ही, विभवात् = विभुत्ववान् होने के कारण, महत् = महत् परिमाण से परिपूर्ण द्रव्य हैं।

व्याख्या— सर्वत्र संव्याप्त होने से आकाश व्यापक एवं विभुत्ववान् द्रव्य है। आकाश से बड़े परिमाण वाला दूसरा कोई भी द्रव्य नहीं है। आकाश का गुण 'शब्द' है, जिसकी व्यापकता भी आकाश के साथ सर्वत्र है, जिससे आकाश का विभु होना प्रमाणित हो जाता है। सावयव जितने भी द्रव्य हैं, सबसे आकाश का सावयव सम्बन्ध है। विभु आकाश की ही तरह आत्मा को भी व्यापक बताया है। उसका भी प्रत्येक शरीर से सम्बन्ध होना प्रमाणित है। आकाश एवं आत्मा का एक स्थल पर साथ होना भी पाया जाता है। आत्मा की सत्ता आकाश से भी अधिक सूक्ष्म है, इस कारण वह सावयव एवं निरवयव दोनों ही पदार्थों के बाहर-भीतर रहा करता है; परन्तु आकाश विभुता के कारण सावयव पदार्थ के भीतर एवं निरवयव पदार्थ के बाहर रहता है॥२२॥

नोट–कतिपय विद्वानों ने आत्मा के दो प्रकार का विवेचन करते हुए इसी सूत्र में आत्मा से परमात्मा की बात बतलायी है। उनकी अपनी मान्यता भी उचित है; क्योंकि कण-कण में व्याप्त परमात्मा सर्वव्यापक होने के कारण विभु है और आत्मा का विवेचन किया ही जा चुका है। आत्मा की गति सभी देशों-समस्त स्थानों में है।

इस तरह आकाश एवं आत्मा दोनों का विभुत्ववान् होना प्रमाणित हो जाता है। आकाश एवं आत्मा का

विभुत्व परिमाण प्रमाणित करके अब उसके विपरीत मन के परिमाण का विवेचन अगले सूत्र में करते हुए सूत्रकार ने कहा—

(२८२) तदभावादणु मनः ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ— तदभावात् = उसके (आकाश एवं आत्मा जैसा सर्वव्यापक) न होने के कारण, मनः = मन, अणु = अणु की भाँति है (मन का परिमाण अणु के समान ही है)।

व्याख्या— मन को अणु समान परिमाण वाला बताया गया है; क्योंकि मन, आत्मा एवं आकाश की तरह व्यापक एवं विभु नहीं है। मन एक समय में एक से अधिक विषयों का ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता, इस कारण मन का एक से अधिक स्थान में रहना नहीं सिद्ध होता। एक समय में एवं एक ही स्थान पर रहकर एक विषय का ज्ञान प्राप्त करने से मन की व्यापकता अप्रमाणित हो जाती है और मन का अणु परिमाण वाला होना सिद्ध हो जाता है॥ २३ ॥

मन का परिमाण बतलाने के पश्चात् सूत्रकार अगले सूत्र में, दिशाओं के परिमाण की स्थिति स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

(२८३) गुणैर्दिग् व्याख्याता ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ— गुणैः = गुणों से परिपूर्ण होने के कारण, दिक् = दिशा की भी, व्याख्याता = विवेचना की जा चुकी (ऐसा समझना चाहिए)।

व्याख्या— यह पूरब है, यह पश्चिम है, यह गाँव पास में है तथा वह गाँव दूर है। दिशाओं का बोध कराने के निमित्त होने वाला यह व्यवहार एक ही समय में एक से अधिक स्थानों में होता पाया जाता है। इसी कारण दिशा द्रव्य की व्यापकता प्रमाणित होती है। दिशाओं में जो अन्तर प्रतीत होता है, वह औपाधिक भेद से ही है। वस्तुतः दिशा का एकत्व ही मान्य है। इस प्रकार गुणों के साथ दिशा के परत्व एवं अपरत्व आदि लक्षणों के समान दिशा की भी विवेचना समझनी चाहिए, ऐसा सूत्रकार ने कहा॥ २४ ॥

दिशाओं के परिमाण का उल्लेख करने के पश्चात् अब अगले सूत्र में सूत्रकार काल के परिमाण का कथन करते हुए कहते हैं—

(२८४) कारणेन कालः ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ— कारणेन = कारण से, कालः = काल का व्याख्यान किया गया समझना चाहिए।

व्याख्या— राम श्याम से बड़ा है, यज्ञदत्त ब्रह्मदत्त से छोटा है। यह बच्चा ४ वर्ष का है और यह कन्या २ वर्ष की है। यह लड़का समय से पूर्व तैयार हो गया तथा गाड़ी चलने के समय तक भी वह छात्र नहीं आया। इस तरह का ज्ञान एवं व्यवहार मात्र एक ही स्थान पर तथा एक ही समय में न होकर अनेकों स्थानों में एवं हर समय होता रहता है, अतएव काल की व्यापकता, कारण की व्यापकता के समान सिद्ध की जा चुकी है। उपाधि के कारण ही दस दिशाओं का उल्लेख किया जाता है॥२५ ॥

॥ इति सप्तमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ॥

॥ अथ सप्तमाध्याये द्वितीयाह्निकम् ॥

पिछले प्रथम आह्निक में रूपादि चारों गुणों का परीक्षण किया गया। अब इस द्वितीय आह्निक में संख्या आदि गुणों की विवेचना प्रस्तुत की जायेगी। संख्या का परीक्षण करने के उद्देश्य से सूत्रकार संख्या को रूपादि चारों गुणों से अलग सिद्ध करने हेतु प्रस्तुत सूत्र कहते हैं—

(२८५) रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकात् = रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुणों से भिन्न होने के कारण, एकत्वम् = एक, दो, तीन इत्यादि संख्याओं की उपलब्धता, अर्थान्तरम् = भिन्न पदार्थ के रूप में भी होती है।

व्याख्या— एकत्व अर्थात् एक-दो आदि संख्यायें रूपादि गुणों की व्यभिचारी होने के कारण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों से भिन्न हैं तथा इन संख्याओं की उपलब्धता उन पदार्थों में भी पाई जाती है, जो रूपादि गुणों से रहित है। आकाश द्रव्य में स्पर्श गुण का होना नहीं पाया जाता; परन्तु आकाश संख्या में एक ही है अर्थात् एकत्व गुण आकाश में विद्यमान है, जो स्पर्श गुण से रहित है। अग्नि में रसादि का अभाव रहने पर भी एकत्व का होना पाया जाता है। जल द्रव्य में गन्ध गुण का होना नहीं होता; किन्तु जल भी संख्या में एक ही है, अर्थात् एकत्व गुण से युक्त है। वायु में रूप गुण का सर्वथा अभाव है; किन्तु वायु का एकत्व गुण प्रमाणित है। इसीलिए सूत्रकार ने कहा कि संख्या (एकत्व) रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से भिन्न है और उसकी प्रामाणिकता व्यतिरेक से सिद्ध होती है। संख्या एक से अधिक द्रव्यों में भी पाई जाती है, यह बात उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो चुकी है। एक घड़ा, दो घड़ा, तीन घड़ा, एक आदमी, दो आदमी, तीन आदमी, इसी तरह एक चपाती, दो चपाती, तीन चपाती आदि उदाहरणों से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि बहुत से पदार्थों में भी संख्याओं का होना पाया जाता है, अतएव रूपादि से संख्या पृथक् पदार्थ है ॥१॥

उपर्युक्त सूत्र की विवेचना से संख्या को रूपादि गुणों से भिन्न बतलाकर अब अगले सूत्र में पृथक्त्व को भी रूपादि गुणों से अलग प्रकार का होना बताते हैं—

(२८६) तथा पृथक्त्वम् ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— तथा = उसी प्रकार, पृथक्त्वम् = पृथक्त्व गुण को भी (रूपादि गुणों से भिन्न ही) समझना चाहिए।

व्याख्या— एकत्व की ही तरह पृथक्त्व भी रूपादि से भिन्न ही है। संख्याओं का रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि से सर्वथा भेद होना मात्र है। जब यह कहा जाता है कि यह घड़ा उस घड़े के जैसा नहीं है, तो इस कथन से पृथक्त्व बोध होना समझ में आ जाता है। अनेकों घड़ों में जल भरा है, इस कथन से जहाँ अनेकता की सिद्धि होती है कि घड़ा एक नहीं है, बहुत से हैं, तो वहीं घड़ों की एक जातीयता भी प्रमाणित हो जाती है। इस कथन में भी एकत्व एवं अनेकत्व अलग-अलग सिद्ध होते हैं। घड़े से अनेकता का पृथक् होना इस आधार पर प्रमाणित हो जाता है कि एक वचन के अर्थ में बहुवचन का प्रयोग नहीं हो सकता। एक घड़े को बहुत से घड़े नहीं कह सकते ॥२॥

उपर्युक्त विषय को ही और अधिक स्पष्ट रूप से समझाने का भाव रखकर सूत्रकार आगे के सूत्र में अतिदेश करते हुए कहते हैं—

(२८७) एकत्वैकपृथक्त्वयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥३॥

सूत्रार्थ— एकत्वैकपृथक्त्वयोः = एकत्व तथा एक पृथक्त्व गुण के अन्दर, एकत्वैक = एकत्व गुण

का, पृथक्त्वाभाव: = पृथक्त्व का अभाव है, अणुत्वमहत्त्वाभ्यां = अणुत्व और महत्त्व के विषय में, व्याख्यात: = विवेचन किया गया है।

व्याख्या— सातवें अध्याय के प्रथम आह्निक के चौदहवें सूत्र में यह सिद्ध किया जा चुका है कि अणु तथा महत् से पृथक् कोई नया अणु या महत् नहीं रहता। ठीक उसी प्रकार एकत्व एवं पृथक्त्व में भी उनसे पृथक् कोई और गुण का रहना नहीं पाया जाता। पिछले क्रम में यह बात स्पष्ट हो ही चुकी है कि गुण में दूसरा गुण नहीं रहा करता; क्योंकि गुण सदैव द्रव्य के आश्रित रहा करते हैं, गुण के आश्रित नहीं। एकत्व एवं पृथक्त्व गुण हैं, इसलिए इनमें अन्य गुण नहीं रह सकते ॥३॥

उपर्युक्त सूत्र की विवेचना में और अधिक स्पष्टीकरण देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(२८८) निःसंख्यत्वात् कर्मगुणानां सर्वैकत्वं न विद्यते॥ ४॥

सूत्रार्थ— निःसंख्यत्वात् = संख्या के न रहने के कारण, कर्मगुणानाम् = कर्म एवं गुणों के, सर्वैकत्वम् = समस्त द्रव्यों में एकत्व, न = नहीं, विद्यते = पाया जाता ।

व्याख्या— कर्मों एवं गुणों के संख्या रहित होने के कारण समस्त पदार्थों में एकत्व अर्थात् संख्याओं का होना नहीं पाया जाता। कर्म तथा गुण संख्या से भिन्न होने के कारण एकत्व की श्रेणी में नहीं पाये जाते। न तो कर्म गिने जाते हैं और न ही संख्या को गुण की संज्ञा ही दी जा सकती है; क्योंकि गुण सदैव द्रव्याश्रित रहा करता है। इस तरह संख्या न तो गुण है और न ही कर्म, अपितु दोनों से ही भिन्न सिद्ध होती है ॥४॥

प्रश्न यह उठता है कि लोक-व्यवहार में तो यह कहते हुए पाया जाता है कि पहला कार्य मैं निपटा देता हूँ और दूसरा तुम कर लेना ? इस प्रकार से तो गुण व कर्म संख्यात्मक प्रतीत होते हैं ? सूत्रकार ने समझाया—

(२८९) भ्रान्तं तत्॥ ५॥

सूत्रार्थ— तत् = वह कथन, भ्रान्तम् = भ्रान्तमूलक ही माना जायेगा।

व्याख्या— कर्मों एवं गुणों में जो संख्यात्मक एकत्व की ज्ञानात्मक प्रतीति होती है, वह भ्रम के कारण है। अतएव भ्रमयुक्त ज्ञान यथार्थ नहीं हो सकता। वैसे भी कर्मों एवं गुणों के आश्रय में रहने वाला एकत्व अर्थात् संख्या कर्म एवं गुण नहीं मानी जा सकती, यह तथ्य उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो चुका है। जिस प्रकार द्रव्य के आश्रय में रहने वाला गुण, द्रव्य से भिन्न प्रकार का है; ठीक वैसे ही संख्या को भी जानना चाहिए। इस तरह से जो उपर्युक्त कथन पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत हुआ था, उसका समुचित समाधान सूत्रकार ने प्रस्तुत किया ॥५॥

जिज्ञासा होती है कि लोक व्यवहार में जो एक घड़ा, एक कपड़ा, चार पदार्थ आदि का प्रयोग होते देखा जाता है, तो क्या वह भी भ्रान्ति से ही होता है ? सूत्रकार ने समझाया—

(२९०) एकत्वाभावाद्भक्तिस्तु न विद्यते॥ ६॥

सूत्रार्थ— एकत्वाभावात् = एकत्व संख्यादि के न रहने के कारण, तु = तो, भक्ति: = समानता पूर्ण धर्म (भाक्त प्रयोग), न = नहीं, विद्यते = रहता है।

व्याख्या— द्रव्यों में यदि संख्यादि एकत्व का रहना न हो, तो इन द्रव्यों का रहना भी नहीं हो सकता और ऐसी स्थिति में जब-जिस वस्तु की सत्ता का ही अभाव होगा, तब उसका भक्ति से होना माना ही नहीं जा सकता। अपने स्वरूप का जब कोई द्रव्य परित्याग नहीं करता, तब वहाँ भक्ति का होना सिद्ध होता है। आँखों द्वारा जब तक किसी वस्तु का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक उस वस्तु की भ्रमात्मक स्थिति का अनुभव नहीं

हो सकता। रस्सी में जो सर्प के भ्रम की बात देखी जाती है, उसके मूल में आँखों द्वारा सर्प का पूर्व में देखा जाना ही है। ठीक ऐसे ही गुण-कर्म में जो एकत्व की प्रतीति होती है, उसके मूल में एकत्व का द्रव्य में रहना है। जब एकत्व द्रव्याश्रित होता है, तभी ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है। द्रव्य में यदि भ्रान्ति से कर्म का होना मानें, तो द्रव्य के नष्ट होने पर कर्म में परिणाम का होना नहीं हो सकता। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि गुण एवं कर्म में एकत्व की भ्रान्ति तभी तक होती है, जब तक एकत्व द्रव्याश्रित रहता है ॥६॥

प्रश्न उठता है कि एकत्व का नित्य द्रव्यों में नित्य तथा अनित्य द्रव्यों में अनित्य होना कहा गया है। साथ ही कारण गुण पूर्वक गुणों का होना बतलाया जा चुका है। ऐसी स्थिति में कार्य एवं कारण एक दूसरे से भिन्न नहीं माने जा सकते ? सूत्रकार ने कहा—

(२९१) कार्यकारणयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावादेकत्वैकपृथक्त्वं न विद्यते॥ ७॥

सूत्रार्थ— कार्यकारणयोः = समान जाति वाले कार्य एवं कारण में, एकत्वैकपृथक्त्वाभावात् = एकत्व एवं एक पृथक्त्व का अभाव होने से, एकत्वैकपृथक्त्वम् = एकत्व एवं एक पृथक्त्व का होना, न = नहीं, विद्यते = पाया जाता।

व्याख्या— प्रश्न के समाधान में सूत्रकार ने कहा कि कारण एवं कार्य एक दूसरे से पृथक् हैं। अतः कारण का एकत्व कार्य को मान लेना सर्वथा निर्मूल होगा और यदि कार्य को कारण से अभिन्न मान लेंगे, तो कपास को कपड़ा एवं कपड़े को कपास कहना पड़ेगा। यथार्थतः न तो कपड़ा कपास है और न कपास कपड़ा। कपास तो कपड़े के रूप में तब होता है, जब वह कपास से रुई, रुई से धागा और धागों से संगठित होने पर वस्त्र बनता है। यदि कपास ही कपड़े की आवश्यकता पूरी कर सकता, तो उसे धुनकर रुई बनाने एवं सूत कातने से लेकर वस्त्र बनाने तक अनेकों प्रक्रियाओं की आवश्यकता ही न पड़ती। इस विवेचन से कार्य एवं कारण का भेद स्पष्ट हो जाता है। उपादान कभी स्वयं कार्य का रूप नहीं ले सकता, जबकि उपादान कारण ही कार्य को विनिर्मित करता है। जिस प्रकार मिट्टी के दो-चार कण घड़े का रूप नहीं ले सकते, वैसे ही उपादान कारण कार्य नहीं हो सकते। घड़े रूप कार्य की उत्पत्ति में मिट्टी के कण उपादान कारण हैं। जब बहुत से कण एक जुट होकर संयुक्त रूप लेते हैं, तब घड़ा बनता है। कारण पहले और कार्य बाद में। इस तरह कार्य से कारण का भिन्न होना सिद्ध हो जाता है ॥७॥

जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त विवेचन में जिस नियम का उल्लेख हुआ है, वह नियम नित्य द्रव्यों और अनित्य द्रव्यों दोनों में लागू होते हैं ? अथवा नित्य में ही या केवल अनित्य में ही ? सूत्रकार ने कहा—

(२९२) एतदनित्ययोर्व्याख्यातम्॥ ८॥

सूत्रार्थ— एतत् = ऐसा नियम, अनित्ययोः = एकत्व (अनित्य विषयक) तथा एक पृथक्त्व विषयक, व्याख्यातम् = पूर्वकृत व्याख्यान से समझ लेना चाहिए।

व्याख्या— पूर्व में यह कहा जा चुका है कि अनित्य एकत्व एवं एक पृथक्त्व, कारण गुण पूर्वक ही होते हैं। नित्य पदार्थों में एकत्व और एक पृथक्त्व दोनों की नित्यता एवं अनित्य पदार्थों में अनित्यता का होना सिद्ध किया जा चुका है। एकत्व एवं एकपृथक्त्व, अनित्य एकत्व एवं अनित्य एक पृथक्त्व का कारण नहीं हुआ करते। जिस प्रकार एकत्व एवं पृथक्त्व का कार्य एवं कारण में होना नहीं पाया जाता, उसी प्रकार एकत्व एवं पृथक्त्व का कार्य एवं कारण में होना नहीं पाया जाता, उसी प्रकार एकत्व एवं एक पृथक्त्व की अनित्यता भी स्वीकारी जा चुकी है। एकत्व एवं पृथक्त्व की प्रामाणिकता कार्य में कारण के गुणों के अनुरूप ही होती है। यथा रूप एवं स्पर्श कारण की विशिष्टता से ही विनाशी तेज का गुण क्रियान्वित होता देखा जाता है। जिस तरह एकत्व में अनेकत्व एवं द्वित्व का होना नहीं पाया जाता, वैसे ही नित्य द्रव्यों में एकत्व एवं एक पृथक्त्व की

अनित्यता भी नहीं पायी जाती। एक और एक मिलकर एक नहीं हुआ करते, अपितु दो हो जाते हैं। दो होने पर भी इनकी अनित्यता ही है अर्थात् एक और एक का संयोग अनित्य है तथा उनका विभक्त होना जुड़ा रहता है। यह संयोगत्व एवं विभागत्व दोनों ही अनित्यत्व से परिपूर्ण हैं। संयोग से ही बहुलता का स्वरूप विनिर्मित होता है। एक, दो एवं तीन के ऊपर बहुत का प्रयोग होता है। जहाँ तीन से अधिक वृक्षों का समूह रहता है, उसे बाग अथवा बगीचा कहा जाता है। इस तरह संख्या वहाँ गौंड़ हो जाती है। टोकरी फलों से भरी है, इस कथन में भी संख्या प्रत्यक्ष न होकर आभासित ही होती है, एक-एक फलों के संयोग से ही फलों की बहुलता (बहुत्व) का उत्पन्न होना एवं पृथक्-पृथक् होने की स्थिति में बहुत्व का नष्ट हो जाना यह सिद्ध करता है एकत्व एवं एक पृथक्त्व नित्य न होकर अनित्य ही हैं ॥८॥

उपर्युक्त क्रम में एकत्व संख्यादि के विवेचन को पूर्ण करने के पश्चात् अब सूत्रकार संयोग परीक्षण विषयक विवेचन प्रस्तुत करते हुए यह सूत्र देते हैं—

(२९३) अन्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोगजश्च संयोगः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ— अन्यतरकर्मजः = दो पदार्थों में से किसी एक पदार्थ के कर्म द्वारा उत्पन्न, (अथवा) उभयकर्मजः = दोनों ही पदार्थों के कर्म से उत्पन्न, च = तथा, संयोगजः = संयोग से उत्पन्न होने को, संयोगः = संयोग होना कहलायेगा।

व्याख्या— दो द्रव्यों का मिलना संयोग कहलाता है। सूत्रकार ने तीन प्रकार के संयोगों की बात कही है। प्रथम तो यह कि दो द्रव्यों में से एक द्रव्य कर्मयुक्त हो तथा दूसरा द्रव्य क्रियाविहीन; तो पहले क्रियायुक्त द्रव्य का संयोग दूसरे क्रियाविहीन द्रव्य से हो और क्रियाविहीन द्रव्य में भी कर्म उत्पन्न हो जाय। यह प्रथम संयोग कहलायेगा।

दूसरा यह कि दोनों ही पदार्थ कर्मयुक्त हों तथा दोनों का मिलाप होने पर दोनों ही क्रियावान् हो उठें, इसे दूसरे प्रकार का संयोग कहा जायेगा।

तीसरा संयोग से उत्पन्न होने वाला संयोग, जिस संयोग में दो द्रव्यों का मिलाप होने पर दोनों की क्रियायें पहले से अधिक बलवती हो उठें। इसी को अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता है- जिस वस्तु की प्राप्ति पूर्व में न हुई हो, यदि वही मिल जाय, तो उस मिलने को कर्म द्वारा होने वाला संयोग कहा जायेगा। यथा- एक कबूतर किसी वृक्ष पर उड़ते-उड़ते जाकर बैठ गया, जहाँ पूर्व में वह नहीं था; परन्तु अब पक्षी (कबूतर) आकर बैठा, तो उसके बैठने से वृक्ष के साथ उसका संयोग हुआ। इस उत्पन्न संयोग में कबूतर कर्मयुक्त है तथा वृक्ष क्रियाहीन, यह कर्म प्राप्त संयोग है। कुश्ती हेतु दो पहलवानों का अखाड़े में भिड़ने के लिए क्रियायुक्त होना, एक का दूसरे की ओर बढ़ना फिर मौका देखकर भिड़ जाना। एक ही पटरी पर दोनों तरफ से रेलगाड़ी का टक्कर होना यह उभय कर्मज संयोग है। तीसरे प्रकार का संयोग से उत्पन्न होने वाले संयोग में पुस्तक हाथ में हो यह संयोग हुआ तथा उसी पुस्तक का संयोग शरीर के साथ हो जाय, तो वह संयोग, संयोग द्वारा हुआ संयोग कहलायेगा॥ ९ ॥

अगले सूत्र द्वारा सूत्रकार विभाग गुण विषयक विवेचन अतिदेश द्वारा करते हुए कहते हैं—

(२९४) एतेन विभागो व्याख्यातः ॥ १० ॥

सूत्रार्थ— एतेन = इस तरह से, विभागः = विभाग के विषय की भी, व्याख्यातः = विवेचना समझ लेनी चाहिए।

व्याख्या— उपर्युक्त संयोग गुण की विवेचना में जिस तरह संयोग को तीन श्रेणी में रखा गया है, सूत्रकार ने कहा कि विभाग को भी वैसे ही तीन प्रकार का पूर्व विवेचन की ही भाँति समझ लेना चाहिए। सूत्र ९ के उल्लेख से संयोग तीन तरह का बताया गया है– १. अन्यतर कर्मज २. उभय कर्मज ३. संयोगज प्राप्त। इसी तरह इनके विभाग में १. पक्षी का वृक्ष से उड़ जाना प्रथम प्रकार का विभाग हुआ २. एक मल्ल का कुश्ती से विमुख हो जाना दूसरे प्रकार का तथा ३. पुस्तक का शरीर से हाथ के हटते ही अलग हो जाना। इस तरह तीनों विभागों को समझ लेना चाहिए; परन्तु यह ज्ञान भी रहे कि कर्म से ही संयोग एवं विभाग दोनों की उत्पत्ति होती है। यदि पक्षी वृक्ष से उड़ना रूप कर्म न करता, तो वहाँ विभाग उत्पन्न ही न होता। इसी व्याख्यान से अन्य (अर्थात् इसकी विपरीत स्थिति को) भी जाना जा सकता है। किसी एक संयोग के विनाश से अन्य संयोगों का नष्ट होना सिद्ध नहीं माना जा सकता; क्योंकि थोड़े से धागों के नष्ट होने से वस्त्र के साथ अन्य धागों का संयोग बना रहता है और वही संयोग वस्त्र को फटा हुआ आकार प्रदान करता है। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु की विनष्टता से संयोग भी नष्ट हो जाता है, किन्तु अन्य संयोग बना रहता है ॥१०॥

प्रश्न उठता है कि जिस तरह पदार्थों में संयोग एवं विभाग का होना पाया जाता है, क्या उसी तरह से संयोग में संयोग का एवं विभाग में विभाग का होना होता है ? सूत्रकार ने समाधान हेतु अगला सूत्र लिखा—

(२९५) संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥११॥

सूत्रार्थ— संयोगविभागयोः = संयोग एवं विभाग में, संयोगविभागाभावः = संयोग तथा विभाग का होना नहीं पाया जाता है, अणुत्वमहत्त्वाभ्याम् = अणुत्व-महत्त्व के विवेचनात्मक कथन में यह, व्याख्यातः = व्याख्या की जा चुकी है।

व्याख्या— पूर्व में जहाँ अणुत्व एवं महत्त्व की विवेचना का प्रसङ्ग चल रहा था, वहाँ इसका उल्लेख किया जा चुका है कि अणुत्व में अन्य अणुत्व तथा महत्त्व में अन्य महत्त्व का होना नहीं हुआ करता। उनमें परिमाण गुण युक्तता से अन्य किसी परिमाण अथवा गुण का सर्वथा अभाव रहा करता है। अतः इसी तरह संयोग में किसी अन्य तरह के संयोग एवं विभाग में किसी अन्य तरह के विभाग का होना नहीं सिद्ध होता ॥११॥

प्रश्न होता है कि संयोग एवं विभाग में अन्य तरह के संयोग एवं विभाग का होना नहीं होता; परन्तु उनमें सूक्ष्मता एवं स्थूलता का रहना तो होता ही होगा ? सूत्रकार ने इसके समाधान हेतु अगला सूत्र देकर कहा–

(२९६) कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणा अणुत्वमहत्त्वाभ्यामिति ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ— कर्मभिः = कर्मों में, कर्माणि = कर्म का, गुणैः = गुणों में, गुणाः = गुण का, (तथा) अणुत्वमहत्त्वाभ्याम् = अणुत्व एवं महत्त्व में अणुत्व एवं महत्त्व का नहीं रहना, इति = इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से समझ लेना चाहिए।

व्याख्या— जिस तरह कर्मों में कर्म का अभाव तथा गुणों में गुण का अभाव रहा करता है, वैसे ही अणुत्व में अणुत्व एवं महत्त्व में महत्त्व का अभाव भी रहता है। पूर्व विवेचनों से तथा उपर्युक्त कथन से इन सभी में वैसा ही समझना चाहिए। निष्क्रियता पूर्ण वस्तु में कर्म का होना सम्भव नहीं, जिसमें कर्मशीलता होगी, वही कर्म को उत्पन्न कर सकती है। चेतना सम्पन्न पदार्थ ही कर्म का कर्त्ता हो सकता है, न कि चेतना विहीन द्रव्य। आशय यह है कि गुण में गुणों का एवं कर्म में कर्म का रहना सम्भव नहीं, यही सिद्ध होता है ॥१२॥

प्रश्न उठता है कि क्या कार्य एवं कारण में भी संयोग एवं विभाग नहीं होता ? जबकि वे द्रव्य की श्रेणी में

होते हैं, तो उनमें कैसी स्थिति होगी ? सूत्रकार ने समझाते हुए बताया—

(२९७) युतसिद्ध्यभावात् कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ— युतसिद्ध्यभावात् = युतसिद्धि के न रहनेसे, कार्यकारणयोः = कार्य और कारण में, (पारस्परिक) संयोगविभागौ = संयोग एवं विभाग का होना, न = नहीं, विद्येते = पाया जाता है।

व्याख्या— जिस वस्तु का रहना दो अलग-अलग आश्रयों में पाया जाय, उसे युतसिद्ध कहा जाता है। दूसरे शब्दों में-सम्बन्ध का अभाव होने पर भी, एक से अधिक वस्तु का होना युतसिद्ध कहलाता है। अवयव एवं अवयवी के बीच पारस्परिक सम्बन्ध होने के कारण इनमें युतसिद्धि नहीं पाया जाता। सम्बन्ध के अभाव में अवयव एवं अवयवी की उपलब्धि ही संभव नहीं। जैसे मनुष्य एक अवयवी है और शरीर के विभिन्न अंग उसके अवयव। जहाँ मनुष्य होगा, वहाँ उसके अवयव भी होंगे; क्योंकि वहाँ पारस्परिक संबंध है। यदि सम्बन्ध न होता, तो न मनुष्य होता और न ही उसके अवयव। अवयव एवं अवयवी दोनों का एक ही आश्रय में होना पाया गया। जहाँ मनुष्य खड़ा है, वहीं उसके अवयव हैं। ऐसा न होता, तो अवयवों के लिए अलग स्थान खोजना पड़ता। अतएव इस तरह कार्य एवं कारण, अवयव एवं अवयवी में संयोग एवं विभाग का होना सिद्ध नहीं होता। पूर्व में कह भी चुके हैं कि एक ही आश्रय में संयोग एवं विभाग नहीं रहते ॥१३॥

जिज्ञासा होती है कि यह तो स्पष्ट ही है कि शब्दों के द्वारा अनेक अर्थों का ज्ञान होता है तथा शब्दों एवं उनके अर्थ पारस्परिक संयोग से युक्त होते हैं। शब्द को आकाश का गुण माना गया है, ऐसी स्थिति में शब्द एवं अर्थ के बीच का सम्बन्ध किस तरह का होगा ? यही सूत्रकार अगले सूत्र से व्यक्त करते हैं—

(२९८) गुणत्वात् ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ— गुणत्वात् = गुण होने से भी उसी प्रकार मान लेना चाहिए।

व्याख्या— गुण तथा द्रव्य में संयोग एवं विभाग का होना मान्य नहीं है; क्योंकि यदि संयोग को गुण माना जायेगा, तो शब्द के साथ जो गुण है, उसका सम्बन्ध भी सिद्ध होगा, जो सिद्ध नहीं है। इस तरह का सम्बन्ध केवल दो द्रव्यों के बीच होता है। द्रव्य, द्रव्य से मिल भी सकता है और अलग भी हो सकता है; किन्तु शब्द गुण है, इसलिए किसी अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध असम्भव है ॥१४॥

उपर्युक्त कथन के पक्ष में ही आगे सूत्रकार ने कहा—

(२९९) गुणोऽपि विभाव्यते ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ— गुणः = गुण, अपि = भी, विभाव्यते = (शब्द के द्वारा ही) कहा जाता है।

व्याख्या— रूपादि गुण भी शब्द के ही विषय हैं; किन्तु रूपादि गुणों के साथ शब्द का संयोग सम्बन्ध नहीं हुआ करता। बोलचाल में प्रायः कहते सुना जाता है कि राम का रंग श्याम है, मोहन का रंग गोरा है, घड़ा लाल रंग का है, आम का रस मीठा है, नीबू का रस खट्टा है आदि के कहने सें रूप एवं रस आदि गुणों का ग्रहण तो हो जाता है; परन्तु कथन मात्र से संयोग सम्बन्ध नहीं बनता; क्योंकि आम का रस मीठा है, राम का रंग श्याम है यह कथन कहने के उपरान्त शब्द का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। आशय यह है कि जैसे द्रव्य के साथ शब्द गुण का संयोग सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही गुणों के साथ भी नहीं होता ॥१५॥

क्या संयोग सम्बन्ध न होने के और भी कोई कारण हैं ? एक और कारण का उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने कहा—

(३००) निष्क्रियत्वात्॥ १६॥

सूत्रार्थ— निष्क्रियत्वात् = क्रियाविहीन होने के कारण भी (उपर्युक्त कथन की सिद्धि होती है)।

व्याख्या— निष्क्रियता से युक्त होने के कारण शब्दों के साथ उसके अर्थ का संयोग सम्बन्ध होना नहीं पाया जाता; क्योंकि शब्दों में कर्म का सर्वथा अभाव रहता है और संयोग की उत्पत्ति कर्म द्वारा ही कही गई है। क्रिया बिना संयोग का उत्पन्न होना सम्भव नहीं। शब्दों के अर्थ भी क्रियान्वित होकर शब्द का अनुगमन करते दृष्टिगोचर नहीं होते। अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द का अर्थ के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं होता॥१६॥

उपर्युक्त कथन की सिद्धि में और भी कारण का उल्लेख करते हुए सूत्रकार बतलाते हैं—

(३०१) असति नास्तीति च प्रयोगात्॥ १७॥

सूत्रार्थ— असति = असत् पदार्थों में, च = भी, नास्ति = नहीं है, इति = इस प्रकार, प्रयोगात् = प्रयोग होने के कारण।

व्याख्या— आँखों द्वारा दिखाई न देने वाले पदार्थ ही असत् माने गये हैं। भूतकाल एवं भविष्यत्काल में उत्पन्न होने वाले पदार्थ आँखों द्वारा दिखाई नहीं देते, फिर भी शब्दों से उनके रहने का कथन किया जाता है तथा शब्दों द्वारा ऐसे पदार्थों की कल्पना भी की जाती है, जिन पदार्थों का होना नहीं होता। जब 'घट' किसी जगह नहीं है, तब भी उसके लिए शब्द का प्रयोग होता है- यहाँ घट नहीं है। जब तक घट उत्पन्न नहीं होता, तब भी उसके लिए शब्द का प्रयोग होता है- घट उत्पन्न होगा। इस तरह असत् पदार्थों का ज्ञान भी शब्दों द्वारा हो जाता है, अत: शब्दों का संयोगात्मक होना अप्रमाणिक है॥ १७॥

अन्य युक्ति से समझाते हुए अगले सूत्र में सूत्रकार का कथन है—

(३०२) शब्दार्थावसम्बन्धौ॥ १८॥

सूत्रार्थ— शब्दार्थौ = शब्द एवं अर्थ में, असम्बन्धौ = सम्बन्ध का होना नहीं पाया जाता।

व्याख्या— शब्द तथा शब्द के अर्थ के बीच परस्पर संयोग सम्बन्ध की मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती; क्योंकि शब्द की सत्ता स्थायी नहीं रहती, बात कहते ही विनष्ट हो जाती है। इस तरह से शब्द और अर्थ के मध्य संयोग सम्बन्ध का होना सिद्ध नहीं हो पाता॥१८॥

जिज्ञासा होती है कि संयोग सम्बन्ध का होना यदि सिद्ध नहीं होता, तो क्या समवाय सम्बन्ध का मान लेना उचित होगा? सूत्रकार ने कहा—

(३०३) संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विशेषाच्च॥ १९॥

सूत्रार्थ— संयोगिन: = संयोग सम्बन्धयुक्त व्यक्ति का, दण्डात् = दण्ड से, च = तथा, समवायिन: = समवाय सम्बन्ध से युक्त का, विशेषात् = विशेष अंग-अवयव से ग्रहण करना प्रमाणित होता है। (वैसा अर्थ के साथ नहीं हुआ करता)।

व्याख्या— दण्ड धारण करने वाला पुरुष दण्ड का संयोग पाकर ही दण्डी की उपाधि वाला हो जाता है। इस कथन में दण्ड एवं पुरुष का समवाय सम्बन्ध सिद्ध न होकर संयोग सम्बन्ध प्रमाणित होता है। सूँड़, हाथ, पाँव आदि अवयवों के परस्पर मिले होने पर ही हाथी कहा जाता है। मात्र सूँड़ को ही हाथी नहीं कहा जा सकता। सूँड़ एवं हाथी में परस्पर समवाय सम्बन्ध प्रतीत होता है, ऐसा सम्बन्ध शब्द एवं उसके अर्थ में नहीं

है। शब्द एवं अर्थ में यदि समवाय सम्बन्ध होता, तो अग्नि का उच्चारण होते ही आग का अनुभव होने लगता है। मोदक शब्द के उच्चारण से मुँह में मोदक का होना अवश्य ही पाया जाता; परन्तु ऐसा होता नहीं है। इसीलिए शब्द एवं अर्थ के बीच समवाय सम्बन्ध का होना भी नहीं सिद्ध होता॥ १९॥

उपर्युक्त विवेचना में यह कहा गया कि शब्द एवं अर्थ के बीच न तो संयोग सम्बन्ध है और न समवाय; किन्तु किन्हीं नियत शब्दों से नियत अर्थ का बोध होना क्या इस बात का प्रमाण नहीं माना जा सकता कि कोई न कोई सम्बन्ध तो अवश्य ही होगा, जिससे निश्चित शब्द, निश्चित अर्थ का ज्ञान कराते हैं ? इस पर सूत्रकार ने बतलाया—

(३०४) सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः ॥ २० ॥

सूत्रार्थ— शब्दात् = शब्द से, अर्थप्रत्ययः = अर्थ की जानकारी होना, सामयिकः = समय-सांकेतिक सम्बन्ध से माना गया है।

व्याख्या— समय-संकेत के नियम के अनुसार ही शब्दों से अर्थ की प्रतीति होती है, अमुक शब्द अमुक वस्तु की ओर संकेत करता है। पर्यायवाची शब्दों से भी एक ही अर्थ का संकेत प्राप्त होता है। समाज में व्यावहारिक प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु के लिए कोई न कोई संज्ञा का नियत होना पाया जाता है, जिसे नाम व संकेत का पर्याय भी कह सकते हैं। विभिन्न देश एवं विभिन्न प्रान्तों के लोग अपनी-अपनी भाषा में प्रति वस्तु का नाम पुकारते हैं। विभिन्न नामों से विभिन्न भाषाओं में एक ही वस्तु के नाम का उच्चारण होना पाया जाता है। मनुष्य के लिए आदमी, मनुज, व्यक्ति, पुरुष, मैन आदि अनेक शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। पानी के लिए प्रयुक्त हुए नीर, तोय, आपः, जल आदि शब्दों से जल अर्थ का ही बोध होगा, किसी अन्य पदार्थ का नहीं। लौकिक एवं वैदिक शब्दों के प्रति भी यही जानना चाहिए। सांसारिकता से सम्बन्ध रखने वाले विषयों के प्रति जिन शब्दों का प्रयोग होता है, उन्हें लौकिक तथा आध्यात्मिक विषयों के प्रति जिनका प्रयोग होता है, उन्हें वैदिक शब्द कहना चाहिए। अनेक प्रकार के शब्दों से एक ही अर्थ की प्रतीति यह प्रमाणित कर देती है कि शब्द एवं अर्थ के मध्य न तो संयोग सम्बन्ध है और न ही समवाय, अपितु सांकेतिक नियमों से ही शब्द द्वारा अर्थ की प्रतीति होती है ॥२०॥

शब्द एवं अर्थ के सम्बन्धों की विवेचना करने के उपरान्त अब सूत्रकार परत्व एवं अपरत्व का परीक्षण प्रारम्भ करते हुए यह सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

(३०५) एकदिक्काभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरं च ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ— एकदिक्काभ्याम् = एक ही दिशा में निवास करने वाले, एककालाभ्याम् = एक ही समय में रहने वाले, सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्याम् = सन्निकट एवं दूर से (क्रमशः), परम् = परत्व, च = तथा, अपरम् = अपरत्व होता है।

व्याख्या— परत्व एवं अपरत्व के परीक्षण क्रम में पर एवं अपर की उत्पत्ति दो प्रकार से पायी जाती है। १. पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि दिशा से सम्बद्ध तथा २. काल अथवा समय से सम्बद्ध। दिशा एवं काल दोनों का एक होना पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है। अतएव किसी दिशा विशेष के सन्निकट की वस्तु 'अपर' एवं उसी तरफ उस वस्तु की तुलना में कुछ अधिक दूरी पर स्थित दूसरी वस्तु को 'पर' कहा जाता है। इसी तरह से समय की सन्निकटता एवं दूरस्थता में भी परत्वापरत्व होना कहा गया है। दिशा से सम्बन्धित देशकृत एवं काल से सम्बन्धित को कालकृत परत्वापरत्व कहा जाता है। इसे इस तरह और अच्छी तरह समझा जा सकता है कि हरिद्वार के उत्तर में ऋषिकेश है तथा उसी दिशा में और आगे देहरादून है। इस दिशा से सम्बन्धित परत्वापरत्व में ऋषिकेश 'अपर' एवं देहरादून 'पर' है। समय से सम्बन्धित परत्वापरत्व में – यथा–

१ बजे फिर डेढ़ बजे और फिर २ बजे, इस तरह से डेढ़ बजे का समय १ से समीप है, अत: वह 'अपर' एवं दो बजे का समय डेढ़ से दूर होने के कारण 'पर' है ॥२१॥

समय से सम्बन्धित कालकृत परत्व-अपरत्व की विशिष्टता का उल्लेख करते हुए सूत्रकार अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

(३०६) कारणपरत्वात् कारणापरत्वाच्च ॥ २२ ॥

सूत्रार्थ— कारणपरत्वात् = कारण के 'पर' (दूर) होने से परत्व, च = तथा, कारणापरत्वात् = कारण की निकटता से अपरत्व होता है।

व्याख्या— दिशा एवं समय की सन्निकटता तथा दूरस्थता से ही अपरत्व एवं परत्व का होना पाया जाता है; किन्तु कारण में काल अर्थात् समय के संयोग से ही परत्व-अपरत्व का होना कहा गया है। इसलिए सर्वजन्य द्रव्य कारणीभूत समय के संयोग की अधिकता से कालिक परत्व तथा समय की अल्पता से कालिक अपरत्व की प्रतीति का होना सिद्ध होता है ॥ २२ ॥

जिज्ञासा होती है कि जिस तरह द्रव्य में परत्व एवं अपरत्व का होना प्रमाणित है, क्या उसी तरह परत्व-अपरत्व में भी अन्य परत्व-अपरत्व का होना पाया जाता है अथवा नहीं? सूत्रकार ने पूर्व प्रसंग की याद दिलाते हुए कहा—

(३०७) परत्वापरत्वयो: परत्वापरत्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यात: ॥२३॥

सूत्रार्थ— परत्वापरत्वयो: = परत्व तथा अपरत्व में, परत्वापरत्वाभाव: = परत्व एवं अपरत्व का न होना, अणुत्वमहत्त्वाभ्याम् = अणुत्व एवं महत्त्व के पूर्व कथन की, व्याख्यात: = विवेचना से उसी की तरह जानना चाहिए।

व्याख्या— अणुत्व एवं महत्त्व में अन्य अणुत्व एवं महत्त्व का न होना पूर्व में सूत्रकार द्वारा सिद्ध किया जा चुका है, उसी व्याख्यान से परत्व-अपरत्व में भी अन्य परत्व व अपरत्व का न होना समझ लेना चाहिए। इसका विवेचन सातवें अध्याय के प्रथम आह्निक के सोलहवें सूत्र में किया गया है ॥२३॥

अन्य उदाहरण द्वारा इसी विषय की पुष्टि करते हुए अगले सूत्र द्वारा सूत्रकार ने कहा—

(३०८) कर्मभि: कर्माणि गुणैर्गुणा: ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ— कर्मभि: कर्माणि = कर्मों के द्वारा कर्म तथा, गुणै: = गुणों के द्वारा, गुणा: = गुण का विवेचन समझ लेना चाहिए॥

व्याख्या— जिस तरह से कर्म के भीतर क्रिया का सर्वथा अभाव रहा करता है, वैसे ही गुणों में गुण का होना नहीं पाया जाता। आशय यह है कि कर्म कर्त्ता के द्वारा उत्पन्न होता है तथा गुण द्रव्याश्रित रहा करते हैं। पूर्व में इसका व्याख्यान हो चुका है। परत्व एवं अपरत्व के विषय में भी ऐसा ही है, अर्थात् परत्व एवं अपरत्व में अन्य परत्व-अपरत्व का होना नहीं सिद्ध होता ॥२४॥

पूर्व विवेचनों में जहाँ कारणों का उल्लेख किया गया है, वहाँ समवाय की भी चर्चा हुई है। समवाय क्या है? यही समझाने के लिए सूत्रकार ने यह सूत्र प्रस्तुत किया—

(३०९) इहेदमिति यत: कार्यकारणयो: स समवाय: ॥ २५ ॥

सूत्रार्थ— इहेदमिति = इसमें यह सन्निहित है, ऐसी प्रतीति, यत: = जिससे, कार्यकारणयो: = कार्य एवं उसके कारण में हो, स: = वह (उसे), समवाय: = समवाय कहा जाता है।

व्याख्या— कारण में कार्य का होना सुनिश्चित है, इस तरह की प्रतीति जिस कारण से होती हो, उसे 'समवाय सम्बन्ध' अर्थात् समवाय कहना चाहिए। जैसे घड़ा और मिट्टी, धागा एवं वस्त्र, अन्न एवं भोजन, नर्तक एवं नृत्य, मनुष्य एवं मनुष्यत्व आदि। घड़े में मिट्टी है, वस्त्र में धागा, पकवान में अन्न, नर्तक में नृत्य, मनुष्य में मनुष्यत्व आदि की सिद्धि समवाय सम्बन्धों से ही होती है। इसे ही समवाय की संज्ञा प्राप्त है ॥२५॥

अगले सूत्र में सूत्रकार ने समवाय को द्रव्य आदि से अलग प्रकार होना बताते हुए कहा—

(३१०) द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः ॥ २६ ॥

सूत्रार्थ— द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधः = द्रव्यत्व एवं गुणत्व का प्रतिषेध, भावेन = सत्ता की तरह ही, व्याख्यातः = कहा गया समझना चाहिए।

व्याख्या— पूर्व में ऐसा कहा जा चुका है कि सत्ता गुण एवं कर्म से अलग प्रकार की है। ज्ञान से ही उसे समझा जा सकता है। इसी तरह से समवाय नामक पदार्थ भी न तो द्रव्य की श्रेणी में है और न ही गुण की, अर्थात् समवाय द्रव्य एवं गुण से भिन्न है। सत्ता की विवेचना वाले व्याख्यान से सत्ता की ही भाँति समवाय को भी समझना चाहिए॥ २६॥

इसी क्रम में सूत्रकार ने अगले सूत्र में बतलाया—

(३११) तत्त्वं भावेन॥ २७॥

सूत्रार्थ— तत्त्वम् = नित्य होना एवं एक होना, भावेन = सत्ता की ही तरह विवेचना द्वारा सिद्ध है।

व्याख्या— जिस प्रकार सत्ता का एकत्व एवं नित्यत्व सिद्ध है, वैसे ही समवाय भी एक एवं नित्य है। समवाय का एक ही समय में अनेकों स्थानों में रहना पाया जाता है। इस कारण समावाय भी नित्यत्व एवं विभुत्व से युक्त है। प्रमाणों द्वारा समवाय का एक से अधिक होना प्रमाणित नहीं होता। अतएव समवाय भी सत्ता के ही समान एक एवं नित्य है, यह सिद्ध होता है ॥२७॥

॥ इति सप्तमाध्यायस्य द्वितीमाह्निकम् ॥

॥ अथाष्टमाध्याये प्रथमाह्निकम् ॥

विगत अध्याय के आह्निकों में द्रव्यादि पदार्थ एवं उनके गुणों का परीक्षण किया गया, अब इस आठवें अध्याय के प्रथम आह्निक में आत्मा के विशिष्ट गुण ज्ञान की परीक्षा करने के उद्देश्य से सूत्रकार कहते हैं—

(३१२) द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— द्रव्येषु = पृथ्वी आदि द्रव्यों में, ज्ञानम् = ज्ञान सम्बन्धी विवेचन का, व्याख्यातम् = कथन किया जा चुका है।

व्याख्या— पूर्व के अध्याय में द्रव्य विषयक ज्ञान सम्बन्धी विवेचना की जा चुकी है; किन्तु उन द्रव्यों में कुछ द्रव्य ऐसे भी हैं, जो आँखों से नहीं देखे जा सकते, उनकी विवेचना आगे इसी क्रम में होनी है ॥१ ॥

नोट-ज्ञातव्य है कि उन द्रव्यों में बुद्धि (मन), उपलब्धि एवं ज्ञान ये तीनों पर्यायवाचक शब्द हैं तथा बुद्धि को दो भागों (१. स्वाभाविक २. नैमित्तिक) में बाँटा गया है। स्वाभाविक बुद्धि को जीवात्मा का धर्म होने से नित्य एवं नैमित्तिक बुद्धि को मनोवृत्ति का नाम दिया गया है और उसकी अनित्यता बतायी गई है।

अगले सूत्र में सूत्रकार उन द्रव्यों का उल्लेख करते हैं , जिनका अप्रत्यक्ष होना बताया गया है—

(३१३) तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— तत्र = पूर्वोक्त पृथिव्यादि द्रव्यों में, आत्मा = जीवात्मा, च = तथा (परमात्मा), मनः = मन, अप्रत्यक्षे = प्रत्यक्ष नहीं होता।

व्याख्या— पृथ्वी आदि द्रव्यों में १. पृथ्वी २. जल ३. अग्नि ही प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। आत्मा, परमात्मा, वायु, आकाश, मन, दिशा, काल एवं परमाणु का प्रत्यक्ष देख पाना नहीं होता। बुद्धि का उल्लेख करके उसे तीन भागों में विभाजित किया गया है— १. सद्विद्या २. विद्या ३. अविद्या। तीनों कालों अर्थात् भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् में रहने वाला स्थायी एवं एक सा ज्ञान 'सद्विद्या' के अन्तर्गत आता है। जिस विद्या से तीनों कालों में रहने वाले सभी पदार्थों को जाना जा सके, वह विद्या सद्विद्या है। सद्विद्या के द्वारा ही जीवात्मा, परमात्मा एवं परमाणु आदि की स्थिति का अनुभव होता है। यह ज्ञान परिवर्तनशील नहीं होता। जिसके द्वारा पदार्थ के यथार्थ स्वरूप की जानकारी होती हो, उसे **'विद्या'** की संज्ञा दी गई है तथा उस विद्या को भी चार भागों में वर्गीकृत किया गया है। १. प्रत्यक्ष-जिससे इन्द्रिय एवं उनके विषयों से सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त हो। २. लिङ्ग- जिससे लक्षणों द्वारा अनुमान से अमुक वस्तु होगी, ऐसा अनुमान हो जाता हो। ३. स्मृति (पूर्व में देखे-सुने व्यवहार की याद) से जिस ज्ञान की प्राप्ति हो। ४. आर्ष- जो वेदादि आर्षग्रन्थों, उपदेश तथा आप्त वचनों द्वारा प्राप्त हो। **अविद्या**- किसी भी वस्तु की यथार्थता से हटकर उसके प्रति भ्रमवश अन्य मान्यता बना लेना ही अविद्या है। इसे भी चार प्रकार का बताया गया है। १. संशय २. विरुद्ध ३. स्वप्न ४. अविश्वास।

अमुक वस्तु वही है, जो पहले हमने देखी थी या वह नहीं है, ऐसी स्थिति का नाम 'संशय' है। 'विरुद्ध ज्ञान' उसे कहते हैं, जिसमें एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आरोप किया गया हो। जैसे- रस्सी में सर्प समझने का भाव आरोपित कर लेना। नींद में जिन दृश्यों को देखा, उसे जागने पर न पाना 'स्वप्न' है। जिसमें आत्मा को अनात्मा एवं अनात्मा में आत्मा को मान लिया जाता है, उसे 'अविश्वास' कहते हैं। जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान न होना प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने बताया है, उनका ज्ञान अनुमान से हो सकता है ॥२ ॥

यहाँ जिज्ञासा होती है कि प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने का उपाय क्या है, ज्ञान की उत्पत्ति एवं उसकी प्राप्ति किससे होती है ? सूत्रकार ने कहा—

(३१४) ज्ञाननिर्देशे ज्ञाननिष्पत्तिविधिरुक्तः ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— ज्ञाननिर्देशः = ज्ञान प्राप्ति हेतु निर्देश के समय में, ज्ञाननिष्पत्तिविधिः = ज्ञानोपार्जन की उत्पत्ति एवं विधि, उक्तः = बतलायी जा चुकी है।

व्याख्या— जिस कारण तथा जिस विधि से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उत्पन्न होने वाला वह ज्ञान वैसा ही होगा। आशय यह है कि जिस धर्म, जिस प्रकार एवं जिस विषय का ज्ञान है, उस ज्ञान का कथन उसके कारण के साथ ही किया जाता है। जैसे- हाथ की रेखाओं को देखकर जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है, उसे हस्तरेखा अथवा हस्त सामुद्रिक नाम से जाना जाता है। आँखों से ग्राह्य ज्ञान को चाक्षुष तथा ऐसे ही अन्य भेदों को जान लेना चाहिए ॥३ ॥

ज्ञानोत्पत्ति के विधानों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार अगले सूत्र में उपर्युक्त विवेचन को आगे विस्तार देते हुए कहते हैं—

(३१५) गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्तेर्द्रव्यं कारणम् ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ— सन्निकृष्टेषु = इन्द्रियों की सन्निकटता से सम्बद्ध, गुणकर्मसु = गुण एवं कर्मों द्वारा, ज्ञाननिष्पत्तेः = ज्ञान के उत्पन्न होने में, द्रव्यम् = द्रव्य, कारणम् = हेतु है।

व्याख्या— इन्द्रियों से सम्बद्ध द्रव्यों के गुण एवं कर्मों के ज्ञान में द्रव्य ही कारण है। द्रव्य के अभाव में गुण एवं कर्म का ज्ञान प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं। द्रव्य के द्वारा ही रूपादि गुणों एवं उत्क्षेपणादि कर्मों में ज्ञान का होना पाया जाता है; क्योंकि गुण एवं कर्म की उत्पत्ति का हेतु द्रव्य ही है। द्रव्य की उपस्थिति से ही रूप का दृष्टिगोचर होना तथा द्रव्य में ही क्रिया का होना होता है। गेंद है तभी वह प्रत्यक्ष दिखाई देती है तथा हाथों से उसे उछाला जा सकता है अर्थात् गेंद रूप द्रव्य के अभाव में न तो रूप गुण है और न उत्क्षेपण कर्म। गेंद का दिखाई पड़ना प्रत्यक्ष ज्ञान है तथा उस ज्ञान का कारण वह गेंद ही है। इस प्रकार से यह प्रमाणित हो जाता है कि द्रव्य के अभाव में गुण एवं कर्म का ज्ञान होना नहीं हो सकता ॥४ ॥

ज्ञान के इस प्रकरण को और भी अच्छी तरह खोलने के भाव से सूत्रकार कहते हैं—

(३१६) सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाभावात्तत एव ज्ञानम् ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ— सामान्यविशेषेषु = सामान्य तथा विशेषों में, सामान्यविशेष- अभावात् = सामान्य एवं विशेष के अभाव से, ततः = उस सामान्य एवं विशेष से, एव=ही, ज्ञानम् = ज्ञान का उत्पन्न होना पाया जाता है।

व्याख्या— सामान्य एवं विशेष में दूसरी सामान्यता एवं विशिष्टता न रहने के कारण ही ज्ञान का प्राकट्य होना बतलाया है। विशेषता से रहित सामान्य सत्ता एवं पदार्थों के गुण, कर्म स्वरूपादि के प्रत्यक्षीभूत होने में स्वयं उन्हें ही कारण माना है। सामान्य एवं विशेष का होना अपेक्षाकृत कहा है कि अमुक वस्तु उस सामान्य वस्तु की अपेक्षा विशिष्ट है। ऐसे द्रव्य जो अपने द्रव्यत्व के कारण सामान्य गुण वाले हैं, वही द्रव्य अपने विशिष्ट गुणों से सामान्य की अपेक्षा विशिष्ट कहे जाते हैं। अतः अस्तित्व की विशिष्टता के कारण सामान्य एवं विशेष का होना पाया जाता है। इसीलिए ज्ञान का उत्पन्न होना सामान्य एवं विशिष्ट की अपेक्षा का कारण बतलाया गया है तथा यह ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली अपेक्षा है, ऐसा समझना चाहिए; क्योंकि ज्ञान होने की सिद्धि अपेक्षा से होती है। सामान्य पृथिवी की अपेक्षा घट सामान्य-विशेष है, इसी तरह दवाओं की सामान्य जानकारी रखने की अपेक्षा चिकित्सा शास्त्र में निष्णात होना विशेष गुण है। ऐसे ही सामान्य चाल से गतिशील होने की अपेक्षा दौड़ना विशिष्ट कर्म है। ज्ञान की उत्पत्ति का होना इसी प्रकार से कहा है ॥५ ॥

अगले सूत्र में सूत्रकार विशिष्ट ज्ञान सम्बन्धी द्रव्य-गुण-कर्म के विषय का निरूपण करते हुए कहते हैं—

(३१७) सामान्यविशेषापेक्षं द्रव्यगुणकर्मसु ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ— द्रव्य-गुण-कर्मसु = द्रव्य, गुण एवं कर्मों के विषय में, सामान्यविशेषापेक्षम् = सामान्य एवं विशेष की अपेक्षा द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति जाननी चाहिए।

व्याख्या— सामान्य एवं विशेष की अपेक्षा से ही द्रव्य में गुण-कर्मों के होने का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, ऐसा सूत्रकार ने कहा है। उस ज्ञान में सामान्यता एवं विशिष्टता का होना आवश्यक भी है तथा द्रव्य में जो द्रव्यपन,गुण में गुणत्व एवं कर्म में जो क्रियाशीलता है। वही विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति करती है; परन्तु इस उत्पादन के लिए इन्द्रिय एवं द्रव्य अर्थात् वस्तु का सम्बन्ध भी अनिवार्य है। जब तक व्यक्ति के हाथ में दण्ड न हो, तब तक वह व्यक्ति 'दण्डी पुरुष' नहीं हो सकता; क्योंकि दण्ड ही उस पुरुष का विशेषण है, जिसे देखकर अन्य सामान्य पुरुष की अपेक्षा उसे दण्डी की विशिष्टता प्रदान करता है। इसी तरह अमुक द्रव्य है, अमुक व्यक्ति में अमुक गुण है, यह अमुक व्यक्ति द्वारा किया गया कर्म है, इस प्रकार का ज्ञान द्रव्यत्व, कर्मत्व एवं गुणत्व के ज्ञान से ही हो सकता है। विशिष्ट ज्ञान के लिए विशिष्टता रूप विशेषण का होना अनिवार्य है ॥६॥

प्रश्न है, क्या द्रव्यादि के ज्ञान में भी सामान्य एवं विशेष ज्ञान अनिवार्य अथवा अपेक्षित है ? यह ज्ञान किस प्रकार होता है ? सूत्रकार ने कहा—

(३१८) द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षम् ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ— द्रव्ये = द्रव्य विषयक ज्ञान की उत्पत्ति में, द्रव्यगुणकर्मापेक्षम् = द्रव्य-गुण-कर्म की अपेक्षा युक्त ज्ञान की उत्पत्ति बतलायी गई है।

व्याख्या— द्रव्य विषयक ज्ञान की उत्पत्ति में द्रव्य, गुण एवं कर्म की अपेक्षा द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति कही गई है अर्थात् विशिष्टता के ज्ञान के अभाव में विशिष्टता युक्त विशेष का भी ज्ञान नहीं हो पाता। जैसे-दौड़ रही उस श्वेत वर्ण वाली गाय के गले में घंटा लटका हुआ है। इस कथन में गाय द्रव्य, दौड़ना कर्म है, श्वेत वर्ण उसका गुण है तथा घंटा गाय की विशेषता है। घंटे से गाय का सम्बन्ध है, गाय घंटे वाली है, ऐसी विशेषता का बोध होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि द्रव्य के ज्ञान के लिए द्रव्य, गुण तथा कर्म के ज्ञान की अनिवार्यता रहती है; क्योंकि इनके बिना द्रव्य-ज्ञान का होना सम्भव नहीं ॥७॥

अगले सूत्र में सूत्रकार गुण-कर्म के विषय की विवेचना से गुण-कर्म विषयक ज्ञान की स्थिति स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

(३१९) गुणकर्मसु गुणकर्माभावाद् गुणकर्मापेक्षं न विद्यते ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ— गुणकर्मसु = गुणों एवं कर्मों में, गुणकर्माभावात् = गुण एवं कर्म के न रहने के कारण, गुणकर्मापेक्षम् = गुणों तथा कर्मों की अपेक्षा पूर्ण ज्ञान का होना, न = नहीं, विद्यते = पाया जाता ।

व्याख्या— गुण एवं कर्म में अन्य गुण-कर्म का सर्वथा अभाव रहने से गुणों तथा कर्मों के उत्पन्न होने में गुण तथा कर्मों के रूप विशेषता से युक्त ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहा करती। यही कारण है कि गुण विषयक ज्ञान में गुण और कर्म एवं कर्मों के विषय से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान में गुण-कर्म का आभास विशेष रूप से नहीं हुआ करता। इसलिए उपर्युक्त गुण एवं कर्म से सम्बन्धित दोनों विषयों के ज्ञान की उपलब्धि में गुण-कर्म की अपेक्षा आवश्यक नहीं रहती; क्योंकि गुण - कर्म किसी अन्य गुण - कर्म के विशेषण सिद्ध नहीं होते। चाँदी एवं सीपी दोनों ही सफेद रंग के हैं; परन्तु गुण दोनों के एक दूसरे से भिन्न पाये जाते हैं। इस तरह एकरूपता एवं समान रंग वाले द्रव्य में गुणों की समानता न होने से उनमें अपेक्षाकृत ज्ञान का होना सिद्ध नहीं होता ॥८॥

उपर्युक्त विवेचन में वर्णित कथन को और अधिक स्पष्ट रूप से समझाते हुए आगे के सूत्र में सूत्रकार कहते हैं—

(३२०) समवायिनः श्वैत्यात् श्वैत्यबुद्धेश्च श्वेते बुद्धिस्ते एते कार्यकारणभूते ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ— समवायिनः = समवाय सम्बन्ध से युक्त द्रव्य के, श्वैत्यात् = श्वेत आदि गुणों से, च = तथा, श्वैत्यबुद्धेः = श्वेतत्व विषयक विशेषतापूर्ण ज्ञान से, श्वेते = श्वेत गुण सम्पन्न द्रव्य में, बुद्धिः = विशेष ज्ञान प्राप्त होता है, ते = वे (और), एते = ये दोनों एक दूसरे से पारस्परिक सम्बन्ध रखने के कारण, कार्यकारणभूते = कार्य-कारण भाव के ज्ञान से युक्त होते हैं।

व्याख्या— चाँदी, शंख एवं सीप यह तीनों ही समवाय द्रव्य हैं, समवाय सम्बन्ध के कारण ही तीनों में श्वेतत्व रूप विशिष्टता का होना पाया जाता है। उपर्युक्त तीनों चाँदी, शंख एवं सीप केवल सफेद रंग के ही हैं। इस तरह का ज्ञान, श्वेत रूप विशिष्टता के द्रव्य के साथ समवाय होने से 'कारणज्ञान' कहलाता है। यह समवाय सम्बन्ध एवं श्वेत रूप विशेषता चाँदी, शंख एवं सीप का ज्ञान कराने में ही अनिवार्य है, न कि गुण-कर्म के ज्ञान में। गुण एवं कर्म में समवाय सम्बन्ध का अभाव रहने से उसमें किसी विशिष्टता की अपेक्षा न तो आवश्यक है और न ही अनिवार्य। परिणाम स्वरूप विशिष्टता से युक्त तथा विशेषण युक्त ज्ञान का एक दूसरे के साथ कार्य-कारण भाव का सुनिश्चित होना सिद्ध होता है ॥९ ॥

प्रश्न है कि क्या ऐसी ही स्थिति अन्य स्थानों पर भी मान्य होगी? सूत्रकार ने समाधान देते हुए कहा—

(३२१) द्रव्येष्वनितरेतरकारणाः ॥ १० ॥

सूत्रार्थ— द्रव्येषु = एक से अधिक द्रव्यों में, अनितरेतरकारणः = परस्पर कार्य-कारण भाव का होना नहीं हुआ करता।

व्याख्या— एक से अधिक अर्थात् बहुत से द्रव्यों में अनेक प्रकार के ज्ञान की स्थिति बनी रहती है, फिर भी द्रव्यों के ज्ञान में अनेकता रहते हुए भी अन्य द्रव्य परस्पर अन्य द्रव्य के ज्ञान में कारण बनें, ऐसा नहीं होता। सीप, चाँदी के ज्ञान का कारण नहीं बन सकती और न ही चाँदी-सीप के ज्ञान का। घट का ज्ञान अपने आप में विशिष्टता युक्त है, वैसे ही पट का ज्ञान भी। न तो घट को पट कहा जा सकता है और न पट को घट ॥१० ॥

उपर्युक्त विवेचन को और अधिक सरलतम ढंग से समझाते हुए सूत्रकार अगला सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३२२) कारणायौगपद्यात् कारणक्रमाच्च घटपटादिबुद्धीनां क्रमो न हेतुफलभावात् ॥११ ॥

सूत्रार्थ— कारणायौगपद्यात् = कारणों के साथ-साथ (युगपत्) उत्पन्न न होने से, कारणक्रमात् = कारणों की स्थिति क्रमपूर्वक होने से, च = और, घटपटादिबुद्धीनाम् = घट पट आदि के ज्ञानों में, क्रमः = क्रम से है, न = न कि, हेतुफलभावात् = कारण एवं कार्य के भावपूर्वक।

व्याख्या— दो अथवा दो से अधिक वस्तुओं का ज्ञान क्रमशः ही हो सकता है; क्योंकि इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध क्रमिक ही होता है, एक साथ नहीं। पहले यदि पट रूप द्रव्य का सम्बन्ध हुआ है, तो पट का ही ज्ञान प्रथम होगा, घट का बाद में। घट एवं पट दोनों प्रकार के ज्ञान परस्पर एक दूसरे के कार्य अथवा कारण सिद्ध नहीं होते। घट एवं पट परस्पर भिन्न हैं, इस प्रकार का ज्ञान ही दोनों में अन्तर स्पष्ट करता है तथा ज्ञान को उत्पन्न करने में मन ही कारण है। पूर्व में ऐसा व्याख्यान किया जा चुका है कि मन के द्वारा एक समय में एक ही विषय का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। एक के अनन्तर दूसरा ज्ञान क्रमशः ही प्राप्त होता है ॥११ ॥

॥ इति अष्टमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ॥

॥ अथाष्टमाध्याये द्वितीयाह्निकम् ॥

गत आह्निक में सूत्रकार द्वारा यह निर्धारण किया गया कि विशिष्ट ज्ञान की उपलब्धि में विशेषण से युक्त ज्ञान हेतु माना जाता है, उसी क्रम में इस द्वितीय आह्निक में कुछ ऐसे स्थानों को निर्दिष्ट करते हैं, जहाँ पूर्व ज्ञान विशेषण के रहने से ज्ञान की प्राप्ति होती है—

(३२३) अयमेष त्वया कृतं भोजयैनमिति बुद्ध्यपेक्षम् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— अयम् = यह, एष: = यह है, त्वयाकृतम् = तुम्हारे द्वारा किया गया, भोजयैनम् = इसे भोजन कराइये, इति = इस तरह की व्यावहारिकता का ज्ञान, बुद्धि-अपेक्षम् = बुद्धि द्वारा अपेक्षाकृत होता है।

व्याख्या— यह घड़ा यहाँ रखा है तथा यह तो वही पट है,व्यवहार में लाया गया इस प्रकार का ज्ञान तभी हुआ करता है, जब उक्त घट एवं पट का पूर्व में इन्द्रियों के साथ संयोग हो चुका होता है। ''अच्छा तो यह है वह वस्तु''- इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु का सम्पर्क इन्द्रिय से पहले नहीं हो सका है। अयम् अर्थात् समीपवर्ती और एष: अर्थात् थोड़ी दूर पर स्थित। यह तो तुम्हारे द्वारा किया गया कार्य है, तुम इस अतिथि को भोजन ग्रहण कराओ। यह बहुत भला व्यक्ति है, इसका सम्मान करना चाहिए। इस प्रकार का ज्ञान बुद्धि द्वारा उपलब्ध होता है। कार्य की स्थिति का अवलोकन करते हुए समयोचित एवं आवश्यकता के अनुरूप ज्ञान, बुद्धि को उपलब्ध होता रहता है। विषय-वस्तु के संयोग एवं विषय वस्तु के स्वरूप के अनुसार ही शब्दों द्वारा उसका विवेचन किया जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान तो उसी विषय वस्तु का होता है, जिसे अपने समक्ष नेत्रों से देखा जा सके और इस प्रत्यक्ष ज्ञान का उपार्जन बुद्धि ही करती है ॥१ ॥

प्रश्न है कि जो वस्तु प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष है, उनके प्रति क्या ज्ञान की उपलब्धता नहीं होती ? सूत्रकार ने बताया—

(३२४) दृष्टेषु भावाददृष्टेष्वभावात् ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— दृष्टेषु = प्रत्यक्षीभूत विषयों में, भावात् = रहने से, (तथा) अदृष्टेषु = न देखे जाने वाले विषयों में, अभावात् = न होने से, (होना भी एवं न होना भी कहा गया है)।

व्याख्या— अदृष्ट वस्तुओं का ज्ञान दृष्ट वस्तुओं के चिन्तन पर आधारित रहा करता है। ''घड़ा अमुक कमरे में रखा है'' इस कथन में यह स्पष्ट हो जाता है कि अमुक कमरे में घड़े को देखा जा चुका है तथा यदि किसी ने उस जगह से घड़े को हटाकर कहीं अलग रख दिया हो, तो ''यहाँ वह घड़ा था; परन्तु दीख नहीं रहा'', इस तरह की स्थिति बन जाती है। घड़े का दिखाई न देना, घड़े का अभाव कहलाया। प्रत्यक्ष ज्ञान का अर्थ है, सामने आँखों द्वारा दिखाई पड़ना। द्रव्य का अस्तित्व तभी सिद्ध होगा, जब वह प्रत्यक्ष ज्ञान कराने वाली आँखों से देखा जाता हो। यदि यह कहा जाय कि अयोध्या नगरी बहुत सुन्दर है। हम उसे देखने के लिए अयोध्या गये थे। वह आज भी हमारे मन में वैसे ही दिखाई देती है। इस कथन में पहले देखी गई अयोध्या अब आँखों के सामने नहीं है; परन्तु उसका ढाँचा मन में स्थित आकार मात्र से अयोध्या का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता; क्योंकि अयोध्या सम्मुख नहीं है। अयोध्या का जब प्रत्यक्ष हुआ था, उस समय उसका होना तथा अब अयोध्या सामने नहीं है, तो उसका न होना माना जायेगा। ज्ञातव्य यह है कि इस स्थिति में भी ज्ञान तो किसी न किसी रूप में बना ही रहता है; क्योंकि जो वस्तु आँखों के सामने नहीं है, उस परोक्ष का ज्ञान प्रत्यक्ष वस्तु पर ही आश्रित रहा करता है। अत: वह वस्तु है ही नहीं, ऐसी पूर्ण मान्यता नहीं बनायी जा सकती। जो विषय प्रत्यक्ष नहीं है, उनका ज्ञान अनुमान से भी हो जाया करता है॥ २॥

विषय का परिवर्तन करके सूत्रकार अब अगले सूत्र में 'अर्थ' शब्द का आशय स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

(३२५) अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— अर्थः = अर्थ शब्द का प्रयोग, इति = इस प्रकार से, द्रव्यगुणकर्मसु = द्रव्य, गुण एवं कर्म से सम्बन्धित विषयों की अभिव्यक्ति के उद्देश्य से किया जाता है।

व्याख्या— वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'अर्थ' शब्द का व्यवहार द्रव्यों, गुणों एवं कर्मों के कथन में किया जाता है। अर्थ का आशय द्रव्य, गुण एवं कर्म से बतलाया है। अर्थ शब्द का कथन करने से उपर्युक्त द्रव्य, गुण एवं कर्म तीनों का ही ग्रहण हो जाता है, ऐसी वैशेषिक शास्त्र की मान्यता है ॥३ ॥

अब अगले सूत्र में द्रव्य का आशय स्पष्ट करते हुए सूत्रकार का कथन है——

(३२६) द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वं प्रतिषिद्धम् ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ— द्रव्येषु = शरीर, इन्द्रियादि कार्य द्रव्यों में, पञ्चात्मकत्वम् = पञ्चात्मकत्व का, प्रतिषिद्धम् = प्रतिषेध तो पूर्व में ही कर दिया गया है।

व्याख्या— वैशेषिक दर्शन के चौथे अध्याय के द्वितीय आह्निक में दूसरे एवं तीसरे सूत्र से ('द्रव्य संरचना में पंचभूत अथवा तीन तत्त्वभूत समवाय हेतु हुआ करते हैं') इस कथन का प्रतिषेध कर दिया है। पृथ्वी जलादि द्रव्य अपने-अपने अलग-अलग एक तरह के घटकों से विनिर्मित होते हैं; क्योंकि द्रव्य की उत्पत्ति में कोई एक द्रव्य ही हेतु होता है। पृथ्वी के लिए पृथ्वी के परमाणु एवं जल तत्त्व के जलीय परमाणु ही द्रव्य निर्माण में समवाय हेतु होंगे। यह नहीं कि पंचभूत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश समस्त पंचभूत अपने-अपने कुछ-कुछ अवयवों द्वारा किसी द्रव्य की उत्पत्ति कर दें अथवा किसी एक द्रव्य के समवायिकारण सिद्ध हो सकें। इस तरह यह प्रमाणित हो जाता है कि पृथ्वी के अवयवों द्वारा पार्थिव तथा जलादि के अवयवों द्वारा जलीय द्रव्य विनिर्मित होंगे ॥४ ॥

उपर्युक्त विषय क्रम में ही सारांश स्पष्ट करने के भाव से सूत्रकार अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

(३२७) भूयस्त्वाद् गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ— भूयस्त्वात् = अधिकता होने के कारण, च = तथा, गन्धवत्वात् = गन्धवती होने के कारण, पृथिवी = पृथ्वी, गन्धज्ञाने = गंध लेने सम्बन्धी ज्ञान में, प्रकृतिः = उपादान अथवा समवायिकारण है।

व्याख्या— गन्ध के ज्ञान की मापक घ्राणेन्द्रिय अथवा घ्राण का समवाय (उपादान) पृथ्वी को ही मानना चाहिए; क्योंकि पृथ्वी में गन्ध की अधिकता है एवं घ्राण में पृथ्वी की ही तरह गन्ध तत्त्व का होना भी पाया जाता है। पृथ्वी को गन्धवती का विशेषण प्राप्त है। पृथ्वी की यह गन्ध नासिका द्वारा ग्रहण की जाती है; क्योंकि घ्राणेन्द्रिय के निर्माण में, पृथ्वी उपादान अर्थात् प्रकृति है। ज्ञातव्य है कि विशुद्ध रूप वाले अवयव ही किसी ऐसे द्रव्य की रचना करने में समर्थ होते हैं, जिस द्रव्य से उनका समवाय सम्बन्ध हो। जैसे घ्राणेन्द्रिय के निर्माण में चार अन्य तत्त्वों को छोड़ विशुद्धतः पृथिवी तत्त्व के अवयव ही समवायिकारण हुआ करते हैं। शरीर में पृथ्वी तत्त्व की अधिकता से दूसरे अंग-अवयव भी उससे बँधे हुए हैं; परन्तु घ्राण क्रिया में उन अवयवों का कोई योगदान नहीं रहता, इसका कारण यह है उन अवयवों के समवाय तत्त्व पृथिवी से ही प्राप्त होते हैं; परन्तु निर्माण प्रक्रिया में जल, अग्नि, वायु, आकाशादि का भी योगदान रहता है। घ्राणेन्द्रिय उससे भिन्न है, इसलिए शरीर के अन्य अंग-अवयवों से विलक्षण गन्ध को ही ग्रहण करती है ॥५ ॥

घ्राणेन्द्रिय की ही तरह अन्य इन्द्रियों की निर्माण प्रक्रिया में भी ऐसा ही जानना चाहिए। इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति के लिए सूत्रकार अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

(३२८) तथापस्तेजोवायुश्च रसरूपस्पर्शाविशेषात्॥ ६ ॥

सूत्रार्थ— तथा = वैसे ही, अविशेषात् = विशेष न होने के कारण, आप: = जल, च = तथा, तेज: = अग्नि, वायु: = वायु, रसरूपस्पर्श = रूप, रस एवं स्पर्श भी (गन्ध ग्रहण करने में पृथ्वी के ही समान उपादान कारण होंगे।)

व्याख्या— गत सूत्र में जिस प्रकार गन्ध को ग्रहण करने वाली घ्राणेन्द्रिय का उपादान कारण पृथ्वी को कहा गया है, वैसे ही जीभ केवल रसों.का आस्वादन करती है। अत: रस गुण से युक्त जल तत्त्व रसनेन्द्रिय का समवायिकारण है। आँखों द्वारा केवल रूप को ही ग्रहण किया जाता है। अतएव रूप-गुण सम्पन्न पूर्णत: शुद्ध अग्नितत्त्व उसंका उपादान अथवा समवायिकारण है। त्वचा अर्थात् त्वगेन्द्रिय मात्र स्पर्श गुण को ही अपनाती है। अत: विशुद्ध वायु के तत्त्व ही जो स्पर्शगुण से युक्त हैं, उसके उपादान कारण होते हैं। आकाश तत्त्व का भी इसी तरह अनुमान किया जा सकता है। आकाश का गुण शब्द है, श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्दों का श्रवण होता है। कान में जो गड्ढा है, उस अवकाश में आकाश तत्त्व विद्यमान रहता है। अत: कर्णेन्द्रिय का उपादान कारण आकाश है॥ ६॥

॥ इति अष्टमाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम्॥

॥ अथ नवमाध्याये प्रथमाह्निकम् ॥

पिछले अध्याय में अर्थ का ज्ञान इन्द्रिय संयोग से होना तथा संयोग सन्निकर्ष और समवाय सन्निकर्ष से उत्पन्न सांसारिक सन्निकर्ष और समवाय सन्निकर्ष से उत्पन्न सांसारिक प्रत्यक्ष ज्ञान की विवेचना सूत्रकार द्वारा की गई। अब इस नवम अध्याय में गत अध्याय में वर्णित सन्निकर्ष से अलग प्रकार के सन्निकर्ष, जिससे लौकिक प्रत्यक्ष का होना प्रमाणित होता है; अभाव प्रत्यक्ष एवं उसके सन्निकर्ष की विवेचना करने का मन बनाकर अभाव को ही सर्वप्रथम बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

(३२९) क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— क्रियागुणव्यपदेशाभावात् = कार्य एवं गुण के व्यावहारिक कथन का अभाव होने के कारण; प्राक् = कर्म की उत्पत्ति से पूर्व, असत् = कार्य का सर्वथा अभाव ही था।

व्याख्या— किसी भी कार्य को उत्पन्न करने वाले उस कार्य के अपने ही निर्धारित कारण हुआ करते हैं। यदि घड़ा अपने अस्तित्व में आया, तो उसके अपने कारण मिट्टी के कण ही हैं, जिनसे घड़ा बन सका और घड़ा मिट्टी की उत्पत्ति के पूर्व में नहीं था। यदि होता, तो उसके कोई न कोई गुण अथवा लक्षण दृष्टिगोचर हुए होते। अतएव घड़ा मिट्टी से पहले भी था; किन्तु यह अदृश्य था कहना उचित नहीं; क्योंकि घड़े का निर्माण से पूर्व किसी भी रूप में दिखाई न देना यह सिद्ध करता है कि घड़ा रूप कार्य द्रव्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व नहीं था। तात्पर्य यह है कि वस्त्र, बर्तनादि द्रव्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व अस्तित्व में रहते, तो उनके भी गुण अथवा लक्षण किसी न किसी रूप में अवश्य दिखाई देते। अमुक भवन बहुत सुन्दर एवं विशाल है अथवा अमुक पात्र ताँबे का है या यह गिलास चाँदी का है। इस प्रकार का व्यवहार तभी होता है जब भवन, पात्र,गिलास आदि सम्मुख हों अर्थात् इन सबकी उत्पत्ति हो चुकी हो। उत्पत्ति से पूर्व ऐसा कथन नहीं किया जा सकता; क्योंकि ये द्रव्य उपलब्ध ही नहीं थे।

यहाँ एक प्रश्न आ सकता है कि बक्से में अथवा घर में रखी हुई वस्तुएँ विद्यमान रहते हुए भी दिखाई नहीं देतीं अथवा जो वस्तु सुदूर स्थित रहती है, उसे भी प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता? क्या यह बातें उक्त प्रसङ्ग में भी लागू होती है? इसका उत्तर यह है कि बाक्स में रखी हुई वस्तु एवं सुदूर स्थित वस्तु यथार्थ रूप में रहती है, उसका अभाव न रहने से उपर्युक्त कथन में यह बात लागू नहीं होती। उत्पत्ति से पूर्व कार्य के ऐसे अभाव को 'प्रागभाव' कहा जाता है ॥१॥

एक आशंका उठती है कि जो द्रव्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कार्य रूप में विद्यमान नहीं थे, वे कारण रूप से किस प्रकार रहा करते हैं? सूत्रकार ने कहा—

(३३०) सदसत् ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— सत् = कारण रूप से विद्यमान होना, (तथा) असत् = कार्य रूप से विद्यमान न होना (होता है)।

व्याख्या— कारण रूप मिट्टी से बना कार्यरूप घड़ा जब टूट जाता है, तब उस स्थिति में कार्य का ही अभाव हुआ करता है, कारण का नहीं। अपनी उत्पत्ति से पहले कार्य रूप पदार्थ अपने रूपादि गुणों से रहित होता है; किन्तु उसकी सत्ता कारण रूप में तो बनी ही रहा करती है। इस प्रकार से उपर्युक्त कथन की सिद्धि हो जाती है ॥२॥

प्रश्न उठता है कि जब उनकी सत्ता पहले ही विद्यमान रहती है, तो फिर उनका उत्पन्न होना नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उत्पत्ति के अर्थ से यही प्रतीत होता है कि उस द्रव्य का पूर्व में सर्वथा अभाव ही था? सूत्रकार ने समझाया—

(३३१) असतः क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम्॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— असतः = असत् (अभाव) में, क्रियागुणव्यपदेश = क्रियावत्त्वता एवं गुणवत्त्वता का व्यवहार, अभावात् = न होने के कारण, अर्थान्तरम् = भाव पदार्थों को अभाव से अलग अर्थ में रखकर व्यवहार करना चाहिए।

व्याख्या— क्रिया-गुण व्यपदेश का असत् पदार्थों में सर्वथा अभाव रहा करता है। सत् पदार्थों में ही क्रियागुणव्यपदेश का होना पाया जाता है तथा द्रव्य, गुण, कर्म आदि अर्थों को अभाव से भिन्न ही समझना चाहिए। अतएव इन्हें भी सत् एवं असत् की ही तरह अलग-अलग प्रकार के द्रव्य मानना चाहिए। उत्पन्न होने के पूर्व जिस पदार्थ की सत्ता का अभाव था तथा जिसकी उत्पत्ति आँखों द्वारा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है। उस कार्यरूप पदार्थ को कारण रूप पदार्थ से अलग प्रकार का ही मानना चाहिए, ऐसा सिद्ध होता है। इस तरह से सूत्रकार ने प्रागभाव अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व का अभाव तथा ध्वंसाभाव अर्थात् विनाश के पश्चात् का अभाव दोनों का विवेचन किया॥३ ॥

अब अगले सूत्र में अन्योन्याभाव नामक अभाव का उल्लेख करते हुए सूत्रकार का कथन है—

(३३२) सच्चासत्॥ ४॥

सूत्रार्थ— सत् = भाव पदार्थ, च = भी, असत् = सत् के रूप में, विद्यमान नहीं रहा करता।

व्याख्या— ऐसे पदार्थ जिनकी उत्पत्ति दृष्टिगोचर होती है, उन सभी का समाप्त होना भी प्रत्यक्ष देखा जाता है। इस आधार पर यह मान्यता भी उचित ही है कि अपनी उत्पत्ति से पूर्व कार्य द्रव्य अपने स्वरूप में स्थित नहीं रहा करता। उपर्युक्त विवेचन में वर्णित अभावों के अतिरिक्त एक अभाव और है, जिसे अन्योन्याभाव के नाम से जाना जाता है-जहाँ वस्तु की विद्यमानता में उसका अभाव भी परिलक्षित होता हो। जैसे कहा जाय कि यह बगुला है- हंस नहीं। बगुला एवं हंस एक दूसरे से अलग प्रकार के होते हैं। अतएव न तो बगुला हंस हो सकता है और न हंस बगुला। यदि कहा जाय कि यह बगुला है न कि हंस, तो इस कथन में हंस का अभाव हुआ तथा यदि हंस कहा जाय, तो बगुले का अभाव होगा। दोनों में भेदरूपता से अभाव सिद्ध होता है और यही अभाव- अन्योन्याभाव है। यह अभाव पूर्व के दोनों अभावों की तुलना में नित्य है, क्योंकि यह अभाव बना ही रहता है। न तो बगुला हंस बन सकता है और न हंस बगुला॥४ ॥

अब अगले सूत्र में सूत्रकार एक ऐसे अभाव का उल्लेख करते हैं, जो पूर्व में वर्णित तीनों ही अभावों से विलक्षण है—

(३३३) यच्चा न्यदसदतस्तदसत्॥ ५ ॥

सूत्रार्थ— च = तथा, यत् = ऐसे पदार्थ जिनका, अतः = वर्णन पूर्व में सत् एवं असत् दोनों रूपों में किया जा चुका है, अन्यत् = अन्य तरह का (विलक्षण), असत् = अभाव कहलाता है।

व्याख्या— पूर्व विवेचनों में वर्णित तीनों प्रकार के अभावों से भिन्न एक और अभाव है, उसको अत्यन्ताभाव के नाम से जाना जाता है। पदार्थ की जब उत्पत्ति होती है, तब वह सत् कहलाता है तथा अपनी उत्पत्ति से पूर्व वह असत् माना जाता है। जिस पदार्थ की सत्ता आँखों के सम्मुख प्रत्यक्ष है, उसके अभाव का कथन नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत जो पदार्थ विनष्ट हो गया हो, आँखों द्वारा जिसका प्रत्यक्ष न होता हो, उसका सर्वथा अभाव ही कहा जायेगा। यह जो अत्यन्ताभाव है, यह सबसे विलक्षण अलग प्रकार का है क्योंकि इसके प्रतियोगी का सदैव अभाव ही रहता है। आकाश कुसुम, गर्दभशृंग, शशविषाण इसके पर्याप्त दृष्टान्त हैं। आकाश में पुष्प का, गर्दभ में सींग का तथा खरगोश में भी सींग का भाव करना विवेक सम्मत नहीं है॥५ ॥

विषय का परिवर्तन करके अब अगले सूत्र में सूत्रकार उपर्युक्त अभावों के प्रत्यक्षज्ञान का उल्लेख करते हुए कारणों को स्पष्ट करते हैं—

(३३४) असदिति भूतप्रत्यक्षाभावाद् भूतस्मृतेर्विरोधिप्रत्यक्षवत् ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ— असत् = यह सत् नहीं है, इति = ऐसा ज्ञान, भूतप्रत्यक्षाभावात् = भूतकाल में प्रत्यक्षीभूत होकर, वर्तमान में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न होने के कारण, भूतस्मृतेः = भूत की स्मृति आ जाने से, विरोधिप्रत्यक्षवत् = विरोधी भाव के प्रत्यक्षीभूत होने के समान ही प्रत्यक्षीभूत होता है (अभाव का)।

व्याख्या— उत्पन्न होने के पश्चात् विनष्ट होने वाले द्रव्यादि के आँखों द्वारा प्रत्यक्ष दिखाई न देने से तथा उत्पन्न होकर विनष्ट हो चुके द्रव्यादि की स्मृति से वह द्रव्य प्रत्यक्ष के प्रतिकूल (प्रतियोगी) जैसा ही माना जाता है। जिस तरह से असत् का सत् के साथ विरोधी भाव है, वैसे ही जब कोई पदार्थ उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाता है, तो उसे भी असत् ही कहा जायेगा, जो सत् का विरोधी होगा। ज्ञातव्य है कि विनष्ट हुई वस्तु की स्वरूपता स्मृति में बनी रहा करती है। इसी कारण पूर्व में देखा हुआ विशिष्ट स्थान एवं उसके साथ जुड़ी प्रसिद्ध वस्तुएँ प्रसंग चलने पर अपनी याद ताजा कर देती हैं। कालान्तर में जब किसी कारणवश वह विशिष्ट स्थल अथवा प्रसिद्ध वस्तु समूह परिवर्तित अथवा विनष्ट हो जाते हैं, तब भी अनुभव में यह बात बनी रहती है कि अमुक शहर में अमुक स्थान पर अमुक भवन बना था, वह अतिशय दर्शनीय था; किन्तु इस तरह की अनुभव जन्य स्मृति यह बतलाती है कि अब अमुक भवन अथवा अमुक स्थल नहीं रहा। अतएव पूर्व में उत्पन्न सत् का प्रत्यक्षीभूत हुआ, वह पदार्थ अब सत् का विपरीत असत् हुआ। इस तरह प्रत्यक्ष की तरह ही प्रध्वंसाभाव का भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। 'प्रत्यक्षवत्' पद इसी आशय का बोध कराता है ॥६॥

उपर्युक्त विवेचना क्रम में ही अगला सूत्र प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार प्रागभाव से संबंधित विषय का स्पष्टीकरण करते हैं—

(३३५) तथाऽभावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च ॥ ७ ॥

सूत्रार्थ— तथा = वैसे ही, अभावे = सत् का अभाव होने में, च = भी, भावप्रत्यक्षत्वात् = सत् के प्रत्यक्षीभूत होने से विरोधी लक्षणों का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या— उपर्युक्त विवेचनों में यह बात आ चुकी है कि जो वस्तु आँखों से प्रत्यक्ष देखी जाती हो, उसे सत् तथा जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होती, उसको असत् कहा जाता है। वैसे अभाव शब्द एक तरह से सामान्य ही है; किन्तु व्यवहार में विषयानुसार ही उसका प्रयुक्त होना और न होना हुआ करता है।

सूत्रकार ने प्रागभाव को समझाते हुए यह बताया है कि पदार्थ के विद्यमान रहने से उसे 'सत्' तथा पदार्थ के नष्ट हो जाने से उसे 'असत्' नाम से जाना जाता है। आशय यह है कि घड़े की सत्ता जब तक रहती है, तभी तक उसका उपयोग व्यवहार में प्रत्यक्ष देखा जाता है और जब घड़े का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, तो उसका प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता अर्थात् वह असत् कहा जायेगा। इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि सत्ता के प्रत्यक्षीभूत रहने पर सत् तथा सत्ता के विनष्ट हो जाने पर असत् हुआ करता है। इस प्रकार प्रध्वंसाभाव के समान प्रागभाव का भी प्रत्यक्ष होना होता है ॥७॥

प्रागभाव की ही भाँति अगले सूत्र में अन्योन्याभाव की प्रत्यक्षविषयक विवेचना की जा रही है—

(३३६) एतेनाघटोऽगौरधर्मश्च व्याख्यातः ॥ ८ ॥

सूत्रार्थ— एतेन = इसी तरह से, अघटः = घड़े का अभाव (अन्य द्रव्यों में), अगौः = गौ का अभाव (अश्व आदि में), च = तथा, अधर्म = धर्म का अभाव, व्याख्यातः = कहा जा चुका है, ऐसा समझना चाहिए।

व्याख्या— घड़े में गौ के गुण नहीं रहा करते अर्थात् घड़ा, घड़े के ही गुणों से युक्त होता है और गौ में ही गौ के लक्षण पाये जाते हैं न कि घड़े में। न तो घड़ा गौ हो सकता है और न तो गौ घड़ा अर्थात् घड़े में गौ का अभाव और गौ में घड़े का अभाव यह सिद्ध करता है कि एक का धर्म दूसरे में नहीं मिलता। इस तरह का ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रत्येक द्रव्य के अपने एक सुनिश्चित गुण एवं धर्म होते हैं। वहीं लक्षण यह बताते हैं कि यह गौ है, यह अश्व है, यह घट और यह पट है आदि। यही अन्योन्याभाव (एक में दूसरे का अभाव) है ॥८॥

अब अगले सूत्र में अत्यन्ताभाव का कथन भी उपर्युक्त विधि से करते हैं—

(३३७) अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम्॥ ९॥

सूत्रार्थ— अभूतम् = जिसकी उत्पत्ति ही नहीं हुई, न अस्ति = तथा जो नहीं है, इति = इस तरह से दोनों ही, अनर्थान्तरम् = अर्थों में अन्तर वाले भिन्नार्थक नहीं हैं।

व्याख्या— ऐसा पदार्थ जिसकी उत्पत्ति नहीं हुई अथवा जो उत्पन्न तो हुआ; किन्तु विनष्ट होकर अब वह अपने अस्तित्व में नहीं है। इस तरह का ज्ञान उस पदार्थ के अभाव की प्रतीति कराता है। इस कथन से जिस अभाव का उल्लेख हुआ है, उससे अत्यन्ताभाव का ही साक्षात्कार होता है। जो पदार्थ कभी पैदा ही नहीं हुआ और न उसके उत्पन्न होने की सम्भावना ही रहती है, तो ऐसे पदार्थ का अत्यन्त अभाव माना जाता है। सूत्र में जो 'अनर्थान्तरम्' का उल्लेख हुआ है, उससे अभूत एवं भूत की भिन्नार्थकता का समापन कर दिया गया है। एक दूसरे के विरुद्ध गुणों वाले न होकर समान बतलाया है ॥९॥

अत्यन्ताभाव को ही और अधिक स्पष्ट करते हुए सूत्रकार अगले सूत्र में अपना आशय दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं—

(३३८) नास्ति घटो गेहे इति सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः॥ १०॥

सूत्रार्थ— घटः = घड़ा, गेहे = घर में, नास्ति = नहीं है, इति = इस प्रकार के कथन में, सतः = विद्यमान होते हुए भी, घटस्य = घड़े का, गेहसंसर्ग = घर के साथ संयोग का, प्रतिषेधः = प्रतिषेध किया गया है (न होना कहा है)।

व्याख्या— घड़ा जब अपने अस्तित्व में था तथा घर में रखा था, तभी घर के साथ घड़े का सम्बन्ध था। घर से अलग कर दिये जाने अथवा नष्ट हो जाने पर घर के साथ घड़े का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। सम्बन्ध समाप्त होते ही घड़े का अत्यन्त अभाव हो जाता है; क्योंकि घड़ा अब आँखों द्वारा प्रत्यक्ष दिखाई नहीं दे रहा है और न परोक्ष रूप से ही विद्यमान है, इसलिए घड़े का अत्यन्त अभाव सिद्ध हो जाता है॥ १०॥

सांसारिक प्रत्यक्षों का निरूपण करने के अनन्तर अब सूत्रकार विषय को मोड़ देते हुए योग से उत्पन्न संयोग से प्राप्त प्रत्यक्ष का कथन अगले सूत्र में करते हैं—

(३३९) आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम्॥ ११॥

सूत्रार्थ— आत्मनि = जीवात्मा में, आत्ममनसोः = जीवात्मा तथा मन के, संयोगविशेषात् = योग की अवस्था वाले संयोग विशेष से, आत्मप्रत्यक्षम् = आत्मस्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

व्याख्या— समाधि से उत्पन्न शक्ति विशेष के साथ जब मन एवं जीवात्मा का संयोग होता है, तो उस संयोग-विशेष से आत्मा में ही आत्म स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान लौकिक नहीं होता; क्योंकि इस ज्ञान में यौगिक प्रयासों की प्रबलता रहती है तथा बाह्येन्द्रिय की भूमिका भी उस अलौकिक प्रत्यक्ष में नहीं रहा करती। मन को एकाग्र करने में समर्थ योगीजन सांसारिक विषयों से पूर्णतः वैराग्य लेकर अभ्यास करके अनवरत साधना से मन के साथ आत्मा का सम्बन्ध स्थापित करते हैं, तभी उन्हें आत्म साक्षात्कार प्राप्त

होता है। अविद्या के वशीभूत मन की चंचलता से वह विवेक नहीं जाग्रत् हो पाता, जिससे आत्म-संयोग बन सके। यौगिक प्रयत्नों द्वारा जब योगीजन मन को अविद्या से मुक्त कर लेते हैं, तब आत्मा योग में सहज प्रवृत्त हो जाती है। वही मन के साथ आत्मा का संयोग विशेष है, जिससे आत्मस्वरूप का प्रत्यक्षीकरण होता है ॥११॥

प्रश्न उठता है कि क्या योग की उस स्थिति में मात्र आत्मसाक्षात्कार ही होता है अथवा इससे अतिरिक्त भी कुछ प्राप्त होता है? सूत्रकार ने अगले सूत्र में समझाया—

(३४०) तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम्॥ १२॥

सूत्रार्थ— तथा = वैसे ही, द्रव्यान्तरेषु = अन्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म द्रव्यों में भी, प्रत्यक्षम् = प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाया करता है।

व्याख्या— युञ्जान एवं युक्त दोनों तरह के योगीजन समाधि जन्य शक्ति द्वारा जिस प्रकार आत्मा और मन के विशिष्ट संयोग से आत्म स्वरूप का प्रत्यक्ष किया करते हैं, वैसे ही अन्य पदार्थों सूक्ष्मातिसूक्ष्म द्रव्यों का भी साक्षात्कार कर लिया करते हैं। सूक्ष्म परमाणु द्रव्य नेत्रों से नहीं देखे जा सकते। मन, वायु, आकाशादि पदार्थ भी नहीं देखे जा सकते। योगी अपनी योगशक्ति एवं साधनात्मक प्रभाव से सबकी ठीक-ठीक स्थिति जानने में सक्षम एवं समर्थ होता है। आशय यह है कि मन की एकाग्रता के साथ यौगिक प्रयासों से कुछ भी असम्भव नहीं रहता। लौकिक अथवा आध्यात्मिक सभी कार्य मनोयोग पूर्वक ही सम्पन्न होते हैं तथा मन की एकाग्रता से कोई भी विषय और उससे सम्बन्धित ज्ञान अप्राप्य नहीं रहता॥ १२॥

जिज्ञासा होती है कि ऐसे योगीजन किन लक्षणों अथवा गुणों से युक्त होते हैं, उनके स्वरूप को कैसे पहचाना जा सकता है? सूत्रकार अगले सूत्र में उनका स्वरूप ज्ञान कराते हैं—

(३४१) असमाहितान्तःकरणा उपसंहृतसमाधयस्तेषां च॥ १३॥

सूत्रार्थ— असमाहितान्तःकरणाः = जिनका अन्तःकरण एकाग्रता से युक्त नहीं रहा करता, च = तथा, उपसंहृतसमाधयः = जिन्होंने समाधि को पूर्णरूपेण सिद्ध करके उसका उपसंहार कर दिया है, तेषाम् = उन सभी योगियों को समस्त सूक्ष्म तत्त्वों का प्रत्यक्ष साक्षात् हो जाता है।

व्याख्या— जिनका अन्तःकरण सदैव एकाग्र न रहकर कभी-कभी स्थिर होता है, उनकी समाधि की दशा जब तक बनी रहती है, तभी तक उन्हें आत्मा एवं सूक्ष्म द्रव्यादि का प्रत्यक्ष होता है। समाधि टूटने पर वे सामान्य दशा में आ जाते हैं और उस स्थिति में वे सामान्य जनों की ही भाँति व्यवहार करते हैं। इस तरह के योगी 'युञ्जान' नाम से जाने जाते हैं, ऐसे योगियों के लिए ही सूत्र में 'असमाहितान्तःकरण' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

दूसरा शब्द जो सूत्र में प्रयुक्त हुआ है, वह है 'उपसंहृतसमाधयः'। इसका आशय यह है कि ऐसे योगीजन जो समाधि को भलीभाँति प्राप्त करके सदा उसी में आनंदमग्न रहा करते हैं तथा पुनः समाधि जन्य शक्ति की आवश्यकता नहीं अनुभव करते अर्थात् समाधि का उपसंहार कर चुके हैं, उनका अन्तःकरण सदा एकाग्र बना रहता है। समाधिरत रहने जैसा ही व्यवहार करते रहते हैं। लौकिक व्यवहार का पालन करते रहने पर भी उनकी दशा यौगिक ही बनी रहती है, ऐसे योगीजन 'युक्त' के नाम से प्रसिद्धि पाते हैं, इनकी शक्ति सामर्थ्य योग शक्ति के कारण इतनी प्रबल हो जाती है कि भूत व भविष्य तक की स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर लिया करते हैं ॥१३॥

अगले सूत्र में सूत्रकार यह स्पष्ट करते हैं कि योगज धर्म वाले योगीजन मात्र सूक्ष्माति सूक्ष्म द्रव्यों को ही नहीं, अपितु उनमें समाये हुए गुण-कर्म का भी साक्षात्कार कर लिया करते हैं—

(३४२) तत्समवायात् कर्मगुणेषु ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ— तत्समवायात् = योगजधर्म द्वारा प्रत्यक्ष उन द्रव्यादि में समवाय सम्बन्ध से (रहने वाले), कर्मगुणेषु = कर्मों तथा गुणों का भी प्रत्यक्ष योगीजनों द्वारा कर लिया जाता है।

व्याख्या— गत सूत्र में योगी का स्वरूप बतलाते हुए सूत्रकार ने जिन-जिन गुणों का उल्लेख किया, है, उनमें कहा कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों का भी प्रत्यक्ष योगी द्वारा कर लिया जाता है। अब प्रस्तुत सूत्र में कहते हैं कि उन सूक्ष्म द्रव्यों में समवेत रहने वाले कर्म एवं गुणों को भी योगी प्रत्यक्ष जान लेते हैं। पूर्व के विवेचन में आ चुका है कि सूक्ष्म द्रव्यों-परमाणु आदि का प्रत्यक्ष करने वाले 'युञ्जान' नाम वाले योगी यद्यपि यौगिक दृष्टि से पहली अर्थात् आरम्भिक अवस्था में रहते हैं; परन्तु द्रव्य में समवाय कर्म एवं गुण का भी प्रत्यक्ष कर लिया करते हैं। ज्ञातव्य है कि यह साक्षात्कार तभी होता है, जब योगी समाधिरत रहता है। समाधि की अवस्था समाप्त होते ही सामान्य दशा आ जाने पर वैसा ज्ञान नहीं रह जाता। चमत्कारपूर्ण कारनामे भी कर सकने में समर्थ 'युञ्जान' योगी आत्म स्वरूप को जानने की उत्सुकता से आतुर नहीं रहते; क्योंकि वे उसका आनन्द अपनी समाधि की स्थिति में प्राप्त कर लेते हैं ॥१४॥

अगले सूत्र में सूत्रकार यह बतलाते हैं कि जब योगीजन योग समाधि द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष कर लेते हैं, तब उन्हें आत्मा के गुणों का भी प्रत्यक्ष हो जाता है—

(३४३) आत्मसमवायादात्मगुणेषु ॥ १५ ॥

सूत्रार्थ— आत्मसमवायात् = आत्मा के साथ मन का समवाय होने से,आत्मगुणेषु = आत्मा में समवेत चैतन्यता आदि गुणों का भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाया करता है।

व्याख्या— समाधिस्थ योगी जब मन की एकाग्रता द्वारा आत्मा के साथ मन का समवाय स्थापित कर लेते हैं, तब उस समवाय के प्रभाव से जीवात्मा की परमात्मा के साथ जो एकता स्थापित होती है, उससे वह आत्मा में स्थित चेतना आदि गुणों का भी दर्शन कर लेता है। चैतन्यता ही आत्मा का लक्षण है। योगी जब अपने मन को आत्मा के चिन्तन में पूरी तरह से लगा देता है, तभी उसे आत्मा के चैतन्य स्वरूप का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है।

आत्मस्थित गुणों का निरन्तर साक्षात्कार करने वाले ऐसे योगी ही ''युक्त'' कहे जाते हैं। योग शक्ति सम्पन्न महान् सामर्थ्यशाली ऐसे ''युक्त'' योगीजनों की गति कहीं भी प्रतिहत नहीं होती। उनकी दशा ''युञ्जान'' जैसी स्थिति में कभी नहीं आती। इस तरह से सूत्रकार ने दोनों की ही विवेचना करके अपना आशय स्पष्ट किया ॥१५॥

॥ इति नवमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ॥

॥ अथ नवमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥

अभाव रूप द्रव्यों की विवेचना के अन्तर्गत सभी अभावों का अलग-अलग निरूपण एवं उनके लौकिक प्रत्यक्ष का कथन करने के साथ ही साथ योगीजनों के स्वरूप एवं उनके द्वारा किये जाने वाले अलौकिक प्रत्यक्ष की विवेचना सूत्रकार द्वारा पिछले आह्निक में की गई। अब इस द्वितीय आह्निक में लिङ्ग द्वारा होने वाले अनुमानादि का विवेचन करते हुए सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

(३४४) अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— अस्य = इसका, इदम् = यह, कार्यम् = कार्य है, कारणम् = कारण है, संयोगि = संयोग युक्त है, विरोधि = विरोधी भाव वाला है, च = तथा, समवायि = समवाय सम्बन्ध से युक्त है, इति = इस प्रकार का ज्ञान, लैङ्गिकम् = लक्षणों (लिङ्ग) द्वारा प्राप्त किया जाता है (ऐसा कहा जाता है)।

व्याख्या— कार्य के दृष्टिगत होने से कारण का तथा कारण के प्रत्यक्षीकरण से कार्य का ज्ञान होता है। संयोग सम्बन्ध को देखकर संयोगी का तथा विरोध को देखकर विरोधी का ज्ञान होता है। इस तरह का समस्त ज्ञान अनुमान पर आधारित रहता है। यह लक्षणों को देखकर ही किया जाता है। अनुमान से होने वाले इस ज्ञान का कारण "व्याप्ति" है। नियमानुसार साहचर्य युक्त दो वस्तुओं में से यदि एक प्रत्यक्ष दिखाई देती हो तथा दूसरी अप्रत्यक्ष हो, तो अनुमान द्वारा व्याप्ति कारण के आधार पर उस परोक्ष वस्तु का ज्ञान कर लिया जाता है। जिस प्रकार धुएँ को देखकर आग का अनुमान सहज हो जाया करता है; क्योंकि धूम्र एवं अग्नि में 'व्याप्ति' है। नियमानुसार साहचर्य भी, जहाँ अग्नि रहेगी, वहीं धुआँ रहेगा। अग्नि के अभाव में धुएँ का होना सम्भव ही नहीं। धुँआ कार्य है तथा अग्नि कारण। इसी प्रकार पुत्र को देखकर पिता का अनुमान कर लिया जाता है; क्योंकि पिता के बिना पुत्र नहीं हो सकता।

संयोग द्वारा भी सम्बन्धों के अनुमिति ज्ञान का होना सिद्ध होता है- जैसे शरीर के साथ त्वचा का संयोग। शरीर को देखकर यह मान लिया जाता है कि त्वचा भी होगी। शरीर एवं त्वचा का संयोग शाश्वत है। झाड़-झंखाड़ की ओर उन्मुख क्रोध से फुफकारते सर्प की आक्रामक मुद्रा से विरोधी भाव रखने वाले नेवले की उपस्थिति का अनुमान हो जाता है; क्योंकि सर्प एवं नेवले का विरोध सर्वविदित है। गर्म जल को देखकर उसमें समवाय सम्बन्ध से स्थित अग्नि का ज्ञान अनुमान द्वारा हो जाता है। ज्ञातव्य है कि अनुमान पर आधारित उपर्युक्त समस्त ज्ञान यथार्थतः पूर्ण तभी होगा, जब देखे गये समस्त लक्षण भी यथार्थ हों तथा व्याप्ति सम्बन्धों की प्रामाणिकता सिद्ध करने वाले हों। आधे-अधूरे ज्ञान की स्थिति में भ्रमात्मकता ही रहती है, अतएव लिङ्ग के प्रामाणिक ज्ञान से ही अनुमिति ज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध होती है ॥१॥

लक्षणों को देखकर जो ज्ञान व्याप्ति कारणों से अनुमान के द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है, उसकी प्राप्ति के प्रमुख आलम्बन कौन से हैं? इसी का समाधान सूत्रकार अगले सूत्र द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

(३४५) अस्येदं कार्यकारणसंबन्धश्चावयवाद् भवति ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— अस्य = इसका, इदम् = यह लिङ्ग है, च = और, कार्यकारणसम्बन्धः = कार्य एवं कारण के सम्बन्धों का ज्ञान, अवयवात् = अवयवों के द्वारा ही, भवति = होता है।

व्याख्या— अग्नि का लिङ्ग धूम्र है, व्याप्ति अर्थात् कार्य एवं कारण के सम्बन्ध से यह प्रमाणित है। अग्नि के कारण ही धूम्र का अस्तित्व है, यह सुनिश्चित ज्ञान होने पर ही धूम्र को देखकर अग्नि होने का अनुमान होता है। धूम्र के सही स्वरूप का निर्धारण जब मस्तिष्क में रहता है, तभी यह कहा जाता है कि यह धूल नहीं धुआँ ही है, अतः आग अवश्य होगी। लिङ्ग से लिङ्गी का ज्ञान, अर्थात् कपड़े धोने वाला कार्य जिसके द्वारा किया जाता है, उसे धोबी, भोजन पकाने वाला रसोइया तथा लोहे का कर्म सम्पन्न करने वाले को लोहार,

काष्ठकार्य करने वाला बढ़ई आदि की तरह ही अन्य स्थानों में भी प्राप्त हुआ करता है। स्वार्थ एवं परार्थ दो तरह के अनुमान कहे गये हैं। जिस अनुमान का परीक्षण स्वयं के व्याप्ति एवं गुण से किया जा सके, उसे "स्वार्थ" तथा जो अनुमान किसी अन्य की प्रेरणा से न्याय में वर्णित पाँचों अंगों १. प्रतिज्ञा २. हेतु ३. उदाहरण ४. उपनय ५. निगमन द्वारा किया जाता है, उसे 'परार्थ' कहा जाता है। न्याय द्वारा बतलाये गये उपर्युक्त पाँचों वाक्यों को 'पंचावयव वाक्य' के नाम से जाना जाता है। इन पाँचों के मध्य में 'उदाहरण' नामक अवयव में कारण एवं कार्य का एक निश्चित संकेत समाहित रहता है। सूत्र में प्रयुक्त 'अवयवाद्भवति' का अवयव शब्द इसी का द्योतक है।

नोट- 'पञ्चावयव वाक्य' में प्रतिज्ञा शब्द अनित्य माना जाता है, हेतु- उत्पन्न होने के कारण, उदाहरण- जिस तरह घड़ा मिट्टी से उत्पन्न होने से अनित्य है, उपनय जिसकी भी उत्पत्ति होती है, वह नष्ट हो जाता है। संसार में यह प्रत्यक्ष है, निगमन- इस तरह शब्द उत्पन्न होने के कारण अनित्य ही है ॥२॥

विषय का परिवर्तन करते हुए सूत्रकार अब अगले सूत्र में शाब्दिक लक्षणों से प्राप्त ज्ञान के विषय में बतलाते हैं—

(३४६) एतेन शाब्दं व्याख्यातम् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— एतेन = इस प्रकार उपर्युक्त कथन से, शाब्दम् = शब्द से उत्पन्न ज्ञान का भी, व्याख्यातम् = कथन हो चुका, ऐसा समझना चाहिए।

व्याख्या— प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों की विवेचना करने के अनन्तर उसी की भाँति निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहा कि प्रत्यक्ष एवं अनुमान की विवेचना के समान ही शब्द से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान का विवेचन भी किया जा चुका, ऐसा समझें। आशय यह है कि शब्दों से निकले अर्थ द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत ही बतलाया गया है। व्याप्ति सम्बन्ध के अभाव में जिस तरह अनुमान नहीं हो सकता, वैसे ही अर्थ जाने बिना शब्द का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। शब्द की स्थिति तभी स्पष्ट होती है, जब उसका अर्थ स्पष्ट हो। अनुमान की ही भाँति शब्द के भी दो प्रकार बतलाये हैं-१. अर्थ की अभिव्यक्ति कराने वाली शक्ति जब शब्द में विद्यमान रहती है, तब उसका आशय स्पष्ट होता है। २. लक्षणा एवं व्यञ्जनादि के द्वारा भी शब्दों के अर्थ को समझा जा सकता है। किन्हीं स्थानों पर विषय के कथन का अवलोकन कर वर्णित प्रसङ्ग के आधार पर विषयानुकूल अर्थ की उपलब्धि कर ली जाती है। जैसे यात्रा के क्रम में बस के लखनऊ पहुँचने पर जब बस रुके, तो आवाज आती है- लखनऊ आ गया, इस प्रकार शब्दाभिव्यक्ति से यही प्रतीत होता है कि लखनऊ कोई गतिशील पदार्थ है, जो चल सकता है; परन्तु चलती बस है, न कि लखनऊ। इस स्थल पर विषय के अनुरूप अर्थ लगाया जाता है कि बस चलकर लखनऊ आ गई। इसी तरह धूम्र का अवलोकन कर व्याप्ति सम्बन्धों के आधार पर यज्ञदत्त यह कहे कि यहाँ अग्नि भी है। यज्ञदत्त का कथन अपनी जगह पर उपयुक्त है; परन्तु शब्द का यहाँ पर सही तात्पर्य यह है कि यज्ञदत्त ने धुआँ देखा है, अर्थात् कहना चाहिए कि धुँआ ही है, अग्नि नहीं। यदि किसी अनुभवी व्यक्ति से यज्ञदत्त कहता कि वहाँ अग्नि अवश्य है,तो वह व्यक्ति तुरन्त समझ लेता है कि यज्ञदत्त ने वहाँ नीचे से उठने वाले धुएँ को देखकर ऐसा कहा है। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि इंजन से निकला हुआ धुआँ छाया रहता है और उसी अवधि में इंजन उस धुएँ से काफी दूर चला जाता है। इस तरह यह स्पष्ट हुआ कि विषय के कथन से भी शब्दों का ज्ञान सामान्यतया हो जाया करता है, साथ ही शब्दार्थ की यथार्थ स्थिति से भी तात्पर्य समझ में आता है। अर्थज्ञान से हीन व्यक्ति शब्द का आशय नहीं जान सकते ॥३॥

ज्ञान प्राप्ति में, साधन रूप से प्रयुक्त होने वाले पद्य आदि की सामान्य एकार्थकता की अभिव्यक्ति के रूप में अगला सूत्र प्रस्तुत किया गया—

(३४७) हेतुरपदेशो लिङ्ग प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम्॥ ४॥

सूत्रार्थ— हेतुः = हेतु, अपदेशः = अपदेश, लिङ्गम् = लिङ्ग, प्रमाणम् = प्रमाण तथा, करणम् = करण, इति = इस तरह यह प्रत्येक (पद), अनर्थान्तरम् = समान अर्थ का बोध कराते हैं।

व्याख्या— हेतु, अपदेश, लिङ्ग, प्रमाण एवं करण आदि समस्त पद पर्यायवाची हैं। हेतु का उपयोग वहाँ होता है, जहाँ किसी पदार्थ का कार्य-कारण भाव सिद्ध करना है। जैसे-घड़े रूप कार्य की उत्पत्ति में कुम्हार, मिट्टी, दण्ड तथा चाक आदि कारण हैं तथा ये सभी ''हेतु'' कहलाते हैं। ''अपदेश'' वह है, जिससे अर्थ को सम्यक् रूप से ग्रहण किया जाता है- अर्थात् जिसके द्वारा बात भली-भाँति समझ में आ सके। जिन संकेतों अथवा चिह्नों द्वारा वस्तु विशेष का सुनिश्चित ज्ञान हो सके, उसे ''लिङ्ग'' या लक्षण कहते हैं। जैसे-सींग व पूँछ वाली कहने भर से किसी पशु की प्रामाणिकता गाय के रूप में नहीं हो सकती। सास्ना एवं थनों से युक्त तथा कुब्ज जैसे लक्षण गाय की सिद्धि में प्रमाण माने जाते हैं, आशय यह हुआ कि लिङ्ग एवं प्रमाण एक दूसरे के पर्याय हैं। करण भी इसी का पर्याय है। शब्दों का अर्थ ज्ञान इन्हीं सबसे प्राप्त हुआ करता है, ऐसा सूत्रकार ने सिद्ध किया।

अगले सूत्र में सूत्रकार प्रसङ्ग का समापन करने के भाव से कहते हैं—

(३४८) अस्येदमिति बुद्ध्यपेक्षितत्वात्॥ ५॥

सूत्रार्थ— अस्य = इसका, इदम् = यह लिङ्ग है, इति = इस प्रकार का ज्ञान, बुद्धि-अपेक्षितत्वात् = बुद्धि की अपेक्षा से ज्ञान की प्राप्ति होती है।

व्याख्या— अमुक वस्तु अमुक लक्षणों द्वारा पहचानी जाती है अथवा कार्यरूप घड़ा, कारण रूप मिट्टी से उत्पन्न हुआ है। सूत्र में प्रयुक्त ''अस्य'' तथा ''इदम्'' दोनों पद सर्वनाम हैं तथा जैसा प्रसङ्ग हो उसके अनुरूप मनचाहे अर्थ का ज्ञान कराते हैं। ''अस्य साध्यस्य इदं साध्यम्'' ''अस्य कारणस्य इदं कार्यम्'' आदि अर्थ के ज्ञान में ''अस्य'' एवं ''इदं'' दोनों पद सहायक हैं। साध्य-साधन भाव का ज्ञान हुए बिना किसी एक लक्षण से अन्य लक्षण का ज्ञान नहीं किया जा सकता। कार्य-कारण भाव की एकरूपता हर जगह बनी रहती है। लक्षण कोई भी हो; क्योंकि इस एकरूपता से शब्द करण की अपनी स्वतन्त्रता में कोई रुकावट नहीं खड़ी होती। सांकेतिक प्रक्रिया के अन्तर्गत ही शब्दों का अर्थ समझ में आता है, जैसे पानी के लिए जल, वाटर, नीर आदि शब्द प्रयुक्त हुआ करते हैं, इन तीनों की समानता है; क्योंकि तीनों ही पानी के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। संकेत से भी इस आशय का ज्ञान हो जाया करता है।

मूक व्यक्ति संकेत द्वारा ही अर्थों का ज्ञान प्राप्त किया करते हैं, देशकाल की अपनी-अपनी स्थिति की भिन्नता से इन संकेतों में भेद का होना भी हो सकता है। अतएव इन्हें एक सुनिश्चित प्रमाण के रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती। उपमान, अर्थापत्ति एवं अभाव आदि प्रमाण भी प्रकारान्तर से अनुमान प्रमाण के समान ही हैं, इसलिए इन्हें भी अलग से प्रमाण नहीं माना जा सकता। उँगली का इशारा, भौंहों की सांकेतिक दशा, हाँ अथवा ना की स्थिति सिर को हिलाकर स्पष्ट करना आदि शरीर द्वारा की जाने वाली सांकेतिक क्रिया से भी विशेष अर्थ का ज्ञान हुआ करता है; परन्तु इन सबको भी अतिरिक्त साक्ष्य के रूप में मान्यता नहीं दी गई है। इस प्रकार से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रत्यक्ष एवं अनुमान आदि प्रमाण ही स्वतन्त्र रूप से मान्यता प्राप्त हैं, जिनके द्वारा समस्त कार्यों का होना पाया जाता है॥ ५॥

अब प्रसङ्ग की समाप्ति करके सूत्रकार अन्य प्रसङ्ग के अन्तर्गत स्मृति ज्ञान का निरूपण करते हुए अगला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

(३४९) आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः॥ ६॥

सूत्रार्थ— आत्ममनसोः = आत्मा तथा मन के, संयोगविशेषात् = संयोग की विशिष्टता से, च = और, संस्कारात् = संस्कार के द्वारा, स्मृतिः = स्मृतिज्ञान का होना माना जाता है।

व्याख्या— जीवात्मा मन के संयोग विशेष से प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा जिस किसी पदार्थ को भली-भाँति जान लेता है, उसके स्वरूप, रंग-रूप, आकार आदि का अनुभव स्मृति रूप से आत्मा में स्थित रहता है। मन का आत्मा के साथ संयोग विशेष से जो भाव उत्पन्न होता है, उसे ''संस्कार'' अथवा भावना का नाम दिया गया है। जीवात्मा जिन अनुभवों को अपने में समाहित कर लेती है, उन अनुभवों की भावना संस्कार रूप से, आत्मा में बनी रहती है। आवश्यकता अथवा कारण उपस्थित होने पर आत्मा का मन के साथ विशेष संयोग होने पर आत्मस्थित भावों की तत्काल स्मृति हो आती है, जिससे सब कुछ याद आ जाता है। स्मृति का आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध है तथा मन के साथ आत्मा का जो संयोग विशेष होता है, वह असमवायिकारण से है। संस्कार उसमें निमित्त कारण माना जाता है। ज्ञातव्य है कि कर्म की अवस्था में जो-जो तथ्य अनुभव हो चुके रहते हैं, उन्हीं सबकी स्मृति हुआ करती है। यदि किया जा चुका अनुभव यथार्थतः पूर्ण होगा, तो उनके संस्कारों के कारण स्मृति भी यथार्थ ही होगी। अशुद्ध अनुभवों से अशुद्ध संस्कार तथा अशुद्ध संस्कार से अशुद्ध स्मृति का होना सुनिश्चित है। स्मृति संस्कारों पर ही आश्रित रहती है, यदि रस्सी को देखकर साँप की कल्पना की जाय, तो उसके संस्कार द्वारा होने वाली स्मृति यथार्थ नहीं होगी अर्थात् रस्सी में साँप का होना नहीं होगा। जो वस्तु पूर्व में देखी जा चुकी है, उस वस्तु का स्मरण आने पर आत्मा उसके संस्कारों का ज्ञान प्राप्त करने हेतु मन के साथ जो सम्बन्ध स्थापित करता है, वही 'संयोग विशेष' है। दृढ़ इच्छाशक्ति द्वारा उत्पन्न ज्ञान से जिन संस्कारों की उत्पत्ति होती है, उनका पुनः स्मरण होने से उसे 'स्मृति' कहा गया है। योगीजनों के लिए स्मृति आँखों के समक्ष देखे जाने वाले दृश्य जैसी ही हुआ करती है। अपनी योगशक्ति द्वारा वे भूत व भविष्यत् के समस्त क्रिया-कलापों का ज्ञान प्रत्यक्ष की तरह करा दिया करते हैं। पूर्व के अध्यायों में उसका उल्लेख आ चुका है। अतएव मन एवं आत्मा के संयोग विशेष से आत्मा में जिन संस्कारों की उत्पत्ति होती है, स्मृति का वही हेतु है। ऐसा सिद्ध होता है ॥६॥

स्वप्न होने में क्या कारण है तथा स्वप्न की स्थिति में जो स्मृति प्राप्त होती है, अगले सूत्र में सूत्रकार उसी को स्पष्ट करते हैं—

(३५०) तथा स्वप्नः ॥७॥

सूत्रार्थ— तथा = वैसे ही, स्वप्नः = स्वप्न में होने वाले ज्ञान को भी समझना चाहिए।

व्याख्या— स्वप्न ज्ञान का होना भी उन्हीं कारणों से होता है, जिनसे स्मृति ज्ञान का होना बताया गया है। जिस प्रकार आत्मा एवं मन के संयोग विशेष से संस्कारों के द्वारा गत सूत्र में स्मृति ज्ञान होना सिद्ध किया, ठीक वैसे ही आत्मा एवं मन के संयोग से संस्कारों के द्वारा ही स्वप्न सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त होता है। स्वप्न की दशा में बाह्य इन्द्रियाँ सक्रिय नहीं रहतीं; क्योंकि समस्त बाह्य विषयों से उनका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। मन भी अपने आपको बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी हो जाता है। उस अवस्था में इन्द्रिय एवं मन के द्वारा उत्पन्न ज्ञान ही स्वप्न कहलाता है। आशय यह है कि नींद की स्थिति में जो स्वप्न आते हैं, वे पूर्व में देखे गये दृश्यों को इन्द्रियों तथा मन के द्वारा त्याग देने एवं पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कर आत्म संयोग के प्रतिफल स्वरूप हैं। ज्ञानीजनों ने तीन तरह के स्वप्नों का होना कहा है- १. संस्कारों की विशेष अवस्था के कारण २. कथा, भागवत, पुराणादि के श्रवण के कारण। ३. पूर्व जन्म में सम्पादित कर्म एवं उनके फल के कारण।

१. संस्कार विशेष से होने वाला स्वप्न- जिस कार्य को दिन में प्रत्यक्ष देखा, सुना, समझा एवं अनुभव किया। उसी का चिन्तन, मनन करते हुए जब निद्रा आ जाती है, तब वैसे ही दृश्य स्वप्न के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

यह भी होता है कि जैसा देखा-सुना, उसका उलटा अथवा थोड़ा-बहुत रद्दोबदल वाला दृश्य उपस्थित हो । जिन विषयों के संस्कार मानस पटल पर गहराई तक जड़ जमाये रहते हैं, उनके दृश्य अधिक तथा जिनके उथले रहते हैं उनके कम दीखते हैं। ऐसा न्यूनाधिक्य बना रहता है।

२. पुराण कथा, कहानी आदि के सुनने से, नाटक आदि देखने से मन में उनके संस्कार स्थापित हो जाते हैं। इसी कारण मन के प्रभावित रहने से निद्रावस्था में उसी से सम्बन्धित स्वप्न आते हैं। इस स्वप्न में नदी पार करना, समुद्र तट पर जाना, मन्दिर एवं देवताओं का दर्शन करना, धरती पर घूमना आदि दिखाई पड़ता है। युद्ध आदि के दृश्य, नृत्य-संगीत आदि अभिनय के दृश्य आते हैं।

३. पूर्व जन्म के कर्म एवं उनके फल से होने वाले स्वप्नों में वैचारिक प्रदूषण से भयावने दृश्य का आना, मारने को दौड़ना, सिंह-व्याघ्रादि के भय से भागना, गाली-गलौज की स्थिति, गधे की सवारी, समारोह आदि में सम्मिलित होना, राजसिंहासन पर बैठना, राजसी सुख का भोग करना आदि दृश्य देखने में आते हैं। पूर्व जन्म के कर्मों के फलस्वरूप ही उपर्युक्त तरह के स्वप्न दिखाई पड़ते हैं। शुभ कर्म करने वालों को शुभ तथा अशुभ कर्म करने वालों को अशुभ स्वप्न दिखते हैं। कभी-कभी स्वप्न भी सत्य हो जाया करते हैं। कतिपय विद्वान् स्वप्नों द्वारा भविष्य संबंधी शुभाशुभ का ज्ञान करा दिया करते हैं। शुभ परिणाम एवं अशुभ परिणाम वाले इसके दो भेद भी बताये गये हैं। इस प्रकार सूत्रकार ने मन एवं आत्मा के संयोग-विशेष से स्वप्नों का होना सिद्ध किया ॥७॥

अगले सूत्र में सूत्रकार स्वप्नावस्था में होने वाले स्वप्न संबंधी ज्ञान की विवेचना करते हैं—

(३५१) स्वप्नान्तिकम् ॥८॥

सूत्रार्थ— स्वप्नान्तिकम् = स्वप्न के अन्दर अन्य स्वप्न का उत्पन्न होना भी स्मृति की तरह ही होता है।

व्याख्या— स्मृति ज्ञान की तरह स्वप्न काल में अनुभव जन्य संस्कारों द्वारा तथा आत्मा एवं मन के संयोग से स्वप्न के बीच में स्वप्नान्तिक ज्ञान भी हुआ करता है। जिस प्रकार स्वप्न ज्ञान ''आत्ममन:संयोगविशेषात्'' तथा संस्कारों द्वारा उत्पन्न होने से ''स्मृति'' है, उसी प्रकार स्वप्न के मध्य होने वाला ''स्वप्नान्तिक ज्ञान'' भी ''स्मृति'' है। अन्तर मात्र इतना ही है कि स्वप्नज्ञान तो पहली अनुभवात्मक स्थिति में उत्पन्न संस्कारों के प्रभाव क्षमता के कारण हुआ करता है; किन्तु स्वप्न में अन्य स्वप्न की उत्पत्ति, तत्कालीन अनुभवों द्वारा प्राप्त ज्ञान के संस्कारों से होता है। इसे ऐसा भी कहा जा सकता है कि व्यतीत हो चुकी अनुभूतियों की स्मृतियों से स्वप्न की उत्पत्ति होती है तथा जिन-जिन स्मृतियों का अनुभव किया जा चुका, उनमें अन्य अनुभूत विषयों की आकृति-छाया आदि समाविष्ट होना ही स्वप्न के अन्दर अन्य स्वप्न का उत्पन्न होना है। निद्रा की प्रगाढ़ता में जब स्वप्न आते हैं, तो अक्सर देखने में आता है कि हवाई यात्रा कर रहे हैं- फिर पैदल भ्रमण कर रहे हैं। पुनः दृश्य परिवर्तन हुआ और देखते हैं कि रेलगाड़ी पर यात्रा कर रहे हैं। इसे ही एक स्वप्न से दूसरे स्वप्न का उत्पन्न होना कहा गया है। कभी-कभी तो स्वप्न देखते समय यह ज्ञान भी हो जाता है कि यह दृश्य यथार्थ नहीं, अपितु स्वप्न ही है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि स्वप्न में अन्य स्वप्न का उत्पन्न होना भी मन एवं संस्कारों के साथ आत्मा का संबंध होने पर ''स्मृतिवत्'' हुआ करता है।

प्रश्न उठता है कि जब स्मृति एवं स्वप्न दोनों ज्ञान की दृष्टि से समानता युक्त हैं, तो दोनों के नाम अलग-अलग क्यों? सूत्रकार ने समाधान हेतु अगला सूत्र प्रस्तुत करते हुए कहा—

(३५२) धर्माच्च ॥९॥

सूत्रार्थ— धर्मात् = धर्म से, च = तथा (अधर्म से भी स्वप्न ज्ञान का होना होता है)।

व्याख्या— धर्म एवं अधर्म से भी स्वप्नों का होना माना जाता है। धर्म के प्रभाव से शुभ तथा अधर्म के प्रभाव से अशुभ स्वप्न दिखाई पड़ते हैं। मनुष्य के द्वारा जैसे अच्छे अथवा बुरे कर्म सम्पन्न किये जाते हैं, धर्म एवं अधर्म युक्त उन्हीं कर्मों का परिणाम स्वप्न की दशा में देखने को मिलते हैं। शुभ एवं अशुभ की सूचना देने वाले अनेकों दृष्टान्तों का कथन विद्वानों द्वारा किया जा चुका है। जैसे- महल, पर्वत आदि पर चढ़ना। हाथी, घोड़ों आदि पर सवारी, राज पुरुषों का दर्शन, छत्र आदि को देखना, इस तरह के स्वप्न शुभ सूचक माने जाते हैं। अशुभ सूचक स्वप्न के दृश्यों में - अपना ही विवाह होते देखना, ऊँट, भैंसे आदि पर बैठकर यात्रा करना, अन्धे कूप में गिर जाना, तेल से शरीर की मालिश करना आदि दिखाई देता है। कर्मफल भोग के अन्तर्गत स्वप्न भी एक साधन है, ऐसा समझा जा सकता है। कारण कि स्वप्नों में भी जीव को सुख अथवा दु:ख की अनुभूति हुआ करती है, भले ही उसका यथार्थता से कोई सम्बन्ध न हो। धर्म के कर्म सुखप्रदाता एवं अधर्म के कर्म दु:ख दायक हुआ करते हैं। इस तरह से स्वप्न में जिस सुख अथवा दु:ख की प्राप्ति होती है, वह आंशिक रूप से फल भोग ही है।

यदि कोई यह कहे कि स्वप्नावस्था में जो सुख-दु:ख जीव को प्राप्त होता है। वह धर्म से नहीं अपितु अनुभव ज्ञान के कारण मिलता है, कारण कि पूर्व में इसका उल्लेख किया जा चुका है कि अनुभूतियों को ही स्वप्नरूप में देखा जाता है। स्वप्न में कोई मारता है, तो न तो कोई निशान बनता है और न ही चोट लगती है। स्वप्न में देखते हैं कि हवाई जहाज द्वारा मुंबई पहुँच गये; परन्तु पहुँचते नहीं हैं। जगने पर बिस्तर पर ही रहते हैं, तो इसे धर्म के साथ कैसे जोड़ा जा सकता है?

उत्तर यह है कि जिस समय स्वप्न देख रहे होते हैं, उस समय जैसे दृश्य उपस्थित होते हैं, उन्हें देखकर प्रभावित होना सुनिश्चित होता है। इसी विवेचना क्रम में यह कहा गया है कि स्वप्न की स्थिति में अनुभव तो होता ही है, भले ही यथार्थता से उसका संबंध न हो। सुख-दु:ख की अनुभूति तो होती है।

धर्म एवं अधर्म का प्रभाव स्वप्न पर किस तरह से हुआ करता है, इसे ऐसा समझा जा सकता है- शुद्ध सात्त्विक, धर्मयुक्त धारणा वाले मनुष्य सदैव अच्छे, सुखदायक स्वप्न देखते हैं। धार्मिक शक्ति से बुरे स्वप्न उनके पास फटकते ही नहीं हैं; परन्तु जो पापात्मा होते हैं, जिनके आचार-विचार, खान-पान, व्यवहार सब कुछ अधर्म से युक्त हैं, वे सदैव बुरे स्वप्न ही देखा करते हैं, अच्छे स्वप्न वे कभी भी नहीं देख पाते। अपवाद स्वरूप यदि बुरे कर्म वाले अधार्मिक मनुष्य को कभी अच्छे स्वप्न दिखाई भी दे जायें अथवा धार्मिक व्यक्ति को बुरा स्वप्न दिख जाय, तो उन्हें पूर्व जन्म के संस्कार के कारण होना मानना चाहिए। इस तरह सूत्र का कथन प्रमाणित होता है ॥९॥

स्वप्न ज्ञान संबंधी विवेचना पूरी करके अब सूत्रकार अविद्या के कारणों का उल्लेख करते हैं; क्योंकि स्वप्न को कतिपय विद्वानों ने अविद्या बताया है। इस सूत्र में यही बतलाते हैं—

(३५३) इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या॥ १०॥

सूत्रार्थ— इन्द्रियदोषात् = इन्द्रियों में दोष उत्पन्न हो जाने से, च = तथा, संस्कारदोषात् = संस्कार दोष होने के कारण, अविद्या = अविद्या का उत्पन्न होना बताया है।

व्याख्या— अविद्या अर्थात् मिथ्याज्ञान का होना इन्द्रिय दोष से तथा संस्कार दोष से होता है। आशय यह है कि इन्द्रियों (आँख, कान, नाक आदि) में विकार उत्पन्न हो जाने से उनकी कार्य क्षमता बाधित हो जाती है। नेत्रों की कमजोरी से हलके से अन्धकार में भी वांछित वस्तु नहीं मिल पाती, रस्सी को देखकर साँप का भ्रम हो जाया करता है। इसे ही अविद्या अर्थात् विरुद्ध ज्ञान कहा जाता है। इसके संस्कारों में विकार उत्पन्न हो जाने से भी मिथ्या ज्ञान (अविद्या) उत्पन्न होता है। जिस प्रकार संखिया एवं विष आदि विषैले एवं नशीले

पदार्थों को खा लेने से सामान्य मनुष्य अपने जीवन से हाथ धो बैठता है। इसी संखिया एवं विष का सेवन कर बहुत से लोग पूर्ण सन्तुष्टि का अनुभव करते हैं तथा उन्हीं विषैले एवं नशीले पदार्थों को अपने लिए प्राण रक्षक मानते हैं। यह भी अविद्या ही है। इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि इन्द्रिय दोष एवं संस्कार दोष के कारण अविद्या जन्य दोष उत्पन्न होता है ॥१०॥

अविद्या के लक्षणों का उल्लेख अगले सूत्र में करते हुए सूत्रकार ने कहा—

(३५४) तद्दुष्टज्ञानम् ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ— तद् = उस अविद्या में, दुष्टज्ञानम् = दूषित ज्ञान रहता है (दोषयुक्त ज्ञान अविद्या है)।

व्याख्या— जो पदार्थ जैसा नहीं है, उसका उस रूप में दिखाई देना अविद्या है। ऐसी स्थिति ज्ञान के दूषित होने पर ही उत्पन्न होती है। हर तरह के दुष्ट ज्ञान अथवा विरुद्ध ज्ञान को अविद्या कहा है। "दुष्टज्ञान" का आशय यह है कि मृत्यु एक शाश्वत सत्य है, सभी को उसे गले लगाना पड़ता है। सबको इस बात का ज्ञान है कि एक दिन मरना है, फिर भी ऐसे ज्ञान के रहते पाप कर्मों में लगे रहा करते हैं। इस दूषित ज्ञान के कारण ही अपनी मुक्ति हेतु प्रयत्नशील नहीं होते। इसे ही अविद्या अथवा अज्ञान बताया गया है ॥११॥

अविद्या को बतलाकर अब अगले सूत्र में सूत्रकार ने विद्या का स्वरूप स्पष्ट किया है—

(३५५) अदुष्टं विद्या ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ— अदुष्टम् = ऐसा ज्ञान जिसमें दोष नहीं है वही, विद्या = विद्या अथवा वास्तविक ज्ञान है।

व्याख्या— वह ज्ञान जो निर्मलता एवं शुद्धता से परिपूर्ण हो, उसे विद्या कहते हैं। वेद सम्मत ज्ञान जहाँ भी है, वह मंगलकारी एवं आचरणीय होता है। दोषरहित वह ज्ञान ही यथार्थतः विद्या है। वेद के विपरीत ज्ञान अथवा मान्यतायें अविद्या से उपजी होने के कारण सर्वथा त्यागने योग्य हैं। जो पदार्थ जैसा है, उसे उसी रूप में जानना ही विद्या है। वेदानुकूल आचरण द्वारा अपने मोक्ष का प्रयत्न करने में जो ज्ञान उपयुक्त होता है, उसे विद्या कहते हैं ॥१२॥

किन कर्मों से उपर्युक्त विद्या हस्तगत हुआ करती है? सूत्रकार ने अगले सूत्र में कहा—

(३५६) आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः ॥ १३ ॥

सूत्रार्थ— आर्षम् = आर्ष ग्रन्थों के उपदेशात्मक ज्ञान से, च = तथा, सिद्धदर्शनम् = सिद्धों के दर्शन सान्निध्य से प्राप्त ज्ञान, धर्मेभ्यः = धर्म कृत्यों के प्रतिफल स्वरूप होता है।

व्याख्या— आर्षग्रन्थों में ऐसे पवित्रात्मा ऋषियों के उपदेश रहते हैं, जिन्होंने तीनों कालों का ज्ञान अपनी तप:शक्ति से प्राप्त करके ज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध की है। उनका उपदेश दुर्लभ इसलिए है; क्योंकि ऐसे सन्तों के दर्शन ही नहीं होते और यदि दर्शन भी हो जायें, तो वे धर्मपरायण, मोक्षार्थी जनों को ही उत्तम ज्ञान का उपदेश करते हैं। उन मन्त्रद्रष्टा महात्माओं की खोज भी धर्मात्मा एवं मोक्षार्थी ही किया करते हैं। वही आर्षग्रन्थों, वेद-पुराणों, उपनिषद् आदि के पठन-पाठन में अभिरुचि भी रखते हैं, जिसके कारण उन्हें विद्या प्राप्त हो जाती है। पापात्मा एवं अधर्मपरायण जनों की रुचि आर्षग्रन्थों के ज्ञान एवं ऋषि-महात्माओं के पवित्र उपदेश में होती ही नहीं। धर्म में आस्था रखने वाले परम पुण्यशाली मनुष्य ही सिद्ध ऋषियों के उपदेश, दर्शन तथा वेद-शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। वही इस महान् विद्या को प्राप्त करने का सौभाग्य अर्जित करते हैं ॥१३॥

॥ इति नवमाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम् ॥

॥ अथ दशमाध्याये प्रथमाह्निकम् ॥

गत आह्निक में सूत्रकार ने आत्मा के विशिष्ट गुण-ज्ञान की विवेचना करने के उपरान्त इस दसवें अध्याय में दूसरे अन्य गुणों सुख-दु:खादि का विवेचन करते हुए प्रथम आह्निक का पहला सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

(३५७) इष्टानिष्टकारणविशेषाद्विरोधाच्च मिथः सुख दु:खयोरर्थान्तरभावः ॥१ ॥

सूत्रार्थ— इष्टानिष्टकारणविशेषात् = इष्ट एवं अनिष्ट कारणों की विशेषताओं से, च = तथा, मिथः = परस्पर, विरोधात् = विरोध करने से, सुखदु:खयोः = सुख एवं दु:ख में, अर्थान्तरभावः = विरोधी भाव रहा करता है।

व्याख्या— सुख एवं दु:ख परस्पर विरोधी भाव रखने के कारण एक साथ नहीं रहते। ''इष्ट'' अर्थात् जिसके लिए मन में रुचि उत्पन्न होती है, जैसे- सुख देने वाला द्रव्य, माला, वस्त्राभूषण, वाहन, पद, प्रतिष्ठा, सुन्दर भवन, उत्तम स्वास्थ्य आदि। ''अनिष्ट'' अर्थात् जो पदार्थ दु:खदायी होते हैं तथा जिनकी प्राप्ति अनिच्छापूर्वक हुआ करती है, जैसे- विष, रोग, दरिद्रता, दुर्गन्ध, कलह , कण्टक आदि। सुखदायक पदार्थों को हर कोई पाना चाहता है; परन्तु दु:खदायक पदार्थों की इच्छा कोई नहीं करता। जहाँ दु:ख है, वहाँ सुख नहीं तथा जहाँ सुख है, वहाँ दु:ख नहीं, दोनों के गुणों में विरोधी भाव है। सुख में अनुरक्त मनुष्य अपने मुख-मण्डल पर प्रसन्नता बनाये रखता है, उमंग-उल्लास उसके हाव-भाव में झलकता रहता है। इसके विपरीत दु:खी व्यक्ति के चेहरे पर चिन्ता, शारीरिक क्रिया-कलापों में शिथिलता एवं अच्छे भोजन-वस्त्रादि से भी उन्हें कोई लगाव नहीं रहता। इस तरह सुख एवं दु:ख परस्पर विपरीत लक्षण वाले हैं ॥१ ॥

प्रश्न उठता है कि जैसे सुख और दु:ख परस्पर भिन्न लक्षण वाले हैं, दोनों में विरोधी भाव है, तो क्या ज्ञानादि को भी ऐसा ही समझा जाय, स्मृति के आधार पर ज्ञान में भी भिन्नता है ? अगले सूत्र में सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

(३५८) संशयनिर्णयान्तराभावश्च ज्ञानान्तरत्वे हेतुः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— च = तथा, संशयनिर्णयान्तराभावः = संशय एवं निश्चय के बीच में किसी प्रकार का अन्तर नहीं, ज्ञानान्तरत्वे = सुख एवं दु:ख के ज्ञानभिन्नत्व में यह ही, हेतुः = प्रमाण अथवा कारण है।

व्याख्या— परस्पर विरोधी भाव रखने वाले सुख तथा दु:ख ज्ञान से पूरी तरह भिन्न हैं। सुख एवं दु:ख न तो संशयात्मक होते हैं और न ही निश्चयात्मक। ज्ञान की अभिव्यक्ति दो प्रकार से हुआ करती है- प्रथम ''संशयात्मक'' दूसरे ''निश्चयात्मक'' और सुख-दु:ख इन दोनों तरह के ज्ञान से परे पूर्णतः अलग है। सुख-दु:ख की अनुभूति ज्ञान द्वारा ही हुआ करती है। ज्ञान जब संशय की स्थिति में होता है और किसी निर्णायक स्थिति बन पाने में कठिनाई होती है, तब उस मध्य की दशा परीक्षण के नाम से जानी जाती है। इस परीक्षण के आधार पर ही संशयात्मक ज्ञान दूर होता है और फिर निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति हुआ करती है। दूर से देखकर वह गाय है अथवा बैल यह निर्णय के तौर पर नहीं कहा जा सकता। चिह्नों को देखकर परीक्षणोपरान्त ही यह निश्चय किया जाता है कि यह तो गाय है और वह बैल। इस तरह ज्ञान से सुख-दु:ख का कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। मेरा मन आज दु:खी है अथवा आज मैं बहुत ही ताजगी अनुभव कर रहा हूँ। इसमें ज्ञान नहीं, अनुभूति का भाव प्रकट होता है। इसी तरह ''मुझे अमुक विषय का ज्ञान है'' इस तरह के कथन में सुख-दु:ख की प्रतीति नहीं होती। इस तरह से सुख-दु:ख एवं ज्ञान का अन्तर स्पष्ट हो जाता है ॥२ ॥

अब अगले सूत्र में सूत्रकार उपर्युक्त विषय के अन्तर्गत दोनों सुख-दु:ख एवं ज्ञान के प्रत्यक्ष का कथन करते हैं—

(३५९) तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— तयो: = उन दोनों (सन्देह और निश्चय की), निष्पत्ति: = उत्पत्ति, प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् = प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा हुआ करती है।

व्याख्या— गत सूत्र के विवेचन क्रम में दो तरह के ज्ञान का उल्लेख हुआ-सन्देहात्मक एवं निश्चयात्मक। प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने यह कहा कि सन्देह एवं निश्चय दोनों की उत्पत्ति प्रत्यक्ष एवं अनुमान से होती है। जबकि सुख-दु:ख की उत्पत्ति में न तो प्रत्यक्ष साधनों की अपेक्षा रहती है और न ही अनुमान की। प्रत्यक्ष रूप से सुख-दु:ख का उत्पन्न होना नहीं पाया जाता और न ही अनुमान से सुख-दु:ख की उत्पत्ति होती है। विषयों द्वारा सुख-दु:ख की उत्पत्ति मानी गयी है। जो विषय अपने लिए अनुकूलतापूर्ण होता है, उनसे सुख तथा जो प्रतिकूलतायुक्त होते हैं, उनसे दु:ख की प्राप्ति होती है। माला, चन्दन, अच्छे वस्त्राभूषण आदि विषयों का उपयोगी स्वरूप सुख का हेतु है तथा विष, कण्टक, दुर्गन्ध आदि अनुपयोगी स्वरूप दु:ख के हेतु हैं। अत: विषय का अनुपयोग-उपयोग ही दु:ख-सुख रूप है। ज्ञान एवं सुख-दु:ख आदि का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है। जिन सुखों का उत्पन्न होना विषयों द्वारा होता है, उन्हें तीन भागों में वर्गीकृत किया गया है- १. मन की कामना पूर्ति से प्राप्त सुख अर्थात् मनोवांछित २. मानसिक, जिसमें अपने को औरों से अधिक सम्मानित व बड़ा मानने का सुख प्राप्त होता है। ३. अभ्यास से प्राप्त होने वाला सुख, जैसे योगाभ्यास से मिलने वाला सुख। आशय यह है कि जहाँ उपयोग की अनुकूलता सिद्ध होती हो, वहाँ सुख तथा जहाँ अनुकूलता के विपरीत स्थिति हो वहाँ दु:ख। जैसे अभिलषित वस्तु की प्राप्ति न हो पाने से मन में दु:ख होना तथा अपने बड़प्पन एवं औरों को तुच्छ समझने से जो अधिक आदर का भाव उत्पन्न होता है, उसके कारण सुख की प्राप्ति, तीसरे योगासन आदि में पूर्ण ज्ञान न होने से शारीरिक क्रियाओं की उलट-फेर वाली स्थिति से उत्पन्न कष्ट से अभ्यास की सिद्धि का न होना आदि दु:ख रूप ही माने जाते हैं। इस सबके अतिरिक्त और भी अनेक कारण हैं, जिससे सुख-दु:ख की प्राप्ति होती है। लक्षणों को देखकर अनुमान द्वारा प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य के दु:ख-सुख की स्थिति का ज्ञान हो जाया करता है। लक्षणों द्वारा अनुमिति एवं इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, जबकि सुख-दु:ख के साथ ऐसा कुछ नहीं है॥३॥

एक और कारण इसी विवेचना क्रम में अगले सूत्र में सूत्रकार ने व्यक्त किया—

(३६०) अभूदित्यपि॥४॥

सूत्रार्थ— अभूत् = भूतकाल में था, इति = इस तरह से, अपि = आगे भी (भविष्यत् काल में भी) होगा, (सुख-दु:ख की उत्पत्ति का होना इस तरह भी प्रमाणित है)।

व्याख्या— दैववश अथवा किन्हीं कारण विशेष से किसी ऐसे सुख अथवा दु:ख का आगमन अकस्मात् अपने जीवन में हो जाय, जो पहले कभी अनुभव में न आया हो, तो उसे "अभूत्" कहा जायेगा। सन्तानहीन दम्पति यदि प्रभु कृपा से सन्तान का सुख पा जायें, तो उनके लिए यह सुख अभूतपूर्व ही होगा; क्योंकि इससे पहले उनके कोई पुत्र नहीं था। इसी तरह से जिसके एक पुत्र था और असाध्य रोग से ग्रसित हो जाने से उसकी मृत्यु हो गई, तो उसके लिए वह पुत्र शोक का दु:ख भी अभूतपूर्व ही होगा, क्योंकि इससे पहले उसका कोई पुत्र मरा नहीं था। भविष्य में उसे फिर से पुत्र रत्न की प्राप्ति होगी, ऐसा सोच कर वह सुख का अनुभव करे। 'अपि' शब्द का यही आशय है कि आगे भी होगा। अच्छे-बुरे कर्मों से सुख-दु:ख का अनुमान तो लगाया जा सकता है; परन्तु सुनिश्चित तौर पर यह नहीं कहा जा सकता कि सुख-दु:ख तो होगा ही। जंगल में अधजले वृक्षों को देखकर यह अनुमान हो जाता है कि आग लगने से ही ऐसा हुआ है तथा भविष्य में भी आग लग सकती है; क्योंकि तेज हवा से आपस में बाँस परस्पर रगड़ रहे हैं। ऐसा कथन सुख-दु:ख के विषय

में नहीं कर सकते। हाँ, तात्कालिक लैङ्गिकों (लक्षणों) का अवलोकन करके एक सीमा तक ही कह सकते हैं कि सुख होगा अथवा दुःख होगा। वर्तमान काल की स्थिति में हम बहुत सुखी हैं अथवा हमें बहुत दुःख है, यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है। इस तरह से यह प्रमाणित हो जाता है कि सुख-दुःख का ज्ञान अनुमानादि से अलग प्रकार का है ॥४॥

उपर्युक्त विवेचन की पुष्टि करते हुए सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत किया—

(३६१) सति च कार्यादर्शनात् ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ— कार्य-अदर्शनात् = सुख-दुःख रूप कार्य का आँखों से देखे न जाने से, च = भी, सति = सुख-दुःख का होना प्रमाणित होता है।

व्याख्या— सुख अथवा दुःख दोनों के कर्मों का प्रत्यक्ष आँखों द्वारा नहीं किया जा सकता; परन्तु अनुभूतियों से इनका होना सिद्ध है। पूर्व में कहा जा चुका है कि जब सुख होगा तब दुःख नहीं रहेगा तथा जब दुःख होगा तब सुख नहीं रहेगा अर्थात् दोनों एक साथ नहीं रहा करते। पुत्र-पौत्र, धन-वैभव, पद-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान आदि से सम्पन्न व्यक्ति सुखी माना जाता है; क्योंकि उसके पास दुःखों का सर्वथा अभाव है। यहाँ सुख आँखों से नहीं दिखता; परन्तु सुख का होना सिद्ध है। इसी प्रकार जो व्यक्ति सर्व साधन-विहीन, धन-सन्तानादि सुखों से रहित है तथा जिसकी कामनाएँ पूर्ण नहीं हो सकीं हैं, वह पूर्णतः दुःखी है; क्योंकि उसके पास सुख का सर्वथा अभाव है। यहाँ भी दुःख आँखों से दिखाई नहीं देता; परन्तु दुःख का होना सिद्ध है। आकार विहीन पदार्थ होने के कारण सुख-दुःख, अनुमान अथवा अनुभव के विषय हैं। किसी के भी चेहरे को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि यह सुखी है अथवा दुःखी। चेहरे की प्रसन्नता, स्वास्थ्य आदि से सुखी तथा मुख की उदासी, शारीरिक दुर्बलता आदि से दुःखी होने का ज्ञान हो जाया करता है। इस तरह यह सिद्ध हो जाता है कि सुख-दुःख, ज्ञान से सर्वथा भिन्न हैं ॥५॥

इस भिन्नता की पुष्टि में एक और कारण का उल्लेख करते हुए अगले सूत्र में सूत्रकार ने कहा—

(३६२) एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात् ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ— एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु = एक ही द्रव्य में समवायिकारण के अतिरिक्ति विशिष्ट कारणों का भी रहना, दृष्टत्वात् = दिखाई देने से (ज्ञान सुख-दुःख से भिन्न है)।

व्याख्या— एक अर्थ वाले द्रव्य में आवश्यकतानुरूप विशिष्ट कारणों की उत्पत्ति होने से भी सुख-दुःख का ज्ञान से भिन्न होना सिद्ध हो जाता है। जैसे- आत्मा रूपी द्रव्य में ऐसे कारण रहते हैं जिनके द्वारा सुख-दुःख की उत्पत्ति होती है, वे हैं— धर्म-धारणा, इच्छा-आकांक्षा, यत्न-प्रयत्न, राग तथा ज्ञानादि ये सभी कारण समवाय सम्बन्ध से आत्मा में स्थित हैं और इन्हीं से सुख उपजता है। ठीक इसके प्रतिकूल उसी आत्मा रूपी द्रव्य में अधर्म आदि ऐसे कारण भी रहते हैं, जिनसे दुःख उपजता है। इस तरह से एक ही आत्मा रूपी द्रव्य में दोनों तरह के कारण समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, जिनसे सुख एवं दुःख दोनों उपजता है। जबकि ज्ञान चाहे प्रत्यक्ष हो अथवा लक्षणों से युक्त, सुख-दुःख की तरह ज्ञान के कारणों को नहीं देखा जाता। एक अर्थ में समवाय सम्बन्ध से ज्ञान नहीं रहा करता। प्रत्यक्ष ज्ञान के हेतु इन्द्रियों एवं विषय का संयोग अनुमिति ज्ञान के हेतु हैं लिङ्ग ज्ञान तथा स्मृति ज्ञान के हेतु प्रणिधान हैं; परन्तु धर्म से सुख का और अधर्म से दुःख का होना सर्वथा स्पष्ट ही है। इस प्रकार कारणों के आधार पर सुख-दुःख से ज्ञान का भिन्न होना प्रमाणित हो जाता है ॥६॥

प्रश्न उठता है-सुख-दुःख एवं ज्ञान में कारण भेद से एकार्थता न होकर पारस्परिक भिन्नता है, तो इस आधार पर शारीरिक अवयवों-हाथ, पैर, पेट, पीठ, गर्दन, मस्तक आदि अंगों में पारस्परिक भिन्नता नहीं होनी चाहिए; क्योंकि एक ही मांस-मज्जा, रक्त आदि पर समूचा शरीर आधारित है। अगले सूत्र से सूत्रकार ने समाधान किया—

(३६३) **एकदेश इत्येकस्मिन् शिरः पृष्ठमुदरं मर्माणि तद्विशेषस्तद्विशेषेभ्यः ॥ ७ ॥**

सूत्रार्थ— एकदेशे = एक अवयव में, एकस्मिन् = किसी एक शरीर में, शिरः = सिर, पृष्ठम् = पीठ, उदरम् =पेट, मर्माणि = मर्मस्थल आदि, इति = इस प्रकार का व्यवहार, तद्विशेषः = उनकी अपनी विशेषता, तद्विशेषेभ्यः = उनके सबके अपने ही कारण विशेष से हैं।

व्याख्या— शरीर एक है; परन्तु उसके साथ अनेक अंग-अवयवों की सत्ता है। हाथ-पैर, पेट-पीठ, त्वचा-मर्मस्थल, गर्दन, सिर आदि समस्त अंग शरीर के अन्तर्गत ही पोषण पाते हैं। लोक व्यवहार में कहते-सुनते पाया जाता है कि शरीर का अमुक अङ्ग पीड़ित है। शारीरिक अंग परस्पर भिन्न भी हैं। हाथ पैर जैसा नहीं है, नाक कान से भिन्न है, आँखें उदर से भिन्न हैं, इस तरह से जो एक दूसरे में भिन्नता है, वह उन अंगों के अपने-अपने कारणों के कारण ही है। हर एक अंग के अपने-अपने कारण हैं- जैसे सिर बनाने में जिन परमाणुओं का योगदान है, वे उदर के निर्माण में हेतु नहीं हैं। आशय यह है कि पंचतत्त्वों से शारीरिक संरचना हुई है, इस कारण कोई अंग किसी तत्त्व की विशिष्टता वाला है तथा कोई किसी तत्त्व की। पूर्व के अध्ययनों की विवेचना में इस बात का उल्लेख हो चुका है। यहाँ संक्षेप में इस प्रकार समझें कि गन्ध पृथिवी तत्त्व का गुण है और नासिका गन्ध की ग्राहक है, इस तरह नासिका का कारण पृथ्वी के परमाणु हैं। जल का गुण रस है, रस की ग्राहक जिह्वा है, अतः जिह्वा का कारण जल तत्त्व है। रूप अग्नि का गुण है, चक्षुओं द्वारा रूप का ग्रहण किया जाता है, अतः नेत्रेन्द्रिय का कारण अग्नि के परमाणु हैं। स्पर्श वायु का गुण है तथा स्पर्श की अनुभूति त्वचा को होती है, अतः त्वक् का कारण वायु के परमाणु हैं। शब्द आकाश का गुण है, कानों द्वारा शब्द का ग्रहण होता है। अतः श्रोत्रेन्द्रिय का कारण आकाश के परमाणु हैं। ज्ञातव्य है कि आंशिक समाविष्टता तो सबमें सबका है तथा आंशिक समाविष्टता के कारण ही उनकी अपनी विशिष्टता दिखती है, इस तरह से यह सिद्ध हो जाता है कि अंगों के अपने ही कारण भेद से अवयवों में भेद का कथन हुआ है ॥७॥

॥ इति दशमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ॥

॥ अथ दशमाध्याये द्वितीयाह्निकम् ॥

गत आह्निक में सूत्रकार ने आत्म-तत्त्व के विशिष्ट गुण ज्ञान एवं सुख-दुःख की पारस्परिक भिन्नता का कथन प्रस्तुत किया। अब इस द्वितीय आह्निक में आत्मा के गुणों का विचार करते हैं, इसी भाव से प्रस्तुत सूत्र दे रहे हैं—

(३६४) कारणमिति द्रव्ये कार्यसमवायात् ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— कारणम् = (अमुक कार्य का) यह कारण है, इति = इस तरह की प्रतीति, द्रव्ये = द्रव्यों में हुआ करती है, कार्यसमवायात् = द्रव्यों में कार्य का समवाय सम्बन्ध रहने से ऐसी मान्यता है।

व्याख्या— पूर्व में जहाँ कारणों का विवेचन हुआ है, तीन प्रकार के कारणों (१. समवायि २. असमवायि ३. निमित्त) का उल्लेख हुआ है। प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने कहा कि द्रव्य में ही समवाय का व्यवहार होता है; क्योंकि गुण-कर्म दोनों द्रव्य में ही समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इनकी प्रतीति मात्र द्रव्यों में ही हुआ करती है। कारण की अनुभूति तभी होती है, जब द्रव्य में स्थित कार्यों का समवाय सम्बन्ध प्रत्यक्ष हो। ज्ञातव्य है कि द्रव्य में गुण-कर्म का समवाय है अर्थात् गुण-कर्म द्रव्याश्रित रहते हैं; किन्तु द्रव्य गुण-कर्म के आश्रय में नहीं रहता। अतएव गुण-कर्म समवायिकारण नहीं हैं; क्योंकि वे द्रव्याश्रित हैं अर्थात् दूसरे के आश्रय में हैं और जिसकी कोई आश्रय क्षमता नहीं; अपितु स्वयं पराश्रयी हो, वह समवायिकारण कैसे हो सकता है? अतः यह सिद्ध हो जाता है कि द्रव्य ही गुण-कर्म का समवायिकारण है ॥१ ॥

उपर्युक्त सूत्र की पुष्टि में ही सूत्रकार ने अगला सूत्र प्रस्तुत करते हुए कहा—

(३६५) संयोगाद्वा ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा, (तथा) संयोगात् = संयोग के द्वारा भी समवाय सम्बन्ध प्रमाणित है।

व्याख्या— वस्त्र रूप कार्य की उपलब्धि धागे रूप कारणों से होती है, जो वस्त्र के समवायिकारण हैं तथा वस्त्र निर्माण की प्रक्रिया में जो उपकरण जुलाहे द्वारा प्रयुक्त किये जाते हैं, वे धागों के संयोग से ही वस्त्र रूप कार्य का हेतु बनते हैं, वे निमित्त कारण कहलाते हैं। कारण कि संयोग रूप समवायिकारण की उत्पत्ति वस्त्र निर्माण के पूर्व सम्भव नहीं, अतः द्रव्य समवायिकारण के साथ-साथ निमित्त कारण भी है। उपादान कारणता द्रव्य में ही पायी जाती है, अतः इससे भी द्रव्य का समवायिकारण होना प्रमाणित होता है। इस प्रकार तीनों कारणों में से द्रव्य समवायि एवं निमित्त कारण है, ऐसा सिद्ध किया गया ॥२ ॥

अगले सूत्र में सूत्रकार कर्म किस स्थिति में असमवायि कारण होते हैं, यह बतलाते हैं—

(३६६) कारणे समवायात् कर्माणि ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— कारणे = उपादान कारण में, समवायात् = समवाय होने से, कर्माणि = कर्मों का असमवायिकारण होना होता है।

व्याख्या— समवायिकारण में समाविष्ट होने के कारण कर्म उस कार्य का असमवायिकारण हुआ करता है, जिसका समवाय सम्बन्ध उक्त कार्य से है। आशय यह है कि किसी भी कार्य के समवायिकारण में रहने वाला कर्म, उस कार्य का असमवायिकारण होता है। यह असमवायिकारण कार्याश्रयी होने पर लघु तथा कारणाश्रयी होने पर दीर्घ (महती) कहलाता है- ऐसा वैशेषिक शास्त्र का मत है। असमवायिकारण के होने वाले कर्म के साथ संयोग को शास्त्र की भाषा में "प्रत्यासत्ति" कहा जाता है। संयोग, वियोग, वेग तथा स्थिति-स्थापक संस्कार रूप गुणों का कर्म असमवायिकारण हुआ करता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि कारण में समवेत रहने से कार्य असमवायिकारण हो जाया करते हैं ॥३ ॥

इसी क्रम में सूत्रकार अगले सूत्र में एक और भेद का उल्लेख करते हुए रूपादि गुणों में असमवायिकारण की स्थिति समझाते हैं—

(३६७) तथा रूपे कारणैकार्थसमवायाच्च ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ— तथा = वैसे ही, कारणैकार्थसमवायात् =कारण के साथ कार्य का एक अर्थ में समवाय होने से, च = भी, रूपे = रूपादि में असमवायिकारण का होना माना जाता है।

व्याख्या— जिस प्रकार कर्म कुछेक गुणों के उत्पन्न होने में असमवायिकारण हैं तथा कर्म में असमवायिकारण की व्यावहारिकता रहती है, ठीक वैसे ही कार्य रूप में जो घट आदि द्रव्य हैं उनके रूप आदि का जो घट का (कपालगत रूप) आकार-प्रकार दिखाई देता है, वह घट का असमवायिकारण है। मिट्टी रूपी द्रव्य से घट का समवाय सम्बन्ध रहता है; क्योंकि घट नष्ट होने पर अपने द्रव्य में ही बना रहता है; परन्तु घट का आकार-प्रकार घट के विनाश के साथ ही नष्ट हो जाता है। घट के अन्दर रहने वाले रूप का कारण घट और घट का आकार-प्रकार घट के रूप का असमवायिकारण है। इस प्रकार रूपादि में कारणैकार्थ समवाय सम्बन्ध होने से उसके अपने समवाय के कारण असमवायिकारण का होना सिद्ध होता है ॥४॥

अगले सूत्र में सूत्रकार ने कार्य पदार्थ के साथ कारण पदार्थ का पारस्परिक संयोग कार्य पदार्थ का समवायिकारण हुआ करता है, इसी तथ्य को उदाहरण देकर समझाया है—

(३६८) कारणसमवायात् संयोगः पटस्य ॥ ५ ॥

सूत्रार्थ— कारणसमवायात् = तन्तुरूप कारण में समवाय सम्बन्ध होने से, संयोगः = तन्तुओं का पारस्परिक संयोग, पटस्य = पट की उत्पत्ति में (असमवायिकारण माना जाता है)।

व्याख्या— पट के समवायिकारण तन्तु हैं तथा तन्तुओं का पारस्परिक संयोग भी समवायिकारण है; क्योंकि तन्तुओं के मिलने पर ही पट की उत्पत्ति होती है। यदि तन्तु अलग-अलग रहें, तो पट रूप कार्य का होना सम्भव ही न हो। तन्तुओं में समवाय से होने वाले संयोग से ही पट विनिर्मित होता है; परन्तु कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति या लघुप्रत्यासत्ति के सूत्र से यदि देखा जाय, तो यह कारण रूप तन्तुओं का पारस्परिक संयोग पट रूप वाले कार्य द्रव्य का असमवायिकारण भी है। लघु प्रत्यासत्ति के अन्तर्गत कार्य पदार्थ एवं महती प्रत्यासत्ति के अन्तर्गत कार्य-लक्षण एवं कर्म आते हैं ॥५॥

उपर्युक्त विवेचनात्मक क्रम में ही अगला सूत्र प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार यह बतलाते हैं कि किसी कर्म में महती प्रत्यासत्ति से भी संयोग का असमवायिकारण होना पाया जाता है—

(३६९) कारणकारणसमवायाच्च ॥ ६ ॥

सूत्रार्थ— कारणकारणसमवायात् = कारण का कारण में समवाय सम्बन्ध होने से, च = भी (संयोग का असमवायिकारण होना पाया जाता है।)

व्याख्या— किसी भी कर्म के समवायि में समवायिकारण से सम्मिश्रित संयोग उस कर्म का असमवायिकारण हुआ करता है। रुई जब धुन जाती है तब रुई के अवयवों के साथ जो उसका संयोग बनता है वह ढीला-पोला रहा करता है। यही संयोग जब रुई के बड़े गट्ठर के रूप में रहता है तब वह महत् परिमाण युक्त होता है। धुनिया ने कर्म किया, रुई को धुना, तो रुई में पोलापन उत्पन्न हुआ तथा उसको जब इकट्ठा करके बड़ा गट्ठर बाँध दिया जाता है, तब उस कर्म से महत् परिमाण उपस्थित होता है। यहाँ जो कार्य है वह महत्परिमाण हुआ और बृहत् उसका समवायिकारण है। रुई के पिण्ड एवं उसके समवायिकारण छोटे रुई के पिण्ड हुए। उन रुई के पिण्डों में सम्मिश्रित संयोग ही बड़े रुई पिण्डों में महत्परिमाण की उत्पत्ति कर देता है और इस महत् परिमाण रूप कर्म के समवायिकारण बड़े रुई पिण्डों के समवायिकारणों के अन्दर सम्मिश्रित

संयोग, महत् परिमाण का असमवायिंकारण माना जाता है। महती प्रत्यासत्ति अथवा कारणैकार्य प्रत्यासत्ति के सूत्रान्तर्गत इस तरह संयोग का असमवायिकारण होना सिद्ध होता है। महत् पदार्थों में महत्त्व की उत्पत्ति संयोग से ही हुआ करती है, अतएव यह प्रमाणित हो जाता है कि कारण में कारण का समवाय होने से लघु एवं महत् की स्थिति का बनना तथा संयोग का असमवायिकारण होना होता है ॥६॥

अब तक के विवेचन में सूत्रकार ने गुण एवं कर्म के असमवायिकारण होने का कथन किया, अब अगले सूत्र में निमित्त कारण का उल्लेख करते हैं—

(३७०) संयुक्तसमवायादग्नेर्वैशेषिकम्॥ ७॥

सूत्रार्थ— संयुक्तसमवायात् = संयोगयुक्त समवाय होने से, अग्नेः = अग्नि का, वैशेषिकम् = विशेष गुण उष्णत्व पाकज आदि का निमित्त कारण है।

व्याख्या— उष्णता, जो अग्नि का वैशेषिक गुण है, वह पाकज कर्म में संयोग युक्त समवाय से निमित्त कारण माना जाता है। पार्थिव पदार्थों घटादि में रहने वाले रूप, रस आदि गुणों को पाकज कहा गया है और उन गुणों का घट समवायिकारण है। अग्नि संयोग रूप उष्ण स्पर्श द्वारा घट में पाक कर्म की उत्पत्ति होती है। संयोग सापेक्षता रहने से निमित्त कारण का होना पाया जाता है। उष्ण स्पर्शता अग्नि का वैशेषिक गुण है और उष्ण स्पर्श अग्नि का आश्रयी रहता है तथा घट उस अग्नि से जुड़ा हुआ है। अतः उसमें समवाय होने के कारण ही रूपादि गुणों का उत्पन्न होना होता है। इस प्रकार रूप, रसादि गुणों को उत्पन्न करने में उष्णत्व निमित्त कारण माना गया है ॥७॥

वैशेषिक दर्शन का (समापन) उपसंहार करने के भाव से सूत्रकार अगले सूत्र से वेद विहित कर्मों को करते रहने की बात कही—

(३७१) दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय॥ ८॥

सूत्रार्थ— दृष्टानाम् = वेदों में वर्णित शुभ कर्म, दृष्टप्रयोजनानाम् = जिनका प्रयोजन देखा जा चुका है (इसी लोक में), दृष्टाभावे = उनके दृष्ट (तात्कालिक) फल के अभाव में भी, प्रयोगः = यज्ञानुष्ठान आदि प्रयोग, अभ्युदयाय = आत्म कल्याणार्थ होते हैं, ऐसा मानना चाहिए।

व्याख्या— वेदादि दिव्य ग्रन्थ-शास्त्रों में जिन सत्कर्म स्वरूप यज्ञादि अनुष्ठानों का उपदेशात्मक निर्देश किया गया है, वे समस्त क्रिया-कलाप इस लौकिक जगत् में ही सम्पन्न होते हैं। कदाचित् उन शुभ कर्मों का फल यदि संसार में रहते हुए प्राप्त नहीं होता, तो यह समझना चाहिए कि परलोक सँवारने में अवश्य ही उनका योगदान होगा; क्योंकि वेद के वाक्य सदैव सत्य का ही कथन करते हैं। इस जन्म में उन शुभ कर्मों का परिणाम हस्तगत नहीं हुआ, तो परलोक अथवा अगले जन्म में उनके प्रतिफल अवश्य ही प्राप्त होंगे। ऐसा विश्वास रखना चाहिए कि यदि लौकिक उन्नति में उन सत्कर्मों का फल नहीं काम आ सका, तो पारलौकिक अभ्युदय में अवश्य ही उनकी सुनिश्चित भूमिका रहेगी। उपासनात्मक कर्मों में पूजन के साथ स्तोत्रों, स्तुति आदि की समाविष्टता पूजा कार्य को बलवती बना देती है, ऐसा माना जाता है। परमात्मा हमारी प्रार्थना सुनते हैं, हमारे सत्कर्मों से उन्हें प्रसन्नता होती है। जीवन की श्रेष्ठता के लिए उपदेशात्मक स्वरूप वेदों में मिलता है। गीता में वर्णित ''सर्वभूतहितेरताः'' वाक्य मानवीय दृष्टिकोण की व्यापकता को निर्देशित करता है। समस्त प्राणियों के हित में जो कर्म किया जाता है, वह महान्-श्रेयस्कर होता है। यदि इसमें अपना लाभ न भी हो, तो घाटे में भी नहीं रहना पड़ता। ''अहिंसा परमोधर्मः'' में यह कहा गया है कि अहिंसा का पालन करना परम धर्म है, यदि इसके व्यवहार में कोई हानि अथवा लाभ कुछ भी न हो, तो भी इससे अन्य प्राणियों को लाभ तो होगा ही। वैसे भी ऐसे कर्म नहीं करने चाहिए, जिससे दूसरों का अहित होता हो। अतएव वेदविहित कर्मों को सदैव करते रहना चाहिए॥ ८॥

अगले सूत्र में सूत्रकार ने कहा कि संसार में जो कुछ भी ज्ञान है वह ईश्वर की सत्ता का बोध कराने वाला है—

(३७२) अस्मद्बुद्धिभ्यो लिङ्गमृषेः ॥ ९ ॥

सूत्रार्थ— अस्मद्बुद्धिभ्यः = हम सभी को प्राप्त ज्ञान के द्वारा, ऋषेः = वेदो में प्रकाशित ज्ञान को प्रदान करने वाले परमात्मा की, लिङ्गम् = पहचान की जाती है।

व्याख्या— वेदों को अपौरुषेय कहा गया है। वेदों में ज्ञान के रूप में परमात्मा ही प्रकाशित होता है। परमात्मा की महत्ता प्रकट करने हेतु ऋषियों ने सर्वसाधारण को वैदिक ज्ञान की उपलब्धि प्रदान की है। यदि वह ज्ञान ऋषियों द्वारा प्रकाश में न लाया जाता, तो बड़े-बड़े धर्म परायण जन भी ईश्वरीय महत्ता एवं ज्ञान की सार्थकता समझ पाने में असमर्थ रह जाते, सामान्य जनमानस को कौन कहे। ईश्वर का ज्ञान होने पर ही उसकी प्राप्ति के प्रयास-यज्ञानुष्ठान, जप-तप आदि धार्मिक कृत्य सम्पन्न होते हैं। न जानने पर तो पापकर्मों एवं अधर्माचरण की ही बहुलता रहती है। अतएव ऋषियों द्वारा वेद-शास्त्रों में ज्ञान के जो उपदेशात्मक सत्प्रयास जन कल्याणार्थ किये गये हैं, उनका आदर एवं ऋषियों के प्रति कृतज्ञता का भाव बनाये रखना चाहिए॥९ ॥

वेदों को प्रकाशित करने वाले ऋषियों के कथन से ही वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है, ऐसा सूत्रकार ने अन्तिम सूत्र द्वारा बतलाया—

(३७३) तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति ॥१० ॥

सूत्रार्थ— तद्वचनात् = उन ऋषियों के कथन से ही, आम्नायस्य = वेदों की, प्राणाण्यम् = प्रामाणिकता सिद्ध होती है, इति = ऐसा (सूत्रकार ने अन्तिम सूत्र द्वारा बतलाया)।

व्याख्या—वेद शास्त्रों का प्रकाशन करने वाले ऋषि परम साधक होने से भूत, भविष्यत् व वर्तमान का ज्ञान रखने वाले थे। उनके द्वारा कहे गये वाक्य इसलिए स्वयं में प्रमाण माने जाते हैं; क्योंकि वे अपने जीवन रूपी प्रयोगशाला में अनुसंधान-शोधादि करने के उपरान्त अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति करते थे। इसीलिए उनके द्वारा वर्णित वेद-शास्त्र स्वयं में ही प्रमाण हैं। ये दिव्य शास्त्र जन कल्याणकारी भी सिद्ध हुए हैं, इनमें जिन आध्यात्मिक प्रयोगों का उल्लेख किया गया है, यदि उनकी सिद्धि कर ली जाय, तो अवश्य ही उनके पुण्य प्रतिफल प्राप्त होते हैं, इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं है। ऋषियों ने ऐसा सिद्ध करके दिखा दिया है और इसी से वेदादि शास्त्रों की महत्ता स्वयं में सिद्ध है। वेद ईश्वरीय कृति है, यह भी प्रमाणित हो जाता है॥१० ॥

॥ इति दशमाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम् ॥

॥ इति वैशेषिकदर्शनम् समाप्तम् ॥

परिशिष्ट – क
न्यायदर्शन – शब्दानुक्रमणिका

शब्द	सूत्रविवरण
पुंस्त्वहीन	४.१.६५
पुत्रकामेष्टि	४.१.४५
पुत्रेष्टियज्ञ	४.१.५३
पुतली	३.१.३३
पुनराभिव्यक्ति	५.२.१६
पुनरुक्त	५.२.१४
पुष्ट	३.२.६०
पुष्पित-पल्लवित	४.१.६
पूर्णतया	३.१.३
पूर्वकृत	३.२.६४
पूर्वजन्मकृत	४.२.४१
पूर्वनिर्दिष्ट	५.१.२७
पूर्वपक्षी	५.२.१३
पूर्वापरप्रसङ्ग	५.२.१०
पृथक्	३.२.५८
पोषक	४.१.५४
प्रकट	३.२.६०
प्रकरणसम	५.१.१६
प्रक्रिया	३.१.२३
प्रगाढ़	४.१.६४
प्रणिधान	३.२.३४
प्रतिक्रिया	५.१.३२
प्रतिघात	३.१.४१
प्रतिज्ञान्तर	५.२.३
प्रतिज्ञाविरोध	५.२.४
प्रतिज्ञासंन्यास	५.२.५
प्रतिज्ञाहानि	५.१.३३,५.२.२
प्रतिदृष्टान्तसम	५.१.९
प्रतिद्वन्द्वी	४.१.४
प्रतिपक्षी	५.१.४
प्रतिपाद्य	४.१.६१
प्रतिबिम्ब	३.१.५२,३.२.१०
प्रतिभाजन्य	३.२.३५
प्रतिवक्ता	५.२.२२
प्रतिवादी	५.१.३६
प्रतिषेध	३.१.४८
प्रतिषेधात्मक	५.१.१२
प्रतिषेद्धव्य	५.१.२०
प्रतिषेध्य	५.१.२६
प्रतिसन्धान	३.१.१५
प्रतीत	३.१.६९
प्रतीति	४.२.३३
प्रत्यक्षत:	३.१.२८
प्रत्यक्षीकरण	३.१.३९
प्रत्यभिज्ञान	३.१.७,३.२.२
प्रत्यवस्थान	५.१.२७
प्रत्याख्यान	४.२.१७
प्रत्युत्तर	५.२.१७
प्रदीप	३.१.३६
प्रदूषित	५.१.२९
प्रधान	३.१.७४
प्रबलता	३.१.४२
प्रबोध	३.१.२०
प्रभेद	३.१.६२
प्रमाण	३.१.४६
प्रमाण-प्रमेय	४.२.३१
प्रमाणसिद्ध	५.१.४०
प्रमाद	४.१.३
प्रमेय	४.१.५७
प्रयुक्त	३.१.६३,४.१.३४
प्रयोक्ता	५.२.२२
प्रयोजन	३.१.६१,५.२.१४
प्रलय	४.२.१६,
प्रवर्धित	३.२.५२,४.१.४७
प्रविष्ट	३.१.७०
प्रवृत्ति-निवृत्ति	३.२.३९
प्रश्नचिह्न	३.१.५
प्रसङ्गसम	५.१.९
प्रसवकाल	३.२.६८
प्रसारण	३.१.३५
प्रस्फुटित	४.१.६
प्राकट्य	३.१.३९,३.२.५२
प्रागभाव	४.१.६७
प्राणेन्द्रिय	३.१.१२
प्रादुर्भाव	३.१.१९
प्रादुर्भूत	३.१.२०
प्राप्तिसम	५.१.७
प्रामाण्य	३.१.५०
प्रारब्ध	३.२.७२
प्रेत्यभाव	४.१.१०
प्रौढ़	३.२.५२
फलत:	४.२.६
फलाकांक्षी	४.१.६२
फलार्थी	४.१.६२
फाँस	४.२.१९
बहुलता	३.१.७४
बाड़	४.२.५०
बाधित	५.१.२८
बाह्यकरण	३.२.२०
बाह्याभ्यन्तर	३.१.१७
बुद्धिगम्य	३.२.४८
बुद्धिवृत्ति	३.२.४,३.२.४९
बुद्धिसिद्ध	४.१.५०
ब्रह्मचर्य	४.१.५९
ब्रह्मज्ञानी	४.१.६४
ब्रह्मतत्त्व	४.१.४३
ब्रह्मानन्द	४.१.६०
ब्राह्मण	४.१.६०
भस्मान्त	३.१.३२

॥ इति ॥

परिशिष्ट- ख

न्यायदर्शन-सूत्रानुक्रमणिका

* * * * * * * * *

परिशिष्ट - ग
वैशेषिकदर्शन - शब्दानुक्रमणिका

***

परिशिष्ट – घ
वैशेषिकदर्शन – सूत्रानुक्रमणिका

सूत्र	सूत्रविवरण
अग्नेरूर्ध्वज्वलनं०	५.२.१३
अज्ञानाच्च	३.१.६
अणुमहत्त्वयो०	७.१.१४
अणु महदिति०	७.१.११
अणुसंयोग०	४.२.५
अणोर्महत०	७.१.८
अतो विपरीतमणु०	७.१.१०
अथातो धर्मं०	१.१.१
अदुष्टं विद्या	९.२.१२
अदृष्टाच्च	६.२.१३
अद्रव्यवत्त्वेन०	२.१.११
अद्रव्यत्वेन नित्य०	२.१.१३
अनित्य इति०	४.१.४
अनित्यश्चायं०	२.२.२८
अनित्येऽनित्यम्	७.१.१८
अनित्येष्वनित्या०	७.१.५
अनियतदिग्देश०	४.२.७
अनेकद्रव्यवत्त्वेन०	१.२.११
अनेकद्रव्यसमवायाद्०	४.१.८
अन्यतरकर्मज०	७.२.९
अन्यत्रान्त्येभ्यो०	१.२.६
अन्यदेव०	३.१.७
अपरस्मिन्नपरं०	२.२.६
अपसर्पणमुपसर्पण०	५.२.१७
अपां संघातो०	५.२.८
अपां संयोगा०	५.२.११
अपां संयोगाभावे०	५.२.३
अप्रसिद्धो०	३.१.१५
अप्सु तेजसि०	७.१.४
अप्सु शीतता	२.२.५
अभिघातजे०	५.१.५
अभिव्यक्तौ दोषात्	२.२.३०
अभिषेचनो०	६.२.२
अभूतं नास्ती०	९.१.९
अभूदित्यपि	१०.१.४
अयतस्य शुचि०	६.२.८
विद्यते वाऽर्था०	६.२.९
अयमेष त्वया०	८.२.१
अरूपिष्व०	४.१.१२
अर्थ इति०	८.२.३
अर्थान्तरं च	६.२.७
अर्थान्तरं ह्यर्था०	३.१.८
अविद्या	४.१.५
अविद्या च विद्या०	७.१.११
अशुचीति०	६.२.६
असतः क्रिया०	९.१.३
असति चाभावात्	६.२.१०
असति नास्तीति०	७.२.१७
असदिति०	९.१.६
असन्सन्दिग्ध०	३.१.१६
असमवायात्०	१.१.२६
असमाहितान्तः०	९.१.१३
अस्मद्बुद्धिभ्यो०	१०.२.९
अस्येदमिति०	९.२.५
अस्येदं कार्यं०	९.२.२
अस्येदं कार्यं कारणं०	९.२.१
अहमिति०	३.२.१४
अहमिति मुख्य०	३.२.१८
अहमिति शब्दस्य०	३.२.९
आत्मकर्मसु०	६.२.१७
आत्मकर्म हस्त०	५.१.६
आत्ममनसोः०	९.२.६
आत्मन्यात्ममनसोः०	९.१.११
आत्मसमवाया०	९.१.१५
आत्मसंयोग०	५.१.१
आत्मान्तर०	६.१.५
आत्मेन्द्रिय०	५.२.१५
आत्मेन्द्रियार्थ०	३.१.१९
आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे	३.२.१
आदित्यसंयोगाद०	२.२.१४
इच्छाद्वेषपूर्विका०	६.२.१५
इत इदमिति०	२.२.१०
इन्द्रियदोषात्०	९.२.१०
इन्द्रियार्थ०	३.१.२
इषावयुगपत्०	५.१.१६
इष्टानिष्टकारण०	१०.१.१
इहेदमिति०	७.२.२५
उक्ता गुणाः	७.१.१
उत्क्षेपण०	१.१.७
उभयथा गुणाः	१.१.१३
एककालत्वात्	७.१.१२
एकत्वा०	७.२.६
एकत्वैक०	७.२.३
एकदिक्काभ्या०	७.२.२१

सूत्र	सूत्रविवरण	सूत्र	सूत्रविवरण	सूत्र	सूत्रविवरण
तद्विशेषेणादृष्ट०	५.२.२	द्रव्यत्वं गुणत्वं०	१.२.५	निष्क्रियत्वात्	७.२.१६
तन्मयत्वाच्च	६.२.१२	द्रव्यत्वगुणत्व०	७.२.२६	निष्क्रियाणां०	५.२.२३
तयोर्निष्पत्तिः०	१०.१.३	द्रव्यत्वनित्यत्वे०	२.१.१८;	निःसंख्यत्वात्०	७.२.४
तस्मादागमिकः	३.२.८		२.२.७,११	नोदनविशेषा०	५.१.१०
तस्मादागमिकम्	२.१.१७	द्रव्याणां द्रव्यं०	१.१.२३	नोदनविशेषाभावा०	५.१.८
तस्य कार्यं०	४.१.२	द्रव्याणि द्रव्या०	१.१.१०	नोदनादाद्यमिषोः०	५.१.१७
तस्य द्रव्यत्व०	३.२.२,५	द्रव्याश्रय्यगुणवान्०	१.१.१६	नोदनापीडनात्०	५.२.६
तस्य समभि०	६.१.८	द्रव्ये द्रव्यगुण०	८.१.७	नोदनाभिघातात्०	५.२.१
तस्याभावाद०	४.१.१०	द्रव्येषु ज्ञानं०	८.१.१	परत्र समवायात०	२.१.६
तृणे कर्म०	५.१.१४	द्रव्येषु पञ्चा०	८.२.४	परत्वापरत्वयोः०	७.२.२३
तेजसो द्रव्या०	५.२.२०	द्रव्येष्वनितरे०	८.१.१०	परिशेषाल्लिङ्ग०	२.१.२७
तेजस्युष्णता	२.२.४	द्वयोस्तु०	२.२.३३	पुनर्विशिष्टे०	६.१.१०
तेजो रूप०	२.१.३	द्वित्वप्रभृतयः०	१.१.२५	पुष्पवस्त्रयोः०	२.२.१
तेन रसगन्ध०	४.१.९	धर्मविशेषप्रसूताद्०	१.१.४	पृथिवीकर्मणा०	५.२.१२
त्रपुसीसलोह०	२.१.७	धर्मविशेषाच्च	४.२.८	पृथिव्यादि०	७.१.२
दिक्कालावकाशं०	५.२.२१	धर्माच्च	९.२.९	पृथिव्याप०	१.१.५
दुष्टं हिंसायाम्	६.१.७	न त्र्यात्मकम्	४.२.४	प्रत्यक्षप्रवृत्त०	२.१.१९
दृष्ट आत्मनि०	३.२.११	न च दृष्टानां०	२.१.१०	प्रत्यक्षाप्रत्यक्षा०	४.२.२
दृष्टं च दृष्टवत्	२.२.१८	न चासिद्धं०	२.२.२९	प्रथमाशब्दात्	२.२.३४
दृष्टत्वात्	२.२.२२	न तु कार्या०	१.२.२	प्रयत्नविशेषा०	५.१.९
दृष्टादृष्टप्रयोजनानां०	६.२.१	न तु शरीर०	३.२.१७	प्रयत्ना यौग०	३.२.३
दृष्टानां०	१०.२.८	न द्रव्यं कार्यं०	१.१.१२	प्रवृत्तिनिवृत्ती०	३.१.२०
दृष्टान्ताच्च	७.१.१३	न द्रव्याणां कर्म	१.१.२१	प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः	३.१.१
दृष्टेषु भावा०	८.२.२	नाड्यो वायु०	५.२.५	प्रसिद्धिपूर्व०	३.१.१४
देवदत्तो गच्छति०	३.२.१२	नापि कर्मा०	२.२.२४	प्राणापाननिमेषो०	३.२.४
देवदत्तो गच्छतीत्यु०	३.२.१५	नास्ति घटो०	९.१.१०	बुद्धिपूर्वा०	६.१.१
द्रवत्वात्०	५.२.४	नित्यं परि०	७.१.२०	बुद्धिपूर्वो०	६.१.३
द्रव्यगुणकर्माणां०	१.१.१८	नित्यवैधर्म्यात्	२.२.२७	ब्राह्मणे संज्ञा०	६.१.२
द्रव्यगुणकर्म०	५.२.१९	नित्ये नित्यम्	७.१.१९	भावदोष उपधा०	६.२.४
द्रव्यगुणकर्मभ्यो०	१.२.८	नित्येष्वभावाद०	२.२.९	भावोऽनुवृत्ते०	१.२.४
द्रव्यगुणयोः०	१.१.९	निष्क्रमणं०	२.१.२०	भूतमभूतस्य	३.१.१२

सूत्र	सूत्रविवरण	सूत्र	सूत्रविवरण	सूत्र	सूत्रविवरण
भूतो भूतस्य	३.१.१३	वैदिकं च	५.२.१०	सदकारण०	४.१.१
भूयस्त्वाद्०	८.२.५	व्यतिरेकात्	१.१.२२	सदनित्यं०	१.१.८
भ्रान्तं तत्	७.२.५	व्यवस्थातो०	३.२.२०	सदसत्	९.१.२
मणिगमनं०	५.१.१५	व्यवस्थित:०	२.२.२	[illegible]दिति यतो०	१.२.७
महत्यनेक०	४.१.६	शब्दलिङ्गा०	२.१.३	[illegible] लिङ्गा०	१.२.१७
यच्चान्य०	९.१.५	शब्दार्था०	७.२.१८	सन्त्ययोनिजा:	४.२.११
यज्ञदत्त इति०	३.२.६	शास्त्रसामर्थ्याच्च	३.२.२१	सन्दिग्धस्तूपचार:	३.२.१,१७
यतोऽभ्युदय०	१.१.२	श्रोत्रग्रहणो०	२.२.२१	समवायिन: श्वैत्यात्०	८.१.९
यत्राभावे०	५.१.१३	संख्या: परिमाणानि०	४.१.११	समाख्याभावाच्च	४.२.९
यथादृष्ट०	२.२.१९	संख्याभाव:०	२.२.३७	समे आत्मत्याग:०	६.१.१५
यदि दृष्टमन्वक्ष०	३.२.१०	संज्ञा कर्म०	२.१.१८	समे हीने०	६.१.११
यदिष्टरूप०	६.२.५	संज्ञाया०	४.२.१०	सर्पिर्जतु०	२.१.६
यस्माद्विषाणी०	३.१.१७	संदिग्धा:०	२.२.३६	सामयिक: शब्दा०	७.२.२०
यस्माद्विषाणी तस्माद्०	३.१.१८	संप्रतिपत्ति०	२.२.३५	सामान्यतोदृष्टा०	२.१.१६;३.२.७
युतसिद्ध्यभावात्०	७.२.१३	संयुक्तसमवाया०	१०.२.७	सामान्यप्रत्यक्षाद्०	२.२.१७
रूपरसगन्ध०	२.१.१	संयोगाविभागयो:०	७.२.११	सामान्यं विशेष०	१.२.३
रूपरसगन्धस्पर्श०	७.२.१	संयोगविभाग०	१.१.२०	सामान्यविशेषापेक्षं०	८.१.६
रूपरसगन्धस्पर्शा:०	१.१.६	संयोगविभागाश्च०	१.१.३०	सामान्यविशेषाभावेन	[illegible].१२,
रूपरसस्पर्शवत्य०	२.१.२	संयोगादभाव:०	२.१.२३		१[illegible]
रूपाणां रूपम्	१.१.२८	संयोगाद्वा	१०.२.२	सामान्यविशेषेषु०	८.१.[illegible]
लिङ्गाच्चानित्यं०	२.२.३२	संयोगाद् विभागा०	२.२.३१	सुखदु:खज्ञान०	३.२.१९
वायुसन्निकर्षे०	२.१.१५	संयोगानां०	१.१.२७	सुखाद्राग:	६.२.११
वायोर्वायु०	२.१.१४	संयोगाभावे०	५.१.७	सोऽनपदेश:	३.१.३
विद्यते वाऽर्था०	६.२.९	संयोगिनो०	७.२.१९	स्पर्शवान् वायु:	२.१.४
विद्याविद्या०	२.२.२०	संयोगि समवाय्ये०	३.१.९	स्पर्शश्च वायो:	२.१.९
विभवा०	७.१.२२	संशयनिर्णया०	१०.१.२	स्वप्नान्तिकम्	९.२.८
विरोध्यभूतं०	३.१.११	संस्कारभावे०	५.१.१८	हस्तकर्मणा०	५.१.११
विशिष्टे आत्म०	६.१.१६	सच्चासत्	९.१.४	हस्तकर्मणा मनस:०	५.२.१४
विषाणी ककुद्०	२.१.८	सति च कार्या०	१०.१.५	हीने परे०	६.१.१४
वृक्षाभिसर्पण०	५.२.७	सतो लिङ्गाभावात्	२.२.२६	हेतुरपदेशो०	९.२.४
वेदलिङ्गाच्च	४.२.१२	सत्यपि द्रव्यत्वे०	४.१.७	॥ इति ॥	

: युगऋषि पं. श्रीराम शर्मा आचार्य- संक्षिप्त परिचय :



ज्यादा जानकारी यहाँ से प्राप्त करें :
http://hindi.awgp.org/about_us

- **विचारक्रान्ति अभियान के प्रणेता** : विचारों को परिस्कृत और ऊँचा उथाने मे समर्थ 3000 से भी अधिक पुस्तकों के लेखन के माध्यम से विश्वव्यापी विचार क्रान्ति अभियान की शरुआत की ।
- **वेद, पुराण, उपनिषद के प्रसिद्ध भाष्यकार** : जिन्हों ने चारों वेद, 108 उपनिषद, षड दर्शन, 20 स्मृतियाँ एवं 18 पुराणों का युगानुकूल भाष्य किया, साथ ही 19 वाँ प्रज्ञा पुराण की रचना भी की ।
- **3000 से अधिक पुस्तकों के लेखक** : मनुष्य को देवता समान, घर-परिवार को स्वर्ग, समाज को सभ्य और समग्र विश्वराष्ट्र को श्रेष्ठ बनाने मे समर्थ हजारों पुस्तकें लिखकर समयानुकूल समर्थ मार्गदर्शन प्रदान किया ।
- **युग-निर्माण योजना के सूत्रधार** : जिन्होंने शतसूत्री युग निर्माण योजना बनाकर नये युग की आधार शिला रखी ।
- **वैज्ञानिक-अध्यात्मवाद के प्रणेता** : जिन्हों ने धर्म और विज्ञान के समन्वय की प्रथम प्रयोगशाला 'ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान' स्थापित कर सिद्ध किया कि "धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं, पुरक है"।
- **'२१ वीं सदी : उज्जवल भविष्य' के उद्घोषक** : जिन्हों ने '२१ वीं सदी : उज्जवल भविष्य' का नारा दिया तथा युग विभीषिकाओं से भयग्रस्त मनुष्यता को नये युग के आगमन का संदेश दिया ।
- **स्वतंत्रता संग्राम के कर्मठ सैनानी** : जिन्हों ने महात्मा गाँधी, मदन मोहन मालवीय, गुरुवर रविन्द्रनाथ टैगोर के साथ राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया एवं स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी "श्रीराम मत्त" के रुप में प्रख्यात हुए ।
- **गायत्री के सिद्ध साधक** : जिन्हों ने गायत्री और यज्ञ को रुढियों और पाखण्ड से मुक्त कर जन-जन की उपासना का आधार तथा सद्‌बुद्धि एवं सतकर्म जागरण का माध्यम बनाया ।
- **तपस्वी** : जिन्होंने गायत्री की कठोरतम साधना कर २४-२४ लाख के २४ महापुरश्चरण २४ वर्षो में सम्पन्न किया । प्रकृति प्रकोप को शांत कर अनिष्टों को टाला, सृजन सम्भावनाओं को साकार किया ।
- **अखिल विश्व गायत्री परिवार के जनक** : जिन्हों ने अपने जीवनकाल में ही अपने साथ करोडों लोगों को आत्मियता के सूत्र में बाँधकर विश्व व्यापी 'युग निर्माण परिवार' - 'गायत्री परिवार' का गठन किया ।
- **समाज सुधारक** : जिन्हों ने नारी जागरण, व्यसन मुक्ति, आदर्श विवाह, जाति-पाँति प्रथा तथा परंपरागत रुढियों की समाप्ति हेतु अद्‌भूत प्रयास किए एवं एक आदर्श स्वरुप समाज में प्रस्तुत किया ।
- **ऋषि परम्परा के उद्धारक** : जिन्हों ने इस युग में महान ऋषियों की महान परंपराओं की पुनर्स्थापना की । लुप्तप्राय संस्कार परंपरा को पुनर्जीवित कर जन-जन को अवगत कराया ।
- **अवतारी चेतना** : जिन्होंने "धरती पर स्वर्ग के अवतरण और मनुष्य में देवत्व के जागरण" की अवतारी घोषणा को अपना जीवन लक्ष्य बनाया और चेतना का ऐसा प्रवाह चलाया कि करोंडों व्यक्ति उस ओर चल पड़े ।

गायत्री परिवार जीवन जीने कि कला के, संस्कृति के आदर्श सिद्धांतों के आधार पर परिवार,समाज,राष्ट्र युग निर्माण करने वाले व्यक्तियों का संघ है। **वसुधैवकुटुम्बकम्** की मान्यता के आदर्श का अनुकरण करते हुये हमारी प्राचीन ऋषि परम्परा का विस्तार करने वाला समूह है गायत्री परिवार। एक संत, सुधारक, लेखक, दार्शनिक, आध्यात्मिक मार्गदर्शक और दूरदर्शी युगऋषि पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य जी द्वारा स्थापित यह मिशन युग के परिवर्तन के लिए एक जन आंदोलन के रूप में उभरा है।